प्रत्यक्षप्रमा

विद्वत्सङ्गोष्ठी

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
(मांडवी-कच्छ)

प्रकाशक:
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
कमारा बजार, माडवी-कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
फोन (०२८३४) २३१४६३

सम्पादक:
गोस्वामी श्याम मनोहर
गोस्वामी शरद्

प्रथम सस्करण : वि स २०६४ वल्लभाब्द : ५३०

प्रति ५००

ऐच्छिक ग्रन्थप्रकाशन सहाय रू. १५०

WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग क लि , ५५/४८ सिटिमील कम्पाउड,
कांकरीआ रोड, अमदावाद, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार·
आङ्गोजित

१ शब्दखण्डीरा विद्वत्परिचर्चा, गाधीनगर-गुजरात
२ अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
३ वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
४ पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनप्रणाली, मुम्बई
५ अन्यथाख्याति विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६ सेवा-समर्पण, मुम्बई
७ कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
८ प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
९ अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
१० कथाया वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११ शरणागति, मुम्बई
१२ पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध
१३ World Philosophy Conference, Delhi, (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१४ International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni of Gujarat

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१ तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२ वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

१ प्रवेशिका (गुज)	१०	२ प्रवेशिका (अग्रेजी)	नि शुल्क
३ प्रमेयरत्नसग्रह (गुज)		४ वार्तापरिचर्चा	१५
५ पुष्टिविधानम्(पाठावली-व्रजभाषा)	अप्राप्य	६ पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज)	२५
७ पुष्टिविधानम्-२ (व्याकरणम्)	१००	८ पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषाविवृति)	५०
९ अधिकारपरिचर्चा(गुज -हिन्दी-व्रज)	१००	१० श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद)	३००
११ विवेकत्रयम् (सस्कृत)	१०	१२ सेवा और व्रजलीला (व्रजभाषा)	अप्राप्य
१३ श्रीगोपीनाथप्रभुचरण(गुज -हिन्दी)	२५	१४ सेवा अने व्रजलीला (गुजराती)	नि शुल्क
१५ पुष्टिप्रवेश-१(गुजराती)	१०	१६ साधनाप्रणाली(गुज -हिन्दी-अग्रेजी)	५०
१७ पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद(गुज -हिन्दी)	नि शुल्क	१८ रसदृष्टिनी तरफेणमा (गुजराती)	नि शुल्क
१९ पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	१०	२० पुष्टिपाठावली (गुजराती)	१०
२१ वाल्लभवेदान्तनिबन्धसग्रह(हिन्दी)	नि शुल्क	२२ प्रत्यक्षप्रमाण, विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०

२३ भागवतार्थप्रकरणम्, गुजराती अनुवाद, गो वा श्रीनानुलाल गाधी १००
२४ शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा (सस्कृत-हिन्दी-अग्रेजी) २००
२५ अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी (सस्कृत-हिन्दी-अग्रेजी) १५०
२६ तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारणसस्करण/राजसस्करण ५०/७०
२७ तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका)साधारणसस्करण/राजसस्करण ८०/१००
२८ कार्यकारणभावमीमासा विद्वत्सङ्गोष्ठी(सस्कृत-हिन्दी-अग्रेजी) २००
२९ पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०

३० शरणागति विचारणाही एक पूरक प्रश्नोत्तरी — नि शुल्क
३१ पुष्टिभक्तिमें यथासाधना सम्बोधी — ४०
३२ पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरानुवाद) — ३०
३३ वात्सल्यभावदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) — नि शुल्क
३४ सिद्धान्तनु आचमन (गुजराती) — नि शुल्क
३५ श्रीकृष्णचरित्र, गो वा श्रीनानुलाल गांधी (गुजराती) — ८०
३६ Computer CD, www.pushtimarg.net — अप्राप्य
३७ Summary of Shuddhadvaita Vangmaya — 15
३८ Manual of the Devotional Path of Pushti 65

सहयोग प्रकाशन:

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद

अनुवादक गो वा श्रीनानुलाल गांधी(य पुस्तक सद्भेंट दी जायेंगी)

१ दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण	२ दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण
३ दशमस्कन्ध तामस प्रमेय प्रकरण	४ दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण
५ दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण	६ दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण
७ दशमस्कन्ध राजस प्रमेय प्रकरण	८ दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण
९ दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण	१० दशमस्कन्ध सात्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण
११ दशमस्कन्ध गुण प्रकरण	१२ एकादशस्कन्ध अप्राप्य
१३ तृतीयस्कन्ध अ १ = अप्राप्य	१४ तृतीयस्कन्ध अ ९-१९ अप्राप्य
१५ तृतीयस्कन्ध अ २०-समाप्तिपर्यन्त अप्राप्य	१६ द्वितीयस्कन्ध अप्राप्य

१७ श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी
१८ Srimad Vallabhacharya His Philosophy and Life Prof J G Shah 100
१९ Srimad Vallabhacharya His Philosophy and Religion Prof J G Shah 300
२० SriVallabhacharya and His Teachings Dr Chimanlal Vaidya 100
२१ Doctrines of Vallabhacharya Ishverbhai S Amin 100

- गोशाला
- संस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय
  संचालन श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल
- हस्तप्रतसंग्रह संरक्षण, पुस्तकालय
- यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोंकी पादानुक्रमणिका
- Digitalization of the manuscripts
- Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Śuddhadvaita Pustibhakti Sampradaya
- Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj Hindi Gujarati & English literature written on the base of such writings

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके
मूल संस्कृत ग्रन्थ

१ सव्याख्यषोडशग्रन्थ [illegible] दुर्लभ
 खड १ श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
 खड २ नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
 खड ३ जलभेद से सेवाफलम्
२ सव्याख्यषड्ग्रन्था [illegible]
३ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
 खड १ शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
 खड २ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
 खड ३ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२
४ प्रकाश रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
 खड १ प्रथमाध्याय [illegible] अतिदुर्लभ
 खड २ प्रथमाध्याय [illegible] अतिदुर्लभ
 खड ३ द्वितीयाध्याय
 खड ४ तृतीयाध्याय
 खड ५ चतुर्थाध्याय
५ श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
 खड १ प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
 खड ४ जन्मप्रकरण
 खड ५ तामसप्रमाणप्रकरण
 खड ६ तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
 खड ७ तामसफलप्रकरण
 खड ८ राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
६ वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
७ विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
८ प्रस्थानरत्नाकर
९ विद्वन्मण्डनम्
१० श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
११ अवतारवादावली
 खड २ भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद
 खड ३ ब्राह्मणत्वादिदेवतावाद , जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-

खण्डनवाद , भागवतस्वरूपविपयकशङ्कानिरासवाद , उपदेशादिविषयकशङ्का-
निरासवाद , भगवत्प्रतिकृतिपूजनवाद , ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवाद , तुलसीमाला-
धारणवाद , शङ्खचक्रधारणवाद , भक्तिरसत्ववाद , भक्त्युत्कर्षवाद , नामफलादि
-प्रकारवाद , जयश्रीकृष्णोच्चारणवाद , स्ववृत्तिवाद , वरार्दिसेवावाद ,
मूर्तिपूजनवाद , भागवतपाठादे शङ्कानिरासवाद

१२ पुष्टिविधानम् (हिन्दी अनु तथा संस्कृत संकलन)
१३ सव्याख्यश्रीमर्वोत्तमस्तोत्रम्
१४ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार

▸ क्र १, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ हो ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित वादावली खड १, गीता टीका, उपनिषद् टीका उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

- -वाल्लभवेदान्त निबन्धसग्रह
- -रसदृष्टिनी रसफेणमा (हिन्दी-गुजराती)
- -विवेक
- -विशोधनिका (तीन खड)
- -पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
- -गृहसेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
- -नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
- -श्रीयमुनाष्टकम्
- -सिद्धान्तनु आचमन
- -सिद्धान्तसूक्ति
- -पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद
- -नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुजराती-हिन्दी)
- -श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
- -शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
- -धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
- -भागवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार एक प्रश्नोत्तरी

सम्पर्क :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई
फोन (०२२) २६१४४३२६

प्रकाशकीय

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(माडवी-कच्छ) द्वारा सन २००३ मे पूणे विश्वविद्यालयमें प्रत्यक्ष प्रमा विषयपर समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठीमे प्रस्तुत हुवे आलेखपत्रो एव उनपर हुई चर्चा को सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख सहित ग्रन्थाकारमे प्रकाशित करते हुवे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है

पूर्व समायोजित सङ्गोष्ठीओकी ही तरह इस सङ्गोष्ठीका भी आद्योपान्त ध्वनिमुद्रण किया गया था ध्वनिमुद्रित केसेट्सकी सहायतासे चर्चाको लिपिबद्ध करके उसे सशोधनार्थ चर्चाकारोको अवलोकनकेलिये भेजा गया प्रस्तुत ग्रन्थमें आलेख प्रस्तुतिकारद्वारा सशोधित-परिवर्धित चर्चाका प्रकाशन किया गया है

सङ्गोष्ठीमे समागत जो विद्वज्जन सशोधनार्थ प्रेशित उनके वक्तव्य / चर्चा को सशोधित नहीं कर पाये है उनको अनन्यगतिकतया यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है

केसेट् बदलने, विजलीके न रहने, एक साथ बोलने जैसी परिस्थितिमे जिन सवाद / वक्तव्य का ध्वनिमुद्रण नहीं हो पाया था उन अशोको तत्तत्स्थानोमे ' ' तीन विरामचिह्नोद्वारा दिखलाया गया है

सङ्गोष्ठीमे आलेखोंकी प्रस्तुति जिस क्रमसे हुई थी उस क्रमको अध्येताओके सौकर्यार्थ बदलकर उनको नूतन क्रममे योजित किया गया है यह ध्यातव्य है

विशेषमे, गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी लिखित "चक्षुका चाक्षुपविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वाल्लभ दृष्टिकोण" आलेखको प्रत्यक्षप्रमाण विषयक अध्ययनमे उपकारक समझकर यहा प्रकाशित किया जा रहा है

अन्तमें, इस सद्गोष्ठीमें सहृदयभावसे सम्मिलित होकर प्रस्तावित विषयपर वैदुष्यपूर्ण आलेखकी प्रस्तुति करने एवं चर्चामें भाग लेने केलिये हम सभी विद्वज्जनोंके प्रति हृदयसे आभारी हैं.

श्रीवामनजयन्ती-
श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रादुर्भावोत्सव
वल्लभाब्द ५३०, वि.सं.२०६४

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद् गोस्वामी

अनुक्रमणिका

भूमिका

एक सुप्रसिद्ध वेदिक सूक्ति हे कि "एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इस वचनमे सावधानीसे 'विप्रा', शब्द वेदोंके अभ्यास करनेवालोंके अर्थमे प्रयुक्त हुवा है "वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्र" फिरभी आधुनिक युगमे इस श्रुतिका प्राय "एक सद् अज्ञा/मूर्खा बहुधा वदन्ति" अर्थ किया जाता है पर क्या सभी विप्र मूर्ख ही होते है? यद्यपि बौद्धोंने "वेदाधीतिजडा विप्राः न परीक्षाक्षमाइति विप्रेभ्यएव वेदादे कृत्त तै उपदेशनम्" कहा तो हे और वैसे तो भगवान् बुद्धने भी विप्रोंको अवश्य मूर्ख ही माना होगा मगर मुझे लगता है कि भगवान् बुद्धको भी पढानेवाले तो सब विप्र ही होगे इस श्रुतिके निदर्शनतया अक्सर 'अन्धहस्ति'न्यायका उदाहरण भी दिया जाता है उदाहरणके तोरपे डॉ सर्वपल्लि राधाकृष्णन् और दूसरे भी विद्वान् 'अन्धहस्ति'न्यायके आधारपर ही इस श्रुतिका अभिप्राय समझाते है

अन्धता दो तरहकी हो सकती है एक चाक्षुप जन्मान्धता ऐसी कि जिसके कारण हम वस्तुका दर्शन ही कर नही पाये हो और दूसरी बौद्धिक हठाग्रहकी अन्धता कि स्वय हमे किसी वस्तुके जो विकल्प अवगत हुवे हों उनके हठाग्रहके वश उस वस्तुके अन्यान्य विकल्पोंको देख न पानेकी बौद्धिक हठवादिता एक अन्धा पुरुप देख नहीं पाता तावता वह हाथीका स्पर्श भी न कर पाता हो ऐसा तो नहीं है ऐसी स्थितिमे हस्तिको स्पर्श करके वह जान न पाता हो ऐसा भी शक्य नहीं 'नेत्रहीन पुरुपोंकी अन्धतामें भी स्पर्शानुभव तो उतना ही सोलिड् होता है जितना किसी नेत्रवान् पुरुपका चाक्षुप प्रत्यक्ष सोलिड् होता है ऐसे स्पर्शके आधारपर अन्ध पुरुपोंको जो गृहीत होता है ओर वे अपनी अनुभूतिओको 'स्तम्भसदृशोऽयम्' शब्दोंमे

अभिव्यक्त करते हे तो सहृदय नेत्रवान्‌को वह सादृश्यानुभूति हास्यास्पद लगनेके बजाय पार्शियलि ट्रु एक्स्पीरियंम् लगनी चाहिये. चाहे टोटली ट्रु न भी लगती हो. किसी भी मूरतमं वह टोटली अन्ट्रु नहीं लगेगी. यों तो अन्धपुरुषको गृहीत होती हाथीकी स्तम्भाकारता या अन्य कुछ समग्राकारदर्शी नेत्रवानोंको भी सहसा बुद्ध्यारूढ़ कहां हो पाती है? नेत्रवान् भी तो केवल नेत्रगृहीत रूपकी ही आंशिक अनुभूति कर पाते हैं, स्पर्शगृहीत स्वरूपकी कहां! So there are all sorts of contradictions and debates are generated among us

हम वाल्लभ तो यह हृदयसे मानते हैं कि सत् विरुद्धधर्माश्रय है. कमसे कम और किसी कारणसे नहीं तो, इसी कारणसे कि ब्रह्मबोधक श्रुति स्वयं ब्रह्मके बारेमे "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" विधान करती हे यह 'बहुधा' भी पुन. उस सीमा तक कि परस्पर एक-दूसरेके अनुभव ओर प्रतिपादन को हम स्वीकार न कर पायें! "सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा? तो उभौ यदि सर्वज्ञौ विसंवादः कथ तयोः?" अब दोनों सर्वज्ञताका दावा करते हों तो असर्वज्ञ बेचारे कहां जाये? यद्यपि धर्मकीर्तिने एक बात बडी अच्छी कही है कि "दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाणं दूरदर्शी चेद् एतान् ग्रध्रान् उपास्महे". पर भाई! ग्रध्र भी कुछ देखता तो है ही. ओर यदि आप साईंस्‌के ऑब्जर्वेशन् गीधके वीज्युअल् पर्सेप्शन्‌के बारेमे पढेगे तो उसकी दृष्टिसामर्थ्यको मनुष्यकी सामर्थ्यसे कुछ अधिक ही विज्ञान स्वीकारता है. तो "एते ग्रध्रा अपि उपासनीया भवन्त्येव अधिकारिभेदेन"! तो इसी तरह विप्रभेदेन ब्रह्मके निरूपणको स्वीकारने भी हमे उद्यत रहना ही पडेगा. और वैशेषिकोके तो मतको ही 'औलूक्य-मत' कहा जाता था. भगवद्‌गीताके "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने." वचनके प्रकाशमे इसकी एक उपहासपूर्ण उपपत्ति भी अवश्य समझमे आती है : हम मनुष्य प्राणिओको अधेरेमे दिखलाई नहीं देता, अपनी

इस असामर्थ्यको स्वीकारे विना, उल्लुको तो उजालेमे भी दिखलायी नहीं देता होनेसे, हमने उल्लुको मूर्ख पक्षी मान लिया। यूनानमे, परन्तु, उल्लु मूर्ख नहीं दर्शनशास्त्रीय बुद्धिप्रकर्षका पक्षी माना जाता था अत यह भी सम्भव हे कि कदाचित् उल्लु हम मनुष्य प्राणिओको ही मूर्ख मानता होगा कि मनुष्य कितना मूर्ख हे कि अन्धेरेमे उसे दिखलाई नही देता

आदरणीय श्रीबलिराम शुक्लजीके साथ कल आपसी वार्तालापमें मैने कहा कि कोई भी बात जब स्पष्ट कहनी हो तब वह सरल नहीं रह जाती है और कोई भी बात सरल करके कहनी हो तो वह स्पष्ट नहीं रह जाती है

इसी तरहका कुछ चक्कर हे न्याय और इतर दर्शनो के बीच भी हे न्याय अपनी हर बातको स्पष्ट करना चाहता है, यह एक औलूक्यदृष्टि हे ओर एक हमारी भी दृष्टि हे कि हर बातको सरलतया कह देना चाहते हे शायद हमारे अदर अन्धकारमे देखनेकी शक्ति नहीं है, यह हम भी कबूल करते है मूल कारण उसमे यही है कि न्याय-वैशेषिक जब भी देखते है तब लक्षणप्रधान ओर आनुमानिक दृष्टिसे देखते हे ओर जब लक्षणप्रधान दृष्टिसे न्यायको कुछ दिखलाई नहीं देता हे तब न्याय समझता है कि अन्धकार हो गया और हम वेदान्ती जब देखते हे तब हमारी दृष्टिमे लक्षणके बजाय प्रमाण या अनुभव प्रधान बन जाते है शाकर और वाल्लभ दोनों ही वेदान्तोमे ब्रह्म तो स्वरूपत अवाच्य माना गया है और माया तो शाकर वेदान्तमे सद्-असद्-सदसत्वेन भी अनिर्वचनीय मानी गयी है अत श्रौत प्रमेयके प्रसगमे लक्षणोंके निर्धारणमे अधिक न उलझना तो हमारे प्रमेयके विशिष्ट स्वरूपके अनुरोधवश हमे स्वाभाविक ही लगता है लक्षण और प्रमाण म कुछ वैसा ही विभाजन है जैसा दिवा और रात्रि मे अथवा सरलतामे और स्पष्टतामे है लक्षण या

परिभाषा यथावगम होती हे, अर्थात् वस्तुका बोध हमे कैसे हो रहा हे उसके बारेमे होती हे प्रमाण तो, जबकि, यथार्थ होता है अर्थात् वस्तु जैसी हो वैसी अनुभूति होनेपर वह प्रमाण मानी जाती हे

कुछ विद्वानोका सोच हे कि वेदान्ती देख ही नहीं पाते हे, केवल श्रुतिओंमे क्या कहा गया ही सुनते रहते हे जबकि नैयायिक तो उनके प्रमेयोंको देखते भी है और सुनते भी हे मे परन्तु कहना चाहुगा कि हम 'श्रुतिदृष्टय' है और है ही इसीलिये भगवत्पाद् शकराचार्यने एक बडी मजेदार बात कही है "तार्किकस्तु परित्यक्तागमबलै अस्तिनास्ति-कर्ताकर्ता इत्यादिविरुद्ध बहु तर्कयद्‌भि आकुलीकृत शास्त्रार्थं येतु शान्तदर्पा तेषा करतलामलकइव निश्चित शास्त्रार्थं तस्मात् तार्किकताचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभय दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्य शास्त्रगुरुप्रसादरहितै च 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' इत्यादिविरुद्धधर्म-समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्य च" तो यह हुयी न प्रमाणदृष्टि

यह लक्षणदृष्टि नही है इसमे लक्षणौपयिकी स्पष्टता सम्भव नहीं न हो तो न हो पर जब प्रमाणसे सिद्ध होता है तो क्या किया जा सकता है? धर्मकीर्ति भी तो कहता था कि "यदि इद स्वयम् अर्थाना रोचते तत्र के वयम्?" प्रमाणसे हमको कुछ समझमे आ रहा है लक्षणदृष्टि ही एकमात्र दृष्टि नही है प्रमाणदृष्टि भी एक दृष्टि है दिवा-रात्रिमे दर्शनके सामर्थ्यकी तरह हमे इन दोनों दृष्टियोका प्रभेद स्वीकार कर दोनोंका समादर करना चाहिये

जब प्रमाण किन्हीं विरुद्धधर्मोका या क्रियाकलापोंका, जैसे भगवत्पाद श्रीशकराचार्योदाहृत "तद् एजति—तद् न एजति" कहता हो तो उसका लक्षण कैसे घडा जा सकेगा। विरुद्धधर्माश्रय तत्त्वकी परिभाषा हो पानी कठिन है कल श्रीबलिराम शुक्लजी कह रहे थे कि वे जब उपनिषदोको पढते है तब उन्हे कुछ असम्बद्ध प्रतिपादन होता सा

लगता है. असम्बद्ध हे ही, पर करें क्या? हर तथ्यको सम्बद्ध करना हमारी लक्षणबुद्धिका कार्य है. वस्तु, परन्तु, हमारी लक्षणबुद्धिके आधीन होती तो भूकम्प जलप्लावन युद्ध या वृश्चिक-व्याघ्र जेसी क्रूरता जगत्में होती ही नहीं. हम जगत्की ऐसी परिभाषा घड लेते कि ये सब भयंकर बाते तिरोहित हो जाती. पर ऐसी क्रूर भयंकर बाते भी जगत्की एक वास्तविकता हे. इनपर हमारे सोची हुयी परिभाषाओंका कुछ भी प्रभाव पडता नहीं हे पशुकी परिभाषा भूमिपर विचरनेवाले स्तनपायी प्राणीके रूपमें कर भी ले परन्तु व्हेल (तिमि) यदि भूमिका परित्याग कर सागरमें प्रविष्ट हो जाये तो क्या करना? हम पशुकी परिभाषा समुचित घड ले पर चमगादड भूमिके बजाय मकानकी छतपर ही विहार करने लग जाये तो क्या करना? तो इस तरहकी कुछ सीमाये लक्षणाधीन बुद्धिकी तरह प्रमाणाधीन बुद्धिकी भी हो सकती है. यह लक्षणदृष्टिकी और प्रमाणदृष्टिकी सीमायें हे. इन सीमाओंके तहत वाल्लभदृष्टि एक बात कहना चाहती है पर दूसरी बात भी उतनी ही बुद्धिसगत हो सकती है, ब्रह्म ओर ब्राह्मिकी सृष्टि मे प्रकट होती विरुद्धधर्माश्रयताके कारण

पाश्चात्य दर्शनमे एक शब्द मिलता हे *'रिडक्शनिजम्'* किसी वस्तुको किन्हीं बातोंमे एनलाईज् करके कभी द्रव्यको गायब कर दो, तो कभी गुण-धर्मोंको गायब कर दो कभी मेटर्को मेन्टल् कन्सेप्टस्मे डिफाईन् करके गायब कर दो. तो उधर माईन्ड्को मटीरिअली ऑर्गनाइज्ड् कॉम्प्लेक्स् फ़िनोमिनामे डिफाईन् करके गायब कर दो. इस तरहके एनलिटिक् एप्रोचमे रिडक्शनिस्टिक् एक्स्ट्रीमिटी या ऐकान्तिकता आ ही जाती है.. और उसके रिएक्शन्मे आजकल एक *युनिफिकेशनिजम्* भी चल पड़ा है. जिसमे जबरदस्ती सबको एक मान लो, जबरदस्ती सब दृष्टिओंका एक दृष्टिमे अन्तर्भाव कर लो अर्थात् अपनी मनपसंद दृष्टिको सर्वग्रासी बना देना. बृहदारण्यकोपनिषद्मे कहा गया है कि सृष्टाने सृष्टरूपको प्रकट करके उसे खा जाना चाहा. और तब सृष्टरूपने

"स 'भाण' इति अकरोत्" नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि अपने जन्म-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानभूत धर्मी ब्रह्मके स्वरूप अथवा अप्रतिघसकल्प परमेश्वरके सर्वभवनसामर्थ्यके आधीन ही उत्पन्न स्थित या लीन हो सकती है तब भी 'भाण' उच्चारणकी क्रोशना करनेमे तो स्वाधीन होती ही है तो हम वाल्लभोको भी इस तरहसे 'भाण्' चिल्लानेकी इच्छा होती है, जब कोई हमे खा जाना चाहता हो खा मत जाओ हमारे साथ विमर्शक्रीडा करो "खा मत जाओ" इस अर्थमे नही कि हमारी आलोचना मत करो "खा मत जाओ" इस अर्थमे कि हमारा अपनी दृष्टिमे अन्तर्भाव मत मान कर चलो न हठारोपित युनिफिकेशनिज़्म् अच्छी बात है और न हठारोपित विविध दृष्टिओके बीच असमानता ही सोचना कोई अच्छी बात है परस्पर सवादकेलिये ही इतना तो हम सभी स्वीकार ही सकते है जो कुछ हम आपसमे चर्चा या विमर्श करे उससे, तत्व विरुद्धधर्माश्रय हो या नहो मगर विरुद्धमति, विरुद्धवाद, विरुद्धोपपत्ति सबकी बुद्धिमे उभर सकती है और उन मति-वादोंका कमसे कम सवाद या अधिकाधिक विवाद तो होना ही चाहिये, एक दूसरेका एक-दूजेमे अन्तर्भाव या अतुलनीय वैषम्य ही मान कर नहीं चल पडना चाहिये सवाद तो विवादात्मक हो तब भी चलेगा।

जो भी सगीतके बारेमे थोडा-बहुत जानते है उन्हे यह बात अच्छी तरह अवगत होगी कि कोई भी अच्छा राग वादी, सवादी और विसवादी सुरोंके बिना प्रकट नहीं हो पाता तो इस सेमिनारकी विचारप्रक्रियाके एक अच्छे रागमे हम आपसी सगतिगे कोई ऐसा गीत गाये। अत विरुद्धधर्माश्रय परमतत्त्वके विमर्शमे हम एक-दूसरेको मूर्ख न समझे, एक दूसरेको विप्र समझे और विप्र भी इस अर्थमे नहीं कि हम सर्वथा अन्धे है विप्र समझे एक-दूजेको इस अर्थमे कि हम सभीके पास अपना-अपना अनुभव है इस तरहका कोई एक *नोन्-रिडक्शनिस्टिक् या नोन्-युनिफिकेशनिस्टिक् एप्रोच्* हमारी गोष्ठियोंमे

सबसे बडी आपत्ति मुझे लगती है उदाहरणके तौर पर कहू तो, अग्रेजी भाषामे कुछ मज़ेदार *टर्म्स्* है, यथा समाजशास्त्रमे हम व्यक्तिको *'इन्डिविज्युअल्'* कहते है इसका अर्थ होता है That which can not be divided There is a point in it If sociology attempts to devide individual then it seizes to be sociology It will be turned in to biology समाजशास्त्रको यदि समाजशास्त्र रहना है तो उसे व्यक्तिको *इन्डिविज्युअल्* मानना ही पडेगा पर क्योकि समाजशास्त्र व्यक्तिको इन्डिविज्युअल् मानता है, इसलिये वह बायोलोजीपर जबरदस्ती करे "तुम उसका बायोलोजिकल डिविजन् मत करो।" तो यह तो उचित नहीं बायोलोजीको अपना काम अपने ढगसे करना ही पडेगा अन्यथा वह बायोलोजी ही नहीं रह पायेगी अत समाजशास्त्रका सिम्पल् इन्डिविज्युअल बायोलोजीमें डिविज़िबल् कॉम्प्लेक्स् हो जाता है बायोलोजीका *सेल्स्* वहा भी इन्डिविजिबल् है मगर केमेस्ट्रीमे वह भी मोलेक्युल् बन जाता है और वह मोलेक्युल् भी फिजिकल् एटम्स्मे डिवाइड् हो ही सकता है यदि बायोलोजी या केमिस्ट्री यह सोच कर झगडा करे कि हमारे सेल्स् या मोलेक्युल् क्योंकि इन्डिविज़िबल् है इसलिये दूसरे शास्त्र उसका डिविज़न् नहीं कर सकते तो यह बात नहीं चल पायेगी Human understanding will not allow it Because the same human understanding which has produced Biology and Chemistry has also given rise to Physics तो बायोलोजी या केमिस्ट्रीका जो सेल् या मोलेक्युल् होता है, वह फिजिक्समे अविभाज्य नहीं रह जाता है वह भी डिविज़िबल् हो जाता है और हम इस तथ्यको अच्छी तरहसे जानते है कि फिज़िक्स्के एटम्स् इन्डिविजिबल् थे 'एटम्' शब्द यूनानी 'अ-तोमन्' शब्दका अपभ्रश है यह 'तोमन्' शब्द पुन विभाजनार्थक था नैयायिकोंने अणु परमाणु द्व्यणूक त्रसरेणु आदि जो कल्पनाये की है वे बडी

मजेदार कल्पनाय है मगर इसमे समझने लायक तथ्य यह है कि इस कल्पनाके भीतर भी

मुझे अच्छी तरहसे याद है कि आजसे पचास-साठ साल पहले जब एक सौ छह या आठ तत्त्व विज्ञानने खोजे थे तब हिन्दुस्तानके आधुनिक विद्यालयोमे पढे हुवे लोग नैयायिको और वेदान्तिओ पर टूट पडे कि तुम पाच तत्त्व या सात पदार्थ मानते हो पर देखो वैज्ञानिकोंने एक सौ छह तत्त्व खोज निकाले है अरे मेरे भाई! उन एक सौ छहकी जगह बादमे एक सौ सत्ताईस तत्त्व खोज निकाले गये और भी न जाने कितने तत्त्व निकलते रहेगे और कृत्रिम भी निर्मित हो पायेगे पर उन सभी तत्त्वोंका "गणपति बापा मोरिया" करते हुवे एटमिक् फिजिक्स्ने उनका इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन् प्रोटोन् मे विभाजन कर दिया अब वो सबके सब तत्त्व कहा गये! केवल सघात रह गये मै जो बात कहना चाह रहा हू उसपर ध्यान दें कि उन्हें सघात, विवर्त, आरम्भ अथवा परिणाम आप जिस तरहसे भी उसे कहना चाहे कह ले, मगर उससे भी आगे बढ कर आज *सब-एटमिक्-फिजिक्स्* आ गई है उसने उन इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन् प्रोटोन् के भी सत्ताईस चार्जिस् खोज निकाले है अब हम सोच रहे है कि कहीं कोई ऐसा 'कासार्' तत्त्व मिल जाय कि जिसपर जाकर इस अवयवधाराकी विश्रान्ति हो पाये— "को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि, अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन अथो को वेद यत आवभूव इय विसृष्टि यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न, यो अस्य अध्यक्ष परमे व्योमन् त्सो, अग!, वेद यदि वा न वेद" इस अवयवधाराकी विश्रान्ति होगी की नहीं होगी हमको पता नहीं है "अणोर् अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहाया परम् अस्य जन्तो. तम् अकृतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादात् महीमानम् ईशम्" इसलिये हम उसको विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते है विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते है इसलिये हम इस खण्डन-मण्डनकी

प्रक्रियाको वहुत आनन्दसे लेते ह हमे कोई सकोच नहीं होता है इस प्रक्रियामे क्योकि जब तत्व विरुद्धधर्माश्रय हे तव खण्डन-मण्डन तो होना ही हे यदि खण्डन-मण्डन न होता हो तो उसकी विरुद्धधर्माश्रयतामे हमे सन्देह होने लगेगा हम तो हमारे ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रताको कथमपि सन्दिग्ध बनाना नहीं चाहते हे इसलिये हम मुक्तमनसे खण्डन-मण्डनको आमन्त्रित करते हे

कल एक बात भावनाप्रत्यक्षकी आयी थी मैने अपने पेपरमे इस विषयका खास उल्लेख किया था, लुड्विग् विट्गेन्स्टाईन्के क्रुक्च्युएर्टिंग ग्राफके उदाहरण द्वारा

हम यह बात मानते हे कि भावप्रत्यक्ष या भावनाप्रत्यक्ष उन्होंने 'भावप्रत्यक्ष' कहा हमारे यहाकी परिभाषामे हम उसको "भावात्मकताका प्रत्यक्ष" कहेगे भगवान्के दो स्वरूप हमारे यहा स्वीकारे गये हे १ आलम्बनविभावात्मक और २ स्थायिभावात्मक हमारे भीतर भगवान्के बारेमे जो भाव पैदा होता है, उसे भी हम भगवान् मानते हैं यहा तक कि हमारे भीतर रही हुयी भगवद्भक्ति भी भगवान्का ही एक रूप है और उस भक्तिसे हम भगवान्के जैसे रूपकी धारणा करते है वैसा भगवान्का रूप भावात्मक होता है

यह भक्ति तो उपलक्षण है किसी व्यक्तिमे भगवान्के प्रति भक्तिका भाव नहीं है और द्वेषभाव है तो, वह भी भगवान्का ही एक रूप है, वह भी भगवान्के आनन्दका ही एक विलास है जो हमारे भीतर द्वेषकी तरह काम कर रहा है इस द्वेषके वशात् हम भगवान्का जो रूप घडते है वह भी भगवान्का आलम्बनविभावात्मक रूप होता है उपलक्षणविधिसे "गोप्यः कामाद्, भयात् कंसः, द्वेषात् चैद्य, सम्बन्धाद् वृष्णय., भक्त्या वय विभो" यो सारे रसभावोको यहा हम स्वीकारते हे भगवान्के भावात्मक रूप एक नहीं अनेक

होते है "मल्लानाम् अशनि, नृणा नरवर, स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्, गोपाना स्वजनो, असता क्षितिभुजा शास्ता, स्वपित्रो शिशु, मृत्यु भोजपते, विराड् अविदुषा, तत्त्व पर योगिना, वृष्णीना परदेवता, इति विदितो रगगत साग्रज" इस तरह भगवान्के बारेमे जितने भाव होते हे वे सभी वस्तुत भगवान्के भावात्मक रूप होते ह यह हमारा सिद्धान्त है "त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसा यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपु प्रणयसे सदनुग्रहाय" यह आब्जेक्ट्मे रही हुयी किसी तरहकी प्लास्टिसिटि है जैसे कोई शिल्पकार पत्थरको घड कर मूर्ति बना देता है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है कि प्रत्येक चिन्तककी दृष्टिमे इस तरहकी कोई कारीगरी है आप वहा न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतोंको सकलित करके कहते हे "सर्ववादानवसर नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म अविभक्त विभक्तिमत्" इन प्रत्येक चिन्तकोंकी दृष्टिमे, इन ऋषियोंकी दृष्टिमे, और नास्तिकोकी दृष्टिमे भी इस तरहकी कारीगरी है कि जिससे "यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयति तत्तद्वपु प्रणयसे" स्तुति चरितार्थ हो जाती है वह *वपु प्रणयन* करता है

स्वसृष्ट चेतनोके भावानुरूप परमतत्व द्वारा *वपु प्रणयन* के कारण उसके द्वारा परिगृहीत भावात्मक रूपोंमे याथार्थ्य आहित हो जाता है ऐसे भाववाले द्रष्टाके हृदयारूढ भावके कारण परमात्माका वैसा भावात्मक स्वरूप अर्थाविसवादी ज्ञानसे दृष्टिगोचर होने लगता है कल्पनादृष्टि और भावदृष्टिमे यही अन्तर है कि कल्पनादृष्टिका अपने कल्पित अर्थके साथ सवाद होना नियत नहीं होता, यदि कल्प्यमान वस्तुमे कल्पनानुसारी बन पानेकी सामर्थ्य न हो तो भावदृष्टिके वश वह सम्भव बन जाता है हम यह मानते है कि सभी दृष्टिओंके साथ सवाद कर पानेकी ब्रह्मके भीतर एक तरहकी प्लास्टिसिटि जैसी सामर्थ्य है शर्त यह है कि दृष्टि दिलकी सचाईसे होनी चाहिये, मतिकी सचाईसे होनी चाहिये व्यवहारकी सचाईसे होनी चाहिये, पाषण्डसे नहीं होनी

चाहिये यदि कोई दिलकी सचाईसे नास्तिक है, यदि कोई दिलकी सचाईसे अनीश्वरवादी है, तो फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है "ब्रह्मतु शून्यमपि भवितुम् अर्हति शून्यस्य परन्तु एतादृक् सामर्थ्यं नास्ति यद् ब्रह्म भवेत्" ब्रह्ममे ऐसा सामर्थ्य है कि वह किसीके प्रति शून्यवत् हो पाता है, यदि कोई उसे वैसे भावयोगसे परिभावित करता है तो शून्यमे यह सामर्थ्य नहीं है शून्यवादका एक ऐसा भी इन्टर्प्रिटेशन् हमारे यहा है शून्यवादका यह पोझिटिव् इन्टर्प्रिटेशन् शून्यवादमे भी स्वीकारा गया है "न रूपाद्यभावाद् रूप शून्य किन्तु रूपमेव शून्य शून्यतैव रूपम्" यह मोर्-ओर्-लेस् हमारी ब्रह्मदृष्टिके जैसी ही दृष्टि है और यदि इस अर्थमे शून्यवाद है तो हमको वह बहुत अच्छा लगता है वैसे एक बात सच कहू तो मै यह मानता हू कि सर्वदृष्टिप्रहाणात्मक जो शून्यवाद है वह दर्शनशास्त्रमे एक ध्रुव है और सर्वदृष्ट्यनुग्रहात्मक हमारा शुद्धाद्वैतवाद दूसरा ध्रुव है इन दो ध्रुवोंके बीच कुछ भूमध्यरेखाए है कुछ कर्करेखाए है कई रेखाए है उन सब रेखाओका इन ध्रुवोसे न आत्यन्तिक भेद है न आत्यन्तिक अभेद है इन सभीके बीच किसी तरहका तादात्म्य है यह हमारा सिद्धान्त है इस सिद्धान्तके कारण हम तो यहा तक भी स्वीकारते है कि अनेकान्तवादका पक्ष हमारे पक्षके आस-पासका कोई पक्ष है मगर हमारा उसमे अन्तर्भाव नहीं है पहलेके कई सेमिनारोंमे इस पक्षका प्रतिपादन कर चुका हू

तो भावनाप्रत्यक्षके बारेमें मेरा यह ऑब्जर्वेशन् है इसके बाद अवयव और अवयवी के प्रत्यक्षकी चर्चाके बारेमे मैंने कुछ बाते कल बताई थीं इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका यह स्पष्ट अभिप्राय रहेगा कि हमे अवयवीका प्रत्यक्ष होता ही है यह इस बातका भी स्पष्ट प्रमाण है कि तत्त्व निरवयव ही नहीं होता इसी तरह अवयवका भी प्रत्यक्ष हमे होता है, यह पुन इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अवयवोका केवल सघात ही नही होता कस्मिश्चिद्

अवयविनि अवयवा भवन्ति केपुचिद् अवयवेषु पुन अवयवी भवति इसलिये केवल पुञ्ज ही होता हे ऐसी बात नहीं है इसका स्पष्ट प्रमाण भी हम देख सकते है जैसे कारकी एसेम्ब्लिग् होती है अनेक कलपुर्जोको जोड कर कार बनाई जाती है बनाई हुई कारमेसे कोई कलपुर्जा निकाला भी जा सकता है जब हम एक पुर्जेको निकाल कर दूसरा पुर्जा डलवाते है तो न्याय यह कहेगा कि अवयवोंके बदल जानेसे नूतन अवयवीका आरम्भ हुवा यह एक दृष्टि है लक्षणवादी दृष्टि सामान्य दृष्टि या सरल दृष्टि ऐसी है कि एक कारमेसे किसी एक अवयवको निकाल कर दूसरा अवयव डाला जा सकता है निर्माणके समय अवयवोंमेंसे कार बनी परन्तु निर्माणके बाद अवयव कारमे अवस्थित हो जाते है वृक्षोंसे वन वनता है और वृक्ष वनमे होते ही है इस तरहकी बुद्धि भी होती ही है अवयवोंमे कार/वन है अथवा कार/वनमे अवयव/वृक्ष है हर सामान्य व्यक्ति यही कहेगा कि कारके बननेके बाद कारमे स्पेरपार्ट्स् होते है ओर बनानेवाला यही कहेगा कि स्पेरपार्ट्स्को जोडनेसे कार बनती है

यही बात विकारप्रत्यक्षकी वाल्लभ वेदान्त विकारोंका प्रत्यक्ष स्वीकारता है यदि वह न होता तो इन्द्रियको 'अविकारी' कैसे कहते? ब्रह्मको 'अविकारी' कैसे कहते? अत विकारका प्रत्यक्ष होता है मगर जब विकारका प्रत्यक्ष होता है तब वाल्लभमति ऐसी है कि कुछ न कुछ ऐसा है कि जो विकारमे उपादानभूत है और अविकारी है इसलिये हम उसे 'अविकृतपरिणाम' कहते है अब पुन विरुद्धधर्माश्रयता आ गयी फिरसे 'अर्धजरतीय'न्याय हो गया पर हमको ऐसा लगता है कि "यदि इद स्वयम् अर्थाना रोचते तत्र के वयम्!"

इस बातसे मुझे अपनी पुरानी बात याद आ गई कुछ वर्ष पूर्व मेरी मूछमे एक ओर श्वेत ओर दूसरी ओर श्याम केश थे

मे जब हरिद्वार गया तब दूधवालेने जोरसे कहा "कहो भैया! कभी अहिरावण देखा था कि नहीं" मेने कहा भाइ देखले मुझे! मै क्या करू? क्या डाय् लगा कर आधी मूछको काली बनाता रहू? मेरे भीतर धीरज हे कि मेरी मूछका जो भाग आधा काला है वह कभी सफेद हो जायगा तब तक धीरज तो रखनी ही पडेगी "तस्य धीरा परिजानन्ति योनिम्" तो जब कोई विकारी होता हे तो कुछ अविकारी भी होता ही है इसलिये हम अविकृतपरिणाम स्वीकारते हे

इसी तरह प्रत्यक्षानुभव ओर स्वप्नानुभव के विषयमे जो रिडक्शनिज़्म् अपना लिया गया कि स्वप्न निरालम्बन दीखता हे, इसलिये सारे ज्ञान निरालम्बन होते हे या प्रत्यक्षमें, निर्विकल्पकप्रत्यक्षके प्रामाण्याग्रहवश जो भी ज्ञान हो रहा हे वह बाह्यार्थजन्य ही होता है, इसलिये सारे ज्ञान यथार्थ ही होते ह इस तरहका रिडक्शनिजम् वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है क्योकि हमारी बुद्धिमे "सशयो विपर्यासो निश्चय स्मृति स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक" इस भागवतवचनके आधारपर कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य माने गये है तो कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य नहीं भी माने गये है अत सभी ज्ञानोका इन दोमेसे किसी एकमें अन्तर्भाव कर देना वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे मुझे मान्य नहीं लगता है

बर्ट्रन्ड् रसेल्ने एक मजेदार उपहास किया है एक बार रसेल् सोविएट् रशिया गये वहा उन्होंने किसी डायलेक्टिकल् मटीरियलिस्ट् प्रोफेसर्से कहा कि At least you will also admit that there is something like mental phenomina in your brain which is not made of mater पर सोविएट सरकारका अधिकृत दर्शन क्योकि Dilactical materialism था इसलिये उस प्रोफेसर्ने रसेल्से कहा कि No No We don t have anything like mind in our brain

क्या मज़ेदार बात है! But do you know how Russell responded? He simply said: "But my politeness forbids me to accept you proposition". So I am also in this sense little bit polite that I am also not ready to accept such reductionistic propositions.

दूसरी बात प्रत्यक्षके बारेमें जो डॉ. मंगलाजीने एक प्रश्न उठाया कि ज्ञान फलाविसंवादी होना चाहिये कि नहीं? अर्थात् हमारे ज्ञानमें सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है? प्रत्यक्ष तो एक उपलक्षण है क्योंकि इस सेमिनारका विचार्यविषय प्रत्यक्ष है. परन्तु सारे ज्ञान और सारे अस्तित्वमें सप्रयोजनकता है कि निष्प्रयोजनकता है, यह विचार्य विषय होना चाहिये. किसी कारणसे हमारे भारतीय दर्शनमे इस विषयकी चर्चा बहुत नहीं हुयी है. उसका मुख्य कारण यह होना चाहिये कि हमारे यहां एरिस्टोटल् नहीं हुवा. एरिस्टोटल्ने चार कारणोंमें प्रयोजनको भी कारणतया स्वीकारा है. 'नियतपूर्वभावित्व' की हमारी कारणकी परिभाषाके अनुसार प्रयोजन कारणतया सिद्ध नहीं हो सकता है. क्योंकि प्रयोजन कार्योत्तरभावी होता है. मगर एरिस्टोटल्ने प्रयोजनको कारण माना.

आधुनिक विज्ञानके उद्‌भवके साथ वहा यूरोपमे सृष्टिकर्ताका अस्तित्व निरस्त होता लगा तब नीट्‌जेकी प्रसिद्ध बात आपने सुनी होगी कि वह क्रिसमस्‌के दिन चर्चमे टोर्च ले कर गया और घोषणा करने लगा कि God is dead!". अब किसकी प्रार्थना कर रहे हो? हेतु उसमे क्या था? Exixtetial Predicament. हेतु उसमें यही था कि जिस भगवान्‌के दिमागमें प्रयोजन था, जो भगवान् कर्ता कहा माना गया था वह कर्ता जब नही रहा तो अब वस्तु-सत्तामे प्रयोजनको आहित करनेवाला भी नहीं रहा. इसलिये सारा एक्जिस्टेंस् निष्प्रयोजन हो गया. ExixtetialPredicament के अनुसार केवल चेतना

ही निष्प्रयोजन अस्तित्वमे प्रयोजनका आधान कर सकती हे और मेरी चेतना अकेली होती तो सार्त्रने एक ड्रामासे इस वातको वहुत अच्छी तरहसे उभारा है कि आपका अस्तित्व गैरेलिये नरक हे क्योंकि मेरे भीतर जो भी कुछ प्रयोजन हे उनके साथ जो कुछ भी विरोध आता हे वह आपके कारण आता है अत 'नरक'का अर्थ है आप अह स्वर्ग है ओर त्व नरक है क्योंकि मेरे अहमे रहे हुवे प्रयोजनके आधानकी क्षमतामे त्वम् विघ्न करता है और जडवस्तु निष्प्रयोजन होती तो मे आधान कर देता मगर सामने भी यदि सप्रयोजन वस्तु हो और उसके और मेरे प्रयोजन यदि एक न हो तो अस्तित्व नरकायित हो जाता है यही समस्या प्रत्यक्षमे भी आती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्षके विषय मे सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है

मै अपनी बात स्पष्ट करना चाहूगा कि बम्बईसे पूना आते हे तो ट्रेनका प्रयोजन होता है पूना आना मगर वह प्रयोजन उस ट्रेनमे सवार हर यात्रीका बलात् नियमन कर नही पाता पूना आनेवाली ट्रेनमेंसे भी कोई लोनावाला न उतर सके ऐसा ट्रेनका प्रयोजन सर्वतो अतिशायी हो नही सकता तो ट्रेनका प्रयोजन यात्रीके ऊपर बन्धनकारी नहीं होता हे ओर न यात्रीका प्रयोजन ट्रेनके ऊपर बन्धनकारी हो पाता है दोनोके प्रयोजनोमे हमको तादात्म्य स्वीकारना चाहिये दोनोके प्रयोजनमे प्रतिरूपता भी हो सकती है जब बम्बईसे पूना आती ट्रेनमे बैठ कर आप उलटे बम्बई जाना चाहते हो इस तरहकी कुछ लाचारिया है मगर बम्बईसे निकली ट्रेनमे हम बैठे है इसलिये हमको पूना ही उतरना यह आवश्यक नहीं है सारे प्रत्यक्षको फ्लाविसवादी या विकल्पोंके प्रयोजनमे ही नियततया पर्यवसित होता माना नहीं जा सकता दर्पणगत प्रतिबिम्बका प्रत्यक्ष फ्लाविसवादी होनेपर भी यथार्थ नहीं होता ओर बहुत सारे ऐसे यथार्थ प्रत्यक्ष या प्रत्यय ऐसे हो सकते हैं जिनके साथ जुडे किसी तरहके फलको खोज

पाना शक्य नहीं होता ऐसा भी नहीं कि सारा प्रत्यक्ष विकल्पके प्रयोजनमे पर्यवसित ही होता हो या सारे विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें ही पर्यवसित होते हों इस तरहकी ऐकान्तिकता हमको मान्य नहीं है.

इसीके सन्दर्भमें कहना चाहुगा कि सेन्सा, सेन्सुडेटा, परसेप्ट या कन्सेप्ट मेसे किसी भी एकमें सारी प्रत्यक्षानुभूतिके रिडक्शनिजमृका अनुष्ठान करने भी वाल्लभवेदान्त तैयार नहीं है प्रत्यक्षके बारेमें हमारे इस दृष्टिबिन्दुको हम स्पष्ट करना चाहते हैं

अन्तमे वक्तव्यके उपसहारार्थ कहना चाहुगा कि विभिन्न विचारधाराओंके अनुसार प्रत्यक्षानुभूतिकी इतनी सुविशद विवेचना कोई अध्ययनार्थी अपने पुरुषार्थके बलपर समझना या समझाना या लेखबद्ध करना चाहे, और वह भी इतने स्वल्प समयमे, तो यह सर्वथा एक अशक्यता ही प्रतीत होगी परन्तु इस विचारगोष्ठीमे सहभागी होनेवाले सभी महानुभावोंने जिस सरलतासे सभी सहभागिओंको स्वय उनके और दूसरे मतवादोको भी भलीभाति अवधारित कर पानेको अपने-अपने तलस्पर्शी विवेचनसे लाभान्वित किया वह वस्तुत धन्यवादप्रदानकी औपचारिकतासे कहीं अधिक स्पृहणीय महर्घता लिये हुवे है।*



---

*यह वक्तव्य वैसे तो प्रत्यक्षविचारगोष्ठीके अन्तिमदिवसीय सत्रके अध्यक्ष डॉ श्री वी एन झाजीके अध्यक्षीय वक्तव्यसे पूर्व समापनसमारोहमे दिया था परन्तु थोडे-बहुत सशोधन-परिवर्धनके साथ इसे अविकल भूमिकाके रूपमे दे देना उपयुक्त लगता होनेसे यहा मुद्रित किया जा रहा है (गो श्या म)

* प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपक. तृतीयः तरङ्गः *

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् :

अथ प्रत्यक्षं निरूप्यते :—

"इन्द्रियात्मकं प्रमाण"=प्रत्यक्षम्.

दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति, शब्दादिवारणाय 'इन्द्रिय'- इति. तानि चक्षु-त्वग्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्.

मन. इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः :

यत्तु *मनो न इन्द्रियम्, "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च पर मन" (कठोप.१।३।१०) "मन सर्वेन्द्रियाणि च" (नारा.उप.१ – मुण्ड उप.२।१।३) इत्यादिश्रुतो भेदनिर्देशात्. "मन षष्ठानीन्द्रियाणि" (भग.गीता १५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु "यजमानपञ्चमा इडा भक्षयन्ति" (श.प.ब्राह्म २।४।४।२५) "वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" (ब्रह्म पुरा २।३।३५।१४) इत्यादौ यथा अनृत्विजो यजमानस्य अवेदस्य महाभारतस्य च पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं तद्वत् मनस षट्त्वसंख्यापूरकत्वेनापि उपपद्यते* इति केचिद् आहुः.

तत् न, "इन्द्रियाणा मनश्चास्मि" (भग गीता १०।२२) इत्यस्य विरोधात्. नच *इदं विभूतित्वमात्रगमकं "नक्षत्राणाम् अह शशी" (भग.गीता.१०।२१) "ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्" (भग.गीता १०।३८) इत्यादिवत् नतु तज्जातीयत्वस्यापि* इति वाच्यं, बाधकाभावात् उक्तश्रुते उत्कर्षमात्रपरत्वे-नापि उपपत्ते. शशिनि नक्षत्रव्यवहारस्य—ज्ञाने च तद्वत्ताव्यवहारस्य—अदर्शनात्, तत्र तन्मात्रपरत्वेऽपि, अन्यत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच विनिगमनाविरह, प्रायपाठेनैव निर्णयात् "इन्द्रियाणि दशैक च" (भग.गीता.१३।५) इति वाक्यात् च. नच *इदं दत्तोत्तरम्[1]* इति

वाच्यम्, अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्, तथासति इन्द्रियेभ्य पूर्वं "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा" (भग.गीता.१३।१५) इति पूर्वार्धे बुद्ध्या सहैव क्रम स्यात्, "हस्तादि "(ब्र.सू.२।४।६) सूत्रे प्राणगणनायां भगवता व्यासेनापि अंगीकारात् च.

यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयमपि अस्तु क्रियाज्ञान-मयत्ववत्, यमे देवत्वपितृत्वयोरिव उभयो निवेशोऽपि बाधकाभावात्, इन्द्रियत्वस्य अजातित्वात्. नच भावाभावविरोधो, धर्मान्तरत्वस्यापि उपगन्तुं शक्यत्वात् नच "अनिन्द्रियत्वे क्रमविरोध" शंक्य, उत्कर्षमात्रार्थमेव अनिन्द्रियत्वादरणाद् इति दिक्.

चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् :

एतेषाम् इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु — अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च, इति — अग्रे प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमिति, साम्प्रतं तद्योग्यविषयादिकमेव उच्यते प्रमाणविभागज्ञानार्थत्वात्.

तत्र चक्षुर्योग्या — उद्भूतरूपं, तद्वान् [rr 1], उदभूतरूपवन्मात्रवृत्तय, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगा, कर्म च तदीयं, तेषा जाति, तत्समवाय च इति स्नेहद्रवत्वेतु त्वग्ग्राह्ये इति वक्ष्यते 'मात्र' पद वायुघटसंयोगादिवारणाय. आकाशस्यतु न सयोग प्रमाणाभावात्, तस्य स्पर्शे अन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र तदभावात् च. 'समवाय' पदम् अत्र तादात्म्यवाचक ज्ञेयम्. तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति उद्भूतरूपवत्त्वेन योग्यता अत परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो, नतु महत्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति. एव द्रव्यगतधर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तित्वेन योग्यता. धर्मगतजात्यादिचाक्षुष प्रति योग्यद्रव्य-वृत्ति-वृत्तित्वेन सा बोध्या. उद्भूतत्वञ्च आविर्भूतत्वम् अनुद्भूतत्वं च

तिरोभूतत्वम्—इति च ग्रहणेऽपि[पा भे २] पूर्वं रूपस्य ग्रहणं, मुख्यतया तस्यैव विषयत्वात्, ततो द्रव्यादीनान्तु रूपद्वारकम्[पा भे ३] इति बोध्यम्.

बाह्यास्तु, *रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं न* इच्छन्ति, तत्तु आगमापायिषु रूपादिषु स्थिरत्वेन घटादे अनुभूयमानत्वादेव निरस्तम्.

अथ त्वग्-योग्या —उद्भूतस्पर्श, तद्वान्, उद्भूतस्पर्शवन्मात्रवृत्तय उक्तगुणादय, तेषां जाति, तत्समवाय च. नच *वायु वायुपरिमाणं च त्वचा न गृह्यते* इति वाच्यं, "वायु वाति" "स्वल्पो वायु" "महान् वायु" इत्याद्यनुभवापलापप्रसङ्गात्.

एवं घ्राणयोग्या —उद्भूतो गन्ध, तद्वान्, तज्जाति, तत्समवाय च.

एव रसनायोग्या —उद्भूतो रस, तद्वान्, तज्जाति, तत्समवाय च.

श्रोत्रयोग्या —उद्भूत शब्द, तद्वान्, तज्जाति च इति.

अन्येतु *घ्राणरसनश्रवणाना द्रव्यग्राहकत्व न* इच्छन्ति.

तत् न अस्माक रोचते, तमसि रसनया दुग्धादे, घ्राणेन चम्पकादे, श्रवणेन भेर्यादि, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच *उपनीतभानं तद्* इति वाच्य, तथात्वे मानाभावाद् घ्राणादीना द्रव्याग्राहकत्वस्य[पा भे ४] इति दिक्. तेन उद्भूततत्तद्गुणा पृथिवी पञ्चानाम् अभ्युपगमैकशरणत्वाद् इन्द्रियाणा योग्या, तादृश्य आपो घ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णा, तादृशं तेजो घ्राणरसनभिन्नानां त्रयाणां, तादृशो वायु त्वक्श्रवणयो द्वयो, आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुष, उद्भूतशब्दस्तु श्रावणोऽपि प्रतिध्वनिश्रवणेन गर्भगृहाद्याकाशावगमात्. दिक्कालौतु ग्राह्यार्थविशेषणतयेव गृह्येते न साक्षात्

मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्या.

केवलात्मन. इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् :

आत्मातु, केवल॰, शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षो, तथा[पा भे ८] तद्धर्मा च. किञ्च "केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषय विभुत्वाद् आकाशादिवत्. स्वात्मा लौकिकप्रत्यक्षायोग्य आत्मत्वात् परात्मवद्" इति अन्वयव्याप्त्या तन्निश्चयात्, सिद्धान्तेतु,[टि १] "यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनो- बुद्धीन्द्रियासव" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्यात्; तथा, अणुत्वात् परमाणुवद् इति अनुमानात् च. 'अहं'बुद्धिस्तु[टि २] पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात् "यन्न स्पृशन्ति नविदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासव" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्ये मनसो असंसर्गादिकथनात् च.

तम.प्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली :

तम -प्रतिबिम्ब-गन्धर्वनगरेन्द्रजालादि-प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेवेति, न तत्र कार्यकारणभावान्तरापेक्षा नापि तामसेन्द्रियस्य[पा भे ६].

अन्धकारस्थ-घटादिषुतु नृचक्षु प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषय तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं[पा भे ७] प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्ट[पा भे ८]स्य विषयतयेव निर्वाहाद्, "यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु सद् विधत्ते" (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षु-सम्बन्धि-तमो-निवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारकताया विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलुकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभाव, "अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिनामपाठात्, "ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, "इत्थम्पन्तु तमसा वायौ ज्योति प्रलीयते स्वतेजसापिहित तीव्रमा तमस्यातन तम" (भाग.पुरा ११।३।१४)

इति वध्यघातकविरोधकथनात् च. विशेपस्तु अन्धकारवादे अस्माभि प्रपञ्चितइति न इह प्रतन्यते.

तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वं तद्वादादेव अवसेयम्.

तन्यायेन गन्धर्वनगरादेरपि, मायिकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्.

अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयो. च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचार. :

अभावस्तु, कारणे आविर्भावतिरोभावयो च, यथासम्भवम् अन्तर्भवतीति तद्ग्राहकसामग्र्येव गृह्यते. कथम् अन्तर्भाव ? इति चेद् उच्यते प्रागभावध्वंसौ समवाय्यवस्थाविशेपरूपौ :—

(१)"तिरोभावसहकृता कार्याविर्भावानुकूलावस्था"=प्रागभाव .

(२)"तादृशी कार्यस्थितिप्रतिकूलावस्था"=ध्वस

इति, तदतिरेके मानाभावात्.

(१)नच * "इह कपाले घटो नास्ति" इति प्रतीतिरेव तत्र मानम् * इति वाच्यं, तस्या घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विपयतया घट-संसर्गाभाव-सामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि "इह कपाले घटप्रागभाव" इति प्रतीति तत्र मानं, तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्

किञ्च अनया प्रतीत्या आपाद्यमान प्रागभाव किं सकलघटप्रतियोगिक एक उत यत्किञ्चित्तत्प्रतियोगिको नैक ?

न आद्य, तस्य प्रतियोगिनाश्यत्वोपगमाद् यत्किञ्चिद्घटोत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे "इदानीम् अत्र कपाले घटो नास्ति —इदानीम् अत्र घटप्रागभाव"

इति प्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सकलप्रतियोगिनाश्य स* इति वाच्यं, तथा सति एकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशात् तदवयवत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि "अयं घटो नास्ति—अत्र एतद्घटप्रागभाव" इति प्रतीत्यापत्ते. नच *प्रतियोगिसत्तया प्रतीतिप्रतिबन्धात् न दोष* इति वाच्यं, तथा सति प्रागभावप्रतियोगिनो एकत्र स्थितौ सकल-प्रतियोगि-नाश्यत्वस्यापि अयुक्तिसहत्वात्, प्रतियोगिनां नश्वरत्वेन साफल्यस्यापि अशक्यवचनत्वाद्, एवं नाशकानिर्वाच्यत्वे "विनाश्यऽभाव प्रागभाव" इति लक्षणासम्भावापत्ते च. नच *गन्धाद्यनधिकरणकाल- वृत्यभावत्वस्य अदृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरण-काल-वृत्यभावत्वस्य वा तल्लक्षणस्य सत्त्वात् न लक्षणासम्भव* इति वाच्यं, सृष्टिपूर्वदशायां जन्यज्ञानसामग्र्यभावेन ज्ञातु अभावात् तदा तत्सत्त्वस्य अप्रामाणिकत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. ईश्वर पश्यति। इति चेत् तर्हि तदाज्ञया मंस्यामो न भवद्वाचा इति दिक्.

न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रागभावस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानाङ्गीकारे प्रागभावस्यापि सकलप्रतियोगिसामान्यतायां पूर्वविकल्पीय-दूषणापत्ते नच *घटत्वादिरूप-सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्त्या भाविघटविषयक लौकिकज्ञानस्य संस्कारवशाद् उपनीतभानस्य वा शक्यवचनत्वात् न एवम्* इति वाच्यम्, अनुभवाभावेन भाविघटविषयकसंस्कारस्य अभावेन उपनीतभानस्य अशक्यवचनत्वात् अलोकिकज्ञानपक्षेऽपि पूर्वं सकलघटादिविषयक-तादृशज्ञानोत्तर प्रागभावस्य प्रतियोगिनाश्यत्वानुसन्धानाद्, विरोधप्रतिसन्धाने तत् संकोचनीयम्. पूर्वं तादृशप्रतिसन्धाने संकुचितमेव तद् उत्पद्यते इति वा वक्तव्यम् तदुत्तरञ्च भाविघटीयप्रागभावज्ञान वक्तव्यम् तथा सति आत्माश्रय, भावित्वस्य प्रागभावघटितत्वात्. यदि च वर्तमान-कालोत्तर-*कालवर्त्युत्पत्त्याश्रयत्वं भावित्वम् इति उच्यते तदातु प्रागभावाप्रतीतिरेव*

एतेनेव "घटो भविष्यति" इति प्रत्ययेनापि तत्प्रतीतिरपि अपास्ता, भविष्यत्ताप्रत्ययस्य तैनेव सम्भवात्.

नापि अनुमेयत्वम् तथाहि "कपाल घटप्रागभाववत् घटीय-चरम-सामग्रीवत्वाद् यो यच्चरमसामग्रीवान् स तत्प्रागभाववान् पटीय-चरम-सामग्री-विशिष्ट-तन्तुवद्" इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रागभावरूप-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या अनुमानासम्भवाद् इति अत तद्[पा भे १] ग्राहक-मानाभावात् *सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न प्रतीत्यादिना तत्सिद्धि*

*ननु मास्तु प्रतीत्यादिना तत्सिद्धि तथापि घटत्वेन कपालत्वेन सामान्य-कार्य-कारण-भावे सत्यपि, एतेभ्य कपालेभ्य एतद्घटोत्पत्तो कपालत्वेन नियमासम्भवाद्, *एतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमानाविर-हाद्*, बहुकपालजन्ये घटे गौरवग्रासात् च तद्देशनियामक कश्चिद् वक्तव्य तादृशश्च भावाभावयो मध्ये न प्रागभावाद् अन्यइति, *तद्देशनियामकतया प्रागभाव सेत्स्यति* इति चेत्,

मैव, सत्कार्यवादे *कार्यस्य कारणे सतएव अभिव्यक्ते*, कारणादेव देशनियमसम्भवेन च तथासिद्धे अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, बहुकपाले घटेऽपि समुदायस्येव कारणत्वेन गौरवाभावात्, श्वो भाविनो अद्य अभावेन *तत्कालवैशिष्ट्यस्य आवश्यकतया तेनैव निर्वाहात् च नच *प्रागभावा-नङ्गीकारे* उत्पन्नस्य पुन उत्पत्तिप्रसङ्ग, कालोपाधीना क्रमिकत्वेन तद्वैशिष्ट्य-तिरोभावकृत-सामग्रीविघटनादेव तदभावसिद्धे अतो न एवमपि प्रागभावसिद्धि नच *यत्र पक्वे घटे युगपत्[पा भे २] स्पर्शरूपरसगन्धाना पाकजानाम् उत्पत्ति, तत्र, कारणस्य कालवैशिष्ट्यस्य च साधारणत्वात् तादृशस्पर्शादिप्रागभाव विना न निर्वाह* इति *शक्य, तादृशविपरिणामस्य* पाकसहकृत-स्पर्शादिस्वभावेनैव सम्भवात्, स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्कल्पनेऽपि लाघवात् च एवम् अव्याप्यवृत्तिसंयोगादे तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि कारणस्वभावस्यैव नियामकत्व बोध्यम् नच *प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथ ग्रहण तस्य प्रागभावावच्छिन्न-समयवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद्* इति वाच्यम्, *आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्यैव कारणत्वेन* 'पूर्ववर्तित्व' घटितलक्षणस्यैव अनादरणीयत्वेन तद्ग्रहणस्य अनावश्यकत्वाद्

आवश्यकत्वेऽपि कार्यविषयकाग्रिम-जनन-ज्ञानेनैव तद्ग्रहणसम्भवाद् अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहणे आत्माश्रयेण प्रागभावकारणतादिज्ञानस्यापि असम्भवापत्ते. प्रागभावस्य ज्ञायमान-कारणावस्थाविशेष-व्यंग्यत्वेन तस्य च उक्तरीत्या प्रागभावज्ञानाधीनज्ञानकत्वेन चक्रकापत्ते च. नच * तस्य न कारणावस्थाव्यंग्यत्वम् * इति वाच्यं, घटजननानुकूलां कारणावस्थाम् अपश्यत कस्यापि "इह घटो भविष्यति, इदानीम् अत्र घटप्रागभाव" इति बुद्ध्यनुदयेन तथात्वस्य तवापि आवश्यकत्वात्. नच * अभ्यासपाटवादेव उदयसम्भवात् न तथा * इति वाच्य, तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्ते. तस्मात् [टि'] न कारणावस्थातिरिक्त प्रागभाव.

(२) तथा ध्वंसोऽपि, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्था पश्यतएव "इह घटो ध्वस्त" इत्यादिप्रत्ययात्. नच * सामयिकात्यन्ताभावस्य घटाप्रतिकूलत्वाद् ध्वंसानङ्गीकारे घटोन्मज्जनापत्ति * इति वाच्यं, तादृगवस्थाया सत्त्वाद् निमित्तविघटनात् च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभाव तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभाव. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनसन्धानमपि युज्यते. तस्य घटान्तरत्वाङ्गीकारस्तु केवलम् अभ्युपगमेकशरणइति शब्दनित्यतावादोक्तिदिशैव अवगन्तव्यम्.

किञ्च आश्रमवासिकपर्वस्थ-कुरुपाण्डवसैन्य-प्रदर्शनस्य कश्यपकृतस्य तक्षकदग्धवटतरूज्जीवनस्य च भारतादौ दर्शनात्, तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वं च इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरेव व्युत्पादितम्.

नच 'ध्वस'-'प्रागभाव' शब्दाभिलापबाध, 'कार्य-कारण' दिशब्दवत्-सापेक्षवृत्तिकत्वेन कार्यस्थितिम् अग्रिमजननं च अपेक्ष्य कारणएव तदभिलापस्य सुखेनैव उपपत्ते. एवं 'भावि'-'ध्वस्त' शब्दावपि अग्रिमजननपूर्वस्थिती अपेक्ष्य, सत्येव कार्ये प्रयुज्येते न असति, तेन जननानुकूल-कारणावस्था-निरूपकत्व भावित्व स्थितिप्रतिकूलकारणावस्थानिरू-

पकत्वं ध्वस्तत्वम् इति वोध्यम्. नच *प्रागभावध्वंसदशायां कार्यसत्त्वे तद्दर्शनप्रसङ्ग* शंकनीय, सौक्ष्म्यादेव तदभावोपपत्ते. सूक्ष्मत्वञ्च अनुद्भूताकृतिकत्वम्

सत्कार्यवादप्रपञ्च उत्पत्तिवाददूषण च आविर्भावतिरोभाववादे सम्यग् उपपादितमिति न इह तद्विस्तर.

तस्माद् ध्वंसोऽपि कारणावस्थातो न अतिरिच्यते.

(३)अन्योन्याभावस्तु : प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद-लक्षणकत्वे प्रतियोगितावच्छेदकता-नियामक-सम्बन्धावच्छिन्न- प्रतियोगितावच्छेदकात्यन्ताभावरूपत्वे च अत्यन्ताभावएव, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-रूपत्वेतु अतिरिक्त

तत्र अतिरिक्तपक्षे "घट पटो न" इत्यादिप्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धारोप-पूर्वक-तदभावावगाहितया प्रतियोगि-तिरोभाव-सकीर्णानुयोगि-स्वरूपविषयत्वात् स्वरूपएव निविशते. यदिच तत्र "घटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् पट" इति बोध आपाद्यते तदा पृथक्त्वएव निविशते तच्च आविर्भावविशेषएव, तस्यैव इतरव्यावर्तकत्वाद् इतरव्यावृत्तत्वात् च. "अयम् अस्माद् भिन्नो अन्य पृथग्" इत्यादि-व्यवहार-साधकत्वेन तस्य आविर्भावातिरेके मानाभावात् "घट पटो न" इत्यत्र पञ्चम्यभावस्तु अनुशासनाभावात् स्वरूपात्मकत्वाद् वेति न तेनापि अतिरेकसिद्धि

नच *इतरतिरोभावएव घटापटाद्याविर्भाव [पा मे ''] * इति वाच्य, तस्य व्याप्य- वृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे तस्यापि तिरोभावान्तरं कल्पनीयम् इति कल्पना गौरवात्, अतो भावमुखप्रतीते "आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण" (   ) इतिवाक्यात् च आविर्भावाभ्युपगमस्य

आवश्यकत्वात् नाग-ताम्रैक्ये कास्यवद् अविविक्तौ विवक्षित-वस्त्वाविर्भाव-तदितर-तिरोभावावेव पृथक्त्वम् तस्य भावप्रतीत्याधिक्याच्च आविर्भावविशेषत्व तेन पृथक्त्वग्राहकसामग्र्यैव तद्ग्रह

(४)अत परम् अत्यन्ताभावो अवशिष्यते सतु तिरोभावएव, "इहभूतले घटो नास्ति" इत्यादिप्रतीते तिरोभावावगाहित्वात्, तिरोभावएव हि 'नास्ति' इति व्यवहारदर्शनाद्, घटाभावाभावस्य घटात्मकत्वेन सकीर्णत्वेऽपि अभावमुखप्रतीत्या तिरोभावत्वाव्यभिचारात् 'अभाव' पदेनापि भाव-प्रतियोगिक-पृथक्त्ववानेव प्रतीयते, "न भावो अभाव"—इति भावभिन्नो अभावइति सच निषेधपूर्वको भावएव, अन्यथा असत्त्वात् खपुष्पवत् निस्वभाव स्यात्, तथा सति न प्रतीयेतैव अत प्रतीत्यनुरोधाद् भावान्तरविलक्षण तिरोभावशक्तिरूपएव सिद्ध्यति तस्मात् न अभाव एभ्यो अतिरिक्त तत्र अत्यन्ताभाव केवलतिरोभावात्मा प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरप्रतियोगिग्राहक-सामग्र्यैव गृह्यते सामग्रीतु पूर्वोक्तेन्द्रियाणि तद्व्यापारा च

प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणा षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम्

तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि तेषा व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूप स तावत् लौकिकालोकिक-भेदेन द्विधा तत्र अलोकिक त्रिधा (क) सामान्य-(ख) योगज-(ग) माया-भेदात्

(क) तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वञ्च अनुभवसिद्ध, (ख) द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेश, (ग) तृतीयात्तु अविद्यमानाना पदार्थाना बुद्धौ उपस्थापने अतएव नैयायिकाना ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रम एतयोश्च तथात्व शास्त्रसिद्धम्, *"अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रिय विप्रकृष्ट व्यवहित सम्यक् पश्यन्ति योगिन"* (भाग पुरा १०।८९।२१) *"यद्ध्यानुध्यानममोघयैनसा धियनुसरन्ति हि तत्वमात्मन"* (भाग पुरा २।४।२१) *भक्त्या मामभिजानाति'* (भग गीता १८।५५)

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तैत्ति उप ३।३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग पुरा २।९।३५) इत्यादिवाक्यात्

लौकिकस्तु पञ्चविध पा गे * २ —

(क) सयोग (ख) तादात्म्य (ग) सयुक्ततादात्म्य
(घ) सयुक्तविशेषणतादात्म्य (ङ) स्वरूप च
इति भेदात्

तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे सयोगएव प्रत्यासत्ति

केचित्तु * इतरेन्द्रियवैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्व स्वीकृत्य दूरत्व-व्यवधानाभाव-सहकृतयोग्यता-मात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्सयोग न * स्वीकुर्वन्ति

अन्येतु * नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुन प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिका प्राप्ति स्वीकृत्य सयोगस्य द्वारत्व * खण्डयन्ति

तद् उभयमपि असङ्गत, भगवता सयोगस्वीकारात्, "चक्षुस्त्वष्टरि सयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मा मनसा ध्यायन् विश्व पश्यति दूरत" (भाग पुरा ११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात् अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्ब-पक्षानङ्गीकारात्, टि * "दूरे घट पश्यामि - निकटे हरि पश्यामि" इत्यादि सार्वजनीनाबाधितप्रत्ययात् च, निबिडतम-काचाद्यन्तरितोपलब्धिस्तु अग्ने स्थालीभेदकत्ववत् चक्षु किरणाना स्वच्छकाचादिभेदकत्वादपि सङ्गच्छते अतएव गोलकस्य सच्छिद्रतापि निरस्ता ज्ञेया ध्रुवादिविषयपर्यन्त गताना पुन अन्त प्रवेशस्तु मनसइव वेगादपि सम्पद्यते एव दूषणान्तरमपि निरसनीयम्, अस्य शास्त्रस्य अकाल्पनिकत्वात् प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्सयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता अतएव इन्द्रियान्तरापेक्षया

चक्षुषा भूयोज्ञानमपि युज्यते. तस्माद् अस्ति चक्षुष संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापार.

सएव योग्य-गुण-क्रिया-जाति-साक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते. तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु. एवं त्वग्-घ्राण-रसन-ग्रहणेऽपि ज्ञेयम्. श्रोत्रेण शब्दग्रहणेतु संयोगएव व्यापार. शब्दोहि वायुना उपनीत श्रोत्रपर्यन्तं यदा आयाति तदा श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा वाहकवायुसंयोगे तमेव संयोगं व्यापारयित्वा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते. शब्द-ग्राहक-सामग्री-प्राबल्येन [टि २] संयोगाश्रयस्य वायो· अप्रत्यक्षत्वात् न तस्य संयोगस्य ग्रहणम्. संयोगग्राहकसामग्रीप्राबल्येतु संयोगस्यापि ग्रहणं, यथा कर्णाभ्यर्णम् आगतस्य वार्ताश्रवणे वक्तृ-मुख-वायु-संयोगस्य. अभावे विशेषणतेव, शब्दग्रहे संयुक्त-वायूढ-शब्द-स्वरूपमेव वा द्वारम्.

मनसस्तु वहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकं इन्द्रियसंयोगादि, स्वधर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्.

तिरोभावस्तु इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते.

सदसदात्मकवस्तुन असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शे

पार्थसारथिमतम् :

पार्थसारथिमिश्रास्तु *वस्तुमात्रं सदसदात्मना द्विविधम्. तत्र यद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते तत् तत्र तदा प्रत्यक्षादिभि 'अस्ति' इति प्रमीयते. यदातु असद्रूपेण वर्तते, तदा सद्रूपबोधकानां प्रत्यक्षादीनाम् अकिञ्चित्करत्वाद्, योग्यानुपलब्धिरूपेण तद् वस्तु 'नास्ति' इति प्रमीयते. तस्माद् योग्यानुपलब्धि-रूप-प्रमाणान्तर-गम्यएव अभाव. योग्यानुपलब्धिश्च स्वरूपसती कारणं नतु ज्ञानमपि तस्या अपेक्षितम्. अन्यथा तस्याअपि प्रमेयत्वात् प्रमाणापेक्षायां अनवस्थापत्ते. नच "अन्धकारे हस्ताभ्यां वस्तुन सर्वत परामर्शे, जातायामपि योग्यानुपलब्धौ "किं कश्चिद् देशो अवशिष्ट."

इति सन्दिहानस्य वस्त्वभावबुद्ध्यनुदयात्, कदाचिद् अपरामृष्यापि सर्वत परामृष्टम् इति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिनिश्चये वस्त्वभावबुद्ध्युदयात् तस्या ज्ञातायाएव कारणत्वम्* इति शंक्यं, तादृशबुद्ध्यनुदयादे: योग्यानुपलम्भीय-योग्यताऽज्ञानज्ञानकृतत्वात्. तद्योग्यताया ज्ञातायाएव उपयोगेऽपि अनुपलब्धे स्वरूपसत्याएव कारणत्वेन अदोषात्. नच *अभावज्ञानम् इन्द्रियेणैव अस्तु!* इति शंकयम्, इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि तज्ज्ञानदर्शनात्. केनचित् प्रातरेव आगते माथुरे दीर्घतमे शुक्लवाससि पुंसि, मध्याह्ने पृष्टे, श्रोतु प्रतियोग्यस्मरणादेव प्रात कालीनतदभावज्ञानस्य अनुभव- साक्षिकत्वात्. नच *प्रात अवगतो अभाव तदा स्मर्यते* इति वाच्यं, प्रात प्रतियोगिन कथञ्चिदपि बुद्धौ अनारोहात्, तत्प्रतियोगिकस्य अभाव- स्यापि तथात्वेन, तत्स्मरणस्य सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्. एवं सिद्धे योग्यानुपलब्धे कारणत्वे यत्र इन्द्रियव्यापारानुपरमे सन्निहित-देश-काल-वर्ती अभाव प्रतीयते तत्रापि सैव कारणं नतु इन्द्रियादिकम्* इति आहुः.

इह केवलाद्वैतवादिन वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् :

वेदान्तपरिभाषायान्तु *योग्यानुपलब्धे कारणत्वेऽपि किं तत्स्वरूप (१) योग्यस्य प्रतियोगिनो अनुपलब्धि इति वा? (२) योग्ये अधिकरणे प्रतियोगिनो अनुपलब्धि इति वा? (३) योग्यत्वविशिष्टानुपलब्धि इति वा? (१) न आद्य:, स्तम्भे पिशाचभेदाप्रत्यक्षत्वापत्ते. (२) न द्वितीय, आत्मनि धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्ते (३) तृतीयस्तु स्यात्, कर्मधारयाश्रयणात्. तस्या योग्यत्वन्तु तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वम्. तदर्थश्च गृह्यमाणस्य अभावस्य य प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन, अधिकरणे तर्कितेन, यस्या: अनुपलब्धे प्रतियोगिभूतम् उपलब्धिस्वरूपम् आपादयितुं शक्यते तादृशत्वम्. स्फीतालोकवति भूतले "यदि घट स्यात् तदा उपलभ्येत" इति आपादयितुं शक्यत्वात्, तादृशस्थले घटाभावो अनुपलब्धिगम्य. अन्धकारेतु तादृशापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्य. अतएव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तत्र तदभावो अनुपलब्धिगम्य. आत्मनि धर्माद्यसत्त्वेऽपि आत्मनो अतीन्द्रियत्वेन निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्य.

नच * अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले, उक्तरीत्या, अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं तव अनुमतम्. तत्र इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रियस्यैव अभावाकारवृत्तौ कारणता अस्तु * इति वाच्यं, प्रतियोग्यनुपलब्धेः अभावग्रहे हेतुताया क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य अधिकस्य कल्पनात्, इन्द्रियस्य अभावेन समम् असन्निकर्षाद् अभावग्रहहेतुत्वाभावाद्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेन तेषाम् अन्यथासिद्धत्वात् च. * ननु "भूतले घटो न" इत्यादौ भूतलांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् उभयसम्मतं, तत्र वृत्तिनिर्गमने भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठ-घटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्यापि प्रत्यक्षतैव आयाति * इति चेत्, न, तस्याः प्रतीते प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य न प्रत्यक्षत्वं "दशम त्वम् असि" इत्यादि-वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षानन्तःपातित्वाभ्युपगमात्. नच * फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणवैजात्यम् * इति शंक्यं, वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्ते. तस्माद् अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वमेव * इति उक्तम्.

<u>इह कणभक्षाक्षपादमते</u> :

वैशेषिकास्तु, उक्तरीतिकामेव योग्यानुपलब्धिं स्वीकृत्य, * स्फीतालोके तत्सहकृतेन चक्षुषा, तमसि च तादृशा त्वचा, घटाद्यभावप्रत्यक्ष; तथैव इन्द्रियान्तरैः तत्तद्ग्राह्याभावप्रत्यक्षं, संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यताया अन्योन्याभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यताया अपेक्षा च * आहुः.

नैयायिकास्तु * अनुपलब्धे पूर्वोक्तां योग्यताम् अनादृत्य योग्यसहकारिसम्पन्नत्वरूपामेव योग्यताम् * इच्छन्ति.

अतएव (ते!) * अन्धकारे आलोकाधिकरण-सन्निकर्षात्मक-योग्यसहकार्यभावाद् योग्यानुपलब्ध्यभावेन न घटाभावग्रह चक्षुषा. जलपरमाणौ च इन्द्रियसन्निकृष्ट-महत्त्ववद्-विशेषणतारूपस्य तस्य अभावात् न पृथिवीत्वाभावग्रह. भूतले पिशाचात्यन्ताभावस्तु अयोग्यत्वादेव न गृह्यते अत्यन्ताभावे योग्यतातु योग्यमात्रप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यधर्मावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकत्वरूपा वा वोध्या. सर्वाभावसाधारणात् न काचिद् योग्यता किन्तु गुणयोग्यतावद् अननुगतेव * इति आहुः.

अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् :

ममतु प्रतिभाति — अनुपलब्धे न अभावग्रहं प्रति करणत्वं, "चक्षुषा अवगतः" इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगत" इति प्रत्ययाभावाद्, योग्यप्रतियोगिकत्वरूपया अभावनिष्ठयोग्यतयेव निर्वाहात्. अत तद्योग्यत्वादिविचारो व्यर्थएव. नच *योग्यानुपलब्धे अकारणत्वे घटवत्यपि भूतले घटाभावग्रहप्रसङ्ग, तस्य घटाक्रान्तत्वेन देशान्तरे इन्द्रियसन्निकृष्टाभावासत्वेऽपि तद्विशेषणत्वेन असत्वाद् इन्द्रियसन्निकृष्टेद्भूतरूपवद्-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्त्यभावादेव तद्वारणात्. अतएव न अन्धकारे, तमोवृतत्वेन भूतलस्य असन्निकृष्टत्वात्. *अनावरकत्वपक्षेऽपि अभावस्य प्रतियोगि तद्व्याप्येतर-प्रतियोगिग्राहक-यावत्सासामग्री-ग्राह्यत्व-नियमेन सामग्र्यभावादेव वारणात्, गृहान्तर्देशस्य असन्निकृष्टत्वेन सन्निकृष्ट-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्यभावेऽपि तेजोऽभावस्य तमोरूपमायाबलादेव भानसम्भवात् च भूतले पिशाचात्यन्ताभावो, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावश्च, अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. स्तम्भे पिशाचभेदस्तु स्वरूपात्मा वा पृथक्त्वात्मा वा इति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. नच *द्विष्ठगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, न एवम् * इति शंक्यं, पृथक्त्वभिन्नत्वस्य तत्र विशेषणीयत्वात्. अन्यथा तत्प्रतीतिबाधापत्ते. नच इष्टापत्ति, अनुभवविरोधात् नच *भिन्नत्वस्य विशेषणत्वे सिद्धं भेदेन * इति वाच्यं, भेद-प्रतियोगिक-भेदवत् पृथक्त्व-प्रतियोगिक-पृथक्त्वाङ्गीकारेण अतिरेकेऽपि अदोषात्. नच *सन्निकर्षकल्पनम् अप्रामाणिकम् * इति वाच्यम्, अनुभवविरोधाद्, "इदानीं घट — प्राच्यां घट" इत्यादिप्रतीतिषु विशेषणीभूतयो कालदिशो विशेषणतयैव भानदर्शनात्, शास्त्रदीपिकायामपि तथा अंगीकारात्. नच *तयो संयोगेनैव भानम् * इति वाच्यं, तस्य सदातनत्वेन तयो सदा भानापत्ते. नच *अयोग्यत्वात् न दोष * इति वाच्यं, तस्य विशेषणत्वदशायामपि तुल्यत्वात्. नच *संयुक्तसंयोगेन तमोभानम् * इति वाच्यं [१] संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यासत्तित्वं, [२] अनुपलब्धे करणत्वम्,

[२] अभावस्य असन्निकृष्टस्य भानम्, इति कल्पनात्रयगौरवात् नच * कल्पनातौल्यम्! * इति वाच्यं, मानान्तरकल्पनाया अप्रमाणिकत्वात्. प्रत्यक्षसूत्रीय-'सत्संप्रयोग'(जेमि.सू १।१।४)-पदे कर्मधारयाश्रयणेऽपि अविरोधात्. 'सन्निकर्ष'निरुक्त्या करणत्वस्य अशक्यवचनत्वाद्, असन्निकृष्टस्य मानान्तरेण उपलम्भांगीकारे विप्रकृष्टदेशिकाभावग्रहापत्ते च.

*अथ योग्यताज्ञापके तर्के अधिकरणप्रत्यक्षस्यापि सहकारित्वात् न दोष * इति चेत्, न, अभावज्ञानस्य अनुपलब्ध्यधीनत्वेन, अनुपलब्धि-योग्यताज्ञानस्य उक्ततर्काधीनत्वेन, तर्कस्यच अभावसंसृष्टाधिकरण-प्रत्यक्षाधीनत्वेन अभावज्ञानाधीनत्वात् च चक्रकापत्तेश्च. नच *योग्यताया अज्ञातायाएव उपयोग * इति वाच्यं, तर्कोपन्यासवैयर्थ्यापत्ते. तज्ज्ञानार्थमेव तदुपन्यासाद्, अन्धकारेऽपि तद्ग्रहापत्ते च. नच *तत्र योग्यता नास्त्येव * इति वाच्यं, हस्तेन तज्ज्ञानात्. अतो "हस्ताभ्यां घटाभावं जानामि—चक्षुषातु न पश्यामि" इति अनुव्यवसायाद् ऐन्द्रियकमेव घटाभावज्ञानम्. नच *इन्द्रियाणाम् अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वं शक्यम्, अधिकरणज्ञानोत्तरं नेत्रनिमीलनेऽपि योग्यानुपलब्ध्या घटाभावग्रहापत्ते. नच *फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुरोधेन तत्कारणस्य प्रत्यक्षत्वं न युक्तिसहं, "दशम त्वम् असि" इत्यादि-वाक्यजन्य-प्रत्यक्षस्थले व्यभिचाराद् * इति वाच्यं, तदसगतत्वस्य शब्दपरिच्छेदएव उपपादितत्वात्. वृत्तिवैजात्यस्य प्रमाणवैजात्योपपादकत्वे, फलवैजात्यस्य तदनियतत्वाद् आकस्मिकत्वापत्ते. वृत्तिनियतत्वांगीकारेण समर्थनेतु फलस्य वृत्तिनियतत्वेन, वृतेश्च प्रमाणनियतत्वेन, फलाद् वृत्तित्वद्वारा प्रमाणनिर्णयस्य अनपनोद्यत्वात्. उक्तवाक्याद् "दशमो अहम्" इति प्रत्यक्षोत्तरम् "आत्मान दशमं पश्यामि" इति 'जानामि' इति शब्दात्, 'प्रत्येमि' इति वा विशेषवृत्युदये, यत्नं विनापि प्रमाणनिर्णयात्. शब्दे चक्षुरादिसहकारित्वस्य परोक्षवृत्तिजनकत्वस्य च निश्चयेन, शब्दात् प्रत्यक्षस्य सर्वथा अनुपपन्नत्वात् च. अतो वृत्यनुरोधेनापि कारणम् इन्द्रियमेव. यत् पुन मध्याह्ने प्रतियोग्यस्मरणात् प्रात कालीन-माथुराभावज्ञानं शास्त्रदीपिकायाम् उक्त, तदपि न युक्तिसहं, प्रात प्रतियोगिनो बुद्ध्यनारूढत्वेन स्मरणाभावस्य ध्वंसरूपताया अशक्यवचनत्वात् प्रागभाव-

त्यन्ताभावरूपत्वे प्रश्नात् प्रागपि तत्सत्त्वेन तदापि तदभावज्ञानप्रसंगाद्, भेदरूपत्वेऽपि तथात्वात् च, अभावत्वेन संसर्गाभावत्वादिना च तत्कारणताया दुर्घटत्वात् सहकार्यन्तरापेक्षयाम् उक्तदोषप्रसंगात् च. अत प्रश्नेन प्रात कालीनसंसर्गशाब्दे जाते तस्य बुद्धौ आरोहे विरोधसंसर्गेण अभावज्ञानं मानसं, मायाद्वारके वा मानसम्-इति, न तेन स्मरणाभावस्य कारणत्वसिद्धि. एतेनैव सहकारित्वमपि दत्तोत्तरम्. तस्माद् अभावज्ञानम् अभावयोग्यतया साधितम् ऐन्द्रियकमेव इति निश्चय. इति अभाववाद.

सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र मायावादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः :

प्रकृतम् अनुसराम : उक्तसन्निकर्षजन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चाक्षुपादिभेदेन बुद्धिवृत्त्या जन्यतइति वृत्ति विचार्यते

तत्र, नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिद् आकारो नेत्रान्तर भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुन, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अत स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्यै आहंकारिकं तत्त्वान्तर 'वृत्ति' नामकं कल्प्यते

यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं :—

"प्रमार्थप्रकाशलिगाद् वृत्तिसिद्धि" (सां प्र.सू.५।१०६) "भागगु-णाभ्या तत्वान्तर वृत्ति " (सां प्र.सू.५।१०७) इति. अर्थस्तु : 'प्र-मा' पूर्वोक्तरीतिकम्-आकारज्ञानं, तत्सहितो यो 'अर्थप्रकाशो' विषयज्ञानं, एवम् उभयविधाद् 'लिगाद्' ('वृत्तिसिद्धि') वृत्तिसत्तानिश्चय. यदि वृत्ति न स्याद् उक्त आकारो न प्रतीयेत अतैजसत्वाद्, अचलं चक्षु विप्रकृष्टं विषयम् अप्राप्नुवत् तत्प्रकाशनं न कुर्यात्, जायतेच तद् उभयम् अत सा अस्ति इति निश्चय. एवं 'भागो' विभागो अहंकाराद् विभज्य

विषयदेशावधिगमनं, 'गुण' उक्ताकार, 'ताभ्यां' कृत्वा आहंकारिकं "तत्वान्तर वृत्ति" इति. अभियुक्तोक्तिश्च "कृतय प्रसरद्रूपा स्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात् तत्तत्-(तत्र)सम्बन्धार्थावबोधिका" (   ).

(द्रष्ट. : सां.प्र.वृ.सार.५।१०७) इति.

अमूर्ताया तस्या कथं क्रिया इत्यत तृतीयं सूत्रं :—

"न द्रव्यनियम तद्योगाद्" (सां.प्र.सू.५।१०८) इति. अनियतत्वात् पदार्थानां 'न द्रव्य'एव क्रिया 'नियम' किन्तु यत्र यत् प्रमाणत सिध्यति तत्र तद् अनुमन्यामहे; अतो, दूरस्थवस्तुन आकारग्रहणदर्शनात् सापि क्रियावती इति अर्थ.

इति (तत्रैव).

एवं मायावादिनोऽपि * अन्त करणविशिष्टस्य चैतन्यस्य प्रमातृत्वम् अंगीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारम् आधातुं विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष-सामर्थ्य-जन्याम् अन्त करणपरिणामरूपां वृतिम् * अंगीकुर्वन्ति.

नैयायिकादयस्तु * नयनकिरणाना निर्गमनेन विषयसन्निकर्षाद् ज्ञानम्. तेनच भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यम् आत्मनि अंगीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव न * इच्छन्ति.

अथ उक्तपक्षयो. आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च :

तत्तु नेत्रान्तरानुभवस्य सार्वजनीनत्वाद् अप्रयोजकमिति वृत्ति सर्वथा अभ्युपेयैव परन्तु या बुद्धिवृत्ति "संस्काराधानार्थं जन्यते" इति उच्यते, सा वृत्ति बुद्धे न तत्त्वान्तरं नापि अन्त करणपरिणामान्तरं किन्तु बुद्धितत्वस्य कालक्षुब्धसत्त्वादिगुणकृतो अवस्थाविशेषएव. नच * तस्य अवस्थाविशेषत्वे निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्ते दुर्घटम् * इति शंक्यं, मायागुणस्य

रजस चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारकत्वस्य सुघटत्वात्. सएव मायिक आकारो नयनकिरणेषु नेत्रमुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तर् अनुभूयते. एवमेव इन्द्रियान्तरेऽपि वृत्ति ज्ञातव्या. यद्यपि सा न अनुभूयते तथापि तादृशसंस्काराधानात् निश्चीयते. "एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तय आकूतय पञ्च धियो अभिमान मात्राणि कर्माणि पुर च तासा वदन्ति हैकादश वीरभूमि" (भाग.पुरा.५।११।९) इति जडभरतवाक्यात् च. भूमिषु पञ्चानां ज्ञेयत्वेन विषयत्वं तत पञ्चानां कार्यत्वेन, पुरस्य स्वकार्यत्वेन ज्ञेयम् सस्कारस्तु "जातस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था" इति उक्तम् बुद्धिश्च कर्मज्ञानेन्द्रियानुग्राहिका इति वक्ष्यते. साच वृत्तिद्वारैव अनुगृह्णातीति इन्द्रियजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य नानाभेदा अतो अवस्थयेव निर्वाहे साख्याभिमतस्य अन्त करणातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्. "काम सकल्प" (बृह उप १।५।३) इति श्रुतौ 'कामा'दि पदानि शक्तानि 'धी' पदं लाक्षणिकम्" इति मायावादिकल्पनायाअपि वैरूप्यादिदोष-ग्रस्तत्वात् च तद् उभयमपि असगतम्

अतो बुद्धे अवस्थाविशेषएव वृत्ति इति निश्चय

ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोतर सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायतइति प्रमा भवतु, भ्रमादिकन्तु न भविष्यति शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृततत्समर्पणायोगाद् अन्यथाख्यातिप्रभृतीना च अनङ्गीकाराद् इति चेत्, न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धे, पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे, सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसा आवरणे च, भ्रमस्य सुखेन वक्तु शक्यत्वात् एव नानाविधाद् गुणक्षोभज-वृत्ति-भेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदा उन्नेया.

जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम्':

यदा विषयेन्द्रियसयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति.

तथा इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्यन्तरेण पूर्ववृत्ते नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकै उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-महकृता स्मृति, राजसै रागादिभि संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थ-सहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम, किञ्चिदावरणे संशय, सत्वेन सर्वथावरणभंगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि.

वृत्तिविषयातु वृत्ति न भवतीति अनुभवानुसारेणैव निश्चीयते. नच "वृतीनां गुणजन्यत्वे मानाभाव" शंक्यो, "जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तय तासां विलक्षणो जीव साक्षित्वेन विनिश्चित" (भाग.पुरा.११।१३।२७) इति एकादशे हंसवाक्यात्, संशयादिवृत्तीनां तदवान्तरभेदत्वेन तदनतिरेकात्.

यत्तु "जाग्रद्भोगप्रद-कर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती" इति मतं, तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतो अवश्यवाच्यत्वेन लाघवाद् ईश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परोपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेव अवस्थाहेतुत्वं साधीय.

तस्माद् बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्ति. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते.

तथाहि :—

"अधिष्ठान तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीर वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नर।
न्याय्य वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतव॥"
(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतायां कार्यमात्रं प्रति पञ्च हेतव उक्ता.
तत्र : 'अधिष्ठान'=शरीरं, 'कर्ता'=जीव, 'करणं'=वा-

हृद्याभ्यन्तर, 'चेष्टा'=प्राणादिवायुकर्माणि, 'दैव'=काल-कर्म-भगवदिच्छादि

"ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे, अर्जुन!, तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (भग गीता १८।६१) इति वाक्याद् अन्तर्यामी वा 'दैव' पदवाच्यो "देवाना समूहो दैवम्"इति तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो वा एव सति ज्ञानजनक-मन सयोगादि-हेतुभूत-क्रियायामपि एतान्येव कारणानि

तत्र अय क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्तत्कार्यार्थ प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयससृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्व निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति

चाक्षुषेतु नयनकिरणा विषयपर्यन्त गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषय मन प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पक सविकल्पक च तत्तदिन्द्रियससृष्टे मनसि उत्पद्यते ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिक व्यापार

नच * नयनाना किरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या "अणवश्च" (ब्र सू २।४।७) इति सूत्रविरोध * शकनीय, अर्चीरूपाणा किरणाना सूर्यमण्डलाद् भेदस्य "आदित्यो वा एष" (महाना उप १२।२) इति अनुवाके श्रावणात् ते अखिलमेरूत्तरदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दश-सहस्र-योजन-परिमाण-स्मरणेन तेषा तत्परिमाणाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुष किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात् यद्वा "तथा प्राण"(ब्र सू २।४।१) इत्यत्र प्राणेषु जीवातिदेशस्य सिद्धान्ते अगीकारात् सर्वशरीरे जीवस्येव सामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्तिवत् तेषामपि देवतासामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्त्यगीकारस्य वक्तव्यत्वात् "गुणाद्वा आलोकवद्" (ब्र सू २।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य

गुणत्वांगीकारात् तैजसस्य चक्षुष आलोक-रूप-गुण-व्याप्त्यंगीकारेऽपि अदोष. एवमपि सूत्राविरोध चाक्षुष-रूप-कार्य-सिद्ध्यो सम्भवात्. अतएव त्वच सकल-शरीर-व्यापित्वमपि देवता-सामर्थ्य-स्पर्श-गुणाभ्यां युज्यते अन्यथातु सूत्रविरोध-सार्वत्रिक-स्पर्शानुभव-बाधयो अन्यतरद् आपद्येतेव. तस्मात् नयन-किरण-गमन-द्वारिकेव प्रत्यक्षप्रक्रिया साधीयसी.

या पुन *आलोकेन मायाकार्य-तमो-जनन-प्रतिबन्धे कृते, ज्योती-रूप-सूर्य-देवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दयोस्तु वायुना घ्राण-श्रोत्र-समीप-प्रापणे अन्त सत्त्वात्मकबुद्धे तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च, प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोष·* इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया.

तत्र आलोकेन तमोजनन-प्रतिबन्ध-कथनम् अयुक्तं, "यथाहि भानो उदयोनृचक्षुषा तमो निहन्याद्" (भाग.पुरा. ११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीय-भगवद्-वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूप-सूर्यदेवताया पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठ-रूपप्रापकत्व-कथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसंगेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसंगात्, तद्दर्शनार्थं तस्मिन् विषये पुना रूपान्तरोत्पादनानयनादिरूपाप्रामाणिक-कल्पना-प्रसंगात् च, सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्य रूपप्रापकदेवताया गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेश्च.

नच *"निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च" (ब्र.सू.४।२।१९) इति सूत्रे "अथ या एता हृदयस्य नाड्य" (छान्दो.उप ८।६।१) इति नाडी उपक्रम्य "अमुष्माद् आदित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यो प्रतायन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सृप्ता" (छान्दो.उप.८।६।२) इति

दहरविद्यास्थश्रुत्या रात्रावपि आदित्यरश्मिसम्बन्धस्य उक्तत्वात् तदानीं सन्ध्यायाञ्च नाडीसृप्तरश्मिभि विषयरूपप्रापणात् न घटाद्यदर्शनप्रसंग * इति वाच्यं, नाडीसृप्तरश्मिनां हृदयाग्रप्रद्योतन-जीवोत्क्रमण-मात्र-कार्यार्थतायाएव श्रावणेन तद्रश्मीनां रूपप्रापकताया वक्तुम् अशक्यत्वात्. तदानीमपि रूपप्रापकत्वाङ्गीकारे तदानीं नश्यत्वाद् अस्तमिते आदित्ये "किञ्ज्योति अयं पुरुष" (बृह.उप.४।३।२) इत्यादिज्योतिर्ब्राह्मणविरोधस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च दुष्परिहरत्वात्. अतो "नेतृत्व द्रव्यशब्दयो"(भाग.पुरा.३।२६।३७)इतिवद् आदित्यादिरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यरूपदेवताया रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्त.

किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा..२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्या विक्षेपकत्वात् च.

एवञ्च बुद्ध्याकारसमर्पकत्वमपि प्रतिबिम्बस्येव आध्यात्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्. परम् आधिदैविकन्तु शब्दैकनिष्ठ भगवदात्मकं तत् सत्यमेव. आधिभौतिकन्तु प्रपञ्चात्मकम्. तस्यतु कार्यरूपत्वेऽपि कारणरूपेणैव सत्यत्वं, नतु स्वेन रूपेण, विकाराणां वाचारब्धत्वात् सदसद्ग्रन्थिरूपत्वात् च; तदेव च लौकिकव्यवहारविषय

सविकल्पकज्ञानजन्य-हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि :

तत्र सविकल्पकं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तविधं भवति. तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-भेदा जाग्रति भवन्ति, यथासम्भवं स्वप्नेऽपि ते.

सविकल्पक-जन्य-हानोपादान-बुद्धौतु विशेष :

"इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्त ध्यायतां मन चेतनां हरते बुद्धे स्तम्बस्तोयमिव हृदाद्"

(भाग.पुरा.४।२२।३०)इति वाक्याद् विषये इन्द्रियाकर्ष. तत तै मनस, तच्च अशुद्धमिति तत्र कामोत्पत्तो उपादानबुद्धि, तादृशे मनसि द्वेषोत्पत्तौतु हानबुद्धि. नच इदम् अप्रयोजकं कामिनी कुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुष, शीतादिकालेषु उष्मादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य, भक्षितस्यापि दध्यादे पुन आस्वादनेन रसनस्य, तैश्व मनस आकर्षस्य अनुभवसिद्धत्वात्.

मनसश्च रूपद्वय : बाह्यम् आन्तरं च इति तृतीयस्कन्धे तत्वस्तुतौ "पराहृतान्तर्मनस" (भाग पुरा. ३।५।४४) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम्. तत्र आन्तरं येन विषयेण इन्द्रियद्वारा कृष्यते तद्विषयिणी हानोपादानबुद्धि भवति, येनतु न आकृष्यते तद्विषयिणी उपेक्षाबुद्धिरिति युगपत् नानाबुद्धिसत्त्वम्. नच "तत्र वेगाद् यौगपद्याभिमानएव" इति वाच्यम् ऐकाग्र्यदशायां पुस्तकदर्शने युगपत् नानाक्षरापेक्षाज्ञानस्थले वेगांगीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वाद् अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति. यदा मनसो अनाकर्ष तदा उपेक्षाबुद्धि. अतएव तस्या न स्थिरत्वम्, अभ्यासाद्यभावात्.

स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी :

इदञ्च सर्वं ज्ञानम्, अन्तकरणाद्यध्यासाद्, जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यतइति अस्य ज्ञानस्य लौकिकानाम् आत्मधर्मत्वप्रवाद इति. अन्तकरणाध्यासस्तु, हृदयदेशे जीवस्य अन्तकरणानां च स्थितत्वात्, तेषु तत्प्रतिबिम्ब; तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरे इन्द्रियाध्यास, तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासश्च भवति. प्रतिबिम्बश्च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण, इति निर्णीत "यथा जलस्थ आभास"(भाग.पुरा. ३।२७।१२) इत्यत्र तृतीयस्य सप्तविंशे अध्याये.

स्वप्नात्मिकाया. बुद्धिवृत्ते. स्वरूपम् :

एवञ्च पूर्वकृतस्य प्रारब्धकर्मण पक्वस्य जाग्रति फलभोगो भोगे क्रियमाणे आहारश्रमादिभि यदा निद्रा भवति, तदा 'स्वाप'-स्वप्नवृत्ति.

तत्र अय हृदयदेशात् नि सृत्य 'हिता'भिधानासु शुक्ल-नील-हरित-लोहित-पीत-रसभृतासु केशमहस्रभागवद् अण्वीषु नाडीषु द्वासप्तति-सहस्र-सख्याकासु तस्यान्तस्याञ्चिद् ईश्वरेच्छादिवशेन अन्तर्वहि करणानि आदाय परिवर्तते, तदा चैतन्यसकोचनेन बहिरिन्द्रियेषु मनसि च प्रकाशासक्रमात् प्रतिबिम्बो न भवति, बुद्ध्यहकारयोरेवतु भवति, तदा वुद्धिसहितो अहकाराध्यासेन स्वाप्न सुखदुखादि भुङ्क्ते तत्र प्रकाशो भगवतो, विषयश्च मायिको, भोगे बुद्धि करण, भोगश्च अहकारे यदा पुन निद्राया तमस उद्रेक ईश्वरेच्छादिवशात्, तदा अय तै सर्व सह पुरीतति प्रविशति. पुण्डरीकाकारो मासपिण्डो हृदय, तद्वेष्टिता नाडच 'पुरीतत्'—शब्देन उच्यन्ते तदा सुषुप्ति कदाचिद् भगवदिच्छया तस्य हृदयस्य अन्तर्, य 'आकाश' शब्दवाच्य परमात्मा, तत्र सम्पद्य शेते द्विविधायामपि सुषुप्तौ कर्मासंसर्गाद् दु खाभाव द्वितीयस्या परमानन्द इति विशेष तत पुन भगवदिच्छादिवशेन परमात्मन सकाशात् सर्वेषा प्राणादीनाम् आत्मान्ताना व्युच्चरण ततो जागरणे स्वस्थानस्थिति पूर्वोक्तरीत्या तत्तदनुभवादि च इति

सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमत-सयोगसम्बन्ध-घटित-प्रणाडी-विमर्श :

नैयायिकास्तु * "आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, इतिक्रमेण आत्मन्येव ज्ञानम् उत्पद्यते" इति आत्मधर्मत्व अन्यज्ञानस्य * आहु

तन्तु श्रुतिविरोधादेव अपास्त, विभो निरवयवस्य आत्मन सयोग प्रति कर्तृत्वायोगात् च नच * अन्यतरकर्मजएव सयोग तत्र अस्तु * इति वाच्य, मनसएव कर्तृत्वापातात्, तस्यैव क्रियाश्रयत्वाद्, जीवे गुणाधीनत्वेन कर्तृत्वायोगाद् इति

उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्श :

मायावादिनस्तु * ब्रह्मात्यकम् एकमेव ज्ञान स्वीकृत्य बुद्धौ तस्य प्रतिबिम्ब, तस्यैव व्यावहारिकज्ञानत्व च अगीकृत्य, चिदुपरागावरणभगाभेदाभिव्यक्तिपक्षान् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाय * आहु

तदपि असगतं, प्रतिबिम्बस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, ब्रह्मणो नीरूपत्वात्, बुद्धेश्च अस्वच्छत्वात्. दर्पणवत् किञ्चिद्देशावच्छिन्नस्वच्छत्वम् अंगीकृत्य आकाशस्येव ब्रह्मण प्रतिबिम्बांगीकारेऽपि ब्रह्मण सच्चिदानन्दरूपत्वेन सदानन्दयोरपि प्रतिबिम्बापातात्. नच इष्टापत्ति, ज्ञानवत् तयोरपि भानापत्ते, सर्वदा सर्वेषाम् अन्तशरीरस्थ-सर्वज्ञानापत्ते च; प्रतिबिम्बाधारत्वयोग्यायां बुद्धौ ज्ञानस्येव आन्तराणां नाडयादीनां सन्निहितत्वेन तत्प्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात् किञ्च अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बभूतानां जीवानां व्यापकतया स्वत सर्वपदार्थससृष्टत्वाद् बाधकाभावेन अविद्यायामपि सर्वप्रतिबिम्बसम्भवेन तत्तत्संसर्गे द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणइव तेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वात् च वृत्ति विनेव स्वरूपचैतन्येन सर्वावभासकताया शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषा सर्वज्ञता स्यात्. नच * अन्तकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्ति, व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्. संसर्गतौल्ये एकस्यैव एकान्तकरणवैशिष्ट्यं न अपरस्य इत्यत्र हेत्वभावात्. अदृष्टादीनां हेतुताकल्पनस्यापि अनेनैव न्यायेन निरसितुं शक्यत्वात्.

* ननु दूषणग्रासात् मा अस्तु व्यापकानेकजीववाद किन्तु व्यापकैकजीववादो अस्तु तथाच तस्य सर्वज्ञतायाम इष्टापत्ति * इति चेत्, सत्यम् इष्टापत्ति स्याद् यदि एकत्रैव सर्वज्ञता स्यात् नच एवम्, अविशेषण एकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्र अविद्योपहितस्य साक्षिण एकत्वात् सर्वत्र उपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात् च, ब्रह्मणइव जीवस्यापि सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सर्वज्ञतायां बाधकाभावात्. नच * ब्रह्मापि एकत्रैव सर्वज्ञ न सर्वत्र * इति वाच्यं, ब्रह्मविष्णुशिवादि-शरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादक-शास्त्रविरोधापातात्. नच * अविद्योपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽपि अन्तकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तन्निकटस्यस्यैव ज्ञानं प्रमातु भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्ति * इति वाच्यं, प्रमात्रभेदे करणभेदस्येव साक्ष्यभेदे प्रमातृभेदस्यापि अप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिणएव भासकत्वात् नच * तस्य अविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं किन्तु अन्तकरणोपहितरूपेण, तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदात् न सार्वज्ञ्यापत्ति *

इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्. तथासत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनाम् आन्तराणां अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानन्तु अस्य निर्बाधमिति आन्तरसर्वज्ञताया दुर्वारत्वात्. *ननु सर्वेषां प्रतिबिम्बो न अस्माभि अंगीक्रियते* इति चेत्, मा एवं, यद् अयं न स्वीक्रियते, क तत्र हेतु ? न तावद् असन्निधि, अविद्याया व्यापकत्वात्. नापि बिम्बालोकसंयोगाभाव, सूर्यादि विद्यमानत्वाद्, अन्तःकरणस्थलेऽपि अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद्, अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बित-सूर्यप्रकाशेन आन्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्, इहापि जीवचैतन्य-प्रकाशितान्तःकरण-संसृष्टे आन्तरबिम्बे आलोकान्तर-संयोगानपेक्षणात्. जीवचैतन्येन आन्तरप्रकाशानंगीकारे साक्षात् संसृष्टान्तःकरण-तद्धर्मादीनामपि अनवभासप्रसंगात्. मतेच तदवभासे तद्वदेव तत्संसृष्टानामपि अवभासाद् अहंकारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यपि अनुसन्धीयेरन्, संस्काराधाय-कस्य अवभासस्य तुल्यत्वात् अथ एकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादौ अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धे अविद्यादौ इतरेषा प्रतिबिम्बो न भविष्यतीति अवरोधएव प्रतिबिम्बाभावे हेतु इति विभाव्यते, तदपि असंगतम् एकप्रतिबिम्बावरुद्धे अन्यप्रतिबिम्ब तदा न भवति यदा बिम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति इहतु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषा ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावात् न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोधइति दुर्वारएव सर्वेषां प्रतिबिम्ब इति. *ननु भवतु सर्वेषां प्रतिबिम्ब तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्ति भवित्री, जीवसाक्षिवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा सति कूटस्थचैतन्य वा जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूत शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति तस्यतु सर्वज्ञत्वेऽपि अदोष. जीवस्तु, यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावाद् अश्वादिसंगित्वाभावेऽपि सास्नादिमद्व्यक्तौ संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवस्वभावाद् अन्तःकरणएव संसृज्यते. यदाच अन्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवद् झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तम् उपारुह्य जीव तं विषयं गोचरयति. केवलाग्न्यदाह्यस्य तृणादे अय पिण्ड-समारूढाग्नि-दाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादे अन्तःकरण-वृत्त्युपारूढ-तत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमम् अपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषय-

मात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्, मा एवं, एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशप्रतिबिम्बत्वाद् अवच्छिन्नत्वे च ज्ञानरूपत्वात् स्वप्ने 'स्वयञ्ज्योतिष्ट्व'(बृह.उप.४।३।९)प्रतिपादनात् च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्नइव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादि-संस्कारवशादेव इन्द्रियं विनैव वृत्त्युपपत्ते ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्यु.

किञ्च अय पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्ने साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्व-दर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्ट-प्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशो अस्य स्यादेवेति अधिकं तत्र अनुप्रविशेत्.

वस्तुतस्तु एवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विव एकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणसंसर्गस्य वक्तव्यत्वात्. तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपारूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्, सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्य अनुपपन्नत्वमेव. अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहित-जीवचैतन्य-तादात्म्यापन्न-वृत्तिविषय-संयोगद्वारको जीवविषययो परम्परासम्बन्धो वा, अन्तःकरणवृत्त्युपादनस्य जीवस्य वृत्ति-विषय-संयोग-जनित कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकारणसंयोगात्मा साक्षात् सयोगो वा अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैतन्यस्य विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्म चैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषय-तादात्म्य-सम्पादनं वा, अन्यद् वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेन अभिधित्सितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां च अन्तःकरणानां सर्वशरीर-व्यापक-जीव-संसृष्टत्वेन, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्ति अनिवार्यैव. तत्रापि अनुपदोक्ते विषय-तादात्म्य-सम्पादन-पक्षे मैत्रस्य चैत्रदर्शने "अहं चैत्र" इत्याद्याकारकज्ञानापत्ति अधिका आयातीति फल्गून्येव एतानि कल्पनानि.

अथ जीव सर्वगतोऽपि अविद्यावृतत्वात् स्वयम् अप्रकाशमानतया विषयान् अनवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादौ आवरणतिरोधानेन तत्रैव

अभिव्यक्त तमेव विषयं प्रकाशयतीति आवरणभंगपक्षे किञ्चिज्ज्ञत्वार्थम् आलम्ब्यते, तदापि आवरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाद् जाते वृत्त्युपरागे तेन आवरणभंगे सर्वान्तकरणसंसृष्टो जीव तत्तद्विषयेषु अभिव्यक्त तं-तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्ति. एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेन एकदेशाज्ञाननाशो वा, पटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवद् अपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्यापि अज्ञानस्य तत्तदाकार-वृत्ति-संसृष्टावस्थ-विषय-चेतन्यानावरकत्व-स्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञानावस्था-भेद-रूपाज्ञानान्तर-नाशो वा, अन्यो वा, यः कश्चनावरणभंगो निरुच्यतां स सर्वोऽपि वृत्त्युपरागजन्यएवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैव आयातीति न एतेऽपि रोचिष्णव पक्षा.

ननु एकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरम् आपन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानादर्शनात् शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धान-प्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति सएव किञ्चिज्ज्ञतायाअपि प्रयोजको भवतु. तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्त करण-वृत्त्यादिभि ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषा सार्वज्ञ्यापत्ति इति चेद्, न, शरीरभेदस्य अननुसन्धानप्रयोजकताया योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामपि अतन्त्रत्वात्.

एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य च अननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्त बोध्यम्, "उद्यदायुधदोर्दण्डा पतितस्वशिरोक्षिभि पश्यन्तो पातयन्ति स्म कबन्धा अप्यरीन् युधि" (महाभा.) इति भारते भूतार्थवादात् च. नच *योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेण अनुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनाम् उत्सर्गत तथात्वात् न अननुसन्धान-प्रयोजकत्व-हानि* इति वाच्यं, बहुषु व्यभिचारदर्शनात्. एकत्र तथा दर्शनेहि औत्सर्गिकाननुसन्धान-तन्त्रत्वाविघात प्रभाव-विशेष-समवधान-वशात् कल्पयितुं शक्यते, नतु बहुषु तथादर्शने. अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु, मनुष्याद् उत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च, पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्र उक्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यात् च, न पूर्वोक्तोपाधीनाम् अनुसन्धानतन्त्रत्वं साधीय.

नापि अन्तःकरणभेदस्य तथात्वं, दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्य अन्तःकरणस्य नष्टत्वेन अग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात् पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसंगात्. साक्ष्यैक्यैन तत्समर्थनेतु अन्तःकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वात्, तत्तदन्तःकरणै अस्य सर्वज्ञतायाएव आपत्ति. अन्तकरणवैजात्येन समर्थनन्तु मज्जत्-फेनावलम्बन- कल्पत्वात् कदर्यमेव. "पादेन स्पृशामि"-"कर्णाभ्यां शृणोमि"-"चक्षुषा पश्यामि" इति बाह्यकरणभेदेऽपि एकस्य ज्ञानवत् "तेन-तेन अन्तःकरणेन तत्तद् जानामि" इत्यादिज्ञानस्य अन्तकरणवैजात्येऽपि सुवचत्वात् सृष्टिदृष्टिवादम् आलम्ब्य अन्तःकरणैक्यांगीकारेण समर्थनेऽपि बहिःकरणवैजात्य-स्येव अन्तःकरणभेदस्यापि अप्रयोजकत्वाद् उक्तदूषणं निर्बाधमेव. नच *फलबलात् न अन्तकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वम्* इति वाच्यं. फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेन अन्तःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्. फलबलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्. अतो व्यापक एक प्रतिबिम्बो जीव इतिपक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहार.

ननु तर्हि अस्तु नानाणुजीववाद. तथासति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बित-चैतन्य-रूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावात् न सर्वज्ञतापत्ति भवित्री. विषयप्रकाशस्तु विषय-संसृष्ट-वृत्ति-द्वारा, तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद्, जीवस्य विषयावच्छिन्न-ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते इति चेद्, न इदं युक्तं भाति, "सलिल एको द्रष्टा(अद्वैतो) भवति" (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणो एकीभावश्रवणात् तदितरत्र तदुपगमे श्रुतिविरोधाद्, जाग्रदादौ व्यावर्तकोपाधे विद्यमानत्वात् च, दर्पणसत्वे बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणो अभेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च जीवब्रह्मणो इदानीम् अभेदे अन्योऽन्यधर्म-विनिमयाद् ब्रह्मणो अल्पज्ञता अन्यस्य सर्वज्ञता च आपत्स्यत-इति न उक्त-दूषणोद्धार-सम्भव. यदिच बिम्बभूतं विषयाधिष्ठान-चैतन्यमेव साक्षाद् आध्यासिक-सम्बन्ध-लाभाद् विषयप्रकाशकमिति आध्यासिक-सम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीवैकीभावो,

ननु बिम्बत्व-विशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावात् न उक्तदूषणापत्ति * इति विभाव्यते, तदापि विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मणातु एकीभावो अस्य जातएवेति "अहं घट" इत्याकारक-ज्ञानापत्ति , अध्यासेन अन्तःकरणतादात्म्या-पत्त्या 'अहम्' इति ज्ञानवद्, अन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वस्मिन् अभिमानवद् विषयधर्माणामपि अभिमानप्रसङ्गो, "अयं घट" इत्यादिज्ञानाभाव च स्यात्

यदिच *विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टाया वृत्ते अग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बम् अर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेन एकीभावे अभेदाभिव्यक्ति, तस्या सत्यां विषयप्रमिति * इति विभाव्यते, तदातु सुतराम् असङ्गतं, वस्त्वन्तरावरुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद्, विषयससृष्टे अग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगात् विषयप्रकाशस्यैव अभावप्रसक्ते. किञ्च प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद् बहि तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात् प्रतिबिम्बायोग ? यदिच विषयान्त तदापि विषयेन व्यवधानात् तथा. यदि विषयाद् दूरवर्तिन तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैव अयोग. किञ्च अन्तःकरणोपाधि-परिच्छिन्न-प्रतिबिम्बस्य अणुत्वाद् ऊर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्ति , "तमुत्क्रामन्त प्राणानूत्क्रामन्ति" (बृह.उप.४।४।२) इति श्रुते. किञ्च एवं कल्पनैकशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो वृत्तिरूप-परिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृ-वृत्ति-विषय-चैतन्याभेद-सिद्ध्या विषय-प्रकाश-सम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रिय-कल्पनापि वृथा स्यात्. तस्माद् अनादरणीयाएव एते पक्षा

एतेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न-चैतन्याभेद ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रयो-जक इत्यपि निरस्तम्

किञ्च यत्र भ्रमद्घटो गृह्यते तत्र वृत्त्युपरञ्जकस्य भ्रमणस्य विषयनिष्ठत्वाभावेन तत चिदुपरागायोगात् तदग्रहणापत्ति नच *तत्र अनिर्वचनीयं तज्जन्यतइति सुखेन तद्ग्रहणसम्भव * इति वाच्यं, वृत्त्या घटाकारिकया आवरणाभिभवेन भ्रमणांशे विक्षेपस्य अशक्यवचनत्वात्

किञ्च वृत्त्या विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदभावात्, नयनप्रदेशे तदननुभवेन इन्द्रियेऽपि तदभावाद्, वृत्तिमात्रजनकस्य इन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वात्, क्लृप्तेश्च सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगाद्, अन्तःकरणावच्छिन्नेऽपि "अहं भ्रमामि" इति अननुभवात् स भ्रम· सर्वत्र अलब्धसत्ताको घटेऽपि न स्याद्. यस्मात् क्वापि असन् घटदेशे अनुभूयते, तस्मात् तद्देशावच्छेदेन जायमाने मनोधर्मरूपे ज्ञाने अस्ति, तत् चेत्, प्रमातृविषय-चैतन्याभिन्नं स्यात्, तदा स भ्रम सर्वानुभवगोचर· स्यात्. यस्मात् न एवं तस्मात् तज्ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव इति निश्चय. नच "शुक्ति-रजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजताध्यासदर्शनात् अंशतएव आवरणनाशइति, अंशान्तरेण भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति, न तदननुभवानुपपत्ति " इति वाच्यं, (क) विषये तत्सत्त्वे अन्येषामपि तदनुभवापत्ते, (ख) अन्येषां घटद्रष्टृणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशाद् अस्यापि तदनुभवापत्तेश्च विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात्, (ग) पुरुषाश्रितपक्षेतु. उक्तरीत्या, प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टकुटीप्रभातवद् अननुभवस्य सर्वानुभवगोचरत्वस्य वा आपातात् शुक्तिरजतस्यापि एततुल्यत्वाद्, (घ) एवंमूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वं अङ्गीकृत्य, घटावरकाज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि, नैश्चल्यावरकस्य अनिवृत्त्या भ्रमविक्षेपादरणेऽपि, पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति चैतन्याभेदस्य पूर्ववदेव असिद्धे, वृत्ते ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्य उत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयावरण-तन्नानात्व-कल्पनयो गुरुत्वाद् अप्रमाणिकत्वात् च

एतेनैव घटावरकाज्ञानगतावरण-शक्तिमात्रनिवृत्ति नतु विक्षेप-शक्ति-निवृत्तिरपि इति पक्षो निरस्तो बोध्य, नैश्चल्यावरणम् अन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवाद् आवरण-शक्ति-निवर्तकताया अप्रयोजकत्वात् च, जलप्रतिबिम्बित-वृक्षाधोग्रत्व-भ्रमेतु प्रतिबिम्ब-पदार्थस्य अतिरिक्तत्वेन, मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य — ततो विप्रकृष्टे अग्रस्य — प्रतिबिम्बाद् प्रतिबिम्बत्वेनैव अवगाहाद् भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन तत्र आवरणादि कल्पनायाएव अयोगात् च इति दिक्.

अतो जन्यज्ञानस्य इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधान-दर्शनात्, शक्तिग्राहकेषु कोशादिषु 'प्रेक्षोपलब्धि चित् संविद्' (अम.को.१।५।१) इति 'चिदा' दिभि सह 'बुद्धे' ऐकार्थ्येन वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वनिश्चये तत्र ज्ञानोपचारपक्षस्य अयुक्तत्वात् च जन्यज्ञानम् अतिरिक्तमेव तदुत्पत्तिप्रणाडी च पूर्वोक्तरीतिकेव इति निश्चयः

भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी :

भगवत्साक्षात्कारेतु न एषा प्रणाडी. तस्य प्रमेयबलादेव भवनात् "नायमात्मा.." (मुण्ड.३।२।३) इति श्रुतौ इतरसाधननिरासेन उपलक्षणविधया निरस्तत्वाद्, उत्तरार्धे (द्रष्ट."यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इत्यस्मिन्नंशे : मुण्ड ३।२।३) वरणस्य लाभसाधनत्वकथने स्वस्यैव तनुविवरणसाधनत्वोक्ते च. वरणञ्च अनुग्रह. सच धर्मान्तरमेव नतु फलदित्सा, "यस्य अनुग्रहम् इच्छामि" (   ) इति वाक्यात्. सच भक्तिबीजभूतो अतो "भक्त्या माम् अभिजानाति" (भग.गीता.१८।५५) "भक्त्यात्वनन्यया शक्य" (भग.गीता.११।५४) "भक्त्या अहम् एकया ग्राह्य" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिषु न विरोध. अवतारदशायान्तु "मां सर्वे पश्यन्तु" इत्याकारिकया सामान्येच्छयापि दर्शनं; तत्रापि, नानाविधाभि यथा "मल्लानामशनि..." (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यादौ

एवञ्च भक्त्या सामान्येच्छया च इति द्वेधा दर्शनम्. उभयथापि प्रमेयबलमेव कारणमिति न विरोध स्वसाधनसामग्र्यादिभि दर्शनज्ञानन्तु अभिमानमात्रात्. अतएव "अविज्ञात विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप.२।३) इत्यादिश्रुति सङ्गच्छते. "मनसैवानुद्रष्टव्य" (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादावपि प्रमेयबलानुगृहीतमेव तदभिप्रेतमिति श्रुत्यन्तराविरोधाय अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपको तृतीय तरङ्ग.

समाप्त

'Prasthānaratnākar' Prstāvanā

by Goswami Sri Shyammnoharji

प्रत्यक्षप्रमाके करणका निरूपण

English Translation Dr Mrs Sunanda Y Shastri

Sense organs should be understood as the means of direct perception The sense organs of six kinds viz eye, skin, nose, tongue, ear and mind (मनस्) Mind is internal and external both, since it is connected with action and knowledge These sense organs are atomic in size, beyond the grasp of gross sense organs and though they are not eternal, still they are long lasting and changing or subject to transformation

As their objects, the manifested form, objects having manifested form, number, measurement, disjunction, conju nction, division, otherness, separateness, speed etc qualities, action manifested in these, their category (जाति = universality) indicated by suffix (त्व) (Tva) and all these qualities, actions and properties with their substratum

Qualities, actions and properties and their one ness with the substance, in which the manifested touch and (objects) having manifested touch are perceivable by the skin (tactual) Substance having manifested smell, and the qualities actions and properties of such substance and their oneness with

substratum are perceivable by nose (olfactory) Taste, substance having taste, qualities, actions and properties of substance having manifested taste and their oneness with substratum are perceivable by tongue (Qustatory) Sound, substance having sound, qualities, actions and properties of substance having manifest sound and their oneness with substratum, are perceivable by ear (auditory)

According to some thinkers, nose, tongue and ear these organs do not perceive the substance, but only perceive qualities But according to Vallabha Vedānta, it is better to hold that these sense organs perceive the substance It is because in the experiences of milk after drinking milk in the darkness of night, of flowers after smelling Campaka etc fragrant flowers and of trumpet after hearing trumpet sound etc, objects are directly perceived by tongue, nose and ear respectively

The Earth having manifested qualities, becomes object of the five sense organs Water having manifested qualities becomes the object of four sense organs, except nose Fire becomes object of three sense organs except nose and tongue Wind becomes object of two sense, organs viz skin and ear The sky is formless therefore, not perceivable by the eyes, but by the power of object to be known (प्रमेयबल) space becomes visible to eyes Similarly directions and time both are not perceivable by the sense organs, still they both being the adjectives of perceivable objects, are perceived

Desire etc are variations of mind are perceived by the mind

Soul, in its true form is perceivable only through the means prescribed in the scriptures and not by the worldly direct perception Though the soul being one with the notion 'I' (ego) becomes perceivable by the intellect having notion 'I' (ego) Or perception of the soul, in its pure form, cannot be perceived by ordinary perception Only through proper means, prescribed by the scriptures, the perception of soul is possible The self can be experienced through the notion 'I'(ego) by an individual due to the identification of self with ego

Reflections, illusory or ghost figures and hypnosis are experienced not because of the perceiving ability of sense organs, but because of the nature of that particular object, therefore, it is unnecessary to search cause and effect in appearance Similarly, darkness is not accepted as the absence of light but it is Māyika (illusory) object It is connected with the basic construction of human eyes Hence other animals are able to see into darkness, since illusory (मायिक) darkness cannot cover their eyes Human eyes become covered by the illusory (मायिक) darkness due to the lack of proper/enough light Similarly, refrection also is accepted as one illusory (मायिक) object This topic is discussed at length in Andhakāravāda and Pratibimbavāda

Among the kinds of Abhāva (non existence) accepted by Naiyākas prior non existence (प्रागभाव) is condition of

substance considered as (उपादान) (material cause) or (समवायी) coherent of the name form and actions of the effect with concealment (तिरोभाव) and favourable to the manifestation (आविर्भाव) of effect Similarly Posterior non existence (प्रध्वसाभाव) is unfavourable State of the effect Thus, by perceiving the material cause, the method of perception of prior non existence and posterior non existence can be understood This topic has been explained in detail in 'Āvirbhāvatirobhāvavāda' chapter of Avatāravādāvalī, therefore, not discussed here in detail As far as the 'Mutual non existence' (अन्योन्याभाव) is concerned It should be noted that it is in two wys Viz first of all, in the example of "Pot is not cloth" The absence of pot in the cloth is experienced and objected as "Can pot be cloth?" which is refuted as "Pot cannot be cloth" Thus, the mutual non existence can be perceived The point to be noted here is, the relation by which cloth is absent in the substratum pot, by the same controlling relation Clothness is absolutely absent in the substratum pot Accepting thus mutual non existence (अन्योन्याभाव) dose not remain as an independent variety of non existence and it becomes 'Absolute non existence' (अत्यन्ताभाव) As Pot exists in the pot by the relation of identity (तादात्म्य), it does not exist in the cloth, such kind of explanation is given about Mutual non existence By imposing non existence of cloth on the pot and then negating it, the total form of pot is revealed by the concealment of cloth Therefore, it is proper to include the mutual non existence of cloth and pot in the form of cloth and

pot The last kind of non-existence i e Absolute non existence (अत्यन्ताभाव) should be understood as concealment (तिरोभाव) Because 'Absolute non-existence' cannot be deemed as essenceless like sky flower (खपुष्प) The absence of anything in any place is called its 'Absolute non existence', then definition of absence is formed through the experience of concealment of that object Then only "Pot is not on the floor" such kind of perception of the floor associated with concealment of pot is perceived

After the explanation of sense organs, their actions need to be explained The action of sense organs is called (प्रत्यासत्ति)-contact It is of two kinds, viz (1) Ordinary actions and (2) Extra Ordinary actions

Ordinary actions are again of five kinds viz

(1) Contact (संयोग)

(2) Identity (तादात्म्य)

(3) Conjunction and identity (संयुक्ततादात्म्य)

(4) Conjunction cum adjectivity (संयुक्तविशेषणता) and

(5) Essence (स्वरूप)

Visual perception of substance takes place when the substance comes in contact with the eyes The perception of emotions like determination, doubt, pleasure etc, which arise within through mind (मनस्), takes place through identity contact Perception of qualities, actions and properties in the substance is possible through conjunction and identity

(सयुक्ततादात्म्य)contact Concealment(तिरोभाव) is always perceived in the form 'conjunction cum identity' (इन्द्रियसंयुक्त-विशेषणता) contact with sense organs Similarly, to perceive mental states, form of those mental states themselves become contact

Extraordinary activities are of three kinds viz 1 Universal (Samanya), 2 Supra sensuous (Yogj) and 3 Māyā

General properties in the persons are perceived by the universal contact Therefore, universal contact is useful in the inherent knowledge of particular person Future, past or extra sensory things are perceived by Supra sensuous contact The Mayika contact creates perceptual error without manifesting non existent or concealed objects presenting in the intellect in particular time space

After this discussion, the author has discussed in detail the Anupalabdhi Pramana (non apprehension), which is presented to define perception of non existence of the object, according to those schools of thought, which accept object as existing and non existing both In this regard, after evaluating the views of SrīParasanath Misra, Vedanta paribhasakār, VaisesAesYikas and Naiyayikas, the author has expressed his own view, stating that, it is not necessary to accept non apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non existence Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its

knowledge is manifested Similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension (अनुपलब्धि)

Indeterminate knowledge created by the Sense object contact achieves its visual etc determinate state through mental states Therefore, discussion of nature of mental states becomes necessary

Form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes This form cannot be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible So, that form has to be accepted as the form of some inner object within Sānkhya school calls it Vrtti (state) as different egoistic principle Naiyāyikas believe that the rays of the eyes reach the object and there is sense object contact Through this sense object contact some kind of impression is formed, which is inherent in the Atman, accepting thus, they reject the Vrttis (state)

It is necessary to note that, the form of the perceived object in the eyes ■ matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it ■ proper to accept internal state It should not be deemed as different principle or different inherent properly of Atman Because, this is some particular state of intellect according to Vallabha Philosophy How can the internally set intellect take form of outer object, answer to such doubt is When sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object

is reflected in sense organs, just as one's face is reflected in the mirror Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance, and non disturbance in the intellect, therefore, due to this disturbance, mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also It happens so, because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect is in position of helping the organs determinate knowledge and favourable activity to that arise Sometimes, when helping nature of intellect is obstructed due to increase of Rājas or Tamas, then doubt or determinate knowledge of error arises Thus, all these mental states are particular state of intellect only After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place Otherwise if intellect is shaped in the form different than the object then it is believed to be an error Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states As per the statement of Bhāgavata, *"Mental states, viz awakening, dreaming and deep sleep are emerge from Gunas and individual soul is definitely different from them as spectator"* proves that all kinds of knowledge is mental state only When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant then it is dream or state of deep sleep Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that the mixing and friction among three Gunas, which

are manifested for the sport of Lord, goes on according to will of God Thus, it is better to accept that Gns are the nearest cause of different states of intellect That is why, in the eighteenth chapter of Bhagavad-gītā it is said that body as substratum (अधिष्ठान), Jīva as agent(कर्ता), instruments(करण) such as sight etc external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāna etc vital airs called Cestā, time and Lords will called destiny(दैव) or the inner controller(अन्तर्यामी) of all living beings described in the 61 verse in the 18 chapter of Gītā, become instrumental in all our activities

The process of direct perception is like this [1]Mind becomes ready for particular action inspired by inner controller (अन्तर्यामी) [2]Then mind inspires concerned sense organs [3]When sense organs are in agreement with their preceding deities, then only sense organs come in contact with objects [4]Then indeterminate knowledge is generated after object are reflected in sense organs [5]Then, along with the mixing and friction of three Gunas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially of totally [6]Then mental states accordingly manifest and different kinds of determinate knowledge arise [7]Emotions like attachment, aversion or neutrality etc become strong according to the different kinds of determinate knowledge, [8]from those emotions, inner and external activities, like will efforts etc emerge [9]Then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and [10]In the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or

indifference manifest

According to the method described above, all the activities done through intellect are deemed by Jīva (individual self) as happening within due to superimposition of Antahkarana (अन्तःकरणाध्यास) imposition of Pāna (प्राणाध्यास) imposition of sense organs (इन्द्रियाध्यास) imposition of body (देहाध्यास) on it and due to forgetting one's own real nature(स्वरूपविस्मृति)

Consequently, they appear as the properties of the soul on one hand and on the other except these properties, the principle like soul is not even accepted Really speaking, this happens because the consciousness of the soul is reflected in the inner organs, i e vital air, sense organs and body

The process of dream knowledge takes place in some different way then the above mentioned method of direct perception In this process, soul consciousness in the form of properties shrinks and is averted form body, sense organs and mind and only is reflected in the ego (अहङ्कार) and intellect Therefore, soul consciousness, due to super imposition of ego and intellect does the activity of creating happiness and sorrow by enjoying the objects in intellect according to Karma

After sleeping due to the excess of Tamas, the soul in the form of pure consciousness, withdrawn from the happiness and sorrow producing Karmas, enjoys the Supreme bliss in

the inner most heart (हृदयाकाश) with self knowledge through the enigmatic knot Citta (consciousness/intellect/mind)

After this discussion, the author has discussed and explained Naiyāyika's and Šankara's view in this regard and explained the method of realization of God according to Vāllabha doctrine, in the end of this chapter

Difference between the method of emergence of knowledge of direct perception and the method of realization of God is, the realization of God takes place by the power of the Lord/times/(प्रमेय) and not by the power of means of valid knowledge

> 'This self is not attained through study, nor through the intellect, nor through much hearing The very self which this aspirant seeks is attainable through that fact of seeking, this self of his reveals his own nature"
>
> (Mundakopanisad III ii 3)

—this statement from Mundakopanisad Supports that realization of God is possible by His' acceptance only Meaning of the word (वरण) (Acceptance) should not be taken in the sense of desire to give fruit related to the mundane world or to liberation It is to be taken in the sense of desire to give an experience of his own form 'or' to inculcate extreme love for 'His Own form' This acceptance (वरण) is only in the form of Grace (अनुग्रह)

The acceptance by the God Lord during the period of incarnation becomes the seed to sprout and bloom devotion towards the God, but during the period of non incarnation (अनवतारदशा) acceptance by the God takes the form of desire of the God to manifest before, the devotee Thus, a devotee or non-devotee, everyone can perceive the God The method is same, i e through the power of object to be known, i e God's power this 'Darśana' (vision) is possible and not through the means of valid knowledge



॥ श्रीकृष्णाय नम ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ॥

प्रत्यक्षप्रमाणके वारेमें कुछ पुरस्फूर्तिक विचार
(वाल्लभ दृष्टिकोण)

गोस्वामी श्याम मनोहर

(उपक्रम)

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्द्रष्टृदृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् उस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसकल्पता तथा सर्वभवनसामर्थ्य की इतिकर्तव्यतारूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है ब्रह्म तत्त्व लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे गम्य कोई प्रमेय न हो कर एक शास्त्रीय प्रमेय ही है अत प्रत्यक्षग्राह्य नाम-रूप-कर्मोकी ब्रह्मात्मकता भी प्रत्यक्षका विषय न हो कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-तन्त्र-इतिहासरूप शास्त्रवचनैक-गम्य प्रमेय है फिरभी उस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट हुवे ये नाम-रूप-कर्म तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य बनते ही है और अतएव अपने लीलार्थ परिगृहीत इन नाम-रूप-कर्मोके पहलुमें ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोका प्रमेय भी बनता ही है अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कहते है

> "अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रय युक्त्यगोचरम् ब्रह्मैव हि सर्वाधार, यथा भूमि सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवाना, कारणगतधर्म पृथिव्या भासते विशेषेण लौकिकयुक्ति अत्र नास्ति, तदगम्यत्वात् ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुते लौकिकप्रमाणविष-

यत्ववद् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न? इति आशङ्क्य आह 'आविर्भावतिरोभावे मोहन बहुरूपत इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्य स्वेच्छयातु तत्' चक्षु न स्वसामर्थ्येन भगवन्त विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव 'सर्वे पश्यन्तु' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्"

(त दी नि प्र १।७१-७२)

अत लौकिक विषयोके शास्त्रीय स्वरूपके बारेमे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी शास्त्रीय विषयोके लौकिक स्वरूपके बारेमे प्रत्यक्षादि प्रमाणोका प्रामाण्य वाल्लभ चिन्तनमें भी सर्वथा स्वीकारा ही गया है क्योंकि अन्यथा ब्रह्म या ब्रह्मात्मिका लीला के प्रतिपादनार्थ, सर्वथा अदृष्ट या अश्रुत रहनेपर तो, ब्रह्मविषयिणी परोक्ष शाब्दी प्रमाके जननके व्यापारमे भी शास्त्रवचन अक्षम हो जायेंगे

अतएव रूपसृष्टिके साथ-साथ तत्प्रतिरूप एव तदन्तर्गत नामसृष्टिके प्राकट्यका प्रयोजन रूपलीलाद्वारा व्यामुग्ध एव बद्ध चिदशरूप जीवात्माओका नामलीलाद्वारा उद्धार प्रतिपादित हुवा है[१] जीवात्मचैतन्य अपने चिदश होनेके रूपमे नतो रूपसृष्टिमे अन्तर्गणित होता है और न नामसृष्टिमे ही फिरभी उसी चिदशके जीवभावापन्न होनेपर वह अपने ज्ञानकर्मादि व्यापार रूपसृष्टि और नामसृष्टि के साथ सहत हो कर ही सम्पन्न कर पाता है नामसृष्टि और रूपसृष्टि के बीच रहे इतरेतरविलक्षण स्वभावका निरूपण महाप्रभु यो करते है कि रूपसृष्टि अन्तवती स्थूल विकृत एव जडात्मिका होती है जबकि नामसृष्टि अनन्त सूक्ष्म अविकृत एव बोधात्मिका होती है[२] यो बन्धनकारिणी रूपसृष्टि और मुक्तिदायिनी नामसृष्टि दोनो ही भगवल्लीलारूपा ही होती है अतएव श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य तत्त्वस्वरूपोंकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्यता बन्धनकारिणी लीला होती है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादि विषय स्वय

बन्धनकारी होते हे इन्हीं, किन्तु, प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे गम्य नाम-रूप-कर्मोके श्रुत्यादि शास्त्रोके वचनोमे प्रतिपादित या विहित स्वरूप मुक्तिसम्पादक भी हो पाते है एतावता सिद्ध होता है कि बन्धनकी तरह मुक्ति भी उसी परम तत्वकी एक लीला है और अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणोका इस अर्धजरतीयन्यायसे प्रमाण ओर अप्रमाण होना दोनों ही भगवल्लीलाके ही दो विलक्षण अनुभाव हे। अस्तु

(विषय)

प्रत्यक्षके प्रामाण्यका, इस अर्धजरतीयन्यायसे, अभ्युपगम हमें सोचनेकी इस दिशाकी ओर अग्रसर करता है कि प्रत्यक्षानुभूति अपने किस स्वरूपमे प्रमाण होनेकी पदवीपर आरूढ हो नहीं पाती ?

वाल्लभ दृष्टि इस विषयमे यो है कि प्रत्यक्षानुभूतिका केवल एक अनुभूतिके रूपमे प्रमाण होना नियत या अनिवार्य न होनेपर भी उससे पैदा होनेवाली बोद्धिकी निश्चिति, जिसके आधारतया बुद्धिका सात्त्विकी अवस्थामे होना एक अनिवार्य निकष माना गया है[१], इस रूपमे वह अनुभूति प्रमाणपदवीपर आरूढ हो पाती है

(सशय)

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षानुभूति निर्विषयकचैतन्यरूपा तो हो ही नहीं सकती अत प्रत्यक्षानुभूतिके घटक (विषय / कर्म, तथा, विषयी / बाह्याभ्यन्तरकरण तथा कर्ता या अधिष्ठान यो) न्यूनतम दो या तीन तो स्वीकारने ही पड़ते हैं अत इस जिज्ञास्यविषयके मूलमे कुछ विकल्प इस तरह सशयात्मना उभरते है यथा ––

१ क्या प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) ग्राहक

बाह्याभ्यन्तर करण या कर्ता के ऊपर सचेष्ट (active) बाह्य विषयोंका कोई वास्तविक प्रभाव (real impression) है?

२.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयद्वारा विषयीपर आरोपित कोई मिथ्या प्रभाव (super-imposed impression) होता है?

३.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive)बाह्य विषय, उसे द्रव्य (Matter) प्राकृत विषय (Natural object), वस्तुका अकल्पित स्वरूप (Thing-in-itself=Noumenon), स्वप्रयोजनक अभोग्य वस्तु (pour soi), परप्रयोजनक या अस्वप्रयोजनक भोग्य वस्तु (en soi) जिस किसी भी रूपमें देखा जाये, उसके बारेमे सचेष्ट (active) विषयी ज्ञानकरण अथवा ज्ञाता का कोई प्रतिभाव (reaction/expression) है?

४ अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानकरण / ज्ञाता द्वारा विषयपर किया गया कोई मिथ्या आरोपण (projection/superimposition) है?

५ अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयीके गुणधर्मोका इकतरफा मिथ्यारोपण न हो कर विषय और विषयी दोनोके गुणधर्मोकि अन्योन्यारोपणात्मक अध्यासरूपा घटना है?

६ अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोके बीच उभयत्र परस्पर घटित होती क्रिया-प्रतिक्रियारूपा कोई उभयविलक्षण घटना है?

७ अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोमे निगूढ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोकी

अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है?

ये हैं : जिज्ञास्य विषयरूप प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें संशयकी विभिन्न कोटियोंके विभिन्न कल्प.

(पूर्वपक्ष)

१.हम देख सकते हैं कि जिज्ञास्यविषयके बारेमें सशयका प्रथम कल्प सांख्यसदृश निष्क्रिय पुरुषचैतन्य तथा सक्रिय जडप्रकृति के द्वैतवादी चिन्तनमें मान्य होना शक्य होनेपर भी शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तमे मान्य नहीं हो सकता है.

२.द्वितीय कल्प उन दार्शनिक चिन्तनोंमें सम्भव है जो चेतन्यको सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक मानते हैं परन्तु वाल्लभ चिन्तन चैतन्यको उसके मूलस्वरूपमें तो निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक तो कथमपि नहीं मानता. अतप्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या भी वाल्लभ चिन्तनमें पूर्वपक्षमे ही अन्तर्भूत होगी.

३.इसी तरह तृतीय कल्पमें भी मूलत वाह्य विषय और विपयी के बारेमें एक तरहका द्वैतवादी पूर्वाग्रह तो भासित हो ही रहा है. क्योंकि वाह्य विपय प्रत्यक्षानुभूतिके जननव्यापारमें निश्चेष्ट सहयोगी (active partner) होते हैं या होता है. वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार जड़ द्रव्यका अकल्पित वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ही होता है, जो जीवचेतनाद्वारा सामान्यतया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो पाता. सच्चिदाननन्द व्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश सदंशमें चैतन्य और चिदंशमें आनन्द के तिरोभाववश प्राकृत सदंशोंमें

गृहीत होती जडताका कुछ विषयगत आधार (objective ground) होनेपर भी चिदानन्दांशके तिरोभाववश उन जड द्रव्योंमें चेतना या आनन्द के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावकी प्रतीतिमें हेतु जीवात्माओंका अपना परिच्छिन बोधसामर्थ्य भी विषयिगत आधार (subjective ground) स्वीकारा गया है. अत इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर विषयोंको (nonmena/phenomena) के ऐकान्तिक वर्गोमें विभक्त करनेको जर्मनीके अज्ञेयवादी इमानुएल कान्टकी तरह समुद्यत नहीं हो पाता. रही बात द्रव्यके बारेमें निश्चेष्टताकी तो, ऐसी (inertia) की धारणा भी पुन शुद्धाद्वैत वेदान्तको रास नहीं आ सकती है. क्योंकि न्याय-सांख्यमतोंकी तरह जड प्राकृत द्रव्योंका भोग्यभावात्मना प्रकट होना तथा पुरुषचैतन्यका भोक्तृभावसे मण्डित होना, वाल्लभ वेदान्तामें भी, लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके अनुरोधवश तो मान्य है ही. वाल्लभ वेदान्तमें, फिरभी, नतो न्यायमतकी तरह जड द्रव्यको सर्वथा निष्क्रिय और न सांख्यमतकी तरह पुरुषचैतन्यको ही सर्वथा निष्क्रिय माना गया है. और न केवल जड प्रकृतिको ही सक्रिय माना गया है. अत पुरुषचैतन्यको केवल भोक्तृभावापन्न (en soi) मान लेने भी वाल्लभ वेदान्त समुद्यत नहीं है क्योंकि उसके भोक्तृभावके घटक वाह्याभ्यन्तर करण स्वयं भोग्यभावापन्न जडप्रकृतिसे उसे उधार मिले हुवे होते है अंशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको वाल्लभ वेदान्त "क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते" (भाग.पुरा.८।२२।२०) तथा "अत्ता चराचरग्रहणात्" (ब्र.सू.१।२।९) वचनोंके आधारपर मूलभोक्ता स्वीकारता होनेसे, उन्हें ही (primordial en soi) स्वीकारेगा. जीवात्माओंके तो ब्रह्मके चिदंश होनेके कारण उनका कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. यह हम देख सकते है कि ब्रह्मसूत्रगत 'चराचर' पद भी जडजीवके प्रभेदका वाचक नहीं माना गया है. क्योकि अक्षरब्रह्म कूटस्थचैतन्य अचर भी होता है और अंशभूत

जीवचैतन्य चर भी इसी तरह आकाशको जड होनेपर भी अचर माना गया तो अन्य भौतिक तत्त्वोंको चर भी अतएव जडजीवात्मक उभयविध जगत्को ब्राह्मिक सन्दर्भमे वाल्लभ वेदान्त न तो ऐकान्तिकतया भोग्य ही ओर न ऐकान्तिकतया भोक्ता ही मान पाता है व्यवस्थित विकल्पवश ब्रह्मके सदशभूत जड द्रव्योमे प्रकट भोग्यभाव तथा जीवात्माओंमें जड द्रव्योद्वारा निरूपित प्रकट भोक्तृभाव होनेपर भी, पारमार्थिक भोक्तृभावनिरूपित प्रकट भोग्यभाव भी स्वीकार्य है ही

४ इस प्रकारका मत भारतीय चिन्तनमे तो उपलब्ध न होनेपर भी पाश्चात्य चिन्तनमे अनुभववादिओंद्वारा प्रस्तावित किया गया है इस अनुभववाद *विरु* तर्कवाद के आपसी विरोधाभासके बारेमे वाल्लभ वेदान्तकी धारणा कुछ इस तरहकी सोची जा सकती है कि प्रत्यक्षगोचरतया अनुभूयमान सारेके सारे प्रत्यय न तो हमारी चेतनामे, तर्कवादी (Retionalistic) धारणाके अनुरूप अन्तर्निगूढ ही रहते हे और नहीं अनुभववादी (Empiricistic) धारणाके अनुरूप केवल इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोग-जन्य ही पुनश्च, अर्धजरतीयन्यायेन, चेतनाके भीतर बाह्य उद्बोधकसामग्रीवशात् उद्बुद्ध होते ह ओर कुछ बौद्धिकी चेतना अपनी सात्त्विकी राजसी या तामसी अवस्थाओंके अनुरूप अपने भीतर घड़े प्रत्ययोंका बाह्यप्रक्षेपण भी करती है 'प्रस्थानरत्नाकर' ग्रन्थके प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलमे दशविधज्ञानकी निरूपक आद्य तरगमे[४] इस विषयका विस्तारपूर्वक भलीभांति उपपादन हुवा है

५ भगवत्पाद श्रीशकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके उपोद्घातमें इस तरहके अध्यासका[५] मनोरम निरूपण किया है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने भाष्यमे इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान इन शब्दोंमें करते है

(क) "वेदेनैव तावत् कर्तृत्व योध्यते वेदश्च परमाप्ता

अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसगात् नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधमवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्ते सवथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोध 'सत्य'–'ज्ञाना'दिपदाना धर्मभेदेनैव तदुपपत्ते नच कतृत्व ससारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्य, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिककर्तृत्वे प्रतीतस्य निपेध्य न अप्रतीत न श्रुतिप्रतीतम सत्यत्वादयश्च लौकिका तत सर्वनिपेधे तदज्ञानमेव भवेत् नच सत्यत्वादिक लोक नास्त्येव, व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्व प्रपञ्चे भासते इति वाच्य, तर्हि कर्तृत्व तथा कुतो न अगीक्रियते? स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरि' इति नच आरोपन्यायेन वक्तु शक्य तथा सति अन्यस्य स्यात् तत्र न प्रकृते, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात् न जीवानाम्, अस्वातन्त्र्यात् नच अन्येपाम्, उभयनिषेधादव तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् एव भोक्तृत्वमपि"(ब्र सू भा १।१।२)

(ख)"कर्तृत्व ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कतृत्व तदशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत् नतु जडगतम् इति"(ब्र सू भा २।३-४१)

अत भगवत्पाद श्रीशकराचार्यद्वारा प्रतिपादित आध्यासिकी प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूतिके बारेमे सर्वांशमे वाल्लभ वेदान्तमे अभिमत हो नहीं पाती है

६ इसके बाद आते षष्ठ कल्पके मूलमे भी किसी तरहकी द्वैतवादी पूर्वधारणा ही सुस्पष्ट झलकती है अत लीलार्थ प्रकट विषय-विषयीके द्वैतवश प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रियारूप प्रकट

हुयी वास्तविक घटना है, इस अंशमें तो वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्ति न होनेपर भी, विषय-विषयीके बीच रहे मौलिक अद्वैतको भुलाया न जाये, तभी यह कल्प वाल्लभ वेदान्तमें मान्य हो पायेगा अतएव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें "आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थो एकमेव अविकल्पित तन्मायाफलरूपेण केवल निर्विकल्पित वाङ्मनोऽगोचर सत्य द्विधा समभवद् वृहद् तयो एकतरोहि अर्थो प्रकृति सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भाव पुरुष सो अभिधीयते तमो रज सत्त्वम् इति प्रकृते अभवन् गुणा मया प्रक्षोभ्यमाणाया पुरुषानुमतेन च सञ्चोदिता भावा सर्वे सहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयामासु मम आयतनम् उत्तम, तस्मिन् अह समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ" (भाग पुरा ११।२४।२-१०) कहा गया है अत यहा निरूपित एकका अनेकवद्भाव और उन अनेकवद्भावापन्नोंमे पुन परस्पर सहत्य अर्थक्रियाकारिताके सिद्धान्तको न भुलाया जाय तो विषय-विषयीके बीच क्रिया-प्रतिक्रियारूपेण प्रत्यक्षानुभूतिको एक वास्तविक घटनाके रूपमे स्वीकार करनेमे वाल्लभ वेदान्तको कोई सकोच नही होगा अन्यथा यह भी कल्प पूर्वपक्षकुक्षिमे निविष्ट ही स्वीकारना पड़ता है

(उत्तरपक्ष / सिद्धान्तपक्ष)

अत अवशिष्ट अन्तिम सातवा *"यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमे निगूढ सम्भावनाके तौरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* ऐसा कल्प ही हमारे सामने वाल्लभ सिद्धान्तके रूपमे प्रस्तुत होता है

एतदर्थ कुछ मौलिक प्राग्धारणाओंको बुद्धिगत रखना जिज्ञास्यविषयके भलीभाति समाकलनके हेतु उपकारक हो सकता है

प्रथम प्राग्धारणा

उनमें सर्वप्रथम तो यह कि यहूदी-ईसाई-इस्लामी धर्मग्रन्थोंमें सृष्टिका

प्रादुर्भाव जैसे एक सीधी रेखाके रूपमे स्वीकारा गया है, वैसे वेदादि शास्त्र या वाल्लभ वेदान्तमे वह नही स्वीकारा गया है यहा वह चक्राकार रेखामे स्वीकारा गया है क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'' (तैत्ति उप ३।१) मे ही ''जायन्ते-जीवन्ति-प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति'' यों चारों ही क्रियापदोमे वर्तमानकालका प्रयोग इसकी गवाही देता है अत एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना, उस सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवर्जित तत्त्वका सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवत्तया प्रकट होना, देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्नका अपने-आपको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमे प्रकट करना, उस विशुद्ध विज्ञानात्मक तत्त्वका अपनेसे पृथक् ज्ञेयार्थतया भी प्रकट होना, उस कृत्स्नप्रज्ञानघन एकरस तत्त्वका अज्ञान सशय भ्रम स्मृति स्वप्न निद्रा आदि अनेकरसभावोंमे प्रकट होना, यह सभी कुछ सकृद्घटित होनेवाली आकस्मिक घटना न हो कर कोई सनातन असकृदावर्तनोंके चक्रोमे चलती रहनेवाली एक लीलाके रूपमे स्वीकारा गया है अतएव उस आत्मरमणशील[६] चेतनाम अनात्मवत् जड-जीवात्मिका सृष्टिका प्रादुर्भाव लीलारूप माना गया है अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्मे इसे यो कहा गया है

''सवै नैव रेमे तस्माद्-एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्- स ह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ-स इममेव आत्मान द्वेधा आपातयत् स ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे 'कथन्नु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिरोसानि' इति सा गौ अभवत्- ऋषभ इतर ता समेव अभवत् यदिद किञ्चन मिथुन तत् सर्वम् असृजत सो अवेद् 'अह वाव सृष्टि अस्मि'- 'अह हि सर्वम् असृक्षि' इति तत सृष्टि अभवत् सृष्ट्या ह एतस्या भवति य एव वेद''
(बृह उप १।४।३-५)

एतावता सिद्ध होता है कि उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वैधापादन, अर्थात् विषय ओर विषयी बनना, आंख-मिचौनीके जैसी कोई क्रीडा है. अर्थात् छिपे हुवे विषयको विषयी खोज रहा है और विषयीके छिप जानेपर उसे विषय खोजने लग जाता है। यह निरन्तर चक्रवत् चलती लीलामे उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना और अनेकवद्भावापन्न हो जानेपर पुन अपनी एकमेवाद्वितीयताको खोजने लग जाना ही सृष्टि-प्रलयके चक्रतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है

हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद हो नहीं सकता. अत विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें इच्छा-यत्न-उपलब्धिके अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होनेकी एक क्रीडा है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमेसे विषयकी भी झलक प्रकट करनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीडा चलती रहती है. अन्यथा सर्वथा अनवगत अनाकांक्षित अद्भुत या अनिष्ट विषयोंके आकस्मिक परोक्षापरोक्ष विज्ञानकी सम्भावना ही प्रकट हो नहीं पाती। एतावता सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु ज्ञानविषय बन कर विषयी ज्ञानके साथ जुडना चाहती हे और प्रत्येक चेतना आत्मरत रहनेके बजाय ज्ञेयार्थविषयिणी बनना चाहती हे. यदि यह क्रीडा चक्रवत् नैरन्तर्य लिये हुवे न होती, तो सभीके लिये सीधी ऋजुरेखाके रूपमें निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको पा लेना एक सुलभ सिद्धि ही हो जाती। निष्कर्षतया *"प्रत्यक्षानुभूति विषय ओर विषयी दोनोंमे निगूढ सम्भावनाके तौरपर रह हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* यह सिद्ध हो जाता है.

द्वितीय प्राग्धारणा :

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ज्ञानके परोक्षावभासके

अन्यान्य सभी उदाहरणोमे रूपसृष्टि (percept) और नामसृष्टि (concept) के बीच प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी ही प्रधानता रहती है प्रत्यक्षावभासमे, जबकि, इन दोनोंके बीच पुन एक निगूढ तादात्म्यका अनुसन्धान सुलभ बन जाता है, क्योकि प्रत्यक्षानुभूति अपनी आद्यावस्था निर्विकल्पानुभूति (sense datum) के स्तरपर विपयीकी इच्छा आकाक्षा या प्रयत्न से नियततया जन्य नहीं होती अत विपयीसे बाह्यार्थ न केवल अपरोक्षावभासेगित दिशाके अनुरोधवश अपितु वैसे अवभासप्रयुक्त प्रवृत्तिहेतुक अन्यथानुपपत्तिके बलपर भी बाह्यार्थ और निर्विकल्पानुभूति के बीच जन्यजनकभाव सिद्ध होता है यद्यपि बृहदारण्यकोपनिपद्मे इन नाम-रूप-कर्मोके तादात्म्यका निरूपण यो उपलब्ध होता है कि—

> ''त्रय वा इद नाम रूप कर्म तेपां नाम्ना वाग् अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति अथ रूपाणा चक्षु अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति अथ कर्मणाम् आत्मा अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रय सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एक सन् एतत् त्रयम् ''
>
> (बृह उप १।६।१-३)

तथापि यहा नाम-रूप-कर्मोके उत्थानहेतु 'उत्तिष्ठन्ति' और आधारहेतु 'बिभर्ति' के सूक्ष्म प्रभेद ऐच्छिक द्वैत और स्वाभाविक अद्वैत के ही लिंग है अत स्पष्टतया नाम-रूप-कर्मोके बीच रहे इस निगूढ एव घनिष्ठ ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुसन्धान प्रत्यक्षानुभूतिमे शक्य जो बन जाता है, वही इस प्रत्यक्षप्रमाणका असाधारण महत्त्व है वाल्लभ वेदान्तमे नाम और रूप को, जर्मनीके सत्रहवीं सदीके चिन्तक लाइब्नीत्जके मोनाड्सकी तरह, आत्मपर्याप्त समानान्तर गवाक्षविहीन प्रकोष्ठोपम नहीं माना गया है और न इन नाम-रूपोको आविद्यक विकल्प ही अर्थात्

अविद्याकल्पित मिथ्याभास ही क्योकि इनकी त्रयीका आत्मतया एकत्व और एकात्माका नाम-रूप-कर्मतया त्रित्व कण्ठोक्त सिद्ध है यह तादात्म्य, क्योकि, विषयके परोक्षावभासमे यद्यपि सुबोध्य नहीं होता, फिरभी, प्रत्यक्षानुभूति एक ऐसा प्रयागराज है कि जहा नाम-रूप-कर्मकी त्रिवेणीका पवित्र सगम हो ही जाता ह

प्रस्तुत विमर्शके यहा इस मुकामपर पहुचनेपर ही तैत्तिरीयोपनिषद्मे निरूपित "सो अकामयत 'बहु स्या प्रजायेय' इति स इद सर्वम् असृजत यदिद किञ्च सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत् यदिद किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते" (तैत्ति उप २।६) उस परम तत्त्वकी विरुद्धधर्माश्रयताका सत्यापन शक्य बन जाता है

तृतीय प्राग्धारणा ·

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आत्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा वाल्लभ वेदान्तके नामाभिधानार्थ प्रयुक्त 'साकारब्रह्मवाद' पदके अभिप्रायका विमर्श करनेपर 'ब्रह्म'पद त्रिविध अपरिच्छिन्नताका भाव द्योतित करता है परन्तु 'साकार' पदसे विरुद्धधर्मका भाव द्योतित होता है जैसा कि महाप्रभु स्वय भी कहते है "ब्रह्मणि विरुद्धधर्मा सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह 'अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयो युक्त्यगोचरम्' अनन्ता मूर्तयो यस्य (तद्) ब्रह्म एक व्यापक च तेन अनेकत्वम् एकत्व च निरूपितम्" (त दी नि प्र १।७१) अत आधुनिक सूक्ष्मजैविकविज्ञानके (Microbiology) के एककोशीय जीवाणु (protoplasmic cell) मॉडलपर कुछ कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि 'साकार' पदवोधित परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण Nucleus के जैसे होते है इसी तरह 'ब्रह्म'पदवोधित त्रिविध अपरिच्छिन्नता / व्यापकताको 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है यह एककोशीय जीवाणुमें Cytoplasm की तरह होता है यहीं नाभीकीय सत्यसकल्प

तथा सर्वभवनसामर्थ्य द्वारा आत्मद्वैधापादन (splitting of cell) की प्रक्रिया सम्पन्न होती है॰ सच्चिदानन्दरूप अक्षरब्रह्मकी पञ्चविधता काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया निरूपित हुयी है इनमे प्रकृति सत्त्वरजस्तमोगुणोकी साम्यावस्थारूपा सदश होती हे महद् (व्यष्टिचित्तोकी समष्टि), अहकार (व्यष्टिक्रियाशक्तिओकी समष्टि) इस तरह ये हमारे भीतर प्रत्यक्षोपकरण मन बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्रा पञ्चमहाभूतोके अवान्तरोपादानकारणरूप बनते है आनन्दाशके तिरोभावपूर्वक जीवचेतनाकी समष्टिको पुरुष माना गया है यह साराका साराका आत्मविभाजन cytoplasm के जैसे अक्षरब्रह्मात्मक प्रकोष्ठमे सम्पन्न होता माना गया है इनमे Nucleus स्थानीय पुरुषोत्तमको सर्ववस्तुविषयक स्वाभाविक= अनौपाधिक ज्ञानसे सर्वदा युक्त माना गया है यह स्वभावसिद्ध सर्वज्ञता, किन्तु, जीवचेतनामे आनन्दाशके तिरोधानवश तिरोहित हो जाती मानी गयी है अत ब्रह्मके चिदशोमे चेतनाका स्वरूप निर्विषयक चैतन्यवत् हो जाता है बादमे ब्रह्मके ही सदशभूत प्राकृत चित्त अहकार मन इन्द्रिय तन्मात्रा बुद्धि आदि उपाधियों या उपकरणो के सहयोगवश ही वह जीवचेतना पुन सविषयक ज्ञानवान् ज्ञाता बन पाती है अत जिसे हम 'विषयी' कहते-समझते है वह चेतनैकरस या बोधैकरस (homogeneously cognisant spirit) न हो कर चेतनाचेतन तत्त्वोंका सघात होता है निष्कर्षतया जिसे हम प्रत्यक्षोपलब्धि समझते है, उसे भी चेतनाचेतनसघातमे घटित होनेवाली एक विलक्षण घटनाके रूपमे निहारना आवश्यक होता है अत हमारी प्रत्यक्षोपलब्धि भी हमारा सहज सामर्थ्य न हो कर विषयीके घटक चेतनाचेतन उपादानोंका सघातोपाधिक सामर्थ्य ही होता है अत सघातोपादानभूत तत्त्वोकी परिच्छिन्न सामर्थ्यके अनुरूप परिच्छिन्न सामर्थ्य भी वहा अनुक्तसिद्ध ही हो जाता है

ये तो प्रत्यक्षानुभूतिके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपके बारेमे तत्त्वमीमासकीय या पराभौतिकी (metaphysical) प्राग्धारणाए है ज्ञानमीमासकीय (episemological) प्राग्धारणोंपर भी थोडा सा दृष्टिपात अपेक्षित है

यह सगूचा निरूपण श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके आधारपर ही प्रस्थानरत्नाकरकारने भी किया है. अत विस्तारपूर्वक तो वहीं देख लेना उपकारक होगा फिरभी थोडी सी रूपरेखा यहा भी दी जा सकती है

हम देख चुके है कि जीवचेतनाका साक्षात् सम्पर्क जिस प्राकृतिक तत्त्वके साथ जुडता है, उसे 'महत्' या 'चित्त' कहा गया है इसके बारेमे भागवतकारिकाकी सुबोधिनीमे महाप्रभु कहते है कि चित्त वह पदार्थ है जो सदशमे प्रकटी प्रकाशोपम चिदशके प्रति प्राथमिकी, दर्पण (या केमेरामे भरी जानेवाली (photosenstivie reel) के जैसी, चैतन्यका ग्रहण और उसे प्रकट करनेकी सामर्थ्य है इसे ब्रह्माण्डकी अकुरावस्थाके रूपमे निरूपित किया गया है इस चित्तमे से जो द्वितीय तत्त्व प्रकट होता है वह क्रियाशक्तिमान् अहकार है इसमे निजोपादानके गुणके अलावा क्रियाशक्तिका भी वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है अर्थात् अब चित्त न केवल चैतन्यको अपने भीतर प्रतिफलित कर पाता है अपितु अहकारात्मना परिणत चित्त प्रतिक्रिया भी प्रकट करने लग जाता है हम देख चुके है कि चित्तको अकुरोपम माना गया सो अहकारात्मना सक्रिय हो पानेके कारण अब उसमे न केवल चैतन्य अपितु विश्वके मूलाकुरमे रही सूक्ष्मावस्थागत विविध नाम-रूप-कर्मोवाले मन इन्द्रिय और तन्मात्राओं के प्रति समानता तथा सचेष्टता भी प्रकट हो पाती है और इस तरह वे स्थूलभावापन्न हो जाते है शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राए ही घनीभूत हो कर आकाश वायु तेज जल और पृथिवी के रूपोंमे परिणत हो जाते है८ इसका सुविशद निरूपण तो आकर ग्रन्थमे ही अवलोकनीय है फिरभी यहा उसके स्थालीपुलाकन्यायेन निरूपणका मुख्य प्रयोजन यह दिखलाना है कि कैसे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके सदश और चिदश अपने मौलिक रूपमे एकरस (homogeneous) होनेपर भी

आत्मविभाजन (self-splitting) द्वारा भिन्नरस (heterogeneous) बन जाते हैं. इन भिन्नरसभावापन्न सदंश और चिदंश के परस्पर संहत हो कर एक-दूसरेके प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाशील होनेपर जीवशास्त्रीय mitotic और meiotic आत्मविभाजनपूर्वक उत्तरोत्तर विकास भी शक्य बन जाता है.

एतावता सिद्ध होता है कि नामकी बोधात्मकता और रूपकी जडात्मकता आत्मविभाजनकी जीवशास्त्रीयक प्रक्रिया सदृश एक प्रक्रिया है. अत इन दोनोंके बीच रहे वैरूप्यके तिलका ताड बना कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतरके पक्षपाती बन कर किसी एकतरके प्रत्याख्यानको वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्राग्धारणाओंके विमर्श करनेपर अनावश्यक सिद्ध किया जा सकता है. अतएव विषयमें विषयी और विषयीमें विषय ओतप्रोत माने गये हैं निष्कर्षतया बाह्य रूप आन्तर नामका उद्‌बोधक होता है और आन्तर नाम बाह्य रूपोंके विकल्पोंका अवगाहन कराता है. इस प्रक्रियाका सर्वाधिक प्रस्फुटन प्रत्यक्षानुभूतिमें ही सम्भव होनेसे ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणाओंके आधारपर भी सदंश-चिदंशका, नाम-रूपका; एवं, अनुभूति तथा संस्कार का पवित्र संगमस्थल होनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणतया भी आदरणीय होता ही है. अत विशुद्धचैतन्य और नामरूपकर्म; अथवा तो, नाम या रूपके बीच भी किसी एकको अनावश्यक ही अविश्वसनीय, मिथ्या या असत् मानना वाल्लभ वेदान्तको श्रुत्यादि शास्त्रोंके अभिप्रेतार्थतया आवश्यक नहीं लगता.

पञ्चम प्राग्धारणा :

हम देख आये कि प्रथम ब्राह्मिक सदंश प्रकृति गुणत्रयीकी साम्यावस्था है. उन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामे कालकृत गुणक्षोभवशात् प्रकट हुवा वैषम्य यह समूचा महदादि पञ्चभूतान्त प्राकृत विकार है. अतएव प्रपञ्चकी छोटी हो या बडी प्रत्येक घटनाओंमें गुणत्रयीका

वैषम्य अनुस्यूत रहता है. परिणामत निर्विकल्पकानुभूतिके बाद बुद्धिगे सात्विकावस्थाके प्रबल होनेपर अध्यवसायाकारक परोक्षापरोक्ष भान होता हे. राजसावस्थाके प्रबल होनेपर संशयाकारक ज्ञान प्रकट होता है. और तामसावस्थाके प्रबल होनेपर अज्ञान निद्रा भ्रमाकारक ज्ञान प्रकट होता है[९]. इसका भी सुविशद विवेचन 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थके 'प्रपञ्चविवेक' और 'ख्यातिविवेक' नामक प्रकरणोंमें तथा प्रस्थानरत्नाकर के भी प्रमास्वरूपबोधोपयिक-ज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ तरंगोमें हुवा ही है. यहां इसके उल्लेखका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि प्रत्यक्षानुभूति स्वयं अनुभूतिके स्तरपर प्रमाकारिका संशयाकारिका या भ्रमाकारिका कुछ भी हो सकती है. क्योंकि बुद्धिका कार्य, श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके पूर्वोक्त अध्यायमें, बुद्धिको परिभाषित करते हुवे यों कहा गया है कि *"समनस्केन्द्रियोंमें द्रव्यके स्फुरित होनेपर, अर्थात् सामान्यज्ञानके सम्पन्न होनेपर, उसे विशेषज्ञानमें पर्यवसित करनेवाली बुद्धि होती है."* [१०] अत प्रत्यक्षप्रमा न केवल बुद्ध्याश्रिता घटना होती है और न केवल इन्द्रियाश्रिता ही; प्रत्युत, इन्द्रिय और बुद्धि उभयाश्रिता घटना है. अतएव जैसे सर्वथा इन्द्रियोंसे अगोचर वस्तुके बारेमें बुद्धि प्रत्यक्षप्रमा प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही बुद्धिसे सर्वथा अगृहीत अथवा सर्वथा अग्राह्य या असम्भाव्य वस्तुओंके बारेमें इन्द्रियां भी सहसा प्रत्यक्षप्रमा प्रकट करनेमे सक्षम नहीं हो पाती हैं. इसे आधुनिक मनोविज्ञानने भी अनेक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध किया है. निष्कर्षतया पुन दोहराना चाहेंगे कि *"प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमे निगूढ सम्भावनाके तौरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* अस्तु.

[संगति]

प्रत्यक्षप्रमाके बारेमे इन सेद्धान्तिक प्राग्धारणाओंका विहंगावलोकन कर लेनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण संगतिओका विचार कर लेना इस विषयमें प्रसंगोपात्त होगा.

(१) श्रीमद्भागवतके पूर्वनिर्दिष्ट "महत्-तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् क्रियाशक्ति अहकार त्रिविध समपद्यत, वैकारिक तैजसश्च तामसश्च यतो भवो मनसश्च इन्द्रियाणाञ्च भूताना महतामपि" (भाग पुरा ३।२६।२३-२४) इस वचनमे अहकारको क्रियाशक्तिमान् माना गया है तथा इसीगेसे मन इन्द्रियो और तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकारी गयी है वैसे तो सर्वत्र उपादानकारणके गुण उपादेय कार्यमे अनुगत होते हे अत चित्तोपादानकतावश इन्द्रियोंमे ज्ञानशक्ति और अहकारोपादानकतावश क्रियाशक्ति यों साक्षात्/परम्परया द्विविध शक्तियोका अनुगम मन तथा इन्द्रियोंमे माना गया है साथ ही साथ इन्द्रियोंमें पाच ज्ञानेन्द्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय यो विभज्यानुगति भी निरूपित हुयी है अतएव "एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तय आकूतय पञ्च धियो अभिमान" (भाग पुरा ५।११।९) वचनमे " 'आकूति'[५] + 'धी'[५] + 'अभिमान'" = ११ मनोवृत्तिया" ऐसा समीकरण भी कण्ठोक्त है साथ ही साथ *"वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था"* उचित होती है, फिरभी मनको, क्योकि ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोका प्रेरक अधीश्वर माननेके साथ-साथ भगवद्गीतामे "मन षष्ठानि इन्द्रियाणि" (भग गीता १५-।७) वचनमे इन्द्रियरूप भी माना गया है अत अपेक्षित बारह सख्याका अनुल्लेख इस तथ्यकी और इगित करता है कि सख्या अनियततया यथासन्दर्भ सापेक्ष होती है ऐकान्तिक नहीं एतावता सघातस्वभाव, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के आधीन सभी इन्द्रियोंकी चेष्टा अनुभवसिद्ध होनेसे कर्मेन्द्रियोंमे भी किसी प्रकारकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्रियोंमे भी किसी प्रकारका कर्म भी क्यो स्वीकारा नहीं जा सकता?

उदाहरणतया वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय केलिये मुखमे एक ही जिह्वा उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न रहती है पाणीन्द्रिय वैसे एक कर्मेन्द्रिय होती है परन्तु द्रव्यके गुरुत्वके ज्ञानार्थ वह ज्ञानेन्द्रियका कार्य भी करती ही है पायूपस्थेन्द्रिया भी कर्मेन्द्रिया है फिरभी मलमूत्रादिकी वेगबाधा और वेगोपशम के अभिज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी करती

ही है इसी तरह चरण कर्मेन्द्रिया होनेपर भी धावनश्रम और श्रमोपशम के विज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोका कार्य भी निभाते ही है इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत चक्षु वैसे रूपादि प्रत्यक्षकी करण है परन्तु पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधो दिशाओंके निरीक्षणार्थ वह कर्मेन्द्रियकी तरह भी बरतती है प्रकाशबाहुल्य तथा प्रकाशमान्द्य के अनुरूप नेत्रगोलकके भीतर अन्तर्पटलको (iris) सकुचित / विकसित करनेकी क्रिया कर्मेन्द्रियवत् ही चक्षु सम्पन्न करती हे नासिका एकाकिनी ही गन्धग्रहण तथा श्वसनीय वायुके पूरण-रेचनकी क्रिया भी करती ही हे यों दोनो ही कार्य करती हे कर्णेन्द्रियके कर्णशूर्प यद्यपि मनुष्ययोनिगे बाह्य कर्म नहीं करते परन्तु पशुओंमें तो स्पष्टतया ध्वनिस्रोतकी दिशामे कर्णेन्द्रियचालनद्वारा श्रवणोपकरण बनते उन्हे देखा जा सकता हे रसनेन्द्रियके लिये भी कहा जाता है कि लालारस उत्पन्न करनेकी क्रिया न करे तो आस्वादनार्थ भी समर्थ वह नहीं हो पाती इसी तरह त्वगिन्द्रिय भी कट-फट जानेपर पुनसन्धानकी क्रिया करती ही है इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियोंके ज्ञानोपकरण तथा कर्मोपकरण होनेके प्रभेद *"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"* न्यायका अनुसरण हे नकि किसी एकतरमे अन्यतरके आत्यन्तिक अभावके वश एतावता सिद्ध होता है कि केवल कर्म ही इच्छातन्त्र नहीं होता अपितु प्रत्यक्षानुभूति भी इच्छातन्त्र होती है वैसे भगवत्पाद श्रीशकराचार्य कहते हे कि—

> "कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्य स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तु शक्य लौकिक वैदिक च कर्म यथा अश्वेन गच्छति पद्भ्याम् अन्यथा वा नवा गच्छति इति तथा 'अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति', 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' इति नतु वस्तु एव / नैवम् अस्ति / नास्ति इति वा विकल्प्यते विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा न वस्तुयाथात्म्यज्ञान पुरुषबुद्ध-

चपेक्षम् किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्, नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणु वा पुरुषो वा इति तत्त्वज्ञान भवति तत्र पुरुषो वा अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम् स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञान वस्तुतन्त्रत्वात्"

(ब्र सू भा १।१।२)

श्रुत्यादि शास्त्रोमे जहा "त्व स्त्री त्व पुमान् असि त्व कुमार उत वा कुमारी त्व जातो भवसि विश्वतोमुख" (श्वेता उप ४।३) "एकएव अग्नि बहुधा समिद्ध, एक सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूत, एकैव उषा सर्वम् इद विभाति, एक वा इद विबभूव सर्वम्", "पुरुषएव इद यद् भूत यच्च भव्यम्" (ऋक्सहि ८।५८।२, १०।९०।२) जैसे वचन उपलब्ध होते है वहा एवकी अनेवताके अथवा एककी अनेकताके प्रतिपादनको सशय या भ्रान्ति का जनक माना नहीं जा सकता स्वय भगवत्पाद श्रीशकराचार्यके भी—

"दृष्टश्च लोके विवक्षात शब्दप्रयोग 'ग्राम आगत', 'ग्राम शून्य' इति कदाचिद् 'ग्राम' शब्देन निवासमात्रविवक्षाया 'ग्राम शून्य' इति शब्दप्रयोगो भवति कदाचिद् निवासिजनविवक्षाया 'ग्राम आगत' इति कदाचिद् उभयविवक्षायामपि 'ग्राम' शब्दप्रयोगो 'ग्राम न प्रविशेद्' इति"

"तस्मात् तार्किकचाटभटराजाऽप्रवेश्यम् अभय दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्य शास्त्रगुरुप्रसादरहितै च 'तद् एजति तद् न एजति तद्दूरे तदु अन्तिके इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्य च"

(बृह उप भा १।४।७, २।१।२०)

ऐसे उद्गारोका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रमात्मक

बोध ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र ही होता है अन्यथा जीवात्मा और ब्रह्म के आत्यन्तिक भेदवर्जित होनेपर भी ब्रह्मके प्रमात्मक साक्षात्कारके हेतु श्रवण मनन निदिध्यासन जेसी इच्छातन्त्र क्रियाओंको अनावश्यक होना अधिक उचित होता

श्रीमद्भगवद्गीताके, परन्तु, "अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथित मनो मे तदेव दर्शय, देव!, रूप" (भग गीता ११।४५) वचनमे भगवान्के मानुष रूप और विराट् रूप दोनोंके दर्शन अर्जुनको अपनी इच्छा या अभ्यर्थना के आधारपर इतरेतरविकल्पतया हुवे एतावता प्रत्यक्षानुभूतिको भी ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र नहीं माना जा सकता है अन्यथा योगिप्रत्यक्षको अप्रत्यक्ष मानना पडेगा अतएव उन्नीसवीं सदीके जर्मनीके लुड्विग् विट्गन्स्टीन् भी निर्विकल्पानुभूति और प्रत्यय के बीच तारतम्य दिखलाते हुवे कहते है "Sensation gives knowledge about external world Images tell us nothing, either right or wrong, about external world (Images are not hallucination, nor yet fancies) While I am looking at an object I Cannot imagine it Images are subject to will" [12] इसे वे अधोनिर्दिष्ट आकृतिद्वारा समझाते है —



वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनिच्छातन्त्र कल्पनाके कारण उत्पन्न होती प्रतीति बहुधा मायिकी ही होती है भावानुरूप प्रतीतिका, किन्तु, अवास्तविक होना आवश्यक नहीं, यदि वस्तुमे भावानुसरणसामर्थ्य हो तो श्रीमद्भागवतमे, अतएव, आता है कि "त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुसा यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपु प्रणयसे

सदनुग्रहाय'' (भाग पुरा ३।९।११) सगीतशास्त्रके सप्तस्वरोंमे से किसी भी एक स्वरके बारेमें गायकके अपने कण्ठस्वभावके अनुरोधवश स्वेच्छया षड्जभाव स्थापित कर लेनेपर अवशिष्ट सभी ऋषभ गन्धार मध्यम पञ्चम धेवत निषाद स्वर श्रुतिगोचर होने लगते हे, ''षट्सु जायतइति षड्ज'' व्युत्पत्तिके अनुरूप इन्ह केवल इमेजके रूपमे अबाह्य मान कर खपाया नहीं जा सकता गायकेतर श्रोता इसे अपने कर्णोद्वारा साक्षात् सुन सकता हे अतएव कर्म और ज्ञान के बीच इच्छातन्त्र और वस्तुतन्त्र होनेका प्रभेद भी आत्यन्तिक नियति नहीं हे वाल्लभ वेदान्त कर्म ओर ज्ञान दोनोको ब्रह्मात्मिका शक्तियोंका अनुभाव ही मानता है ओर परस्परोपकारक भी''[१] अस्तु

(२) एक ओर विषय प्रत्यक्षानुभूतिकी चर्चाके अन्तर्गत यहा उल्लेखनीय लगता है कि श्रीमद्भागवतके उल्लिखित स्थलपर ही ''द्रव्याकृतित्व गुणता व्यक्तिसस्थात्वमेव च तेजसत्व तेजस रूपमात्रस्य वृत्तय'' (भाग पुरा ३।२६।३९) कारिकाकी सुबोधिनीमे महाप्रभु कहते है

> ''द्रव्यस्य घटादे या आकृति सैव रूपस्य, पृथुबुध्नोदराकार रूपमपि आतानवितानात्मक च 'द्रव्यस्येव आकृति' इति द्रव्यस्य न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम् 'गुणता' इति सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति नैव शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते सस्थेव सस्था यस्य यदि व्यक्ति वक्रा भवति रूपमपि वक्र भवेदिति उपविष्टे रूपवति रूपमपि उपविष्ट भवति आतानवितानात्मकसकुचीकरणयो भेदात् तेजसश्च तेजस्त्व रूपतन्मात्रत्व सूक्ष्मावस्था रूपतन्मात्रस्य सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तय तेजसो लक्षणानि आह 'द्योतन पाचन पानमदन हिममर्दन तेजसो वृत्तयस्तु एता शोषण क्षुत् तृडेव च' द्योतन सूर्यादेरिव''
>
> (सुबो ३।२६।३९-४०)

इस आचार्यवचनके विमर्श करनेपर ऐसा नहीं लगता कि रूपके चाक्षुप प्रत्यक्षार्थ नेत्रकिरणोंका नेत्रोंसे बहिर्निसरण और विषयदेश पर्यन्त गमन कर प्राप्यकारी होना अनिवार्य हो आधुनिक युगमे एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरगविस्तारके सिद्धान्त (The unified theory of electromagnetic field) के अनुसार चक्षुर्ग्राह्य प्रकाश तो रूपद्योतनक्षम किरणोके प्रभेदोमे एक अतीव क्षुद्राश होता हे आधुनिक युगमे मानवचक्षुसे अग्राह्य एक्सरे इन्फ्रारेड् अल्ट्रावायोलेट् ध्वनितरग के ग्राहक उपकरणो अलावा उष्णताग्राहक उपकरणोंसे भी रूपाकृतिका ग्रहण शक्य हो गया है अत न तो सूर्यके चक्षुर्ग्राह्य प्रकाशकिरणोंकी और न तथाकथित नेत्रकिरणोंकी ही कोई अनिवार्य आवश्यकता अब रूपग्रहणार्थ स्वीकारी जा सकती हे

असकृत् स्वीकृतिद्वारा हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके है कि वाल्लभ वेदान्त शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है नकि तार्किक उत्प्रेक्षारूप और प्रस्थानरत्नाकरकारके शास्त्रावगाहनसे अधिक या तत्सम शास्त्रावगाहनकी कथा तो दूर, उनके शास्त्रावगाहनकी तुलनामे अपना एकचतुर्थांश भी शास्त्रावगाहन प्रस्तुत लेखकका हो तो अपने-आपको कृतकृत्य मान लेता। फिरभी "नभपतन्ति आत्मसम पतत्रिणो" न्यायेन ऐसा लगता है कि कदाचित् चाक्षुषकिरणोंके बहिर्निर्गमनका सिद्धान्त श्रुत्यादि शास्त्रसिद्ध न हो कर प्रस्थानरत्नाकरकारकी एक कामचलाउ उत्प्रेक्षा ही है अत प्रस्थानरत्नाकरकार भी न्याय आदि मतोकी तरह उसीके सहारे चाक्षुप प्रत्यक्षकी व्याख्या करनेमे कल्पनालाघव मान कर अग्रसर हुवे है अन्यथा दर्पणमे तो नयनकिरणोका परावृत हो कर स्वमुखग्रहण करना शक्य भी हो, तावता केमेरामे बाह्य दृश्यका प्रतिफलित हो जाना सूर्यकिरणोंकी रूपवाहकताके बिना कथमपि उपपन्न हो नहीं सकता ग्रन्थकारकी यह युक्ति कि सूर्यकिरणोंद्वारा रूपनयन स्वीकारनेपर द्रव्य रूपविहीन हो जायेगा[१४] महाप्रभुके इस विधान कि "घट आदि द्रव्यकी जो आकृति होती है वैसी ही रूपकी भी रूप भी घटकी तरह

पृथुबुध्नोदराकार होता है रूप पट द्रव्यकी तरह आतानवितानात्मक होता है 'द्रव्यके जैसी आकृति' ऐसे कहनेके कारण द्रव्यको उपमेय नहीं मान लेना चाहिये इसे रूपका लक्षण जानना चाहिये 'गुणता' कहनेके कारण रूपकी सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति होती है तेजका लक्षणोंका निरूपण 'द्योतन आदि तेजस्की वृत्तिया होती है सूर्य जैसे द्योतन करता है'' इसके साथ मेल खाती हुयी नहीं गलती है

अतएव चक्षुर्ग्राह्य रूपवद् वस्तुके प्रत्यक्षमे चक्षु और सूर्यकिरण का सयोग, तत्तादात्म्यापन्न रूप, तज्जनक सूर्यकिरणोका रूपवद्द्रव्यके साथ सयोग, और, वहा उस रूपवद्द्रव्यम रूपकी तादात्म्येन विद्यमानता यो परम्परया अनेकसम्बन्धोंका ऊह अकाम गले पतित होता है अतएव ऐसे सम्बन्धोकी भी अपरिगणना प्रस्थानरत्नाकरमे यत्किञ्चित् सशोधनकी अपेक्षा रखती है, यदि ये परिगणित सम्बन्ध स्वय श्रुत्यादिशास्त्रसिद्ध या आचार्यवचनसिद्ध न हों तो अन्यथा ''वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था'' भी हमे सर्वदा स्वीकार्य होनी ही चाहिये प्रत्यक्षत उपपन्न न होनेपर प्रत्यक्षतोग्राह्य लौकिक वस्तुओंके किसी अलौकिक आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वरूपविषयक ऐसी प्रक्रिया भी स्वीकारी जा सकती है उदाहरणतया शिवपुराणमे यह उल्लेख मिलता है कि ''तत सम्प्रेक्ष्य मदन हसन् देव त्रियम्बक नयनेन तृतीयेन सावज्ञ तम् अवैक्षत ततो अस्य नेत्रजो वह्नि मदन पार्श्वत स्थित अदहत् तत्क्षणादेव'' (शिवपुरा १।१०१।४०-४१) अत कोई मापक यन्त्र हो तो प्राणीके नयनोंमेसे भी निसृत होती उष्णताका मापन सर्वथा अशक्य कथा नहीं फिरभी सुदूर दृश्यवस्तुदेश पर्यन्त उनका गमन कुछ क्लिष्टकल्पना लगती है ऐसे ही किसी असामान्य या अलौकिक सन्दर्भमे नेत्रोंसे भी किरणोकी उपपत्ति सोची जा सकती है

[उपसहार]

अन्तमे आधुनिक विज्ञानने भी प्रकाशकी तरगरूपता और कणगुच्छरूपता

यो विरुद्धधर्माश्रयता मान्य की ही हे तावता हमारी चेतनामें प्रत्यक्षानुभूतिका उद्‌भव भी ब्रह्मांशभूत चेतनामे अनुस्यूत ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयताका ही आंशिक अनुभाव हे अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक उद्‌गार —

अचिन्त्यानन्तशक्ते तद् यद् एतद् उपपद्यते ।
अतएव श्रुतौ भेदा सृष्टे उक्ता हि अनेकधा ॥
(त दी नि १।४०)

अपने इस आलेखनका उपसहार करना चाहेगे कि प्रत्यक्षानुभूति भी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मूलस्वरूपकी अनुभूति न भी हो तो क्या हुवा ? है वह उसके लीलाविहारकी अनुभूति ही ! इति शम्

+

सन्दर्भ

[1](क) "रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव स विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवा च अशा, अल्पाना विचित्रे भ्रमो भवत्येव अत निवारणार्थं श्रुति चकार तस्या स्वरूपम् आह 'आत्मानम्' इति ननु अन्तर्यामिणैव कथ न निवार्यते तत्र आह 'आत्मप्रसादाय' इति, अन्त करणप्रसादाय जीवान्तर्यामिणो पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ, भोगभोजनार्थं, तद्‌भोगेन मालीन्य चित्ते जात न अन्त स्थितेन दूरीकर्तु शक्यम् अतो बहि स्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थ" (त दी नि प्र २।१८-१९)

(ख) "शब्दएव प्रमाण तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वत सिद्धप्रमाणभाव प्रमाण वेदा सर्वएव[त दी नि प्र] तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिक प्रामाण्यम् अत तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थ ननु वेदादीना चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्य तर्हि लौकिकेऽपि तुल्य

प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्य च इत्यत आहु 'तत्रापि' इत्यादि नहि अस्माभि शब्दत्वेन वेदाना प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात् तथा सति यथा धर्मे सपरिकरे चोदनैव प्रमाणम् अत्र (सपरिकरे ब्रह्मणि) वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्य नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्व, नहि वेदादितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातु शक्यते, तयो तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमासासिद्धत्वाद् (त दी नि प्र आ भ १।७)

[2]"रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टि विलक्षणा अन्तवती रूपसृष्टि अनन्ता नामसृष्टि स्थूला रूपसृष्टि सूक्ष्मा नामसृष्टि विकृता रूपसृष्टि अविकृता नामसृष्टि जडरूपा रूपसृष्टि बोधरूपा नामसृष्टि एव चतुर्धा वैलक्षण्यम् उक्तम्" (सुबो १०।१३।४३)

[3](क) "सर्वयोनिषु, कौन्तेय!, मूर्तय सम्भवन्ति या तासा ब्रह्म महद् योनि अह बीजप्रद पिता, सत्त्व रज तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवा निबध्नन्ति, महाबाहो!, देहे देहिनम् अव्ययम् तत्र सत्त्व निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामय, सुखसगेन बध्नाति ज्ञानसगेन च, अनघ!, रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासगसमुद्भव तद् निबध्नाति, कौन्तेय!, कर्मसगेन देहिन, तमस्तु अज्ञानज विद्धि मोहन सर्वदेहिना प्रमादालस्यनिद्राभि तद् निबध्नाति भारत!" (भग गीता १४।४-८)

(ख) "सर्वभूतेषु येन एक भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्त विभक्तेषु तद् ज्ञान विद्धि सात्त्विकम् पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञान नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञान विद्धि राजसम् यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्प च तत् तामसम् उदाहृतम्" (भग गीता १८।२०-२२)

[4]"१ सर्वात्मभूतम् अविकृत स्वस्वरूपात्मक नित्य २ धर्मरूप नित्य ३ वेदात्मक नित्य ४ सृष्टिबीजताभावापन्नानेकशब्दरूप नित्य ५ तत तादृशद्विविधशब्दात्मकशरीर-विशिष्टमेव लोके प्रकटीभवितु लौकिक प्रमातार प्रमेय च आश्रयते तत्र शब्दशरीरविशिष्टस्य प्रमात्राश्रयण 'पश्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या च अवसीयते तथाच आनुभविकोक्ति 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमाद् ऋते अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्दने भासते' तत्र प्रमेयाश्रय प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव प्रमातरितु अन्त करणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा तत्र इन्द्रियेषु (निर्विकल्पकत्वेन) एकधा अन्त करणेतु चतुर्धा" (प्रस्थानरत्नाकर पृ २-७)

[5] "'युष्मद्' - 'अस्मत्' प्रत्ययगोचरयो विषयविषयिणो तमप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयो इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धाया तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्ति इत्यतो 'अस्मत्'प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके 'युष्मत्'प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणा च अध्यास, तद्विपर्ययेण विषयिण तद्धर्माणा च विषये अध्यासो मिथ्या इति भवितु युक्त, तथापि, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयो धर्मधर्मिणो मिथ्याज्ञाननिमित्त सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहम् इद - मम इदम्' इति नैसर्गिको अय लोकव्यवहार" (ब्र सू शा भा १।१।१)

[6] "आत्मरति आत्मक्रीड" (छान्दो उप ७।२५।२)

[7] तुलनीय "The cell has main two parts a nucleus, containing the genetic material deoxyribonucleic acid (DNA), and a surrounding cytoplasm The nucleus cell headquarter governs the major activities of the cytoplasm, its finest hour, however, comes at reproducting time, when chromosomes containing DNA split It is in the cytoplasm that the cell's day to day business is carried on" pp 14 The body by Alan E Nourse

[8] द्रष्टव्य सुबोधिनी ३।२६।१-७२

[9] द्रष्टव्य सुबोधिनी ३।२६।३०-३१

[10] द्रष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपककल्लोल तरग तृतीय

[11] "वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनतत्त्व यद् विदु 'अनिरुद्ध'ख्य हृषीकाणाम् अधीश्वरम्" (भाग पुरा ३।२६।२८)

[12] pp 174 The Wittgenstein Reader=Aspect and Image Ed by Anthony Kenny Pbl Black well USA

[13] द्रष्टव्य तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।११-१२ तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश २।२८

[14] द्रष्टव्य प्रस्तानरत्नाकर पृ १४८-१५०

चर्चा

गोस्वामी श्याम मनोहर

सिद्धेश्वर भट्ट : आपने दो प्रकारकी प्राग्धारणाये प्रस्तुत की १ सत्ताशास्त्रीय और २ ज्ञानशास्त्रीय क्या मूल्यमीमासीय प्राग्धारणा प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी? क्योंकि प्रत्यक्ष ही नही, ज्ञानकी सारी प्रणालिये मूल्योन्मुखी होती है प्रत्यक्षमे भी, जिसको हम देखना चाहते ह उसीको देखते ह, नहीं देखना चाहते है उसको हम तिरस्कृत कर देते हे तो प्रत्यक्षविषयक मूल्योन्मुखी प्राग्धारणापर भी आप प्रकाश डाले

दूसरी बात सदश और चिदश के विषयमे तो आपने बात की पर आनन्दाशको क्यो छोड दिया? यह इसलिये पूछ रहा हू क्योंकि मूल्यकी चर्चामे हम परिणति तो आनन्दमें ही करते हे क्योंकि ज्ञानपिपासा भी केवल बौद्धिक क्रीडा तो नहीं है! अन्ततो गत्वा उससे आत्मरञ्जन भी होता है और नि श्रेयसकी प्राप्ति भी होती है अत आनन्दाश भी महत्वपूर्ण है और यदि इन तीनोंको हम एकीभूत मान ले तो अद्वैतवेदान्तकी चिन्मात्र ब्रह्मकी, जिसकी अभिव्यक्ति बादमे त्रिविध चैतन्यके रूपमे होती है, अवधारणा और शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादकी अवधारणमे क्या फर्क होगा?

गो श्या म • त्वरामें आलेख पत्र लिखनेके कारण मूल्यमीमासाकी दृष्टिसे प्रत्यक्षके विषयमे मै कुछ लिख नही पाया हू चर्चाके बाद मेरे आलेख पत्रमे कुछ परिवर्धन कर दू तो वह हो जायगा आनन्दके प्रत्यक्षकी मीमासा मैने इसलिये नहीं की क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने प्रस्थानरत्नाकरमे उस सम्बन्धमे दिशानिर्देश किये है अत उस बारेमे विशेष

कथ्य मुझे अपनी इस त्वरामे प्रतीत नहीं हुवा और प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के बारेमे मै यह कहना चाहूगा कि वहा वह सारा विषय प्रमात्रोपाधिक विषयोपाधिक या अन्तकरणौपाधिक चैतन्य, इस तरहका प्रभेद अद्वैतवेदान्ती करते है इस तरहका प्रभेद हमारे दर्शनमे स्वीकार्य नही हुवा है इसलिये अपने आलेखमे अद्वैतकी अध्यासभाष्यकी प्राक्रियाको पूर्वपक्षमे रखकर मेने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि हमारे यहा केवल अध्यास नहीं है वस्तुत सयोग भी है क्योंकि सदश और चिदश ब्रह्मकी इच्छासे सयुक्त हुवे है केवल अपने अध्यासके कारण सयुक्त नहीं हुवे है "तच्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवससार उच्यते" अब सयुक्त हो गये है तो उसके बाद उनको भ्रम भी हो जाता है इसलिये मैने अपने आलेखपत्रमें लिखा है कि "सर्वाशमे मान्य नहीं है" कुछ अशमें मान्य है मगर अध्याससे हम सारी बातको उठाना नहीं चाहते है - उठाना चाहते है ब्रह्मकी इच्छासे, ब्रह्मसकल्पसे तो सदश और चिदश का सयोग अथवा शुद्ध चेतना और अन्तकरण ओर बाह्य करण का सयोग अपनी इच्छासे नहीं हुवा है परन्तु ब्रह्मकी लीलाके सकल्पके कारण हुवा है अब ब्रह्मके सकल्पवशात् हुवा है और हमारी चेतना ओर हमारे उपकरण परिच्छिन्न है इसलिये हमको भ्रम भी हो जाता है—परन्तु केवल भम ही नहीं होता है यह हमारा सिद्धान्त है इसीको मैने अपने आलेख पत्रमें "सर्वाशमे मान्य नहीं है" यह लिख कर जताया है (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

कश्चित् : (प्रश्नो ध्वनिमुद्रणयन्त्रे न श्रूयते)

गो श्या म : अन्पस्य प्रतिबिम्बो न भवति इत्येतस्मिन् विषये महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यचरणैरेव निवन्धे तादृश प्रतिपादन कृता

अस्ति तस्माद् विम्ब-प्रतिविम्बभावेन अध्यासो नास्ति अस्माक मते अयोगोलकन्यायेन चैतन्यस्य आवेशो भवति अन्त करणेषु देहेन्द्रियादिषु च तदावेशेन अध्यासो भवति, विम्ब-प्रतिविम्बभावेन अध्यासो न भवति तस्माद् रूपम् अस्ति चेद् भवतु नास्ति चेद् मा भूत् न तेन कोपि .

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ओर नीरूप प्रतिबिम्बको ग्रहण भी कर सकता हे यह श्रीवल्लभाचार्यजीको मान्य हो सकता हे ऐसा मुझको लगता है क्योंकि "आभासएव च" सूत्रके भाष्यमे जीव तो परमात्माका प्रतिविम्ब हे यह सिद्धान्त है इस विषयमे श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो देखा नहीं है लेकिन अद्वैतमे तो ऐसा ही हे "रूप रूप प्रतिरूप बभूव" ऐसी श्रुति है इसी तरह "यथा हि अय ज्योति आत्मा विवस्वान् अपो भिन्नात् क्रियते भिन्नरूप, देवा क्षेत्रेषु एवम् अजो अयम् आत्मा" तो श्रुति - सूत्रके अनुसार जीवको प्रतिविम्ब माननेमे इनको कोई विरोध नहीं होना चाहिये इसीलिये १५५ पृष्ठपर उसे पहले कह कर वे कहते है कि "अय पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्ने साक्षात्ससृष्ट-दाहकत्वदर्शनाद् वृत्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्त करण-ससृष्टप्रकाशकत्व सुतरा सुवचमिति अन्त करणे प्रतिबिम्बिताना प्रकाश" अन्त करण तो नीरूप यहा वाल्लभ मतमें भी है यहा अयोगोलकका दृष्टान्त उन्होंने यह भी कहते है "अन्त करणे प्रतिबिम्बिताना" प्रतिबिम्बाधारत्वम् (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

देवनाथन : अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बाला तलमलिनताम् अध्यस्यन्ति इति अध्यासभाष्ये उक्त तस्य का गति ?

गो. श्या. म. : अस्मिन् विषये पुरुषोत्तमचरणानाम् एतादृशो अभिप्रायो वर्तते आकाशस्तु न इन्द्रियसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति किन्तु पिशाचवत् स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति तस्मात्

प्रतिबिम्बोऽपि तस्य वक्तु शक्यते पिशाचादीना स्वसामर्थ्येनैव प्रत्यक्षयोग्यता वर्तते, इन्द्रियसामर्थ्येन नास्ति अस्माक मते प्रमेयबल प्रमाणवलम् इत्यादिरूपेण बलभेद कश्चन स्वीकृतो

डॉ कृष्ण शास्त्री : आकाशस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्व वा मानसप्रत्यक्षत्वम्? आकाशको प्रत्यक्ष मानते है?

गो श्या म : न इन्द्रियसामर्थ्याद्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आकाश तो प्रत्यक्ष ही नहीं है अतएव "अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे अध्यस्यन्ति" इति अध्यासभाष्ये भगवान् शकराचार्यजी आकाशका प्रत्यक्ष नहीं मानते वल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो मुझको ज्ञात नहीं है

यज्ञेश्वर शास्त्री : वाल्लभै अनुपलब्धिप्रमाण न अगीकृत परन्तु अभावस्य प्रत्यक्ष स्वीकृतम् कथम् अभावस्य प्रत्यक्षम्? नैयायिकै विशेषविशेष्यभावसन्निकर्ष स्वीकृत प्रत्यक्षस्य कृते वाल्लभमते कीदृश सम्बन्ध पुरस्क्रियते? (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

कृष्णमूर्ति शास्त्री : उनका पूछना ऐसा है कि सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो दोनोके काम करती है ऐसा आपने अपने पत्रमे लिखा है इसपर उनका प्रश्न है

गो श्या म : मैने इसीलिये अपने पत्रमें 'रसनेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं किया है मैने लिखा है कि एक जिह्वा रसेन्द्रियका कार्य भी करती हे और शब्दोच्चारणका कार्य भी करती है मैने 'एक जिह्वा' कहा है 'रसनेन्द्रिय' नहीं कहा है

बलिराम शुक्ल : जिह्वा इन्द्रिय नहीं है वह शरीरावयव है

गो श्या. म : मेरा प्रतिपिपादयिषित इतना ही है कि जिह्वारूपी अवयवमें, आप उसको 'इन्द्रिय' न कहें, ज्ञानेन्द्रियत्व और कर्मेन्द्रियत्व दोनोंकी समानाधिकरणता है

बलिराम शुक्ल : वह तो ठीक है

कृष्णमूर्ति शास्त्री : गुरुत्वं ज्ञायते चेत् कर्मेन्द्रियेण न गृह्यते. अनुमानके सहयोगसे ही कर्मेन्द्रिय गुरुत्वको गृहीत करती हे (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

गो. श्या. म. : मेने पहले ही इसीलिये कह दिया हे कि मूलकारोंने कहीं इस तरहसे प्रतिपादन नहीं किया है. मुझको ऐसा लगता है कि इन्द्रियोमे ज्ञानेन्द्रिय ओर कर्मेन्द्रिय के रूपमे इस तरहका ऐकान्तिक विभाजन प्राधान्येन व्यपदेश हे. मूलतः सभी इन्द्रियां ज्ञान ओर कर्म दोनों कार्य करती हैं.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता हे. क्योंकि इन्द्रियोकी उत्पत्तिके बारेमे शास्त्रमे चर्चा हुयी है. सत्वगुणके प्राधान्यसे जो इन्द्रिये उत्पन्न हुई हे वो ज्ञानका ग्रहण करती हे. रजोगुणके प्राधान्यवाली इन्द्रिये क्रियाको करती है उपादानके गुण उपादेयमे आते हे इस तरह उपादान-उपादेयभावको सोचनेसे अलग-अलग जब कहते है तब तो सामान्येन व्यपदेशा भवन्ति इस न्यायको नही चला सकते हे . उच्यते आहंकारिकत्वे सर्वैः इन्द्रियैः सर्वं कार्यं कर्तुं शक्यते वा अविशेषात्? न (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

शुक्लजीके कुछ कहने पर

गो. श्या. म. : नैमित्तिके सति निमित्तानुसरण भवति नतु निमित्तमस्तीति नैमित्तिको अन्वेष्टव्यः

कृष्णमूर्ति शास्त्री : वेयक्तिकरूपेण है त्वगिन्द्रिय इससे वह स्पर्शका ग्रहण कराता है इसीलिये व्यवस्थामे बाधा पडेगी.

वशिष्ठनारायण झा : 'कर्मेन्द्रिय' कहते है तो मतलब होता है कर्मजनक इन्द्रिय. 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते है तो मतलब होता है ज्ञानजनक इन्द्रिय. दोनोमें रहा हुवा जनकत्व भिन्न-भिन्न धर्मोसे निरूपित है एक जगह ज्ञाननिरूपकत्व है, दूसरी जगह कर्मनिरूपकत्व है. निरूपक धर्मोके भिन्न होनेके कारण ये दो एक नहीं हो सकते है

गोस्वामीजी! यहा विरुद्धधर्माश्रयत्व दिखलाना चाहते है पर क्या यह यहा सम्भव हे? हाथसे यदि चलनक्रियाकी उत्पत्ति होती है तो चलनक्रियाकारी क्रियानिरूपित धर्म वहा है और 'ज्ञानेन्द्रिय' जब कहते है तो अब बात यह हे कि दोनोको इन्द्रिय कह दिया यहा भी इसको इन्द्रिय कह दिया, वहा भी इन्द्रिय कह दिया तो किसी एक को मुख्य मानकर दूसरेको गोण माने तब ही इससे काम बनेगा दोनोको एकाकार करनेसे दिक्कते होगी ऐसी मेरी समझ है यह एक बात हुई

दूसरी बात, मै यह जानना चाहता हू कि जैनियोंके अनेकान्त और आपके विरुद्धधर्माश्रय के बीच क्या अन्तर है?

गो श्या म : निरूप्य-निरूपकभावके भेदसे धर्मभेद तो होता है उन धर्मोमे हम सकीर्णता बताना नहीं चाहते है पर भिन्न धर्म एक धर्मिमे या विरुद्ध धर्म एक धर्मिमे सामानाधिकरण्येन रह नही सकते है ऐसा हम नहीं मानते विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्मका गुणधर्म है और ब्रह्म क्योकि अभिन्ननिमित्तोपादान है अत महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है कि चूहे-बिल्लीमें वध्य-घातकता होनेपर भी पृथ्वी उन दोनोको धारण कर सकती है इसी तरह इन्द्रियोंमें दोनों धर्मोका सामानाधिकरण्य है एतावता दोनों धर्म विरुद्ध नहीं है ऐसा नहीं है निरूप्य-निरूपकभावमें जो विरोध आ रहा है वह तो विरोध ही है अत मै उन धर्मोमें सकीर्णता नहीं कहना चाहता हू और जैनमताद् विशेषो भवतु मा वा भवतु तत्र नास्माक आग्रह श्रुत्यर्थ प्रतिपादितो भवति न वा? अविशेषोऽपि भवतु चेद् विशेषोऽपि भवतु भवतु नाम श्रुत्यादिप्रमाणै सिद्धम् अस्ति न वा नहि आर्हतै महावीर सर्वज्ञतया अभ्युपगतइति अस्माभि परमेश्वर सर्वज्ञो न भवति अवश्यमेव

अंगीकरणीयम्!

वशिष्ठनारायण झा : ...जैसे एक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है, स्वामी भी है. तो इतने सब धर्म होते हुवे भी उनमें विरोध नहीं है...

गो. श्या. म. : "नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणित-गुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणाभास-कुतर्क-शास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय-दुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे" (भाग.पुरा. ६।९।३६). अस्माकम् अभिप्रायः एतस्मिन् विषये एतादृशोऽस्ति. यत्र सामानाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति. अन्यत्रतु तेषां विरोधः स्पष्टएव.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव देवानाथाचार्यैः इदम् उक्तम् यत् प्रमाणेन गृह्यते विरुद्धमिति न स्वसम्प्रतिपन्नमिति यत्... प्रमाणेन अवगम्यते" इति भामतिकारा वदन्ति. प्रमाणेन अवगम्यते ... विरुद्धता नास्त्येव. यत्रतु नावगम्यते तत्रैव विरोधः. अतएव वेदान्तिभिः मन्दान्धकारे प्रकाशस्यापि तद्विरुद्धस्य तमसः सामानाधिकरण्यं स्वीकृतम्.

गो. श्या. म. : यत्र विरुद्धयोः धर्मयोः ऐकाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति, अन्यत्र तेषां विरोधः

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बन्धनकारिणी रूपसृष्टिः मुक्तिदायिनी नामसृष्टि. ये दोनो ही भगवान्‌की लीलारूपा सृष्टि है. यहां नामसृष्टिको 'मुक्तिदायिनी' कहा है उसका तात्पर्य क्या है?

गो. श्या. म. : श्रीमदाचार्यचरणानां वचनमेव उद्धृतम् अस्ति. सन्दर्भे दृष्टिः प्रदीयताम्. "रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे, श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः" (निबन्धकारिका १८)'- 'विचित्रो रूपप्रपञ्चः. जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह आत्मानम् इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते? तत्र आह आत्मप्रसादाय इति. अन्तःकरणप्रसादाय.

जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जात, न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः"(निबन्धप्रकाश). इसका तात्पर्य यह है कि जीव आंशिकी चेतना है और आंशिक उपकरणोके सामर्थ्यसे युक्त है. अतः किसी विचित्र वस्तुको देखनेपर हमको भ्रम होना स्वाभाविक है. अतः "जिह्वा एकतो, अच्युत!, विकर्षति मा अवितृप्ता, शिश्नो अन्यत, त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चिद्, घ्राणो अन्यत चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः. बह्व्यः सपत्न्यइव गेहपतिं लुठन्ति" हर विषय हमारी इन्द्रियोंको इस तरह आकृष्ट करता है कि मोह उत्पन्न हो जाता है. अब यदि श्रुति न हो तो रूपोमे आसक्त हमारी इन्द्रियोंको कौन छुडाये? इसलिये भगवान्ने नामसृष्टि की. सारी नामसृष्टि श्रुतिसे उत्पन्न हुई है ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिपादन किया है. प्रस्थानरत्नाकरमें भी प्रारम्भमे ही वह बात बता दी है कि सारी नामसृष्टि श्रुतिपूर्विका है.

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : इसपरसे एक प्रश्न उठता है कि जब नाम-रूप सब भगवान्का ही गृहीत रूप है... तब नाम-रूपका जो इन्द्रियोसे... "पराञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन्" ऐसी हिंसा तो कहां होती हे? रूपदर्शन और शब्ददर्शन भी तो परमात्माकी लीला हे, परमात्माके रूपमें इनको देखते हे. इसमें विषयज्ञान बन्धक है ओर आत्मज्ञान मोचक है इस तरहकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?

गो. श्या. म. : भगवान्के विराट् स्वरूपमें भगवान्ने न केवल अपने मित्र अर्जुनका प्रदर्शन कराया परन्तु दुर्योधनका भी. तो भगवान्की विराटतामें ये सब मोजूद हैं. और इस तरहका प्रभेद लीलार्थ प्रकट हुवा है. इसीलिये "एको अहं बहु

स्यां प्रजायेय'' की व्याख्या करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'प्रजायेय' नाम प्रकर्षेण जायेय. प्रकर्षेण जननं कीदृग्? उच्चनीचभावेन जायेयम्. तद् उपलक्षणम्. उच्चनीचभावेन जायेयं नाम विरोधिभावेनाऽपि जायेयम्. सबसे बड़ी मजेदार बात यह है कि रावण हो या शिशुपाल हैं वे भगवान्‌के द्वारपाल.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : शिशुपालको ही जल्दि मुक्ति होगी. वह कृष्णशरीरपर पहुंच गया. भीष्मके साथ ऐसा नहीं हुवा.

गो. श्या. म. : इसीलिये हम जल्दि मुक्ति नहीं चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं. ''मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः त्वन्मायया आत्मात्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्''. भक्ति चाहते हे, मुक्ति नहीं चाहते हैं

......+.....

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

श्रीसिद्धेश्वर भट्टजीका यह कहना कि सत्ताशास्त्रीय और ज्ञानशास्त्रीय प्राग्धारणाकी तरह मूल्यमीमांसासम्बन्धी प्राग्धारणा भी मुझे दरसानी चाहिये थी. यह बात अंशत: सत्य है इस अर्थमें कि मैं विचार्यबिन्दुके निर्देशपूर्वक उन्हे दरसा नहीं पाया. अंशत यह बात अनवधानताप्रयुक्त भी है जो स्वयं मुझे भी अपनी अनवधानताके कारण तब चर्चाकालमें स्फुरित नहीं हुवा. अन्यथा अंशी सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशरूप जड और चिदंशरूप जीव के पृथक्तया आविर्भूत होनेपर भी परस्पर गाढभावेन सम्पृक्त हो जाना और वह भी उस सीमा पर्यन्त कि दोनोका एक-दूजेमें तादात्म्याध्यास फलित हो जाये, इसे परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌की विवेकविहीन कृति न माननी हो तो लीला ही माननी पडेगी. अन्यथा पृथक्तया प्रकट करने हों तो तादात्म्याध्यास नहीं होना चाहिये था और अन्तमें तादात्म्याध्यास ही अभीष्ट हो तो व्यर्थ पृथक्तया प्रकट नहीं करना चाहिये था. यह

मेरे आलेखपत्रगत "स वै नैव रेमे " आदि बृहदारण्यकोपनिषद्के वचनके मेरे द्वारा लिखी गयी व्याख्याके आधारपर ध्वनित हो ही जाता है वहा यह स्पष्ट शब्दोंमे निरूपण किया है उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वैधापातन, अर्थात्, विषय और विषयी बनना, आख-मिचौनी जैसी कोई क्रीडा है अर्थात् छिपे हुवे विषयको खोज कर चेतना विषयी बनना चाहती है और इसी तरह छिपी हुयी वस्तु चेतनाको खोज कर उसका विषय बनना चाहती है हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद नहीं अत विषयी चेतनामे प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें जिज्ञासा लिप्सा प्रयत्न या उपलब्धि के अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोसे निराकृत होता है उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोमे से विषय भी अपनी झलक देनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीडोपम कुछ न कुछ क्रिया प्रकट करते ही है

यह अश प्रत्यक्षानुभूतिकी मूल्यमीमासकीय विवेचना है जहा तक आनन्दाशके प्रत्यक्षका प्रश्न है तो "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृह उप ४।३।३२), "कोहि एव अन्यात् क प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति उप २।७), "या प्रीति अविवेकाना विषयेषु अनपायिनी" (विष्णुपुरा १।२०।१९) जैसे वचनोके आधारपर समस्त उपकरणोपेत आत्मचेतनामे विषयानुराग इतना प्रबल होता है कि विषयविरक्तका किसी न किसी विषयासक्तिमे फस जाना उतनी अनहोनी बात नहीं लगती जितनी कि विषयानुरागीका विरक्त हो जाना। यह स्वभावसिद्ध परस्पराकर्षण ही जड-चेतनाके बीच प्रत्यक्षानुभूतिके सारे मूल्योका निर्वाहक होता है वाल्लभ वेदान्त, अतएव, अयोगोलकन्यायेन प्रमात्रवच्छिन्न और अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य तो स्वीकारता है परन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्यकी, विषयके अकल्पित होनेके कारण उसे प्रत्यक्षप्रक्रियामे अपेक्षा नहीं लगती ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादानतया स्वीकारा गया होनेके कारण जड-चेतना दोनोका तिरोहित अशो तो वह स्वीकारता ही है

आदरणीय श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्रीजीका प्रश्न कि नीरूप पदार्थ प्रतिबिम्बग्राही क्यो नहीं बन सकता है? वस्तुत अप्रसक्तविमर्श है क्योकि मीमास्य मुद्दा

यह था कि नीरूप बिम्बका कही प्रतिबिम्ब पड सकता है या नहीं? नीरूप उपाधिमे प्रतिबिम्ब पड़ सकता या नहीं यह मीमास्य विषय ही नहीं था फिरभी नीरूप आकाशमे तलमलिनताके उदाहरणको ले कर किसी तरहकी कोई चर्चा करनी हो तो जेसा कहा जा चुका तदनुसार नीरूप आकाश चक्षुसामर्थ्येन अदृश्य होनेपर भी रूपवत् पदार्थोके आधारभूतविशेषणतया अथवा स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलद्वारा चक्षुर्ग्राह्य बनता स्वीकारा गया होनेसे उसमे अविद्यमान तलमलिनताका अधिष्ठान बन सकता है एतावता वह तलमलिनता वहा प्रतिबिम्बित नहीं मानी जा सकती है क्योंकि तब तो मलिनबिम्बको कहीं खोजना अनिवार्य हो जायेगा रही बात अन्तकरणमे विषयाके प्रतिबिम्बकी तो वाल्लभ वेदान्त वहा यह स्पष्टीकरण देना चाहेगा कि अन्तकरण ऐकान्तिकतया निरूप नहीं होता क्योकि वह स्वत नीरूपप्राय होनेपर भी विषयोपरागवश अपनी रूपग्राहिका वृत्तियोके कारण अस्थायी फिरभी वास्तविक रूपग्रहण भी करता ही रहता है मृत्तिकामे घटाकृति सहज न होनेपर भी कुम्भकारके प्रयत्नोके वश वह वास्तविकतया प्रकट होती है अथवा जैसे चित्रकारकी तूलिकाद्वारा कागज या भीति वर्णाकृति धारण कर लेती है तद्वत् रही बात एक ही इन्द्रियद्वारा बोध और क्रिया दोनो उत्पन्न हो सकती है या नहीं, इस 'विवादकी तो इस विषयमे अवधेय है कि सृष्ट्युत्पत्तिकी प्रक्रियामे स्वय त्रिगुणात्मिका प्रकृति क्रियाशक्तिमती और गुणातीत चेतनात्मक पुरुष बोधशक्तिमान यो इन दोनोके परस्पर सयुक्तरूपेण ही महद् अहकार मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूतो का क्रमिक विकास हुवा माना गया है अत जहा क्रिया अनुभूतिगोचर होती हो पर बोध अनुभूतिगोचर न होता हो वहा वैसा स्वरूपप्राकट्य, अथवा जहा बोध अनुभूतिगोचर होता हो क्रिया अनुभूतिगोचर न होती हो वहा वैसा स्वरूपप्राकट्य, स्वीकारना उचित होता है पर जहा दोनो निजानुभूतिगोचर होते हो वहा उभयरूपता स्वीकारनेमे क्या आपत्ति होनी चाहिये? ऐसा विशेषत इसलिये कि धातु या शिला आदिमे बोध अनुभूत नहीं परन्तु सजीव प्राणिओमे बोध एव क्रिया दोनो प्रकट अनुभूतिगोचर होते ही है अत प्रकृति-पुरुषकी सयुक्तोपादानता स्वीकारनेमे सकोच क्यो होना चाहिये? वस्तुत शिला-धातु आदिमे सयुक्तोपादानता है ही फिरभी पुरुषचैतन्यको वहा तिरोहित मानना पड़ता है, जबकि प्राणिओमे अतिरोहित

श्रीयज्ञेश्वरजीके प्रश्नका समाधान तो आधारपत्रमे ही समाहित होनेसे पिष्टपेषण अनावश्यक है फिरभी सक्षिप्त सूचन इतना अवश्य ही दिया जा सकता है चारो तरहके अभावकी व्याख्या वाल्लभ वेदान्त तिरोभावकी सैद्धान्तिकी प्रक्रियाद्वारा करता ही है अत अनुपलब्धिको प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द ज्ञानके तिरोभावके रूपमे स्वीकार कर तत्तत् प्रमाणोंमे ही अन्तर्भाव स्वीकारना उचित होगा क्योकि जहा पर्वतके बारेमें प्रत्यक्षगोचरतया अनुपलब्धि होती है अनुमितिसे उपलब्धि होती है सृष्टिकी ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मकर्तृकता के बारेमे अनुमित्यात्मक अनुपलब्धि होती वहा शाब्दी उपलब्धि तो होती ही है अतएव नैयायिकोने प्रतियोगी और अभाव को समानेन्द्रियसे ग्राह्य माननेका ज्ञानशास्त्रीय प्रस्ताव प्रस्तुत किया है स्वय शाकर वेदान्तमे भी मूलत अनुपलब्धि प्रमाणतया मान्य थी कि नहीं, यह विचार्य विषय है ऐसा सहज सम्भव है कि "व्यवहारे भाट्टा" नीतिके अन्तर्गत अनुपलब्धिको परवर्ती कालमे कभी प्रमाणतया मान्य किया गया हो



TOWARDS UNDERSTANDING PERCEPTION

Prof S R Bhatt, Delhi

Perceptual Cognition has been a basic and important factor in human life, in fact for all life in general It may be regarded as pivotal to mental functions and physical behavior of human beings and its central and pervasive role needs no special mention

The claim of primacy and significance of perception as a foundational mode of knowing can hardly be a matter of dispute and disagreement as all other modes of knowing like inference seem to originate in perception and find their ultimate validation in perception It cannot be denied that all cognitive processes in the empirical sphere begin with perception but there may be difference of opinion whether they end up in perception

There can again be no unanimity in regarding empirical perception as the sole variety of perception In spiritual, mystical, religious and some schools of moral thinking there has been an acceptance of trans empirical perception In fact there have been claims that this alone is genuine and truly veracious perception However as a worldly being our main

concern in with empirical perception, which may be the subject matter of our deliberations, though some references to the trans empirical may not be ruled out Without denying the validity of trans empirical perceptions that are intuitive realizations of a higher type available only to realized souls it must be pointed out that they are beyond the ken of our thought and language They are to be experienced and not to be analyzed or deliberated upon

The role of perception in cognizing the reality has always been regarded as inevitable and valuable Through perception alone the *reality is said to be directly apprehended* It has been a perennial human quest to know the reality as it is That is why truth claim is built in knowledge claim But the basic epistemological issue has been substantiation of truth claim The entire exercise of Pramana Sastra of epistemology has been undertaken precisely for this purpose It has been argued that in perceptual cognition truth claim can be self substantiated but in the face of the possibility, or rather actual and painful experience, of perceptual errors this claim gets falsified We do say 'Pratyakse kim pramanam?', i e, what is the need for evidencing truth in perception as it is self evidencing, but at the same time we do doubt the verdicts of our own perception

With the rise of science and its phenomenal successes the attitude of scientism and positivism has cropped up in some quarters It has not only been claimed that all perception

is sense perception with or without the aid of external instruments and appliances technology has produced, it has also been maintained that 'scientific method generated perception' alone can guarantee of objectivity and reliability and, further, it alone can have the feature of being shared (shared ness) In view of the proven hollowness of this claim the positivistic attitude has lost its creditability in the fields of natural sciences but its borrowed remnants in the social sciences still persist There are many natural scientists that have the gradual realization of the limitations of the scientific method and consequent disenchantment from its absolute sway They have come to maintain that even this knowledge can be subjective and falsifiable Of course the impact of this conclusion is being felt in the field of social sciences as well but still old dogmatism is seen persisting in some quarters It must, however, be accepted that no finality can be claimed in the sphere of human knowledge and these issues come up again and again as puzzles for our consideration

PUZZLES OF PERCEPTION

There are several issues concerning its nature, process, types extent, limits and their transcendence that pose problems and puzzles for our consideration The phenomenon of perception in sub human species has its own problems and puzzles but the complex biological structure constituting human organism and its intricate functioning through cognitive senses and brain is no doubt mind boggling and equally wondrous is its cognizing capacity, potential or actualized, which is

vast and variegated Added to this is the availability of freedom of will and selectivity of attention, choice of the objects of perception and degrees of concentration The macro and micro objects which are external to the cognizing consciousness as well as the subtle and sophisticated mental objects that are inherent in consciousness present innumerable riddles as they become percepts for human intelligence, natural or artificial Perceptual cognitions do not remain simple sensations but get conceptualized and verbalized The latter variety of perception is highly complex and intricate having a fine and subtle networking which is quite amazing For a self reflective mind it is both an amusement and a puzzle to observe and to analyze this astonishing fit of human mind

In fact there are countless puzzles of multifarious and multi dimensional perceptual cognition and only some of them can be indicated for our consideration We may take up any or all of these or any other of our choice and interest in our deliberations Some of the issues are as under

1 Is perception a direct experience of the real? What is perceived—an independently existing object or its impression or just a mental projection? Is perception presentative or representative?
2 Perception is usually taken to be self evidenced Is it really so?
3 Is perception foundational or basic source of knowing?
4 Perception with external aids is taken to be accurate Is

it really so ?

5 It is believed that there are social, racial, individual's subconscious or previous birth's impressions that are operative and influencing perceptual process Can this be regarded as tenable?

6 Is 'Nirvikalpaka Pratyaksa' a psychological fact or a logical myth? How is it related to the 'Savikalpaka Pratyaksa'?

7. Is perception both empirical and trans-empirical?

8 Who is the perceiver? Consciousness, conscious self, or mind or senses and brain as parts of the body?

9 What is the role of various physical and mental factors in generating, facilitating or influencing perceptions? They may pertain to structure of body, development of mind, circumstantial placement of object or any other type

10 Can there be error free or non erroneous perception? What are the causes of error and can they be eliminated absolutely? Can we meaningfully talk of degrees of truth and error?

11 Can there be objectivity in perception?

These issues can be approached keeping the following points in view

1 Relation between consciousness, mind, cognition and perception

2 The conscious and the non-conscious aspects of perception

3 Total experience and perception

4 Perception of objects in normal people and those with handicaps

5 Perception in the context of Media and Arts
6 Perception and Artificial Intelligence
7 Aeronautical perception
8 Relation between language and perception
9 Perception of abnormal people or biased people Is there a secret self or a racial self?

The phenomenon of perception of perception is of concern to common human as well as to specialists in perhaps every field In every discipline one comes across puzzles pertaining to it and they have been demanding our attention for all the times Some of the problems may be age old and some might be caused by the explosion in our knowledge There is a need for an interdisciplinary dialogue drawing upon varied perspectives for mutual understanding and exchanges of ideas with the spirit of the ancient saying "Vāde vade jāyate tattvabodhah" In this Jnanayajna there can be alternative approaches to these issues from varied perspectives though the focal point can be Prasthānaratnakara



चर्चा

प्रो. एस्. आर्. भट्ट

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अद्वैतवेदान्ते ...

डी. प्रह्लादाचार : *भट्टमहाभागानाम् आशयो यथा मया अवगतः तथा* अनूद्यते. ममापि केचन संशयाः भवन्ति. भट्टमहाभागैः उक्तं यत् अद्वैतदर्शने अन्तःकरणं साम्प्रदायिकरीत्या यद्यपि चक्षुर्द्वारा बहिर् निर्गत्य विषयाकारं लभते. अन्तःकरणस्य यो विषयाकारो भवति सा वृत्तिः. When Antahkarana goes out through the sense organ and takes the shape of the object that itself is called 'Vrtti' This is the view of the Advaita But it seems that you explained in a slight different manner *The main intention of* Advaita here is to say that the Antahkarana becomes attentive to *the object through the senses I have* some doubts here A blind person also can be attentive *to the object So, according to* you the Indriya is not 'Dvāra' here

सिद्धेश्वर भट्ट : Some other Indriya will be the Dvāra

डी. प्रह्लादाचार : तत्र *अन्तःकरणस्य या विषयाकारता दर्शने* प्रतिपाद्यते तत्र केवल आलंकारिकतया उच्यते वा अथवा वस्तुतः अन्तःकरणं *बहि गच्छति. अन्तःकरणं हि तैजसम् इति अंगीक्रियते.* तैजसत्वादेव तस्य चक्षुर्द्वारा बहिर्गमनं युज्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : *This* is not to be taken literally

डी. प्रह्लादाचार : That is the point. Whether this is it

to be taken literally or figuratively

बलिराम शुक्ल : Antahkarana is not a Jada dravya like water They are using metaphor

प्रद्योतकुमार : We have here two alternative views One is saying that it should not be taken literally and other is saying that it should be Now think over what if we take it literally?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनसो बहिर्गमने को दोष ? उच्यताम् सकोच-विकासशाली तैजसम् इन्द्रिय

के ई देवनाथन् : गच्छत्येव It literally goes out

सिद्धेश्वर भट्ट · Generally we take a concrete tangible object to move We do talk of the movement of the mind But it is only figurative and not literal

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एव चेत् तर्हि चक्षुप प्राप्यकारित्वमपि न स्यात् नैयायिकमते चक्षूरश्मयो गच्छन्ति, चक्षुप श्रोत्रस्य च प्राप्यकारित्वम् इत्यादि यद् उच्यते नैयायिकै तत्र चक्षु कथ गच्छति? इति उक्तौ किम् उत्तरम् भवदपेक्षया? अतिसूक्ष्मत्वाद् गमनमिव इत्येव उच्यते

सिद्धेश्वर भट्ट : गमनमिव, नतु गमनम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : नैव नैव, गमनमेव इवकार एवकारार्थे अतएव सकोचविकासशाली

प्रद्योतकुमार : अन्त करणस्य जडत्व तैजसत्व च जडतया तैजसतया च अन्त करणस्य बहिर्गमन सम्भवति Since you said that all these views are depended basically on the If this is so and that is a good point also , conception of Antahkarana is important And there is no doubt about this that the Advaita Vedāntins are very categorical about two things that Antahkarana is

Jada and the Antahkarana is Tajas So because of this Why they insist on these two? And these accounts for its literal going out Number one thing And the second thing is that even when it goes out, Prahladachrji sometimes might be suggesting that only that even that part which is in between that also is Vrtti So Antahkaran is separated in three parts One, Antahkarana that remains inside The other that is in between the person and the object And other is the object All these three

बलिराम शुक्ल : अन्त करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य

सिद्धेश्वर भट्ट : In order to understand the perceptual cognition we have to take into account the psychological factors, the physiological factors, the optical factors and the epistemic factor All these four must be taken into account You can't just make epistemic analysis and say that this is the explanation of the perceptual process You also have to go to an ophthalmologist, neurologist and explain And I think the neurologist will laugh at it if you say that Antahkarana goes out

प्रद्योतकुमार : Let him laugh We will laugh at his ignorance Bring anyone

डी प्रह्लादाचार : Prof Bhatt told that these views need not be considered as alternative views They may be considered as complementary to each other But I think it is not so E g take Advaitin's view

When Antahkaranavacchinna caitanya i e pramana -vacchinna caitanya and pramatrvacchinna caitanya visayavacchinna caitanya these three Caitanyas becomes one Then we perceive the object This is the perception of the object But the Nyaya view is altogether different here They don t understand what is this Caitanya being reflected in this Antahkaran vrtti They don t have such concept at all Antahkaran Vrtti is something doesn t exist as per the Nyaya school Therefore Antahkaranavrtti pratibimbita Caitanya and that Caitanya is going to manifest pramatrvisayavacchi nna caitanya etc all those things are not at all acceptable to the Nyāya School Similarly whatever is accepted by the Nyaya school is not totally acceptable to Advaitins

कृष्णमूर्तिशास्त्री ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष" इति न्यायशास्त्रेऽपि इदम् उच्यते तत्र ज्ञान नाम बुद्धे वृत्ति एवञ्च 'वृत्ति'शब्देन यद्यपि न उक्तम्

डी प्रह्लादाचार शास्त्रिमहाभागा ! शृण्वन्तु न्यायदर्शने ज्ञानम् आत्मनो गुण आत्मभिन्नो, नतु आत्मस्वरूपम् चैतन्यमेव ज्ञानम् इदञ्च ज्ञान यदा अन्त करणवृत्तिप्रतिबिम्बित भवति तदा प्रत्यक्ष

सिद्धेश्वरभट्ट • I understood your point My brief replay would be that the reality is too complex to be approached in a strait jacketed manner such that one particular model will explain all gamut all aspects of reality There are some aspects that Advaitic

model will hold good, there are some other model that Buddhist model will hold good There will be some other aspect of reality where

डी.प्रह्लादाचार : No, the point that I am making is that how can we consider them as complementary to each other? That is the point

सिद्धेश्वर भट्ट : Because one aspect is explained by one model Another aspect is explained by another model

डी.प्रह्लादाचार : That means they are alternative models

सिद्धेश्वर भट्ट : No Not alternative



Infrequently Asked Questions on Perception And the Outlook of Vāllbha School of Philosophy

Achyutananda Dash

Perception, the principal and primary means for acquiring knowledge, perhaps is the only meeting ground of the sastra and the science The śastra examines perception with reasoning whereas the science examines the same with *experiments* The *results brought about by both* these processes are surprisingly very close, almost identical, and therefore the scientific nature of sastra is left with little doubt The process of acquiring perceptual knowledge in science and śastra has been defined in clear terms, almost with certainty At times science honestly confesses its inability to explain adequately many *intriguing phenomena in perception whereas* śastras do not seem to be doing so Is it because, there is no reason for reasoning to fail? Sense Object Contact (SOC), which is the very foundation of perception according to sastra, is generally accepted of two types (a) empirical (laukika) and (b) transcendental (alaukika) The former is of six types *depending upon six sense organs including* the mind and the latter is of three types depending upon three types of transcendental relations namely (i) universal, (ii) cognitive and (iii) yogic[1] However, there remains ample scope for

asking questions on the procedural as well as cognitive aspects of perception, which demands more reflections For instance, the scientists still ponder on the questions like - 'how the brain interprets the inverted image it receives from the retina of the eyes', 'how the brain appreciates different tonal qualities' and 'how to fix the position of the source of sound' so on and so forth[2] The śāstras, on the other hand appear to be seriously pondering on the cause effect relationship between the SOC and the cognitive state The śāstras also ponder on the justifiability as well as preferentiality of one cognitive state over the other in accordance with reasoning The reasoning on the background of longstanding experience and logical principles is no doubt dependable, but it does not mean that that is not subject to verification The tradition is always open to new ideas and it appreciates reasonable concepts coming from any corner of humanity We, therefore, wish to investigate on some infrequently asked questions on perception and look into the answers in śāstras, especially in the Vāllabha school of Vedanta in this paper This may give new insights to the richness of the śāstric world

Primacy of Perception

We know perception is the foremost of cognitive means, because, its causes are non epistemic, non epistemic in the sense that it is not caused by any other cognitive instance Gaṅgeśa defines perception as 'jñāankaranaka jnanam' (knowledge, that is not caused by any other cognition), and that distinguishes it from other cognitive instances like those caused

by inference, verbal testimony etc The primacy of perception is undisputed for that is the beginning of cognition and other cognitive instances somehow or other depend upon perception The Jains advocate in favor of primacy of perceptual cognition on account of 'clarity' (vaisadyam)[3] The clarity is explained in terms of 'immediacy' since the perception is caused being independent of mediation of any other cognition[4] This goes close to Gaṅgesa's above said definition The question is 'is it enough to ascertain the primacy of perception only on the ground of it being independent of mediation of other cognitive instances'? Moreover, it further may be asked that whether the perception that is just caused by SOC is cognizable or describable or not

Bhartrhari the doyen of grammarian philosophers on the contrary advocates strongly that every piece of knowledge is intertwined with the 'word'[5] and there is no knowledge that is bereft of 'word' This leads to the theory that perception is 'linguistic' Vācaspati Miśra justifying the linguistic nature of perception says 'It is linguistic not in the sense that it arises from 'word' as its means, but rather it arises in word Word is here the cause only qua object, and there is an identity between the entity and the word'[6] The grammarians essentially uphold this view and go to the extent that the relation between 'word' and 'meaning' is identity (tādātmya)[7]

Buddhists, however, think that it would be too wide

of perceptual cognition if it were accepted to be incorporating 'word' To them the perception should be strictly reflexive and exclusive of the object (artha mātra nirbhāsam), free from name (nāma) and generic property (jāti) Dharmakīrti goes a step foreword and defines perception to be free from 'conception' (kalpanā) and 'error'[8] The term kalpanā here refers to every input cognitive instance that either is related to linguistic expression or otherwise to the subjective imagination According to Dharmakīrti perception can present bare particular which is of 'its own nature' (svalaksana) and which is radically different from that which is related to that of the common in many (sāmānya laksana)

In view of the radical opposition between Bartrhari and the Buddhists, most schools of Hindu philosophy sought to accommodate both by admitting two types, or rather two levels of perception one non linguistic and non conceptual (nirvikalpaka) and the other linguistic, conceptual and thus judgemental (savikalpaka) It is of course, unanimously accepted that the savikalpaka perception is useful as far as the cognitive behavior is concerned This language centric perceptual cognition, to my mind, questions the primacy of perception in one hand and its upajīvakatā of the other cognitive instances on the other

Modern scientists add more doubt on the primacy of perception when they say that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' by

mind (past experience) To quote H S Subrahmanyam

> "We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements When we look we are not *looking with our eyes, we are looking with our* mind (past experience) Perception is not passive It is an active construction It is multidisciplinary physical, physiological, psychological and metaphysical[9]

This observation though rejects the exclusivist theory of the Buddhists, it equally questions the *validity of Gangesa's* definition viz 'jnaañkaranaka jñānam pratyaksam', for scientifically speaking perception includes many more aspects beyond just bare sense object contact This need more elaboration and we shall deal on this issue while discussing on the jnaana laksana pratyāsatti Before coming to that let us see what else the modern thinkers say on perception

'Attention' according to scientists is another basic factor in perception[10] Attention is intentional J N Mohanty, therefore, argues in favour of intentionality of conception of knowledge[11] The intentionality can further be extended to the selective nature as far as the perceptual *cognition* is concerned For instance, while watching a football match, we focus only on the ball and the ball carrier and the rest is in the background With that we have full satisfaction

of watching the entire match But is it so? It further may be argued that does 'the background' refers to the 'past experience' that gives a satisfaction of watching the 'whole match' as such? If 'yes', then the question again may be asked what is the role of past experience' (smrti) in perception'? Any way, if the reconstruction theory of modern science is accepted than the primacy and supremacy of perception will remain questionable

Gosvamī Sri Purusottama seems to be thinking in the same direction while arguing in favor of establishing the primacy of Sabda in his Prasthanaratnakara Though he agrees to accept the subordination of śabda to perception as far as the empirical knowledge is concerned, still he thinks that the perception of transcendental psychological and metaphysical aspects are not possible without śabda and thus he advocates that primacy be given to Veda or śabda alone amongst the pramānas To quote Gosvami Sri Purusottama

"अतो लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वात् तदर्थस्य प्रमाणान्तराबाध्यत्वेन नित्यम् अर्थेन सह सम्बद्धत्वेन च वेदात्मकशब्दस्यैव मूर्धन्यत्वम् उचितम्, न अन्यस्य इति निश्चय"[१२]

This indeed is a challenge to the tradition on the primacy of perception and possibly Gosvami Sri Purusottama supports the theory of reconstruction when he argues for the primacy of Sabda According to Prof J N Mohanty the thesis of primacy of perception is to be understood at least in the

sense that all pramānas begin with perception[13] It neither necessarily refers to the supremacy of perception nor advocates that the perception is independent of other cognitive instances Therefore, we need to reinvestigate whether 'jñānākaranakam jñānam pratyaksam' the definition of perception given by Gaṅgesa is still valid or not Moreover, empirically speaking if the theory of reconstruction can be incorporated into the śāstric tradition or not?

Perceptual Mechanism In Śāstra and Science·

The causal mechanism of perceptual cognition (pratyaksa), which is almost unanimously proposed by all, that first of all, the soul is connected with the mind, the mind is connected with the sense organ, and then the sense organ is connected with the object which produces the perceptual cognition[14] Here, I suggest a formula of cognitive mechanism that may be treated as a 'skeletal causal model' for any cognitive event[15]

$$'(I + F) \rightarrow R'$$

Here I stands for 'Instrumental cause', F stands for 'Function or Auxiliary action' and R stands for Result' or the 'end product'

This is the standard mechanism of the causation of any cognitive event For instance, in the '(I + F) → R' model of visual perception, I is the eye, F is 'the connection' which is technically called sannikarsa (perceptual functional relation[16])

or vyāpāra (function) in Nyāya system of Philosophy The R is the result namely the cognitive structure

The result or the cognitive structure can be presented in the PSV-model Here P stands for prakāra, S stands for samsarga and V stands for viśesya in the cognitive structure

If we take an example like

A 'Parvato vahniman' (The hill is fire possessive) as an instance of perceptual cognition, the P in that case will be vahni (fire), and the V is parvatah (the hill) The relation, i e, the S between P and V is samyoga (contact) Let us see how the causal mechanism of the perceptual cognition functions First of all, the viewer sees the fire (or may be the hill first, the order does not matter) through his eyes, (the causal instrument of perception) The perceptual functional relation (sannikarsa) between the eye and the object is samyoga (contact) It may be underlined here that the 'connection' between the instrument (eye in the present case) and the object (the fire / hill in the present case) does not function as the relation in the qualifier qualificand structure of the perceptual cognition of 'parvato vahnimān' The connection between the eye and the fire / hill, which is F of I, first of all present the perceptual cognition of the fire and the hill independent of their mutual relation The perceptual knowledge at that stage is 'ayam parvatah'(this is ■ hill) and / or 'ayam vahnih (this ■ fire) in which the eye acts as the instrument of single object perception and the connection

between the 'eye' and the 'object' is the 'operator' (vyāpāra – function), without which no instrument can be an instrument[17] Thereafter, the viewer perceives the 'contact' (samyoga) by his eye only through the perceptual functional relation (sannikarsa) called samyukta-samavāya (inherence in what is connected) This is S in the PSV-model of the cognitive structure, which acts as the vyāpara between the 'contact' and the eye (It may be recalled here that the eye is in contact with the hill and the fire in which the 'contact' (samyoga) inheres being a guna (a separate category called 'quality' in the Nyaya Vaiśesika system) This 'contact' (samyoga) functions as the relation between the fire and the hill making it a compact cognitive state as 'samyoga samba ndhena parvato vahniman', (the hill is possessed of fire through the relation of 'contact') In the objective structure, or in the empirical reality, there is in fact a 'contact' between the objects, which now in the cognitive state of the viewer functions as the relation In other words, all the entities in the perceptual state of 'parvato vahniman', i e , both the relata (the P = fire and the V = hill) and the relation (S – 'contact') are seen / perceived by the viewer Technically speaking, thus, the perceptual cognitive relation is called 'sannikarsa bhāsya' i e , the relation that is apparent through sannikarsa (perceptual functional relation) in the system of Navya Nyāya, which distinguishes the perceptual cognitive episode from other cognitive episodes of the same objective structure We must understand that this 'cognitive relation' is different from the 'objective relation' as well as 'functional

relation' There are only two types of primary 'objective relations' generally accepted in Navya Nyāya, samyoga (contact) and samavāya (inherence)[18] The samyoga and samavāya, when function as relations between the sense organ and the object concerned, they are called 'functional relations' These two are simple functional relations These two functional relations conjunctively make further three complex functional relations, namely, 'samyukta samavāya' (inherence in what is connected), samyukta samaveta samavāya (inherence in what is inherent in what is connected) and samaveta samavaya (inherence in what is inherent) which function as vyāpāra for different perceptions Gangeśa gives an account of how the perceptual functional relations (sannikarsa) function According to him, by 'samyoga' (contact) matter (dravya) is seen, by 'samyukta samavaya' (inherence in what is connected) quality and action are seen, by samyukta samaveta samavāya (inherence in what is inherent in what is connected), the universal or generic properties belonging to the qualities like colour ness etc (rūpatva etc) are seen, by samavaya (inherence) the 'word' (śabda) is cognised, and by samaveta samavāya (inherence in what is inherent) the invariable property of word (śabdatva) is cognised[19] There is another type of functional relation accepted in Navya Nyaya called 'indriya samba ddha viśesanata sannikarsa' (the perceptual functional relation of sense organ connected qualifier ness) for the perceptual cognition of abhāva (absence) and samavaya (inherence)[20] Thus there are in total six types of perceptual functional relations, which act as the function i e , F, in the causal

mechanism of perceptual cognition The author of Prasthāna Ratnākara, however, accepts five types of empirical functional relations as (a) samyoga (contanct), (b) tādātmyam (identity), (c) samyukta tādātmyam (identity in what is connected), (e) samyukta viśesanatā (the qualifierness in what is connected) and (f) svarūpa (self linking or reflexive relation) There are reasons for accepting these functional relations and we wish not to delve into them now

The pertinent question in present context is, if there is an instance of a cognitive state like

B "ghatavad bhūtalam" "The ground is pot-possessive" then what would be the cognitive mechanism? The relational structure of perceptual cognition of (B) would be "samyogena ghata-visistam bhūtalam" (the ground is pot-possessive through the relation 'contact') Here 'the ground' and 'the pot' both are seen by the perceptual instrument eye through the functional relation (vyapara) called 'contact' (samyoga sannikarsa) The cognitive relation between 'the ground' and 'the pot' is also 'contact', i e S, in our PSV model This relation 'S' is also seen by the eye itself, through the functional relation called 'inherence in what is connected' (samyukta-samavaya), which is F of I in the causal mechanism Therefore, the samyoga sambandha that is apparent in the cognitive relational structure of perceptual cognition of 'ghatavad bhūtalam' is called sannikarsa bhāsya (apparent by perceptual functional relation)

Now let us see if we can see:

With this background, now let us see if we can see the objective structures of the phenomena like·

C "bhūtale ghataḥ" (The pot is on the ground),

D "parvate vahniḥ" (The fire is on the hill)

When we are talking of seeing, it obviously mean that these situations are instances of perceptual cognition (pratyakṣa) itself. The question may be asked that is there any difficulty in seeing (C) or (D)? Well, one can perceive the ground as the locus of the 'pot' or the 'hill' as the locus of fire. The perception of (C) or (D), that gives a different cognitive structure, is certainly different from the perception of (B) 'ghatavad bhūtalam' or (A) 'parvato vahnimān', because, in this case, the viewer sees the ground or hill as the location of pot and fire respectively, but not just as 'the ground is pot-possessive' or 'the hill is fire possessive'. The question in other words is how to see the 'location' (adhikaranatā)? It further may be asked that how the perception of (D) 'parvate vahniḥ' cause the cognitive structure that is different from that of (A) 'parvato vahnimān'? In these two cases of perception, the objective structure of the cognitive events, of course, do not differ from one another. In both the cases the eye object contact remains the same and the objective relation, namely, 'contact' (saṃyoga) remain the same. However, everybody realises that the perceptual cognition of (A)'parvato vahnimān' is different from that of (D) 'parvate vahni', since in one case he sees the hill as fire possessive

and in the other the fire as located on the hill The question again arise is - if the perceptual relation namely 'contact' remains the same in both these instances of cognitive structure of perception then how these two be treated as different instances of perception? We can solve the problem in the following argument The cognitive structure of both these instances of perceptual cognition, namely 'parvato vahnimān' and 'parvate vahni', ought to be different from each other depending upon their different perceptual cognitive relations, and they are 'contact' in one case and 'location' / 'substratum' (adhikarana) or 'super-stratum' (ādheya) in the other The way, in which, the perceptual cognitive relation 'contact' plays its role in the cognitive structure of (A) 'parvato vahnimān' by perception itself through the functional relation namely samyukta-samavāya sannikarsa, has already been explained above Now in the cognitive structure of (D) 'parvate vahni', where the hill is perceived as the location (of fire), the perceptual relation namely 'location' or 'substratum' is also perceived, is to be explained The question is what is the perceptual functional relation between the eye and the 'location' (adhikarana)? Can we see 'location or substratum' (adhikarana) directly through our eyes? The answer will be 'yes' if and only if it belongs to one of the seven basic categories (sapta padārthas) of the Nyāya-Vaiśesika system However, we do not find it in the standard list Therefore, none of the standard six empirical perceptual functional relations will be useful for seeing 'location' May we think that the 'location' is perceivable through the mind, which also functions as

an instrument in perceptual cognition? This may be called 'jñāna-lakṣana-sannikarsa (or jñāan-laksanā pratyāsatti[21]), where the prior knowledge of location functions as the perceptual functional relation (sannikarsa) with the mind That gives rise to a special kind of perceptual cognition, which is otherwise called mānasa pratyaksa (mental perception or perception through past experience)[22] This amount to saying that jñāna laksana-pratyāsatti is accepted when the six empirical functional become inapplicable and still the perceptual cognition takes place

E "Surabhi candanam" "The sandalwood [is] fragrant" is given as a śāstric example for jñāna laksanā pratyāsatti Here only the sandalwood comes in contact with the eye and then the fragrance of the sandalwood is remembered, because, the fragrance that invariably is related to the sandalwood from a prior knowledge In the same manner, when the hill is intended to be perceived as location of fire and of course if the hill as well as fire are directly found in the range of the eye, then through jñāna laksana sannikarsa the 'location-hood' of the hill is perceived giving rise to the cognitive structure of 'parvate vahnih' Similarly (C) 'bhūtale ghatah' can be explained where the prior knowledge of 'location-hood' (adhikaranatā) of the ground is remembered in the event of eye contact with the pot which is on the ground, giving rise to the said cognitive structure where 'location' plays the role of perceptual cognitive relation Therefore, it can be said without any hesitation that it is through

jñāna laksanā-pratyāsatti, that the perception of the kāraka relations function as perceptual relations The kāraka relations like kartrtva (agency), karmatva (object hood), karanatva (instrumentality) or adhikaranatva (locus hood) etc are perceptible through the jn̄ānalaksanā-pratyāsatti, if and only if the cognitive structure demands these properties to be instances of perceptual cognition The situations like 'pacantam paśyati', 'pacamānam paśyati' (sees someone who is cooking), are perceptible, where the performer of the main action becomes the object of seeing Gaṅgeśa accepts anuvyavasāya (introspective cognition) for the perception of kartrtva (agency), karmatva (object hood), dhātv arthatva / kriyātva (action hood) etc [23] He further says that, since it is otherwise not possible to perceive the kāraka relations they are perceived through the mind

Similarly one can see a royal official (rāja purusa) even when someone is just seeing the person (purusa) The royalty (rāja sambandhitva = belonging to the royalty) if known earlier, is remembered in this case and thus the perception of rāja-puruṣa can be an instance of jñānalaksana-sannikarsa We may take another instance like 'I saw the Prime Minister of India' Here, it might be the case that I saw a person called Mr Atal Bihari Vajpayee However, I did not see Atal Bihari Vajpayee as a person, but as the Prime Minister of India This perception is possible only through jñānalaksana-sannikarsa, only if I have the prior knowledge of 'Premier-ship' In fact, in some cases the transcendental cognitive relation

is so strong that it suppresses the empirical sense object contact completely We can take the example of 'I see my mother' or 'I see my teacher', where though the visual object is a person with a normal name and a form completely disappears from the sight and what is seen is 'the mother', 'the teacher', that is a 'feeling', a 'concept' heavily embedded with 'culture'. Therefore, such perceptual cognitive events can arise only through the mind that takes the 'given concept' into account Needless to say that, such a perceptual cognitive structure would be different from sentential cognitive structure (śābdabodha), since the causal mechanism and the relation in the sentential cognitive structure will be totally different from that of the perceptual cognition

Some scholars consider to accept the functional relation 'qualifier-ness what is connected with the sense organ' (indriya-sambandha visesanatā) for the above case of 'adhikara na pratyaksa'[24] Adhikarana, though is one amongst the kārakas it holds a special position as far as the perception of absence or inexistence (abhāva) is concerned Naiyāyikas disagree with the Mīmāmsakas to accept anupalabdhi as an independent pramāna for the perception of abhāva They say one can see 'bhūtale ghatābhāvah' by one's own 'eye' through the cognitive functional relation 'qualifier ness that is connected with the sense organ' The perception of samavāya an independent category in the system of Nyāya Vaiśesika school of Indian philosophy is also seen by the same functional relation - opine some Similarly adhikarana being the very

nature of bhūtala, can be seen by the same functional relation

Śrīmad-Vallabhācārya accepts 'substratum' and 'super stratum' (ādhāra- and ādheya) forming separate categories[25] and in that case the contact of eye with the object namely the ādhāra or ādheya would be possible through the self linking functional relation called svarūpa as accepted by the Vallabha school of Vedānta Goswāmī Purusottama Carana appears to be suggesting the same in his Prasthāna Ratnākara

Sententio Perceptual Cognition ·

Sabda is a distinct pramāna and any cognitive episode caused by śabda certainly is not an instance of perceptual cognitive event, for that is caused by a different cognitive means[26] However, Advaitins cite an interesting situation claiming a cognitive episode caused by śabda to be perceptual According to the Advaitins, the Upanisadic mahāvākya namely 'Tat tvam asi' [Thou art that] is a samāañdhikarana type statement that establishes complete identity between the "individual self" with the "Supreme Self" However, the point to underline is that this statement establishes the identity in a perceptible manner, as is the case in pratyabhijñā pratyakṣa, perceptual recognition of "so'yam devad0attah" i e, "this is the same Devadatta as that'. The sentence is used in the context of recognizing a person called Devadatta, when seen by two other persons, say A and B, who had seen him earlier in a different time and at a different place Suppose A had forgotten Devadatta, and on seeing him, B recognizes

him and reminds A, "this is the same Devadatta as that' Essentially this is an identity statement like

"that Devadatta = this Devadatta"

According to Advaitins, the identity is possible only if the 'this-ness' and 'that-ness' referring to spatiotemporal context is left out and only the cognitive referent Devadatta is retained The recognition perception (pratyabhijñā pratyaksa) is a fit case, according to Nyāya, of partly remembrance and partly perception (samskārendriyobhaya janyam jñānam pratyabhijñā)[27] However, the Advaitins believe in admitting immediate knowledge even from verbal testimony in this context Dharmarājādvarīndra in his Vedāntaparibhāsā goes on elaborating this point and rejects the contentions of the Naiyāyikas He cites another example of "daśamas tvam asi" (Thou art the tenth one)[28] According to Dharmarājādvarīndra, due to immediacy of an object, perception arises even from 'words'[29] 'Tat tvam asi' (thou art that), the so called mahāvākya also causes perceptual / immediate (a-paroksa) cognitive episode This creates a peculiar situation for those who take up the epistemological issues seriously, for the verbal testimony causing the perceptual cognition goes beyond the convincing acceptability as far as the convention of pramāna-śāstra is concerned The recognition perception (pratyabhijñā pratyaksa) is a fit case of perceptual reconstruction where the cognitive apparatus (sāmagrī) for sentential cognition cause the perceptual cognition

Goswamī Puruṣottama argues in this context that that could either be an instance of sentential cognition or an instance perceptual cognition, but no sententio perception as such is possible, for sabda can never be regarded as a cause for perceptual cognition He says In explaining the sentence "dasamas tvam asi', how can one get the cognitive episode of 'self' / 'I' (aham) from the word 'yusmat' (you)? Presentation of word meaning through their signification function (vrtti / sakti) of 'words' in the context of sābdabodha is the essential causal factor, and sabda can not present 'some / any meaning' that is not cognized from the word beforehand The "invert secondary function" (viparita laksanā) (even in some cases accepted) can not be accepted in this case, because it will lead to non perceptual cognitive instance and that in turn will further lead to abandonment of ones' own position of establishing immediate knowledge[30] According to Goswamī Purusottamacarafa one has to accept in present case that though the eye etc play as auxiliary factors that however do not cause a perceptual cognitive instance and thus no śabda can be accepted as causing perceptual cognition[31]

The story of "daśamas tvam asi" in fact can be explained by the 'mind brain gap' theory of modern science According to this theory when we see, due to mind brain gap we see only partially because we are preoccupied with many things conditioned by society or burdened with belief, tradition and with past experience The brain and the sense organs somehow put together a lot of information and the perception depends

upon all aspects of this information If we examine closely the present situation of "daśamas tvam asi" we may find the following psychological factors It is possible that while crossing the stream, the current was very strong and everyone of the group of ten struggled to cross it The fear that persisted in everyone's mind if someone is drowned And that trauma is the cause of mind-brain gap which played its role in mis assessing the situation and when someone started to count the heads to confirm the number, he ended with nine only, forgetting to count to himself One can overcome such traumatic situation only by consoling words of a trustworthy person and when such a person arrives and says the sentence "daśamas tvam asi" that causes a cognitive state that is as dependable as perception, which destroys the veil of ignorance completely about the 10th one Similarly one gets the ātma sākṣātkāra, perceptual cognition of 'self' through the Vedic statements like "tat tvam asi' Thus, the Advaitins consider the cognitive episode arising from words to be perceptual The explanation of the Advaitins in this case is certainly convincing and its nature of perceptibility is also appreciable However, the question is can we count for the 'mind brain gap' theory, which is more psychological, in the sāstras? Is there any reference to that in the śāstras also? If not, what harm will be there if it is incorporated into the śāstras?

Auditory Perception :

The followers of Nyāya Vaiśeṣika schools of Indian

philosophy almost authoritatively say— sound (sabda) is perceived by the 'ear' through the cognitive functional relation 'inherence' (samavāya), for sabda being a quality of space (ākāśa) and the space being delimited by the ear canal is called the sense organ 'ear'[32]. Physiologically speaking it appears to be little convincing The question arises that how the sound is heard quickly and clearly in the direction of air and not so quickly or clearly from the opposite direction If sound is an incorporeal quality (amūrta guna) of the all pervading ether (ākāśa), how can it be carried away by air? Moreover the other question is how the contact of mind (being atomic) with an all pervading entity (ākāśa), though being limited by ear canal, takes place? Is it partially or wholly? If partially then one has to accept parts of an all-pervading entity Will it be acceptable? If wholly then ākāśa being all pervading, a sound produced in anywhere in the space would be audible To solve these problems there were two theories proposed in śāstras (a) the wave theory of the sound (b) the reaching out theory of auditory sense organ to the place of sound The first theory is proposed and accepted in Nyāya Vaiśesika school and the second in the Sāmkhya-Vedānta schools The Nyāya-Vaiśesika scholars think ear the auditory sense organ is passive (like the other sense organs of touch, smell and taste) The wave theory proposes that the initial sound produces another similar sound to it, which in turn produces a similar sound, the third one and the fourth one and so on and so forth in the manner of wave giving rise to another wave, till the last

one is produced in the ear canal It is the last sound in the series that is apprehended by the auditory organ This is fine However, there many questions remain unanswered that why is the supposed series of sounds not produced in all directions and heard by everyone in the world? Why is the sound not able to cross the obstacles such as wall etc ? The Samkhya and the Advaitins on the contrary accept the reaching out theory According to this theory, the ear is an active sense organ and they propose a typical vrtti of the auditory sense like that of the visual sense organ eye, which goes out to its object In this case also the same objection stands as why the vrtti of the auditory organ being non corporeal (amūrta) cannot cross the material obstacles like wall as such ?

The Mimamsakas especially Kumārila, however, contended that when a person speaks the air inside his body struck by his effort moves out of his mouth and this air is helped by conjunction and disjunction of his palate, tongue and throat etc The extent the air goes is determined by its initial velocity, which depends on the intensity of the speaker s effort When this air reaches the ear canal it imparts a certain potency to the auditory organ, which produces certain modification (samskara) in the latter Different modifications are caused by different sounds and they are the cause of difference in sound perception Sound is not heard everywhere because of obstacles such as wall etc because those obstruct the passage of the air When loud sounds are heard, some

pressure is experienced upon the ear This ■ caused by the air current striking the ear with a great force The initial velocity of the sound gradually decreases and hence the intensity of sound differs at different points of its passage till it disappears completely That is why the sound is not heard everywhere Thus the sequence, loudness, lowness etc of the sound can fully be explained

The theory that PR presents goes close to this theory They also think that the air is the carrier of the sound and thus they consider 'contact' (as against 'inherence') is the functional relation between the sound and the auditory organ According to them when the sound reaches the ear by the air, the eardrum being struck by the air enables to hear the sound through that contact One does not experience the contact of the air because of the intensity of the apparatus of sound operation However, if someone speaks close to the ear canal there ■ possibility of experiencing the contact of the mouth air of the speaker as well One listens the absence of sound through the ear itself but in that case, the functional relation will be "qualifier ness that is connected with sense organ' Alternatively, the Goswāmī Purusttamacarana suggest that the very nature of the sound itself may be regarded as the functional relation for sound perception that is carried by the air[33]

MM Ramavatar Sharma, a traditional scholar, who is the founder of ■ neo school of philosophy namely

Paramārtha darśanam also accepts the modern scientific theory that the sound is caused by air and it can not be the quality of the ether as proposed in the Nyāya Vaiśesika school[34]

In modern science, B V A Rao, a professor in IIT, Madras, in his paper ' A New Theory in Auditory Perception'[35] reports a hypothesis similar to that as has been proposed by Sāmkhya Advaita school of Indian philosophy, which has been put forward as recently as November 1983, in a prestigious journal (Hugo Zuccarelli, The New Scientist, 10th Nov 1983, pp 438 440) It claims that the ear is an active organ, which transmits sounds and not just passive receiver According to this theory, each ear in an individual produces a medium frequency sound wave (of about 1kHz) This is transmitted by the ear which itself acts like an antenna to propagate this energy These sound waves and the incoming sound waves from external sources generate an interference pattern, which reaches the ears This interference pattern, which depends on the direction of the incoming sound is analyzed by the cochlea in a way analogous to an optical hologram to locate the sound sources The analysis, which is a pattern in the hair cell in the organ of Corti recreating the interference pattern outside the ear, is recognized by the brain and so we are able to distinguish sounds of different tonal quality and also locate their sources We do not hear the sound that is outside, but its recreated pattern inside As is now known, each point in a hologram represents the amplitude and phase information of the original object in all its three

dimensional detail The hypothesis of Zuccarelli is that the acoustic perception is achieved in a similar manner Concluding the discussion Prof Rao remarks, and I quote

> "It is an outstanding example of the potentiality of the views of ancient seers who have experienced the physical and physiological world in an objective and transcendental manner through intuitive insight It is high time that scientists look into these aspects in an objective and sustained manner based on the insight contained in sastras"[36]

In the conclusion, we only can re ascertain this statement, for Goswamī Purusuttamacarana sets an example in this direction by looking at things differently as is evident in his Prasthāna Ratnākara The sastrakaras had always an open mind to new ideas and it is for us to see everything in proper perspective

Notes and References:

1 Sāmanya laksanā pratyāsatti, jnānalaksanā pratyāsatti, yoga ja pratyāsatti

2 Eric A Lord, 1986, 'Sensory Perception Mechanisms', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ?ISTRA, Ed by T M Srinivasam and B G Shreelakshmi, Pub Sri Sharada Trust, Sringeri

3 Cf 'viśadam pratyaksam' Prameyakamalamārtanda, Nirnaya sagar Press, 1941, p 216

4 'avyavadhānena pramānāntara nirapeksatayā pratibhāsanam

vastuno'nubhavo vaiśadyam vijñānasya' ibid p 219

5 'na so'sti pratyayo loke yaś śabdānugamād rte / anubiddham iva jñānam sarvam śabdena bhāsate //' Vākya-Padīyam by Bhartrhari

6 Cf 'na śabda pramānakatayā śābdam, api tu śabde jātam sābdam, śabdaś cāsya visayatvena janako'rtha-tādātmyāt' Nyāyavārttika-Tātparya-Tīkā on NSBh Vā 1 1 4, ND p 109-110

7 We need not discuss the identity theory here because it is beyond the scope of this paper

8 'Pratyaksam kalpanāpodham abhrāntam' Nyāya Bindu 1 4

9 H S Subrahmanyam, 1986, 'Physiology and Psychology of Perception', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed By T M Srinivasam and H G Shreelakshmi, Pub Sri Sharada Trust, Sringeri p 70

10 In śāstras also we find references to the saying 'anyatramanā abhūvam nāham kiñcid avedisam', which essentially talk of the role of 'attention' in perception

11 J N Mohanty, 1992, Reason and Tradition in Indian Thought (An Essay on the Nature of India Philosophical Thinking) Clarendon Press, Oxford p 42

12 Prasthāna Ratnākara (PR), ed By Goswamī Shyām Manohar, Kolhapur, VS 2056 p 53

13 J N Mohanty, 1992 op cit p 240

14 Cf 'ātmā manasā samyujyate, mana indriyena, indriyam arthenetı' NS B ND p 94

15 Cf Matilal, B K 1990, The Word and the World India's Contribution to the Study of Language Oxford University

Press Oxford / New York, p 51 and see my paper Dash, A, 1999, Śābdabodha, Cognitive Priority and the Odd Stories on PrakārataYCvāda & Samsargatāvāda, Journal of Indian Philosophy, Vol 27, No 4 Kluwer Academic Publishers, Dordrecht, The Netherlands, pp 17 41

16 This we call perceptual functional relation, because sannikarasa is a relation between the 'instrument' i e, I or the "means of perception" with the 'object' at the same time it is a 'function' as well, because without the "function' of the instrument no perceptual cognition can be generated The term sannikarsa takes both these responsibilities and therefore, we call it a "perceptual functional relation'

17 cf 'vyapāravad asādhārana kāranam karanam', i e, the extraordinary cause, engaged in operation, is the instrumental cause

18 cf 'dvividhah sambandhah samyogah samavāyaś ca' Tarka Bhasā by Kesava Miśra (TB) P 28

19 cf 'pratyaksa visese sannikarsa viseṣo hetur anugata eva samyogena dravya-grahah, samyukta-samavāyena rūpa ka rmanor grahanam, samyukta samaveta-samavayena rūpatva -deh, samavayena śabdasya, samaveta-samavayena śabdatva-deh' TC Vol I pp 572 574 See also TS p 31, TB p 34-36, KM (kārikās 59-62), NS-V p 94 95

20 Cf 'indriya sambaddha-viśesanatayā samavāya-ghatābhāva-der yogya sannikarsād eva graho na sannikarsamātrāt' TC Vol I pp 575 576

21 Matilal, B K translates the jñānalaksanā pratyāsatti as

"presentation through revived memory' See more on this issue in Matilal 1986, PERCEPTION (An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge), Clarendon Press, OXFORD 286 291

22 See Bhattacharya, Gopika Mohan, 1977, Śabdabodha as a separate type of Pramāna, Journal of Indian Philosophy, Vol 5, Ed B K Matilal, D Reidel Publishing Company, Dordrecht Holland, pp 73 84 73-84, for the details on jñānalaksana sannikarsa

23 'api ca kriyāyāh krter vā samavāyitvam kartrtvam, para samaveta kriyā phala śālitvam karana-vyāpāra visaya-tvam vā karmmatvam, dhātvarthatvam anyad vā kriyātvam idam aham jāanāmiti vyavasāye na bhāsate tad bodhakendri-ya sannikarsābhāvāt kintv idam visayaka jñānatva visistasya jñānasya vaiśistyam ātmani bhāsate na ca svaprakāśe vyavasāye tādrśam svasya vaiśistyam bhasitum arhati, purvvam viśesanasya tasyajñāanāt tasmat idam aham jāanāmiti na vyavasāyah kintv anuvyavasāyah' TC Vol I , pp 795 796

24 Prof D Prahlladachar, Hon Vice chancellor of Rastriya Sanskrit Vidyapeetham, Tirupati suggested me this view over a personal discussion on this issue

25 'ādhārādheya bhavaś ca meyāntaram' Nyāya Līlavatī, (1st Part) ed with Śāmbhavī and Candrakānti by Rajendra Prasad Sharma, Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur, 1996 p 34

26 Goswami Purusottama presents the idea in a very interesting manner saying that "difference of pramāna is established

by difference of functional relations of cognitive means, and in that case difference of cognitive structure alone is not necessarily required' To quote him 'vrttivaijātyasya pramāna vaijātyopapādakatve phala vaijātyasya tad anyata tvāt' PR p 143

27 It may be noted here that pratyabhijñā is a verity of perception and the definition itself counts for 'memory input' in the case of perception recognition This no doubt is direct reference to the reconstruction theory of modern science Prtyabhijñā has been developed into a full-fledged school of Philosophy by Abhinavagupta The perceptual reconstruction due to 'memory input' into perception might be the very foundation of their thought More in depth study in the field is required in this direction

The above definition of pratyabhijñā is quoted by Prof Badarinatha Shukla, (Hindi Comm) on Tarkabhāsā, Motilal Banarasidass, Delhi (Reprint 2000), p 23

28 The story is briefly and nicely narrated by Svami Madhavananda in his translation of Vedānta Paribhāsā and I quote him in his languages 'Ten rustics swam across a stream, and one of them counted their number to see if all had crossed To their dismay, one was found missing Then everyone took his turn at counting, but the result was the same So they began to lament, when a kind passer-by inquired what it was all about On being told what has happened, he readily understood the situation, and asked one of them to count again When the man stopped at nine, the new-comer said to him 'You are

the tenth man' This he repeated with the rest of them Then they saw their mistake and went away happy"

29 'daśamas tvam ası ıtyādau sannıkrsta-visaye śabdād apy aparoksa-jñanābhyupagamāt', also 'so "yam devadattah' ıtı vākyajanya jñānasya pratyaksatvam Evam "tat tvam ası" ıtyādıvākyajanyajñānasyāpı" Vedānta Parıbhāsā, Tr By Svamı Madhavananda, Advaıta Ashram, Calcutta, 1989, p 19, p 33

30 "yat tu "daśamas tvam ası" ıtı vākyād "daśamo'ham" ıty ākārakam pratyaksam kecıd angīcakruh Tad apı na śabde yusmat pada-prayogena tajjanye jñāne 'aham' ıty ākrasya vaktum aśakyatvāt padajanyopasthıteh śābdabodhe tantratvāt yusmat padena svārtha vıruddha pratyaktvasya upasthāpayıtum asakyatvāt anyathā atıprasaṅgāpatteh na ca tatra vīparıta laksanayaıva upasthıtıh ıtı yuktam Tathā satı paroksa jñānasyaıva apattyā pratıjñāvādhāt" PR p 123

31 'śabde caksurādısahakārıtvasya paroksavrttıjanakatvasya ca nıścayena śabdāt pratyaksasya sarvathā anupapannatvāt ca' PR p 143

32 'karna śaskuly avacchınnam nabhah śrotram' However, Raghunātha Sīromanı defines śrotram as 'karna-saskulı vīvarāvacchınna Īśvara eva' Padārthatattvanırūpana, ed by Bısvambhara Pahı et al Department of Phılosophy, Rajasthan Unıversıty, Jaıpur 1997 p 3

33 Cf 'śrotrena sabda grahane samyoga eva vyāpārah sabdo hı vāyunā upanītah śrotraparyantam yadā āyātı tadā śrotrāvacchınna tvacā vāhaka vāyusamyoge tam eva samyogam vyāpārayıtvā śrotrendrıyena śabdo grhyate

śabda-grāhaka-sāmagrīprābalyena samyogāśrayasya vāyoh apratyaksatvāt na tasya samyogasya grahanam Samyogagrāhakasāmagrīprābalye tu samyogasyāpı grahanam Yathā karnābhyarnam āgatasya vārtāśravane vaktrmukhavāyusamyogasya Abhäve viśesanateva. Śabdagrahe samyukta-vāyūdha-śabda-svarūpam eva vā dvāram' PR p.138.

34. Cf 'punar anyadā devadattah paramārthajñam sukratum upāste. Prcchatı caınam - bhagavan ! śabdah kasya gunah tau ha mantrayete. Vāyumandalād bhūmivestanād ūrdhvam candra-sūryādyah. vāyumandale punar meghāh samplavante Meghebhyo vaidyutah prakāśah prthivīm āgacchatı Tad anantaram stanıtam śrotravidāranam ākarnyate. Prakāśamātram tu sūryādısūpalabhyate na sambhavann api tatratyah ko'pi śabdo'tra śrūyate. Tad etad gamayatı vāyavīyāañm anūañm kampe śabdaśravanam. Tad abhāve śabdāśravanam Ākāśas tu prakāśa-dharmā Ittham mantrayamānau tau kañcid vaıjñānıkam upagamya tam eva visayam prcchatah Sa ca tau vartulam pātram darśayatı. Tasmimś ca ghantıkām vādayatı Sarve tac chabdam ākarnayantı. Atha vaıjñānıko vāyunıhsārana-yantrena pātram prāyo nirmārutam karotı Punar asau ghantıkām vādayatı. Na kaś cıc cchabdam śrnotı Parīksāvasāne śabdasya vāyusambandham sphutam pratyeti devadattah. saharsaś ca sukratum vadatı Prāmādıkam kanabhaksādīañm vacanam śabdagunam ākāśam itı". Paramārthadarśanam, Motılal Banarasidass Pub Delhi 1994. p 7-8

35. See Sense Perceptıon ın Scıence and Śāstra. op cit pp 86-89.

36 Ibid p 89

+

चर्चा

डॉ अच्युतानन्द दास

के ई देवनाथन् In the case of "पर्वते वह्नि" there is ■ problem in Nyaya theory Because what is the Sambandha between Parvata and Vahni which is not included in six Sambandha Then you said that there is a ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति there after you said अधिकरणता ■

डी प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्राय एव वर्तते "पर्वते वह्नि" "पर्वतो वह्निमान्" इति प्रत्यक्षयो वैलक्षण्यम् अस्ति तत्र को विशेष ? कथ वैलक्षण्यम्, तत्र सामग्र्या को विशेष, कुतो वा कार्यवैलक्षण्य जातम् इति अन्य प्रश्न अपरस्तु तै उच्यते, अधिकरणता यदा प्रत्यक्षीक्रियते, अधिकरणताप्रत्यक्षन्तु ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्या भवति तत्र तावद् सन्निकर्षो ज्ञानलक्षणा स्वीक्रियते स तु सयोगविषये न पर्वत-वह्न्यो य सयोग तद्विषये न अधिकरणताप्रत्यक्ष प्रति

बलिराम शुक्ल : अधिकरणताया ज्ञान तस्मिन् प्रत्यक्षे कथ भवति इति तेषा प्रश्न

के ई देवानाथन् : मया तथैव स्वीकृतम् "पर्वते वह्नि" इत्यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्ध क इति प्रथमत प्रश्न कृत "पर्वते वह्नि" "पर्वतो वह्निमान्" इत्यत्र सामग्रीवैलक्षण्यम् कथम् इति प्रश्न सामग्रीवैलक्षण्य तावत् सम्बन्धवैलक्षण्यम् सन्निकर्षवैलक्ष-

प्यम् इति वक्तव्यम् इति प्रथमत प्रश्न कृत तदनन्तर तत्र एवम् उक्तम् अस्ति, तत्र तावद् एकत्र आधेयतासम्बन्धो भवति इत्यादिकन्तु लिखितम् अस्ति तत्र क क्लेश भवताम् इति तु मया स्पष्ट न ज्ञायते उभयमपि प्रत्यक्ष भवति एकत्र पर्वत विशेषण भवति, अपरत्र वह्नि विशेषण भवति इदञ्च विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञानम् अत्रतु अधिकरणताया प्रवेश किमर्थम् आनीत इति न ज्ञायते आधेयताया प्रवेशस्तु अस्ति

अच्युतानन्द दास : "पर्वते वह्नि" इत्यस्य प्रत्यक्ष भवति तत्र पर्वत-अधिकरणता-वह्नि इति त्रय पदार्था सन्ति एक सम्बन्ध पदार्थो अन्ये

के ई देवानाथन् : नहि पर्वत, आधेयता वह्नि च

डी प्रह्लादाचार : तेषा आशय एव वक्तु शक्यते "पर्वतो वह्निमान्" इति एक प्रत्यक्षम् "पर्वते वह्नि" इत्यपि प्रत्यक्षम् अस्ति अनयो प्रत्यक्षयो एतै उक्तरीत्या वैलक्षण्यन्तु इद भवति एक प्रत्यक्ष पर्वतविशेष्यक वह्निप्रकारकम् अन्यच्च प्रत्यक्ष वह्निविशेष्यक-पर्वतप्रकारकम् एवञ्च प्रकार-विशेष्यभागे किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्ति तावदेव वैलक्षण्यम् परन्तु

के ई देवनाथन् : ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिविषये भवद्भि उक्त "स्मृति भवति" इति ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति स्मृतिरेव भवति इति न निर्बन्ध

प्रद्योतकुमार : प्रायश तत् स्मृतिरेव

डी प्रह्लादाचार : सतु अन्यो विषय

के ई देवनाथन् : यत्रतु प्रथमतो विशेषणज्ञान जातम्, इन्द्रियसन्निकर्प च वर्तते तत्रतु विशिष्टज्ञान यद् भवति तत्तु विशेपणज्ञानात्मकानुभवेन ज्ञानलक्षणाख्येन प्रत्यासत्त्यैव भवति

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : तर्हि "ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" इति कथ सेत्स्यति ? स्मृतिस्तु ज्ञानमेव तर्हि प्रमाणाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम् एतेन भाव्यम् !

बलिराम शुक्ल : तेषाम् अयम् आशयो : यद् ज्ञानाकरणक तत्र ज्ञानलक्षणाया: करणत्वम् अस्ति वा?

प्रद्योतकुमार : तत्र व्यापारत्वम् अस्ति नतु करणत्वम्

के.ई.देवनाथन् : करणन्तु इन्द्रिय सन्निकर्षो ... परन्तु सन्निकर्षस्तु... तत्र तु ज्ञानमेव सन्निकर्षो भवति पुन ...

प्रद्योतकुमार : If I understood him correctly he has a couple of things to say One, where do we stand in our understanding of the scientific explanation and the Sāstrik explanation of the same phenomena? Note that in science we are discussing ■ deferent type of perception and in Śāstra deferent type of perception that is not the question The same given perception is understood or explained differently by the scientists and by our Śāstrakāras And there comes a problem Suppose there are two different sorts of explanations then we have to consider what is the relationship between them Is it that one enriches the other? One cancels the other? What can be incorporated? We are speaking of the development of our Sāstras And one test of the validity of Sāstra is that it should be able to incorporate, without contradiction, whatever the new findings are there in the sciences In this connection he has refer to some conferences where scientists and philosophers really conversed Here, first point to remember is this that only such discussion will become fruitful if we are addressing to the similar problem or trying to explain the

similar phenomena He has given certain examples that are very common phenomenon How do we perceive a particuler object? How deferently perceive object? Here he has brought some new scientific theories and aproaches E g he has given Sabdāparoksiva theory on the one hand and the brain mind gape theory on other Now, what happens, most of the things that are said by the scientists, we don't understand, and many things that we the philosopher say, they don't understand Since I have been involved in so many such discussions, I have realized that we are not trained scientists and they, the scientists, are not trained philosophers They go on speaking in their own way and we on our own Since they are not trained philosophers, they are not being able to speak in language which we do understand E g they use such expressions as Mind Brain dichotomy This is neither science nor philosophy No scientist admits mind and brain separately Mind in a European tradition invariably means the self Only one reference to mind as a sense organ was there and their comment was Mind as a sense organ is a misnomer That is a scientific present theory This is one point What are you to do? My suggestion is this There are lots of scientific account of standard phenomena available We should tray to understand them and reinterpret them in our own Śāstrik

language But the things that are being said now a days is not the same thing E g there is a standard physics of sound, there is a standard physics of light We should go by that and note some computer scientist and neurologist saying that The neurologists are not attending to the problem that we are attending here E g we are attending to this problem, Śabdāparokṣatva vāda Meaning there by, we go by two types of experiences One which is indirect, generated by the Śabda and one which is direct which is called perceptual Now we are concern with the problem whether there is any such instance where we have reasons to believe that we have perceptual cognition Though language plays the fundamental role These type of question is not a scientific questions at all Scientific question is a different kind of question Namely how the sound is transmitted? And in respect of which he has brought a very beautiful theory which is to be pondered very carefully So far we are thinking about sense organ as a receptors only but what he is suggesting with reference to some scientists that Indriyas are both receptor and transmitter at the same time Now to say that is to understand that our understanding of the auditory sense organ is much grosser then that of scientists If there is a theory that it is both the transmitter and a receptor then they must be having a deeper

and complex theory of the structure and function of what we call sense organ Similarly on many occasions we have a complete different theory of several Indriya Now for the scientists the Indriyas are most and the nerve cells But we the Naiyayikas know very well that these are only इन्द्रियस्थान नतु इन्द्रियम् इन्द्रियन्तु अतीन्द्रियम्, अप्रत्यक्षम् So unless we correlate these things it is not possible

I would like to give one other suggestion to Achyutanand While discussing all these things one thing you are not bringing in to Two deferent models of Viśista Jnāna Earlier also we have referred only to Viśista Jnana But there are various levels of Visista Jnana 1 Vaisistyavagahi Jnana 2 Visista vaisistyavagāhi Jnāna and so on This is one thing And another, two models, how we can have cognition of deferent things at the same time One is you know ' Khale kapota nyayah and the other is "विशेष्ये विशेषण तत्रापि च विशेषणान्तरम् So, if you have introduced these I think you can make some

अम्बिकादत्त शर्मा : While quoting Hugo Zuccarelli s view you have written that we do not here the sound that is outside but its reacted pattern inside If it is so then what will be the explanation of Sabdavedhi bāna If it is so then Sabdavedhi bāna will be targeted towards one's head !

अच्युतानन्द दास : The importance of my point that I didn't

discuss here was if we rethink on the Advaita Vedānta pattern, अन्त करणावच्छिन्न-वृत्तिचेतन्यम् एवं विपयचेतन्यम् इति अनयो एकीकरणम् इति ते वदन्ति They become one as they say Perhaps modern scientific experiment goes to all most in a deferent way to the same thing i e the sound directly produced there That is what we do not hear We don't hear the sound which is being produced say one kilohertz or something Something in an identical situation it recreates And because of that only Sabda can capture the Sabda if I say very

गो. श्या. म. : That is why I again and again say Bhavati and Anu bhavati Just as Vadati and Anu vadati So, yad bahir bhavati tad antar anubhavati Its a recreation but in a cognitive manner Our mind recreates what is being happening outside as an external object

प्रद्योतकुमार : The perception is always a reconstructed element

अच्युतानन्द दास : Yes That was my main point

प्रद्योतकुमार : In perception what you all the time speak of was perception We do not draw distinction between sensation and perception But and every perception incorporates a reconstructional element

अच्युतानन्द दास : That was the basic question from the beginning to the end and it was the reconstruction theory

वशिष्ठनारायण झा : In addition to the suggestions made by

Prof Mukhopadhyay I have some further suggestions to be made Now, when I say "this is a book" I have seen and I have said so Vāgavyavhāra is preceded by perception We should not come from Vāk to perception analysis We should see that how the perception has been verbalized in language All problems arise because of this We are searching Adhikaranatā, where is Adhikaranatā? Had I not seen Adhikaranatā I would not have made this as Adhikarana So I had seen Adhikaranatā there and therefore I had made this as Adhikarana Now I have seen Adhikaranatā Now what that Adhikaranatā consists of? I do not know For that more and more information are necessary I have seen this a book But this book is blue I have not said that the book is blue So there are many information which consist of But once I have said "this is a book" I have identified there is bookness here But what that bookness consists of requires list of information And therefore if I say "this is a water", scientist will say "this is H_2O" Science is giving many more information, no doubt, they are to be incorporated in the structure That is perfectly all right And the next thing to be done there whether You see the systemes are not so loose When you say "ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" each element has been defined What is Jñāna? This Jñāna is not the reconstruction that

you think of is in the mind of Naiyāyika So what we are doing is, we are taking a concept outside and trying to read that concept in the language that our Sāstra uses It should be avoided My only request is that whether you have to find fault that where there is a discrepancy within the system given the definition of a particular concept So given the concept if there is a discrepancy that has to be pointed out That can be improved upon There is always chance There the science will come to help us making more and more information to make more and more

+

postscript

A Response to the Debate on "Infrequently Asked Questions on Perception ..".

Achyutananda Dash

In the very beginning, it will be worthwhile to summarize the points raised in the discussion by the scholars on my paper They are as follows

1) First of all the question was raised on the nature of relation between the mountain (parvata) and fire (vahni) in case of the perceptual cognitive instance of (A) Parvato vahniman vs (B) Parvate vahnih

2) The next question comes on the mode of representation

of the same relation to the mind or in the cognitive structure of the perceptual cognition The mode of presentation, I mean here is the sannikarsa or what I call 'functional relation' in my paper It may be noted here that the objective relation is samyoga in case of (A) and it is adheyatā or adhikaranatā in case of (B)

3) There was no problem in perceiving the objective relation namely 'samyoga' (contact) as discussed in the paper, through the functional relation (sannikarsa) viz inherence in what is connected (samyukta samavaya) And therefore, no question was raised on the mode of presentation of the functional relation in case of (A)

4) However the problem rose on the mode of representation of ādheyata or adhikaranata in the case of (B) There is no clear cut explanation of this type situation in the tradition No I do not want to say that the tradition had not thought over this type of cognitive situation, on the contrary it has every scope of solving every problem in its framework It is left for us how to tackle it My suggestion for the present problem was to take resort to jnanalaksana pratyāsatti And this was alarming to some of the participating scholars, possibly simply because this case was not directly taken up as a perceptual cognitive instance in the tradition Though it appeared that Prof Prahlladachar and Prof Baliram Shukla wanted to give an explanation to the situation But, they are overpowered by the others and finally the issued was diverted to other direction

5) In this context the 'mind brain gap theory' of the modern

science came up for discussion, and finally Prof Pradyota Kumar Mukhopadhya remarks and I quote "The perception is always a reconstructed element" to which I agreed Here, I would like to draw the attention of the scholars again to the reconstruction theory of the modern scientists as remarked by H S Subrahmanyam

"We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience) Perception is not passive It is an active construction It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical"[1]

H S Subrahmanyam very clearly states that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' through the mind (past experience)

6) Couple of other issues were also raised during the discussion and they are (i) the śabdaparokṣa theory and (ii) the validity of the definition of pratyakṣa i e "jnanākaraṇakam jñanam" as given by Gaṅgeśa in his magnum opus Tattvacintamaṇi

All these issues, if collectively taken for reassessment, then there can be seen an ekasūtratā at a point where the primacy of perception is challenged and possibly Indian tradition as a whole do not agree with The Vaiyakaranas and the Vāllabhas as has been pointed out in my paper do not accept the primacy of perception, whereas the others including the

nastikas (Buddhists, Jains and Cārvākas) accept its primacy Intellectually speaking it hardly matters, which cognitive instance is primary one and which is the secondary one However, as far as the epistemology is concerned - (i) the elements of a cognitive instance (samagri), (ii) the objective relations between the elements, (iii) the causal factors i e the kāranas, (iv) the mode of representation or the functional relations (sannikarsa), and finally (v) the cognitive structure are the factors of perception, which cannot be ignored Moreover, the issue throughout the tradition we find being hotly debated that which perception is the 'real perception'? In other words, technically speaking, whether (i) the non linguistic and non conceptual perception i e nirvikalpaka pratyaksa is the 'real perception or (ii) the linguistic, conceptual and thus judgmental perception i e savikalpaka pratyaksa is the 'real perception' or (iii) both are true and there is a hierarchy in between them? These are the three broad spectrums of the theory of perception in Indian tradition and to my mind the modern theory of perception can be accommodated in these three as well Almost all the schools of Indian epistemology play their game in this triangular field with the help of the above five factors for establishing the distinct identity of their respective schools from the others

However, for the sake of re treatment of the traditional viewpoints, we need to look into them afresh from a different dimension The traditional controversy is centered on the primacy / dependency / hierarchy of nirvikalpaka pratyaksa vs savikalpaka pratyaksa I do understand the significance of

the traditional approach for the assessment of the perceptual cognitive instance, but for the sake of its reassessment what I feel is, we need to start with 'simple perception' to 'complex perception'. When I say 'simple perception', I mean a simple perceptual cognitive instance arising out of minimum factors based on sense object contact (SOC) – indriya artha sannika-rsa The scientists of course say that one has to start with 'simple perception' to reconstruct the 'full perception' and possibly they also mean to start with the minimum factors of SOC and then to go on to accommodate as many factors as required with a multidisciplinary approach - physical, physiological, psychological and metaphysical so on and so forth as the situation may demand and that will end in a 'complex perceptual cognitive event' which is called a 'reconstructed element'

In the tradition, whenever we look into the six perceptual functional relations (sadvidha sannikarsa)[2] we can say that these are the six instances of simple perceptions, since there is one to one SOC that give rise to 'a single object perceptual cognitive event' For instance

(i) When we have the perception of a substantial element like 'a jar' through our 'eyes', the perceptual instrument, with the help of the perceptual functional relation called samyoga (contact), it is an instance of 'simple perceptual event' where the factors involved are (a) 'eye', the only instrument, (b) 'jar', the only object and (c) samyoga (contact), the only perceptual functional relation (sannikarsa)

(ii) In the similar manner when we have the perception of

the colour etc of a 'blue jar', the factors involved are (a) the 'eye' i e the instrument, (b) the colour etc ('blue' in present case) i e the object and (c) samyukta samavāya (inherence in what is connected) i e the only functional relation and that gives rise to the 'simple perception of the color, blue in present case, that resides in a substantial element like the jar etc Through this functional relation we can perceive the elements like guna, jāti and kriyā or karma famous categories in the Nyaya Vaiśesika system It may further be noted here that though the sannikarsa (the functional relation) is a complex one, still technically speaking the perceptual event is a simple one

(iii) In the same manner we can see the generic property of a particular color like 'blue ness' in the 'blue color' through the functional relation called 'samyukta-samaveta samavāya' (inherence which is inherent in what is connected)

(iv) The śabda is perceived through the functional relation called 'samavāya' (inherence)

(v) The śabdatva jati is perceived through the functional relation namely samaveta samavāya (inherence in what is inherent) in Nyāya-Vaiśesika system

(vi) The absence (abhāva) of a jar etc is perceived through the functional relation called viśesanatā or samyukta viśeanatā (cognitive qualifier ness in what is connected)

These six cases of perceptual cognitive instances, in my view, are the instances of 'simple perception', because each of these not only requires minimum factors of the cognitive events but also it follows straight SOC mechanism without

inviting other inputs like physiological, psychological and metaphysical etc required for 'full perception' In other words, the single object perception as narrated above yields a 'simple perceptual event' whereas multiplicity of factors those include the five factors stated above and the others namely the psychological, social, sociological, cultural, metaphysical and some time transcendental factors as per the demand of the situation together give rise to a **'complex perception'.** It may be noted here that loka vyavahāra is the empirical result of perception and the so called 'simple perception' is hardly useful for loka vyavahāra When I took up the instances of (A) Parvato vahnimān vs (B) Parvate vahnih for examining the perceptual cognitive mechanism and cognitive structures, the question came up for defining the mode of representation of the perceptual functional relation (sannikarsa) for grasping / seeing ādheyatā or adhikaranatā In fact what was in my mind was to address the 'complex perceptual instances', which I did not spell out openly The tradition is almost mum on this issue Multiple examples can be cited on the complex perceptual events and the questions will be only on the mode of representation of the cognitive functional relations, nothing else What I mean is it not necessarily on grasping the entities concerned for perception, because, the tradition is very clear on that aspect The problem arises not only on the mode of the representation of the 'cognitive functional relations' but also making the 'entities' and the 'relations' associated into a single integrated whole The satisfactory way out will be available if and only if we take the modern

scientific theory of 'reconstruction' into account Now the problem in the traditions will be - can we count for the justifiability of such perceptual events being well within in the framework of the tradition? To me, the reply is 'Yes', only if we take / understand / interpret the tradition in a broad prospective I, therefore, had suggested to count for 'jñānalakṣaṇā-pratyāsatti' as the perceptual functional relation for seeing 'ādheyatā / adhikaraṇatā' for the 'complex perceptual situation' like (B) Well it is left for scholars to accept it or not, or try to suggest other mode of representation Well someone may suggest a seventh sannikarṣa if he or she accepts 'ādheyatā' or 'adhikaraṇatā' as an independent padārtha over and above the famous seven padārthas accepted in Nyāya Vaiśeṣika system The question will remain on 'how to integrate' the entities and the relations in a sequence to make an 'integrated whole' of the perceptual cognitive instance? And here I feel we need to go for the 'reconstruction theory'

Now let us think on the 'reconstruction theory' of perception and its justifiability in the traditional framework Reconstruction of perception would mean 'SOC + recollection of past experience' Recollection of past experience certainly means input from mental repository, which is linguistic as well as conceptual and judgmental If this is accepted then the reconstruction theory of perception is nothing but another name for 'savikalpaka pratyakṣa', that is acceptable to most of the traditional schools of Indian epistemology The main problem in Indian tradition is : what to be counted for the

'real perception'? Whether it is the nirvikalpaka pratyaksa or the savikalpaka-pratyaksa We have already pointed out that there will be only three possibilities and whole the tradition is entangled with the problems rising within those only To my mind, it all started probably with the Nyāya sūtra of Gotama when he defines pratyaksa as "indriyārtha sannikarsotpannam jñānam avyapadeśyam avybhicāri vyavasāyātmakam pratyaksam" (NS 1 1 4) Though there are a lot of controversies found in interpreting this sūtra, scholars are of the opinion that this sūtra defines both, nirvikalpaka as well as savikalpaka perception The sūtra ending in avyapadeśyam defines the nirvikalpakam whereas along with the rest of the words in the sūtra defines the savikalpakam If the sūtra is taken to be framed only with the terms as indriyārtha sannikarsotpannam jñānam avyapadeśyam, it would mean 'the cognitive instance which is non-linguistic and which is caused by SOC is called perception, and it will be 'real perception' or 'pure perception' The 'reality' or 'purity' of perception was more emphasized in the Buddhist tradition taking only SOC into account[3] For instance Dinnāga defines pratyaksa in terms of "sva samvin nirvikalpakam pratyaksam suddha vastujam"[4] Even in Mīmāmsā tradition, the purity of perception is emphasized Kumārila Bhatta says

"asti hy ālocanājñānam prathamam nirvikalpakam /
Bālamūkādi vijñāna sadṛśam suddha vastujam //" (Kā 112)

It may be noted here that Kumārila and Dinnāga are using the same term 'śuddha vastujam' for defining pratyaksam

(perceptual cognition), and does it not say in volume on the perceptual cognitive instance and its mechanism? What is 'śuddha vastujam'? Many in the tradition define the perception in the same tone Without going into multiplying the citations, it will be just enough to say that the 'purity' (suddhata) of perception was emphasized on account of its 'true nature' i e SOC, that would distinguish it from other cognitive instances like inference, or analogous, or verbal testimony etc So far so good, however, the question arises that does it make any sense apart from upholding a technical point? Is it not the case that a cognitive instance has its culmination in loka vyavahāra and thereby its validity is established? Well, without going into the validity aspect at this stage let us concentrate only on the 'purity' (śuddhatā) of perception It seems that throughout the tradition starting from Sutrakāra Gotama to the trend of Navya-Nyāya almost everyone is struggling to uphold its so called 'purity' and 'distinct identity If we take the purity of perception is established only on SOC (indriyārthasannikarsotpannam jñānam) then essentially it will be an instance of 'indeterminate perceptual cognition' (nirvikalpakam jñānam) and it will be non conceptual and non linguistic As and when the object of the indeterminate perceptual cognitive instance (i e the nirvikalpakam jñānam) is added with 'a name' and its 'generic property' then only it becomes the determinate perceptual cognitive instance (i e the savikalpakam jñānam), which becomes vyavahārānga Up to this point everyone seems to be agreeing within the tradition However, the Buddhists, who accept the indeterminate

perceptual cognition (i e the nirvikalpakam pratyaksa) alone as the 'real perception', emphatically say that 'the name' (nāma) and 'the generic property' (jāti) etc do not come under the purview of SOC alone, and the cognitive mechanism is extended beyond that To them whatsoever falls beyond the purview of SOC, that is called kalpanā, essentially referring to the mental input, that cannot be 'pure perception' since it is not 'śuddha vastujam' The Buddhists therefore, define the 'śuddha vastu' (pure entity) in terms of 'svalaksana' and they are indeed exclusive purist as far as the perception is concerned The Naiyāyikas, on the other hand, accept jāti / sāmānya (the generic property) as part and parcel of the vyakti (individual entity) However, for them, jāti or sāmānya (the generic property) is a separate category of entity (padārtha) and it either can be perceived through the samyukta samavāya (inherence in what is connected) sannikarsa or it can be seen by sāmānya laksanā pratyāsatti[5] i e the cognition of general pattern acting as the cognitive functional relation Then the question comes now how an entity / element /individual (vyakti), for instance ghata vyakti (a jar) is seen? To decide the perceptual procedure we need to know 'what is a jar'? (A) Is it just a shape ākrti (made up of some matter, say earth, gold, silver, so on and so forth)? (B) Is it a shape along with its generic property 'jar ness' (ghatatva)? (C) Does it come along with the relation (sambandha) as well? In Nyāya system there is no uniformity in defining 'a jar' Some think it is only (a) the 'shape', the individual, some think it is (b) the individual along with

its generic property (ghatatva viśista ghatah), some even go to the extent of associating (c) the 'relation' along with the individual as well as its generic property Depending upon the nature of the entity the perception would generally differ However, if someone thinks of examining the Nyāya Vaiśesika texts to find out what is the object' of nirvikalpaka pratyaksa, one would expect that he / she will find only '(a)' as an instance of it, but when (b)' & '(c)' are also found as the 'objects' of nirvikalpaka pratyaksa, then certainly one will feel surprised The question will haunt him / her that what is the difference between the nirvikalpaka and savikalpaka perception? The only difference, it seems in the tradition, between nirvikalpaka and savikalpaka lies on the integrity (sambaddhata) or disintegrity (visakalatā) of the entities namely vyakti, jati and sambandha through their appropriate relations[6] We will come to this point latter on But one should ponder on why this has happened in the system? It is clear that this has been started during the period of Navya Nyāya Our reverent teacher Pt T S Shrinivas Shastri gal says that this has been started during the time of Saśadhara[7], the real father of Navya Nyaya The issue and the logic behind all that in the tradition is very vast and everything cannot be accommodated here However, it can be said here that, even if all that is taken for granted, it will certainly be a wonderful instance of inclusivism and even though we tolerate it the question will be what will happen to the purity (suddhata) of perception? If someone argues that since a dravya (an entity) for instance ghatah (a jar) in the case

of perceptual cognitive instance, means the integrated whole of 'ghatatva-samavāya ghata' and all these together is a single entity (vastu), and therefore, the 'purity' is maintained as far as the śuddha vastujatvam of SOC is concerned In that case the problem will be what is the cognitive functional relation (sannikarsa) to the integrated whole of 'ghatatva samavāya ghata'? Is it a single one or multiple one? Can it be samyoga alone or samyukta samavāya alone or samyukta viśesanatā alone? Else can we think of still having yet another complex functional relation taking all these three together? Or is there a different way out? OK, now for the sake of clarity, let us examine whether 'ghatatva' the jāti and samavāya, the sabandha can be incorporated into nirvikalpaka pratyaksa or not What is a jāti or sāmānya The Nyāyakosah gives a simple definition of sāmānya as anugato dharmah i e the property, which is found in continuity in a series of entities How to understand anugatatva 'being in continuous'? It is good that the Naiyāyikas leave nothing undefined Here, Gangeśa, the founding father of Navya Nyāya, himself comes in our help, who defines anugatatva as "pūrva vyakti vrttitve sati etad vyakti vrttivam anugatatvam iti tatra pūrvānubhūta vyakter viśsesanatvena tatra jñānasya anugatatva pratyakse kāranatvāt"[8] It simply means that the continuity in knowledge comes in a sequential form first to second, only if the first forms the part of past experience Now the question is how sāmānya (ghatatva in present case) in that sense will become an object of 'instant perception', I mean nirvikarlapa pratyaksa? Because, jāti which is a 'property

in continuity' comes along with the past experience and that cannot be counted for 'instant perception' which is non-relational and non conceptual In similar manner, if we closely examine the sambandha for clear understanding, I doubt if that can be considered to be part of 'instant perception', for sambandha (relation) itself is a relative term and no one can conceive a 'relation' without imagining the correspondent 'relatives' (sambandhins)[9] In that sense, it means without relating to the 'relatives' no relation can be conceived And thus, how the 'relation' can appear in the nirvikalpaka-pratyaksa? Therefore, it is simply inconceivable to include the sāmānya and samavāya in the frame of 'instant perception' i e the nirvikalpaka pratyaksa Moreover, the greater problem will be of classification of Nyāya-Vaiśesika categories' The question will be why to count sāmānya (jāti) and samavāya are separate / independent categories altogether, since they are incorporated into a single entity and are also seen by a single perceptual functional relation? Is it not a very serious challenge for the Nyāya Vaisesika system? It seems to me that they have taken this serious risk just for the sake of the justifiability of savikalpaka pratyaksa, which in turn is caused by nirvikalpaka pratyaksa[10], and that is vyavahārāṅga as well It must at this stage be born in mind that we have been taking about the nirvikalpaka pratyaksa, the indeterminate perception so far, which is neither valid nor invalid[11], and which in our terminology is an instance of 'simple perception'

The savikalpaka pratyaksa, i e the determinate perceptual cognitive instance, therefore, is taken to be valid on account

of its application in practical life It no doubt is in a complex form The complexity is caused not only by the integration of the disassociated entities like vyakti jāti sambandha seen in nirvikalpaka pratyaksa, but also it gets a name and other mental inputs if the situation demands so The savikalpaka pratyaksa in other words is an 'integrated whole', it is thus called 'conceptual', 'linguistic' and 'judgmental' This in our opinion is a 'complex form of perceptual cognitive event' or simply speaking 'complex perception' The 'complex perception' is known in the tradition as 'visistajñānam' (qualified cognitive instance)

The viśistajñānam i e the qualified cognition arises variously and the tradition discusses them elaborately, which we need not go into the details here The only point that may be underlined here is that it requires the minimum occurrence of the 'qualifier , the 'qualificand' and the 'relation' in between them The instances may be taken as stated above in '(A)' and / or '(B)' We have already discussed in detail on how the perception of (B) Parvate vahnih is caused in the main paper, and I need not go elaborate it again here Without going into more complexities involved in this case, let us think that there are only three 'entities' (a) parvata, (b) vahni and (x) adhikaranatā, where (a) and (b) are qualifier and qualificands respectively, the (x) is a relation The question is whether we see all these simultaneously or sequentially, in an order? The Nyāya system would prefer the sequential order[12] and the knowledge of qualifier always form the part of 'past experience', or mental input (smrti) by the time

one gains the knowledge of 'complex perception' Then it (the complex perception or the savikalpaka-pratyakṣa) obviously becomes a pratyabhijñā type perceptual cognitive instance, because pratyabhijñā? is partly 'direct' and partly 'remembrance'[13] The pratyabhijñā is a fit case of 'reconstruction theory' of perception The Naiyāyikas cannot accept perceptual cognition to be 'pratyabhijñā' only at least not by the same name, because that will disturb the whole theoretical and conceptual framework of Nyāya-Vaiśesika system Gaṅgeśa seems to be struggling to settle the problem of pratyabhijñā and somehow incorporating the 'mental input' (smrti) into the system At the same time the problem for Gaṅgeśa was to authenticate and re establish "jñānākaranakam jñānam pratyaksam" as the most suitable definition of perception that he had proposed in his TC[14] At this stage again without going into the details given in the Tattva-Cintāmani of Gaṅgeśa, it will be convenient for me and acceptable to all the shastric scholars to refer to my reverent teacher Prof Ramanuja Tatacharya, who is one of the tallest Naiyāyikas of our time, to see how he has summarized the issues under the sub title - 'Pratyabhijñā vimarsah' of his work - Pratyaksa Tattvacintāmani Vimarsah Introducing the nature of pratyabhijña, and citing the famous instance of 'surabhi candanam' he says that Gangesa accepts pratyabhijñā as an instance of qualified perception[15] Prof Tatacharya, thereafter, cites the views of Vacaspati Mishra and Udayanacharya in support of this view[16] Then Prof Tatacharya says and I quote "iyam eva smrti jnānalaksanapratyasattitvena manikrtā

vyavahriyate' - the smrti comes into the picture of a 'complex perception' through jñānalaksana-pratyāsatti and he authenticates it to be the final opinion of Gaṅgeśa Though I did not see this text at the time of writing my main paper for the seminar, this is what was my contention of introducing jñānalaksana-pratyāsatti and I hope this should convince the scholars

Now the problem comes on justifying the definition of perception i e "jñānākaranakam jñānam" that is so dear to Gaṅgeśa For that also Prof Tatacharya has given a very logical and convincing interpretation, which indeed was intended by Gaṅgeśa himself Let us look into that After emphatically establishing the fact that pratyabhijnā was nothing but an instance of qualified perception[17], he says that the definition should be interpreted as 'jñāna akaranakam jnānam pratyasam' but not 'jñāna akāranakam jnānam pratyasam' As far as the smrti is concerned, it is no doubt is a kārana (causal factor), but it cannot be the kāranaa (most effective means), because, smrti cannot have any vyāpara, immediately after which the perceptual cognitive instance would come into being[18] Moreover, if the smrti is taken to be kārana then, it being referring to the 'past experience' the pratyabhijñā or the 'complex perception' in that matter would be an instance of paroksa (other than perception) but not pratyaksa Therefore, citing the views of Udayana, to which Gangesa fully agrees[19], Prof Tatacharya says that it is the indriya[20], which is the kārana but not the smrti (memory input) and thus there will be no problem of justifying the definition 'jñāna akarana

kam jñānam pratyaṣam' This clearly means that smṛti is one of the kārana sāmagrī s (causal factors) of 'complex perceptual event' and a close examination of the whole situation would lead us to conclude that it is nothing but a 'reconstruction' Without the memory input neither the pratyabhijñā nor the complex perceptual cognitive event would arise As and when the 'memory input and the 'direct perception' are assembled together, the perceptual cognitive event arises, which is applicable in practical life The justification of the said definition is just technical one and that does not reject the 'reconstruction theory of perception' The 'mind brain gap theory' of the modern scientist can be re interpreted as mind brain incorporation theory as such, and if it is considered in this situation there will be no problem in the shastric tradition at all The modern science has developed many sophisticated instruments that no doubt help us in understanding the natural phenomena more clearly and distinctly Taking help from the modern scientific developments, it will be desirable for us to reinvestigate the shastric stands on different theoretical aspects in one hand and to reinterpret the śāstras to see and judge the strength and power of the logic of the ancient Indian intellectuals on the other hand That will make us feel proud of them and to my mind we will not feel ashamed at any stage if we take the whole of Indian intellectualism as the outcome of a healthy living tradition, that is not meant for making different and independent schools like water tight compartments Moreover I feel, if one closely looks the theoretical developments those overlaps the whole

tradition breaking the barriers of the so called schools, one will be happy to note that the findings of the ancient Indian intellectuals are very close if not exactly the same to the findings of the modern science So why not open the doors of our mind?

The discussion on my paper has taken up another issue on śabdāparoksa vāda To my mind this is also a serious matter of debate in the śāstras and I wish to write a separate paper on this issue alone This issue to my mind has the potentiality to change the line of thinking on the whole of Indian epistemology, especially on the causality and the cognitive structure

Notes and References:

[1] H S Subrahmanyam, 1986, "Physiology and Psychology of Perception", SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND SĀSTRA, Ed By T M Srinivasan and B G Shreelakshmi, Pub Sri Sharada Trust, Sringeri p 70

[2] cf "samyogena dravya grahah, samyukta samavāyena rupa ka rmanor grahanam, samyuktasamavetasamavāyena rūpatvādeh, samavāyena śabdasya, samavetasamavāyena śabdabhāvasya, indriyasambaddhaviśesanatayā samavāya ghattābhāvāder yogya sannikarsād eva graho na sannikarsamātrat" TC Vol I P 572 576

[3] Cf Vasubandhu' definition "tato'rthāt jatam vijñānam pratya ksam" (Pramānasammuccaya 15) Dinnaga also defines

pratyaksa in terms of "pratyaksam kalpanāpodham nāmajātya-dy asamyutam" (PS 3) Dharmakīrti also speaks in the same tone 'kalpanāpodham abhrāntam pratyaksam" (Nyāya-Bindu 1 4)

[4] Pramanasammuccaya 3

[5] "sāmānya laksanam ity atra laksana-śabdasya visayo 'rtha tena sāmānyavisayakam jñānam pratyāsattir ity arthao labhyate" NSM on Kā 64, p 277)

[6] Prof Ramanuja Tatacharya concluding the discussion on nirvikalpaka vāda says "atredam tattvam viśesana-jñānatvena sidhyad api nirvikalpakam na viśesanabhūta ghatatvādi mātram api tu visesyam ghatādikam (viśesanam ghatatvādikam) samavaya rupam sambandham ca visayīkaroti tathā ca nirvikalpake ghatah ghatatvam samavāyaś ceti tritayam visayah trisv api indriya sannikarsasya sadbhāvena ghatatvamātram visaya ity atra niyāmakabhāvāt param tu tritayam api viśakalitatayā bhāsate atas tatra prakāra viśesya bhāvo nāsti ata eva prakāratā śūnyatvam visesyatā śūnyatvam samsargatā śū-nyatvam ca brūvate navīnatamā naiyāyika " Pratyaksa Tattvacintamani Vimarśah, by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p 330

[7] See his paper on "Savikalpaka Nirvikalpaka-vicārah", Pub In Unmīlan, (Vo 14 pt 1) ed By Yashdev Shalya and Mukund Lath, Darshan Pratisthan, Jaipur, Jan 2000 p 64

[8] TC Vol I P 569

[9] Cf (a) sambandhibhinnatve sati sambandhyāśritah, (b) svabhi nna sambandhyaśritah, svabhinna pratiyogika padārthah, (c) sambandhatvam ca yatkiñcit padārthānuyogikatva viśesah

Nyāyakosa, p 920

[10] Cf "kiñca nirvikalpakābhāve savikalpakam jñānam eva nodetum arhati" ibid p 60

[11] Cf "nirvikalpakam na pramānam nāpy apramānam "

[12] Because, the mind in Nyāya system has been taken to be 'atomic' in size It can be connected to one indriya at a time One should see the discussion the details in 'Mano'nutvavādah' in TC

[13] "Indriyasahakrta samskārajanya-jñānatvam pratyabhijñā" cf Nyāyakosa, p 543

[14] "jñānākaranakam jñānam iti tu vayam" TC Vol I p 552

[15] Cf "tathā ca tattā'mse alaukika idamtā'mśe laukikam ca ekam viśista pratyaksam pratyabhijñā iti manikārā nirūpayanti" Pratyaksa Tattvacintāmani Vimarśah, (PTV) by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p 341

[16] "Tātparyatīkāyām Pariśuddhau ca pratyabhijñā pratyaksam ity eva nirupitam" ibid p 341

[17] "sarvathā manikārāh pratyabhijñāyāh pratyaksatvam eva āti sthante" ibid p 343

[18] Cf "yad vyāpārad anantaram phalotpattis tat karanam" "vyāpāravad asādhāranam kāranam kāranam"

[19] "ayam ca visayo yathā manau vartate tatha tātparyatīkāpariśuddhāvapi vartate" PTV p 344

cf "viśista pratyakse ca viśesana jñanam na karanam vyāpārabhāvāt viśista vaiśistya pratyakse ca viśesanajnanam hetur na tu viśesana viśesana dhīr api, viśesana dhī dvārā karanam

mānābhāvāt pratyabhijñāyām tu tattā smrtihkāranam na(?) tu samskāradvārā anubhavah kāranam, tasyāh samskārajanyatve smrtitvāpatteh smrtitve lāghavena samskāra-janyatvasya tantra tvāt taddhetutvenaiva tatsiddheś ca" TC Vol I p 552 - 555

[20] Here Prof Tatacharya cites a statement from Nyāya-Kusuma ñjali of Udayana "kāran'ntara nirapeksena samskārādhika-sannikarsavatā indriyena janitatvāt" Ibid p 344



प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

विशिष्टाद्वैतिन प्रत्यक्षमनुमानमागम इति प्रमाणत्रयं स्वीकुर्वन्ति. तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं किंरूपम्? तस्य कार्यभूता प्रत्यक्षप्रमा किंरूपा? इत्यादिकं सामान्यतो निरूप्य प्रस्थानरत्नाकरस्य विशिष्टाद्वैतिनां च सादृश्यं वैसादृश्यं च यथामति निरूपयितुं प्रयते.

<u>प्रत्यक्षलक्षणम्</u> :

ज्ञातकारणजज्ञानस्मृतित्वरहिता मति ।
अपरोक्षेति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसञ्जनम् ॥
(न्यायपरिशुद्धौ का.६९) इति.

वेदान्तदेशिका प्रत्यक्षप्रमां लक्षयामासुः. तेषाम् अयम् आशय : साक्षात्कारित्वं जाति. तद् यदि उपाधिरूप स्वीक्रियते तदा "ज्ञायमानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपकत्वशून्यत्वे सति स्मृतित्वशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं" प्रत्यक्षप्रमायाः लक्षणम्. स्मृतेः वारणाय "स्मृतित्वशून्यत्वे सति" इति. अनुमितिशाब्दबोधयो वारणाय "ज्ञायमानत्वावच्छिन्न..."इत्यादि दलम्. इन्द्रियस्यापि ज्ञायमानत्वं कदाचित् सम्भवतीति प्रत्यक्षे अव्याप्ति स्यात्. अतो 'ज्ञायमानत्वावच्छिन्नं' करणतायां विशेषणम्.

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वं" लक्षणम् इति उक्तौ ईश्वरप्रत्यक्षे अव्याप्ति, "वैशद्यापरपर्याय-लौकिक-विषयता-निरूपक-ज्ञानत्वस्य" लक्षणत्वे च "वृक्षे-वृक्षे च पश्यामि" इत्याद्युक्तस्मृतिविशेषे अतिव्याप्ति. एवञ्च उपर्युक्तं लक्षणं निर्दुष्टमेव.

प्रत्यक्षप्रभेदाः :

इद प्रत्यक्षं नित्यम् अनित्यं च इति द्विविधम्. परमेश्वर-नित्यसूरि-प्रत्यक्ष नित्यम्. अस्मदादीनां प्रत्यक्षम् अनित्यम्. तच्च द्विविधं : योगिप्रत्यक्षम् अयोगिप्रत्यक्षं च. योगिप्रत्यक्षं प्रकृष्टादृष्टविशेषजन्यम्. सञ्जयार्जुनप्रभृतीनां मुक्तानां च प्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव.

विषयेन्द्रियसम्बन्धो - द्रव्येषु संयोग इन्द्रियाणां सम्बन्ध. द्रव्याश्रितरूपादिषु संयुक्ताश्रयणं सम्बन्ध. आश्रयणं च अपृथक्स्थितिरेव. नतु समवाय, तस्य अनंगीकारात्. उक्तं च तत्वरत्नाकरे

अत्र वृद्धा विदामासु संयोगं सन्निकर्षणम्।
संयुक्ताश्रयणं चेति यथासम्भवम् ऊह्यताम्॥ इति.

सिद्धान्ते मानसप्रत्यक्षं न स्वीक्रियते. आत्मन तद्धर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणार्थं हि नैयायिकादिभि तत्स्वीकारः. आत्मन स्वप्रकाशत्वात्, ज्ञानस्य तद्धर्मस्यापि स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां च अवस्थाविशेषविशिष्टज्ञानात्मकत्वाच्च. एवञ्च प्राथमिकं प्रत्यक्षं "अहं घटं जानामि" इत्याकारकमेव भवति इति सम्प्रदाय.

प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं, सविकल्पकं चेति द्विविधम्. सस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सविकल्पकम्. यथा गोत्वादौ अनुवृत्तत्वावगाहि "अयमपि गौः" इत्यादिज्ञानम्. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. "अयं गौः" इति ज्ञानं निर्विकल्पकमेव. नहि सर्वथा निष्प्रकारकं ज्ञान सिद्धान्ते स्वीक्रियते. निर्विकल्पकं नाम केनचित् धर्मविशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम् इति भाष्यम्. अल्पधने पुरुषे धनशून्यत्वपर-'दरिद्र'शब्दप्रयोगाद् अनुवृत्तत्वानवगाहिनि प्रत्यक्षे निर्विकल्पकव्यवहार.

ज्ञानस्वप्रकाशत्ववादे "इमां गां जानामि" इति निर्विकल्पकाभिलाप.

''इमामपि गां जानामि'' इति सविकल्पकाभिलापः इति मन्तव्यम्.

सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति सिद्धान्तः :

ननु ''घटोऽस्ति'' इति ज्ञाने सद्रूपं घटादिरूपभेदं च प्रतीयते. कथं घटादे भेदरूपत्वम्? इति न शंक्यं, व्यतिरेकित्वात् सर्वेषां व्यतिरेकिधर्माणां स्वभाववद्भेदरूपत्वस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्. सद्रूप-भेदयोः न ऐक्यं सम्भवति, प्रतियोगिनिरपेक्षत्व-तत्सापेक्षत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदावश्यंभावात्. एवञ्च इदं प्रत्यक्षज्ञानम् उभयग्राहि वा अन्यतरग्राहि वा? उभयग्राहित्वपक्षे किं क्रमेण उभयग्राहि वा उत युगपत् तथा इति विकल्प? क्रमेण उभयग्राहित्वं प्रत्यक्षज्ञानस्य न भवति, तथात्वे क्षणिकस्य प्रत्यक्षस्य विरम्यव्यापारस्वीकारप्रसंग. भेदस्य सतश्च युगपद्ग्राह्यता न सम्भवति. भेदग्रहणात् पूर्वं प्रतियोग्याश्रयज्ञानयोः अपेक्षितत्वात्, सद्ग्रहणस्य च तदनपेक्षत्वात्. प्रत्यक्षम् अन्यतरग्राहि इति पक्षेऽपि निराश्रयभेदग्रहणासम्भवात् सन्मात्रविषयकत्वमेव तस्य परिशेषसिद्धम् इति प्रत्यक्षं निर्विशेषविषयकमेव इति चेत्, न, एतादृशविकल्पस्य भ्रान्तिरूपे भेदविकल्पेऽपि समत्वात्. नच भ्रान्तेः उभयग्राहित्वाभावेऽपि क्षतिविरह, प्रत्यक्षेणैव स्वरूपस्य ग्रहणात् भ्रान्तेः भेदमात्रग्रहणेऽपि उपपत्तेः इति वाच्यम् भ्रान्तिविकल्पस्य भेदमात्रविषयकत्वे प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्रविषयकतया स्वरूपभेदयो वैशिष्ट्यग्रहणाभावेन उक्तविशिष्टव्यवहारानुपपत्ते युगपद्विशिष्टग्रहणमेव स्वीकर्तव्यम्. एवञ्च धर्मवद् योग्यत्वात् जात्यादिरूपभेदोऽपि प्रत्यक्षे युगपद् गृह्यतएव अभेदो यथा स्वरूपतो ग्रहणे प्रतियोगिसाकांक्षो न भवति, तथा भेदोऽपि स्वग्रहणे प्रतियोगिनिरपेक्षएव. भेदव्यवहारस्तु प्रतियोगिज्ञानसापेक्ष· इति स्थिति.

भेदप्रत्यक्षे अन्योन्याश्रयशंकापरिहारौ :

ननु जात्यादिरेव भेदः इति पक्षे तद्ग्रहणे अन्योन्याश्रयदोष प्रसजति. तथाहि —

१. धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां धर्मधर्मिभावग्रहासम्भवात् धर्मधर्मिभावग्रह प्रति भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. नहि भेदरूपस्य धर्मस्य घटरूपस्य च

धर्मिण अभेदग्रहे तयोः धर्मिधर्मभावो गृह्येत. धर्मधर्मिणोः भेदग्रहश्च धर्मधर्मिभावग्रहाधीनः इति अन्योन्याश्रय.

२. एवं धर्मिप्रतियोगिनोः अभेदग्रहदशायां एकस्य भेदधर्मितया अपरस्य तत्प्रतियोगितया ज्ञानासम्भवात् तादृशज्ञाने भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. भेदज्ञाने च धर्मिप्रतियोगिनो धर्मित्वेन प्रतियोगित्वेन च ज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रय.

३. एवं घटादे पटाद्यविलक्षणत्वज्ञाने सति घटादौ पटादिभेदधीः न जायतइति भेदज्ञानं प्रति वैलक्षण्यज्ञानम् अपेक्षितम्, तद्वैलक्षण्यं च तदवृत्तिधर्मवत्त्वम्, एतादृशवैलक्षण्यज्ञानार्थं भेदज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयइति भेदस्य जात्यादिरूपत्वं, प्रत्यक्षस्य तद्विषयकत्वं च न युक्तम् इति चेत्, न, प्रथममेव भेदविशिष्टवस्तुनो ग्रहणाद् एतादृशहेतुहेतुमद्भावस्य अस्वीकारात्. तथाहि — धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशाया यद्यपि धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिः न भवति, तथापि तत्पूर्वं न तयोः भेदज्ञानम् अपेक्षितम् किन्तु अभेदाग्रहएव. धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिरेव हि भेदग्रहरूपेति तयो कार्यकारणभावएव नास्ति. अतो न प्राथमिको अन्योन्याश्रय. एवं धर्मिप्रतियोगिनोरपि तथात्वेन ज्ञानं प्रति न भेदज्ञानम् अपेक्षितम्, तथात्वेन ज्ञानस्यैव भेदधीत्वात्. तस्याच पूर्वोक्तरीत्या अभेदाग्रहमात्रसापेक्षत्वात्. तथाच न द्वितीयो अन्योन्याश्रयोऽपि स्वरूपतो घटत्वादिरूपभेदग्रहणे पटादिविलक्षणत्वज्ञा-नानपेक्षणात् पटाद्यविलक्षणत्वज्ञानाभावे सति स्वसामग्रीवशेन घटत्वादिरूपस्य पटादिभेदस्य ज्ञानसम्भवात् एवञ्च प्रत्यक्षं सर्वमपि भेदविषयकम् इति स्वीकारे न कापि अनुपपत्तिः इति.

<u>शाब्दापरोक्षास्वीकारः</u> :

शब्दजन्यप्रत्यक्ष "तत्वमस्या"दिवाक्यस्थले अद्वैतिभि स्वीक्रियते. विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्ते परोक्षज्ञानजननस्वभावतया सिद्धाया शब्दघटितसामग्र्या वाक्यार्थविषयकप्रत्यक्षहेतुत्वं नास्ति. "दशमः त्वम् असि" इति दृष्टान्ते त्वमर्थमात्रं प्रत्यक्षम् "दशमो अहम्" इति ज्ञानं न केवलेन्द्रियेण जायते

किन्तु पुरुषवचनानुरोधेन. अस्मिन् विषये विशेषरूपेण विचारः शतदूषण्यादो आचार्ये कृतोऽस्ति. अत्र नातीव आवश्यक स विचारइति न लिख्यते.

प्रस्थानरत्नाकरपक्षो विमर्शः च :

प्रस्थानरत्नाकरे " 'काम संकल्प' इति श्रुत्या सुखादय करणसमवेता घ्राणादीन्द्रियग्राह्यगुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवद्" इति अनुमानेन च कार्यरूपस्य ज्ञानस्य अन्तःकरणधर्मत्वमेव स्वीकृतम्

विशिष्टाद्वैतिनस्तु "जानात्येव अयं पुरुष" "नहि विज्ञातु विज्ञाते विपरिलोपो विद्यते" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानादीनां आत्मधर्मत्वमेव समाश्रयन्ति. अनुमानञ्च उक्तम् अप्रयोजकं, श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वात्. दृष्टान्तोऽपि न युक्त. ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत.

मनसः इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभय यमे देवत्व-पितृत्वयोरिव संगतम् इत्यपि चिन्तनीयम्. देवत्वपितृत्वयो स्वरूपतो लक्षणतश्च भावाभावयोरिव विरोधाभावात्

घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्व यत् निषिद्ध तदपि चिन्तनीयमेव, व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि तमसि दुग्धादेरपि रसनया ग्रहण तस्या द्रव्यग्राहकत्वम् अन्तरा न सम्भवति इति कथनं न सम्भवति, तथात्वे पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभवापत्ते. अतः तेषा दुग्धज्ञानम् अनुमतिरेव.

अभावस्य अनुपलब्धिवेद्यत्वाभावसाधनन्तु विशिष्टाद्वैतिनामपि अभिमत-मेव. "चक्षुषा अवगतः" इतिवत् "अनुपलब्ध्या अवगत." इति प्रत्ययाभावात् इत्यादिप्रस्थानरत्नाकरग्रन्थो बहुयुक्तिगर्भित विशिष्टाद्वैतिनाम् उपादेयएव.

विशिष्टाद्वैतिनो ज्ञानस्य द्रव्यस्य नेत्रादिद्वारा निर्गतस्य घटादिविषयसम्ब-

न्धात् संयोगात्मकात् तदाकारकतासम्पत्तिः इति आहु. प्रस्थानरत्नाकरेतु बुद्धितत्त्वस्य अवस्थाविशेषो वृत्ति, तस्या बहिर्निर्गमाभावेऽपि मायागुणस्य रजस चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च, दर्पणे मुखस्येव, नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारत्वं सुघटम् इति उक्तम्. तत्तत्सिद्धान्ताभिमतप्रक्रियाभेदेन उभयमपि युज्यतएव इति प्रतीम.

बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इतिपक्षे श्रीपुरुषोत्तमचरणै शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताकारस्य अभावेन बुद्धौ मायया रजताकारस्य रामर्पणासम्भवेन अन्यथाख्यातिपक्षस्य अनंगीकारात् च कथं भ्रमस्य उपपत्तिः इति पूर्वपक्षं विधाय सम्यक् स्वपक्ष समर्थित. तथाहि : रजताद्याकारसंस्कार· पूर्वम् उत्पन्न स्वरजसा बहिक्षिप्यते. इन्द्रियसन्निकृष्ट· शुक्त्याकार· तमसा आवृतो भवति चेद्, भ्रमस्य उपपत्तिः इति.

सर्वज्ञानम् अन्तकरणधर्म इति प्रस्थानरत्नाकरपक्ष. तर्हि कथं तस्य आत्मधर्मत्वप्रवादः इति पूर्वपक्षं कृत्वा एवं निरूपितं : जीवात्मनि अन्तकरणाध्यासात् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति एतादृशविषयेषु न अतीव विवादो युज्यते, तत्तत्सिद्धान्तानुसारिप्रक्रियाभेदस्य अदूष्यत्वाद् इति शम्.

.......+.......

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणि च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

यज्ञेश्वर शास्त्री : भवद्भि. लिखितं "सस्कारसहकृतेन्द्रियजन्य ज्ञानं

सविकल्पकम्'' इति संस्कारन्तु सकलमपि सविकल्पक प्रत्यक्ष स्मृति-संस्कारसहित

के ई देवनाथन् : प्रत्यभिज्ञाया संस्कारमात्रजन्य

यज्ञेश्वर शास्त्री : सकलमपि सविकल्पक प्रत्यक्ष संस्कारसहकृतमेव

के ई देवनाथन् : स्मृति तावत् सा संस्कारमात्रजन्या धी

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रथमवार प्रत्यक्ष कृत तत् संस्कारसहकृतम् इति कथ वक्तु शक्यते?

के ई देवनाथन् : तर्हि सविकल्पकमेव नास्ति किल तत्तु निर्विकल्पकमिति वदाम

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षम् अनधिगतम् अबाधितमपि भवेत्

के ई देवनाथन् · भवता प्रश्नो अवगत परन्तु निर्विकल्पक यद् भवति, केनापि न उल्लिख्यते अतएव 'निर्विकल्पकम्' इति नाम "मम निर्विकल्पक ज्ञान जातम्" इति केनापि न उच्यते

यज्ञेश्वर शास्त्री . मम अय प्रश्न सकलमपि प्रत्यक्ष संस्कारसहकृतमेव भवति

के ई देवनाथन् . एवम् अस्माभि न उच्यते प्राथमिक यद् ज्ञान तद् घटत्वविशिष्ट घटविषयक भवति तस्य 'निर्विकल्पकम्' इति नाम तस्मिन् घटत्वे अनुवृत्तत्वाशो न अवगतइति कृत्वा द्वितीयज्ञानस्य 'सविकल्पकम्' इति नाम तावदेव मया उक्तम् सर्व ज्ञान संस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवम् इति

यज्ञेश्वर शास्त्री तत्र 'संस्कारासहकृत ' इति भवद्भि न उक्तम् प्रथमम् निर्विकल्पक भवति अनन्तर तत् संस्कारसहकृत चेत् तत्र

के ई देवनाथन् आचार्या । पश्यन्तु संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञान निर्विकल्पकम् "अय गौ" इति ज्ञान निर्विकल्पकम् इति उत्तरत्र

मया लिखितमेव वर्तते

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ज्ञानमे सस्कार नही होगा द्वितीय पिण्डके ग्रहणमे सस्कारका समावेश होता है

के ई देवनाथन् : सस्कारका कारणत्व है सस्कारका समावेश विषयरूपेण नही है, कारणत्व है

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ग्रहणमे कारक तत्त्व क्या है और द्वितीय पिण्डके ग्रहणमे कारक तत्त्व क्या है? क्या भेद है?

के ई देवनाथन् : प्रथम इन्द्रिय सन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो "अय गौ" इत्याकारक है

सिद्धेश्वर भट्ट : "अय गौ" इसमे सस्कार तो आ गया

के ई देवनाथन् : सस्कार नही आता है अय पुरोवर्तिपदार्थमे गोत्वका ग्रहण इसका विवरण करता हू आप ऐसा मान सकते है कि The first indeterminate knowldege emerges there individual along with the quality is comprihe nded So there the Samskara has no role to play There was no Samskara at all One more thing also Bhasyakara has said "एकजातीयपिण्डेषु प्रथमपिण्डग्रहण निर्विकल्पकम्" But afterwards Vedanta desika adds that II II Upalaksna Because, person who does not carry the Samsakara even after persceiving cow At the first instance he has seen one cow If Samskara is not there or active then the second perception of the same object or the Sajatiya object is also considered as Nirvikalpaka

यज्ञेश्वर शास्त्री - आपने प्रत्यक्षका जो लक्षण दिया वह केवल निर्विकल्पकको ही एप्लिकेबलहोता है? क्योकि उसमे स्मृति

के ई देवनाथन् : उसमें स्मृतित्व नहीं है हम ऐसा कहते है कि

"सस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्य ज्ञान निर्विकल्पकम्" और "सस्कारसा-
पेक्षेन्द्रियजन्य ज्ञान "

डी प्रह्लादाचार्य : देवनाथाचार्या ! स्मरणस्य लक्षण किम् ? प्रत्यक्षस्य लक्षण किम् ?

के ई देवनाथन् : "सस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मरणम्" जहा इन्द्रियोका भी काम है उसको स्मरण कैसे कहेंगे ?

अच्युतानन्द दास : अत्र पृच्छामि यथा भवद्भि उच्यते तत्र निर्विकल्पक ज्ञान नैकविध भवितुम् अर्हति चिन्त्यताम् तत्र "अय गौ" इति एक ज्ञान वर्तते निर्विकल्पकम् "अय वशिष्ठस्य गौ" इति अन्यदपि निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम् अर्हति "अय वशिष्ठस्य कामप्रसु गौ" इत्यपि निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम् अर्हति वा "अय वशिष्ठस्य कामप्रसु सुरभि गौ" इत्यपि निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम् अर्हति वा ? तर्हि सविकल्पका कुत्र स्थास्यति ?

के ई देवनाथन् : समीचीनम् "अयमपि गौ" अत्र 'अपि' शब्द

अच्युतानन्द दास : 'अपि' नास्ति अन्यस्य अन्यस्य

के ई देवनाथन् : भवता प्रश्नस्तु युक्त समाधान वच्मि प्रश्न स्प्रष्टयामि मम पत्रे लिखितम् अस्ति "अयमपि गौ" इति तु सविकल्पकम् इति परन्तु एव प्रश्नो भवति "अय वशिष्ठस्य गौ" तत्र किं भवति, वशिष्ठस्य गौ इति प्रथमत अय प्रश्न क्रियते प्रत्यक्ष वा शाब्दबोधो वा ? "अय वशिष्ठस्य गौ" इति वशिष्ठस्य पार्श्वे वर्तमानाया गवि यदि "अय वशिष्ठस्य गौ" इति प्रतीति भवति सा प्रतीति सविकल्पकम् कथम् ? इति चेत्, प्रथमतो गाम् अदृष्टवत पुरुषस्य "इय वशिष्ठस्य गौ" इति प्रतीति न भवति तत्र 'अपि' शब्दोल्लेखस्तु उपलक्षणार्थ गो ग्रहणानन्तर द्वितीयवार तृतीयवार सस्कारसापेक्षत्व यदि भवति तदानीं सविकल्पकमेव

अच्युतानन्द दास . अह किं पृच्छामि, पञ्चजना इति चिन्त्यताम् एक

सामान्यबालो वर्तते स "अय गो" इति जानाति तस्य प्रत्यक्ष निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जातम् अपर कश्चन बाल ततोऽपि ज्येष्ठो वर्तते स आश्रमम प्रति आगच्छति, तत्र गा पश्यति "अय वशिष्ठस्य गो" इति ज्ञानम्

के ई देवनाथन् : तस्यतु सविकल्पकम्

अच्युतानन्द दास : सो वशिष्ठस्य आश्रममात्र जानाति विशिष्ठस्य गा पश्यति चेत्

के ई देवनाथन् : तत्रतु महान् क्लेश कोऽपि नास्ति य पूर्व गा जानाति, पूर्व वशिष्ठाश्रमे दृष्टवान्, इदानीं गोमात्रम् अत्र तिष्ठति तदानीम् "इय वशिष्ठस्य गौ" इति वदति चेत् तस्यतु सविकल्पकमेव, सस्कारसाहित्यात् यो गामेव न जानाति, वशिष्ठस्य आश्रमएव न गतवान्, वशिष्ठ जानाति सो वदति "वशिष्ठस्य गौ" इति वदति चेत् स प्रष्टव्य "अय वशिष्ठस्य गौ इति भवता कथ ज्ञातम्?" केनचिद् उक्त चेत् शाब्दबोध अन्यथातु

बी के दलाई ममतु एव भाति, भारतीयदर्शने निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य भिन्नानि लक्षणानि सन्ति "अय गौ" इति ज्ञान प्रायश सविकल्पकम् इति मन्यते जैनदर्शने, इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति तदा "इद किञ्चित्" इति ज्ञान भवति इद पुस्तक वा गौ वा इत्यादिरूप ज्ञान न भवति तस्मिन् काले तस्य ज्ञानस्य नाम तै 'निर्विकल्पकम्' तै न उच्यते परन्तु 'अवग्रह' इति उच्यते अवग्रहस्य भागद्वय १ व्यञ्जनावग्रह २ अर्थावग्रह इति 'व्यञ्जनावग्रहो' नाम इद किञ्चिद् इति ज्ञानम् वस्तु किमपि भवतु, पुस्तक भवतु, गृह भवतु वा अन्ततोगत्वा तस्य जिज्ञासा भवति "किम् इदम्?" तदा तस्य ज्ञान भवति "इद पुस्तकम्" "इय गौ" तदा तस्य नाम 'अर्थावग्रह' भवति अर्थावग्रह सविकल्पकम् उच्यते अनन्तरकाले जैनन्याये प्रत्यक्षे अर्थावग्रहस्यैव भानम् प्रत्यक्षे निर्विकल्पकस्य अन्तर्भाव

कदापि न भवति अनन्तरम् सिद्धसेनदिवाकर, अकलङ्कप्रभृति जैननैयायिकै व्यञ्जनावग्रहो विस्मृत तेषा कृते आद्यप्रत्यक्ष सविकल्पक, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नास्ति तत्तु अर्थावग्रहएव भवति

के ई देवनाथन् : समीचीनम् जैनन्याये प्रक्रियाभेदेन जैनप्रक्रियातु समीचीना स्यात्, तद्रीत्या दृश्यमाने तत्र अस्माक प्रक्रिया एव उपात्ता वर्तते

वी के दलाई : ममाभिप्राय एवम् अस्ति यदा "इय गौ" अथवा "अय बाल" इति ज्ञान भवति तस्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न वक्तु शक्यते

के ई देवनाथन् : मया मध्यएव उक्तम् "अय गौ" इति ज्ञान निर्विकल्पकम् इति कथने कश्चित् क्लेशो भवत्येव परन्तु यथा वैयाकरणै निर्विकल्पकमेव न स्वीकृत "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके " तद्वत् निर्विकल्पकमेव न स्वीक्रियता किमर्थ निर्विकल्पक स्वीकृत्य एतादृश परिष्कार क्रियते इति समीचीनमेव परन्तु निर्विकल्पकम् इति व्यवहारो अस्ति चेद् भाष्यकारै एव निरूपण कृतम् अस्ति सिद्धिकारैरपि व्यवहारकाले निर्विकल्पक न स्वीकृतम् इति तु मया कस्मिंश्चित् पत्रे पठितम् अतो निर्विकल्पकास्वीकारस्तु भवत्येव वेदान्तिनाम् परन्तु

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न भवतु अखण्डाकार ज्ञान निर्विकल्पकमेव अन्ते

के ई देवनाथन् . शास्त्रिपादा ! 'व्यवहारे' मया उक्तम् इति योजन कृतम् अस्ति निर्विकल्पकसमाधि न स्वीक्रियते चेत् अद्वैतमेव नास्ति

डी प्रह्लादाचार्य : तत्र व्यावहारिको दृष्टान्तो दीयते "सोऽय देवदत्त" इत्यादिवाक्यजन्य ज्ञानम्

के ई देवनाथन् : आचार्या ! सिद्धिग्रन्थे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिराकरणप्रकरणे व्यवहारकाले निर्विकल्पक न स्वीक्रियते

कृष्णमूर्ति शास्त्री : "निर्विकल्पकस्य व्यवहारानर्हत्वाद्" इति

के ई देवनाथन् : एवम् समापयामि एतै पृष्ट, "अय गौ" इति कथ निर्विकल्पकम् इति वक्तु शक्यते ? तत्र भाष्यकारै निर्विकल्पकम् इति व्यवहार समर्थित

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भवन्तो न स्वीकुर्वते मानसप्रत्यक्षम् तर्हि सुख-दु खादीना साक्षात्कारो विषयित्वेन विषयत्वेन वा यदि विषयित्वेन भवति तर्हि "सुखम् अहम्" "दु खम् अहम्" इति अनुभूति जायेत, न जायते "सुखी अहम्" दु खी अहम्" इत्यनुभूति जायते तर्हि कथम् उपपद्यते ?

के ई देवनाथन् · अस्माक सिद्धान्ते ज्ञान द्रव्यम् ज्ञान नाम बुद्धितत्त्वम् इति साख्यै स्वीक्रियते तत्स्थानीयम् एकम् द्रव्यम् तदेव अस्माभि ज्ञानम् इति स्वीक्रियते यदा बुद्धितत्त्वस्य परिणाम स्वीक्रियते तद्वत् अस्माक सिद्धान्ते सकोचविकासो स्वीक्रियेते

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रूयताम् आत्मन स्वप्रकाशत्वात् तद्धर्माणा सुख-दु खादीनामपि स्वप्रकाशकत्वात्, कथ सगच्छते ?

के ई देवनाथन् · ज्ञानस्य प्रसरविशेषो वर्तते तत्रैव प्रसरविशेष कदाचित् 'सुखम्'इति उच्यते कदाचित् 'दु खम्' इति उच्यते अत्र ज्ञानस्यैव अवस्थाविशेष 'सुखा'दिशब्दभाग्, नाम, ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्न मृदएव घटावस्थाविशेषापन्ना 'घट'शब्दव्यवहार्या यथा भवति तद्वत् ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्न सुखम्-दु खम् इति भण्यते सिद्धान्ते इदानीं भवद्भि पृच्छ्यते "अह सुखम् ' "अह सुखम्" इति न भवति 'अहम्' इति अन्यद् ज्ञानम् ज्ञानस्वरूप आत्मा तस्मिन् आत्मनि इद द्रव्यस्वरूपम् इति मया उक्तम् किल ज्ञानम्, सुखत्वावस्थापन्न ज्ञानम् तत्र अवतिष्ठते अत "सुखी अहम्" इत्येव प्रतीति भवति 'अह' नाम स्वप्रकाश आत्मस्वरूप, तस्मिन् सुखावस्थापन्न ज्ञान वर्तते इति कृत्वा "अह सुखी" इति उच्यते

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : यदि आत्मनो भिन्नं सुख-दुःखादिकं ...

प्रद्योतकुमार : ....

के.ई.देवनाथन् : अधिष्ठानं भवति यद् आत्मस्वरूपं तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत् निर्विकारं चेतनस्वरूपम्. तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत्र वर्तमानस्य ज्ञानस्य ... सांख्यमतसम्मतं बुद्धितत्वं स्वीक्रियतां. तदेव समीचीनं उदाहरणम् अस्य सिद्धान्तस्य भवति. परन्तु अयं भेदः, सांख्यमतसिद्धं बुद्धितत्वं बहिः प्रसृत्य घटाद्याकारेण परिणमते. अयञ्च परिणामो ज्ञानम् इति उच्यते तन्मते. अत्र सिद्धान्ते तावत् परिणामो न स्वीक्रियते. इन्द्रियज्ञानस्य आत्मनो धर्मस्य इन्द्रियद्वारा निर्गमनं भवति. निर्गत्य घटादिना वस्तुनः संयोगसम्बन्धो भवति ज्ञानस्य विषयस्य च विषय-विषयीभावो नाम संयोगो अस्माकं सिद्धान्ते.

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानं द्रव्यञ्च

एस्.वी.बोकिल : I would like to draw attention deep analysis of perception as presented in Indian philosophy and western philosophy And this is of great importance All most all Indian systems accept Manas as Indriya in addition to five sense-organs Naturally one would like to ask question where is the need for accepting Manas as Indriya? In western tradition you will find that they have accepted five sense organs But they have not felt the need of Manas to bring about what you call Indriya sannikarsa They have accepted Mind You can not reject mind Because after all perception needs observer and its subject . and they use the expression mind in that sense And if you see new scientific research, there is no

physiological basis for accepting mind as additional Indriya unless you identify it with brain we perceive external world Now we want to explain this Western philosophers have taken the view that we should not multiply many metaphysical entities We should manage with few entities So if we can explain perception by not accepting I don t say that you don't accept mind

के ई देवनाथन् . भवता प्रश्न एवम् अस्ति, किमर्थं मन अगीक्रियते "एकादश मन च अत्र" इति मनस श्रुतिसिद्धत्वम् अस्ति तत्र "पञ्चवृत्ति मनो व्यपदिश्यते" इति सूत्रभाष्ये एवम् उक्तम् अस्ति सुख-काम-सकल्प इत्यादय ये ज्ञानस्य विकारा भवन्ति ते मनोवृत्तय इति स्वीक्रियन्ते अत्र 'मनोवृत्तय' नाम मनस परिणाम इति न अर्थ मनसहकृतेन ज्ञानेन एते विकारा प्रा इति अर्थ ज्ञानस्य सुखाद्यात्मना कामाद्यात्मना यो विकार तस्मिन् विकारे जननीये मनस सहकारित्व स्वीक्रियते तदर्थमेव इन्द्रियत्व तस्य स्वीक्रियते न केवल तत्र चक्षुषि अय प्रश्न कर्तुं शक्यते यदि बुद्धितत्त्वमेव बहि निर्गत्य घटेन सयुनक्ति तर्हि चक्षुष किं कार्यम्? इति चेत्, ज्ञानस्य निर्गमने तेन साकम् चक्षुरेन्द्रियस्य मिश्रण भवति तदानीमेव चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति उच्यते तद्वत् धर्मभूतज्ञानस्य य परिणाम भवति अवस्थाविशेष सुखदु खाद्यात्मना परिणाम भवति तत्र तावत् मनस सम्बन्धो यदि भवति तदानीमेव तस्य ग्रहण भवति इति अर्थ तदभिप्रायेण मनस इन्द्रियत्व स्वीक्रियते परन्तु 'मानसप्रत्यक्षम्' इति शब्द तावत् वृद्धै प्राचीनविशिष्टाद्वैतिभि न स्वीक्रियते तावदेव मनसस्तु कार्यमेव नास्ति इति नास्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनका स्वीकार इसलिये है क्योंकि जो धर्मभूत

ज्ञान द्रव्यरूप है, उसका सुख-दुःखादिरूपेण अवस्थाविशेष उत्पन्न होती है उसमें मन सहायक बनता है. इसलिये मनकी आवश्यकता है. मनका अलग विषय नहीं है, आत्मप्रत्यक्ष है.

डॉ.प्रह्लादाचार्य : मयातु इदं सूचनीयं भवति, यथा शास्त्रिचरणैः उक्तं, भेदो यदा प्रत्यक्षीक्रियते तदानीम् अन्योन्याश्रयादिदोषाः भवन्ति इति. तत्तु घटादिपदार्थानां प्रत्यक्षकाले अनुपपत्तिं प्रदर्शयितुं न उक्तम् इति अहं चिन्तयामि. किन्तु अद्वैतसिद्धान्ते भेदः खण्ड्यते भेदो यदि कश्चन पदार्थः स्वीक्रियते तस्य ज्ञानं कथं भवति इति वक्तुमेव न शक्यते. श्रीहर्षेण ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : "भिन्ने अभिन्ने भेदः किं भिन्ने उत अभिन्ने"

डॉ.प्रह्लादाचार्य : एवम्. तत्र भेदः सप्रतियोगिकः इत्येवं रीत्या ... एवञ्च भेदखण्डनम् अन्यत्. भेदाः न परमार्थभूताः इति अत्र 'भेदाः' न पदार्थाः इति किन्तु वस्तूनां ये भेदाः भवन्ति, द्वैतिभिः विशिष्टाद्वैतिभिः अन्यैश्च द्वैतिभिः अंगीक्रियन्ते ते भेदाः वस्तुतो न सन्ति इति साधनार्थम् अयं प्रयत्नो नतु पदार्थानां ग्रहणे काचन अनुपपत्तिः अस्ति वक्तुम् अयं प्रयत्नः.

के.ई.देवनाथन् : वदामि. विवरणादेव अस्माकं भाष्यकारैः सर्वम् अनूद्यते. भाष्ये " 'घटो अस्ति' इत्यत्र अस्तित्वं तद्भेदः च व्यवह्रियते" इत्यस्य सर्वस्यापि भाष्यस्य मूलं विवरणे दृश्यम्. 'महापूर्वपक्षः' इति ग्रन्थे वर्तमानाः सर्वेऽपि अंशाः विवरणानुसारेणैव अस्माभिः लिख्यन्ते. *यतो अहन्तु विवरणम् अस्मिन् विषये न दृष्टवान्* परन्तु अत्रतु निश्चितप्रकारेण वक्तुं शक्नोमि, अयं ग्रन्थो विवरणादेव उपात्तः.

डॉ.प्रह्लादाचार्य : परन्तु 'भेद'शब्दः विशेषपर्यायोऽपि बहुधा प्रयुज्यते.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् उच्यताम् अनन्तरं सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदः.

के ई देवनाथन् . 'साक्षात्कारित्व' प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् साक्षात्कारित्वञ्च जाति यदि जाति न भवति तर्हि "ज्ञायमानकारणकत्वाभावे सति स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्" इति प्रत्यक्ष

डी प्रह्लादाचार्य : विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते वहवो अपूर्वा विपया प्रतिपादिता यद्यपि निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्ष ते द्विविधम् अगीक्रियते अथापि अन्यदर्शनरीत्या तन्निर्विकल्पकस्यापि सविकल्पकत्वमेव निर्विकल्पकत्व हि पारिभापिक ते अगीकृत वर्तते यद्यपि सविकल्पक प्रत्यक्ष सस्कारजन्य भवति, सस्कारमात्रजन्यन्तु न भवति अय विशेष सस्कारजन्यस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य स्मरणवत् सस्कारमात्रजन्यत्व नास्ति इति हेतो स्मृतिभिन्नत्व वक्तु शक्यते इति तेषा सिद्धान्त तेषा मतेतु सुख-दु खादीनामपि ज्ञानस्वरूपत्वम् अगीक्रियते यथा आत्मगुणा सुख-दु खादय स्वीक्रियन्ते न्यायसिद्धान्ते तथा नास्ति किन्तु सुखमपि ज्ञान, दु खमपि ज्ञानम् मनसश्चापि इन्द्रियत्वम् अगीकृत्य यथा इतरेषा चक्षुरादीनाम् इन्द्रियाणा ज्ञानजनने तेषा किमपि सामर्थ्यं भवति तादृश सामर्थ्यन्तु न अगीक्रियते परन्तु सुखात्मकस्य दु खात्मकस्य वा ज्ञानस्य जनने मनस सहकारो वर्तते अतएव मनस इन्द्रियत्व स्वीक्रियते यद्यपि मनस इतरेषाम् इन्द्रियाणा यथा ज्ञानजनकत्व तथा नास्ति अथापि इन्द्रियत्व श्रुतिबलात् प्रमाणबलात् स्वीक्रियते तथापि सर्वथा ज्ञानजनकत्व नास्ति इति न ज्ञानजनने सहकारप्रदत्वेन तस्य कथञ्चित् इन्द्रियत्वम् चक्षुरादीनामपि तथैव तत्र वैलक्षण्य नास्ति तन्मते ज्ञानम् अन्त करणवत् यथा साख्यानाम् अद्वैतिना च अन्त करण भवति, अन्त करण बहि निर्गत्य विषय सस्पृश्य विषयाकार लभते तथा एतन्मते अन्त करणस्य विषयेन सह सयोगो भवति देहान्तर्गत ज्ञान द्रव्य ज्ञानस्य च सकोच विकास च भवति तन्मतरीत्या ज्ञानस्य यदा विकासो भवति तदानीं

के.ई.देवनाथन् : यदि इन्द्रियसंस्पृष्टं ... ज्ञानं वहिः गच्छति तेन इन्द्रियेण चाक्षुषं ज्ञानं जातम् इति व्यवहारः. एवमेव मनसोऽपि तथैव. ज्ञानस्य प्रसरकाले यदि मनसः सम्बन्धो भवति तदानीं सुख-दुःखादिकम् उच्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : मनः इन्द्रियद्वारेण गच्छति?

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानमेव गच्छति. मनो वहिर् न गच्छति. तज्ज्ञाने मनः संयुक्तं भवति. धर्मिभूतं ज्ञानं धर्मभूतं ज्ञानम् इति ज्ञानद्वयं स्वीकृतम् अस्ति. धर्मिभूतं ज्ञानं हि चैतन्यात्मकं भवति. अनया रीत्या बहवो अपूर्वाः विषयाः विशिष्टाद्वैतमतरीत्या विवृताः वर्तन्ते. मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानत उद्देश्य अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये.

.......+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

सुहृत्तमै विद्वद्वर्यै तत्र भवद्भि श्रीदेवनाथन् महोदयै विशिष्टाद्वैतवादसरण्या प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूप संक्षिप्तमपि अतीव सुष्ठुतया उपपादितम्. एतेन प्रत्यक्षविचारगोष्ठ्यां सर्वे सहभागिनो नून विदितवेदितव्या सम्पादिता तस्माद् यद् तावत् सत्राध्यक्षमहाभागै स्पृहणीयवैदुष्यै श्रीप्रह्लादाचार्यैभि उक्त "मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानत उद्देश्यो अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं

समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्य च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये" इति तत् सर्वथा अवितथमेव. तथापि विशिष्टाद्वैतमतमतश्रवणेन सञ्जातकुतुहलानां तत्र उपस्थितानां विदुषां बहुविधाया जिज्ञासाया समाधानएव विचारसत्रोपसहारो जात अहमपि तत्तत्प्रश्नोत्तरयो श्रवणाय समुत्सुकएव नाशकं किमपि प्रष्टुं, विशेषतो यत् श्रीदेवनाथन् महोदयै वाल्लभमतविषये विधानं कृतं तद्विषयम् अधिकृत्य. इदानीं लब्धावसरो अहम् इह यत् मनसि किमपि तदानीं प्रत्युत्थित मुखतो प्राद्रवत् तत् मल्लेखिन्या बध्नामि :

तथाहि श्रीदेवनाथन् महोदयै "श्रोत्रस्य आहकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वाद् दृष्टान्तोऽपि न युक्त" इति यद् उक्त तत्र " 'दिश श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इति श्रुते दिक्श्रोत्रयोः ऐक्यम् इति अर्थ" (श्रीरंगरामानुजीया बृहदारण्यप्रकाशिका : ४।१।५) इति श्रीरंगरामानुजै आहकारिकस्यैव श्रोत्रस्य दिग्भि ऐक्यन्तु अंगीकृतमेव. तस्मात् समानन्यायेन आकाशरूपत्वेऽपि न हानि काचित् कल्पनीया. किञ्च दिश स्वरूप किम्? इति जिज्ञासायां श्रुतिरेव किल आह "श्रोत्रमेव आयतनम् आकाश. प्रतिष्ठा अनन्त.... का अनन्तता? दिशएव... यां कां च दिशं गच्छति नैव अस्य अन्तं गच्छति. अनन्ता दिशो, दिशो वै श्रोत्रम्" (बृह उप.४।१।५) इति आकाशस्य आनन्त्यमेव दिश चेद्, दिक्प्रवेश खलु आकाशप्रवेशएव. तस्माद् "दिशो वै श्रोत्रम्" इति उक्त्या "आकाशो वै श्रोत्रम्" इत्यपि अर्थलभ्यमेव आयाति. तत श्रोत्रस्य आकाशरूपताया न बहुविवाद प्रवर्तनीय. किञ्च अधोनिर्दिष्टश्रुतिभागवतवचनैरपि श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वे न काचित् महती हानि लक्ष्यते :

१."आकाशेन आह्वयति आकाशेन शृणोति" (छान्दो.उप.७।१२।१)

२."कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्या श्रोत्रं श्रोत्राद् दिश" (ऐत.उप.१।४)

३."श्रोत्रमेव अस्या. एकम् अंगम् अदूळ्ह तस्य शब्द परस्तात् विहिता भूतमात्रा" (कौषी.उप.३।५).

४ "प्राणस्य हि क्रियाशक्ति बुद्धे विज्ञानशक्तिता. तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात् शब्दमात्रम् अभूत्, तस्माद् नभ, श्रोत्रन्तु शब्दगम्, अर्थाश्रयत्व शब्दस्य, द्रष्टु लिंगत्वमेव च तन्मात्रत्व नभसो लक्षण कवयो विदु" (भाग पुरा ३।२६।३१-३३)

एतेन शब्दानाम् आयतन श्रोत्रमेव चेत् तदा किम् अन्तर्गडुना आकाशस्य प्रतिष्ठात्वप्रतिपादनेन? ततश्च सिद्ध श्रोत्रस्य आयतनत्व नाम शब्दोपलब्धिस्थानत्व, तथैव आकाशस्य प्रतिष्ठात्व नाम ग्राह्यग्राहकभावापन्ने शब्दश्रोत्रे यत्र प्रतिष्ठत इति एव हि उभयोरपि आकाशएव प्रतिष्ठितत्वेन यत् श्रोत्रेण शृणोति तद् आकारेनैव शृणोति इति अभेदनिरूपणमपि सगत भवेद् तस्मात् आहकारिकस्यैव श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वमपि वैदिकमेवेति श्रीपुरुषोत्तमप्रदत्तो दृष्टान्तोऽपि न अयुक्त

यत् पुन "ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत" इति उक्त तत्रापि एव प्रतिभाति यत् "श्रोत्र शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति" (कौषी उप ३।२) इति श्रुतौ प्रकरणानुरोधेन प्रज्ञाप्राणयो अन्योन्याश्रिततया अभेदविवक्षया प्रज्ञायाएव अनुश्रोतृत्व, तेन श्रोतृत्वन्तु श्रोत्रस्यापि सिध्यत्येव न जातु कर्तु करणापेक्षाया कर्तृतापलापो आपादयितु उचित तस्माद् विज्ञातु विज्ञान बाह्याभ्यन्तरे विज्ञानकरणे सम्पद्यमान न विज्ञातु विज्ञानविपरिलोपाय मन्तव्य किमुत तद्दार्ढ्यायैव सिद्ध तेन विज्ञातु आत्मविज्ञानस्यैव न कदाचिदपि विपरिलोपो नच एतावता रूपरसगन्धस्पर्शशब्द-तदाश्रयरूपभौतिकवस्तु-विज्ञानानामपि अविपरिलोपो मन्तु युक्तो निद्रापस्मारादिभि दैहिकहेतुभि, शिरसि दण्डाद्याघातरूपै च बाह्यहेतुभिरपि रूपादिविज्ञानविलोपाना दृष्टचरत्वादेव प्राणाना हि क्रियाकरणरूपाणा क्रियाशक्तिमत्त्वे विज्ञानकरणरूपाया बुद्धेरपि वा विज्ञानशक्तिमत्त्वे विज्ञानमूलस्य जीवात्मनो विज्ञातृत्वहाने शका अयुक्तैव, भागवतवचनमूलकत्वादेव यदपि मनस इन्द्रियत्वानिन्द्रियत्वरूपोभयविधत्वे हि भावाभावरूपतया न देवत्वपितृत्वतुल्ये इति उक्त तत्रापि "अन्यत्रमना अभूव न नादर्शं नाश्रौपम्" (बृह उप, १।५।३) इति श्रुत्या मनस बाह्यसर्वेन्द्रियनियामकत्वेन अनिन्द्रियत्व अन्त करणरूपतया

च इन्द्रियत्वमपि इति हेतुकम्. एव हि "इन्द्रियाणां मनः च अस्मि", "इन्द्रियेभ्यः परं मन." (भग.गीता.३।४२,१०।२२) इत्याद्युभयविधनिरूपणानुरोध्येव तथास्वीकरणम् इति प्रतिभाति

यत् पुन प्राणरसनश्रवणादीना द्रव्याग्राहकत्वोपपत्तितया पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभूत्यापादनं तत्तु जायमान सर्व प्रथमं ज्ञानं निर्विकल्पकम् अथ द्वितीयादि तु सविकल्पकमेव इति वदतां वादिनां कृते सर्वस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य अनुमित्यन्तर्भावाय किं न प्रभवेत्? सर्वा हि धर्मप्रतीतयो धर्मिप्रतीतिहेतुका इति अदण्डवारितया व्याप्तिनिश्चयसंस्कारसहितया घटत्वप्रतीत्या स्फीतालोकेऽपि घटप्रत्यक्षस्य घटानुमितित्वप्रसक्ति.

सर्वथा हि तत्र सौजन्य-सारल्य-सौहृद-वैदुष्याद्यनेकगुणोपेतै श्रीदेवनाथन् महोदयै प्रत्यक्षप्रमाणविचारगोष्ठ्यां वाल्लभवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षप्रक्रियालोचनं यत् समुपस्थापित तदर्थं ते भूयोभूयो धन्यवादार्हा न तत्र शकालेशोऽपि इति विरमति अय सगोष्ठ्युत्तरलेखनस्य कर्ता.



द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो डी प्रह्लादाचार

द्वैतदर्शनरीत्या प्रत्यक्षप्रमाणविषये वक्तुम् अहम् आदिष्टो अस्मि इतरदर्शनेषु समाना ये अशा तान् अशान् विहाय द्वैतदर्शने ये विशेषाशा भवन्ति तानेव प्रस्तोतुम् इच्छामि

द्वैतदर्शने प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते "यथार्थं प्रमाणम्" इति एतस्मिन् मते प्रमाण द्विविध १ केवलप्रमाणम् २ अनुप्रमाण च इति

'केवलप्रमाण' नाम यथार्थं ज्ञानम् ज्ञान भवति केवलप्रमाणम् यदि ज्ञान यथार्थं स्यात् तथाच इन्द्रियजन्य ज्ञान वा भवतु, शब्दजन्य ज्ञान वा भवतु, अनुमानजन्य वा ज्ञान भवतु तत् सर्वं केवलप्रमाण भवति अपिच इन्द्रियम् अथवा अनुमान, शब्द एतान्यपि प्रमाणत्वेन अगीक्रियन्ते तथाच केवलप्रमाणम् अनुप्रमाण च इति प्रमाण द्विविधम् यथार्थज्ञान केवलप्रमाण, यथार्थज्ञानसाधनम् अनुप्रमाणम् यथार्थज्ञानसाधनञ्च त्रिविध भवति १ प्रत्यक्षम् २ अनुमान ३ शब्द च इति

केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च अनुगत लक्षण भवति प्रमाणत्वम् उभयमपि प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते अतएव "यथार्थं प्रमाणम्" इति प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते यथार्थत्व प्रमाणसामान्यलक्षणम् 'यथार्थत्व' नाम यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वम् वस्तु

वी एन् झा

डी प्रह्लादाचार : अनुप्रमाणेष्वपि

वी एन् झा - ज्ञानमेव?

डी प्रह्लादाचार : नहि ज्ञान वा भवतु इन्द्रियादिक ज्ञानसाधन वा भवतु तद् उभयमपि यथार्थ, यथावस्थितज्ञेयविषयीकारि इति अर्थो यथा अवतिष्ठते तथा विषयीकरोति चेत् यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् आयाति इदञ्च ज्ञानस्यापि भवति, इन्द्रियादीनामपि ज्ञानसाधनाना भवति परन्तु अत्र इद वैलक्षण्यम् अस्ति, ज्ञान साक्षाद्वस्तुविषयीकारि, ज्ञानसाधनानितु ज्ञानद्वारा वस्तुविषयीकारीणि भवन्ति परन्तु, यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्व, यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् उभयसाधारण भवति, केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च साधारण भवति इति अगीक्रियते तत्र अनुप्रमाण त्रिविधम् इति उक्तम् १ प्रत्यक्षम्, २ अनुमान, ३ शब्द च इति

प्रत्यक्षस्य लक्षणम् उक्त "निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्ष प्रत्यक्षम्" इति 'प्रत्यक्ष'शब्द कदाचिद् ज्ञाने प्रयुज्यते, ज्ञानसाधनेऽपि कदाचित् प्रयुज्यते यदा ज्ञान प्रत्यक्षम् इति उच्यते तर्हि निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम् इति भवति यदाच ज्ञानसाधन प्रत्यक्षम् इति उच्यते तदा निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्ष प्रत्यक्षम् इति उच्यते

'निर्दोषत्वम्' उभयो विशेषणम्, इन्द्रियस्य अर्थस्य च निर्दोषेन्द्रियस्य निर्दोषेण अर्थेन सह य सन्निकर्ष स प्रत्यक्षम् काचकामलादय दोषा इन्द्रियदोषा भवन्ति अतिदूरस्थत्वम् अतिसामीप्य, सौक्ष्म्य, व्यवधानम् इत्यादय अर्थदोषा भवन्ति एवञ्च दोषरहितेन्द्रियेण दोषरहितस्य अर्थस्य य सन्निकर्ष भवति स प्रत्यक्षम् इति अगीक्रियते

मनसः इन्द्रियत्वम् ।

तत्र कैश्चित् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि स्वीकृतानि बाह्येन्द्रियाणि पञ्च अन्तरिन्द्रियम् एक मन इति षडिन्द्रियाणि इति केषाञ्चित् मते भवति

अद्वैतसिद्धान्तेतु मनस इन्द्रियत्व न स्वीकृतम् पञ्चैव ज्ञानेन्द्रियाणि

स्वीकृतानि वर्तन्ते किन्तु द्वैतदर्शने न पञ्चैव इन्द्रियाणि नापि षडेव किन्तु सप्त इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते अयम् अत्र विशेष

तत्र इन्द्रिय द्विविध भवति १. प्रमातृस्वरूप २ प्राकृतञ्च इति प्रमाता भवति चेतन तत्स्वरूपम् इन्द्रियम् तदात्मकम् इन्द्रिय 'साक्षी' इति उच्यते इतराणि षडिन्द्रियाणि सर्वाण्यपि प्राकृतानि भवन्ति पञ्च बाह्येन्द्रियाणि, अन्त करणम् एकम् एव षडपि इन्द्रियाणि प्रकृतिपरिणामभूतानि भवन्ति प्रकृते परिणामो महत्-तत्त्व, महतो अहकार, अहकारस्य परिणामभूतानि एतानि इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते

अत्र मनस इन्द्रियत्व ये न अगीकुर्वन्ति तत्र विरोध क्रियते प्रस्थानरत्नाकरेऽपि अयम् अश चर्चितो वर्तते मनसस्तु "बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रियविषयविषयकेन्द्रियत्वम्" बाह्येन्द्रियाणा ये विषया भवन्ति ते सर्वेऽपि मनसोऽपि विषया परन्तु न साक्षात्, बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन — बाह्येन्द्रियद्वारा एवञ्च बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकेन्द्रियत्व मनस लक्षणम् अगीक्रियते तत्र "सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वम्" इत्येव यदि लक्षणम् उच्यते तर्हि मनस साक्षाद् बाह्या पदार्था विषया न भवन्ति अत सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्व मनसो नास्ति इति असम्भवशका स्यात् तत्परिहाराय इदम् उच्यते "बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन" इति बाह्येन्द्रियद्वारा, बाह्येन्द्रियाणि अधिष्ठाय मनो बाह्यानपि अर्थान् विषयीकरोति

तत्र आक्षेप प्रधानतया क्रियते मनस इन्द्रियत्वे तस्य असाधारण फल किमपि स्यात् असाधारण फल मनोजन्य किमपि नास्ति विषयभेदोऽपि नास्ति यतोहि मनस इतरेषाम् इन्द्रियाणा ये विषया तएव मनस विषया इतरै इन्द्रियै यत् फलम् उत्पद्यते तदेव फल भवति मनस फलम् एवञ्च असाधारणो विषयोऽपि नास्ति, असाधारण फलमपि नास्ति तस्मात् मनस इन्द्रियत्व कथम्? इति प्रश्न सम्भवति

तत्र उच्यते, असाधारणविषयो नास्ति इति भवतु नाम असाधारणन्तु फलम् अगीक्रियते मनस स्वातन्त्र्येण स्मरणसाधनत्वम् अगीक्रियते बाह्येन्द्रियम् अद्वारीकृत्यापि मन साक्षात् स्मरणस्य साधन भवति एवञ्च अस्मिन् दर्शने स्मरण मानसप्रत्यक्षमेव इन्द्रियजन्यज्ञानत्व हि प्रत्यक्षस्य लक्षणम् मनोजन्य ज्ञान भवति स्मरणम् तस्मात् कारणात् स्मरणरूप यत् फल वर्तते तद् न कस्यापि इतरस्य इन्द्रियस्य मनसएव तत् फल भवति एकम् असाधारण फल किमपि वर्तते तस्मात् मन पृथगिन्द्रियम्

प्रद्योतकुमार : तस्य प्रत्यक्षत्व कथम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियत्व मनस इदानीमपि न उपपादितम्। यदि तस्य फलभेदो अस्ति तदैव तस्य इन्द्रियत्वम् इन्द्रियत्वम् अद्यापि उपपादितम् अन्योन्याश्रयो भवति

डी प्रह्लादाचार : तत्रापि विचार करोमि

मन प्रमाणमेव न भवति इति एक मतम् प्रमाण कुतो न भवति ? इति चेत्, प्रमाया अनाश्रयत्वात् पूर्वपक्षम् अनुवदन् अस्मि मनोवृत्तयो या उत्पद्यन्ते तासामपि ज्ञानत्व स्वीकृतम् वेदान्तिना मते वृत्तय चैतन्यरूप च इति ज्ञान द्विविध भवति वृत्त्यात्मकमपि ज्ञानम् अगीक्रियते ताश्च वृत्तयो मनसो विकारभूता, परिणामभूता तस्मात् तासा वृत्तीनाम् आश्रयो मनो अगीक्रियते मनो यदा प्रमाया आश्रयो भवति, प्रमाश्रयत्वात् मन प्रमाण न भवति अयम् एक पूर्वपक्ष मन प्रमाणमेव नास्ति यथा प्रमाता नहि प्रमाण भवति नैयायिकानामपि मते ईश्वर प्रमाणम् अगीक्रियते परन्तु अय जीवो य प्रमाता, प्रमाया आश्रय, स प्रमाण न अगीक्रियते तद्वदेव मनसोऽपि वृत्तिरूपप्रमाश्रयत्वात् प्रमाणत्वमेव नास्ति इति अयम् एक पूर्वपक्ष

अपिच चक्षुरादीना प्रमाणाना विषये मनस सहकारित्वम् अस्ति

प्रमाणसहकारित्वात् च तस्य प्रमाणत्व नास्ति यथा आलोकस्य चक्षुपा यदा ज्ञान जायते तदानीम् आलोक सहकारिकारण भवति तथा मनोऽपि सर्वेन्द्रियाणाम् यदि सहकारिकारणस्य प्रमाणत्व स्वीक्रियते तर्हि आलोकोऽपि प्रमाणान्तर स्यात् तस्माद् यथा आलोकस्य प्रमाणत्व नास्ति तथैव मनसोऽपि प्रमाणत्व नास्ति तथाच प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमाया आश्रयत्वात्, अपिच पृथग् विषयस्यापि अभावतो मनस इन्द्रियत्व कुत ? इत्येवम् आक्षेपा भवन्ति

अद्वैतमतेन मनस इन्द्रियत्व यद् निराकुर्वाणेन इदमपि चिन्त्यते यत् गीतावाक्ये "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन" इत्यत्र इन्द्रियेभ्य प्रत्येकश परो मन सकीर्त्यते यदि मनोऽपि इन्द्रिय स्यात् तर्हि "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन" इति कुत ? एव मनस इन्द्रियत्व नास्ति इति अत्र इदमपि एक प्रमाणम् उच्यते

तत्र सर्वत्रापि इद समाधानम् उच्यते मनस फल स्मरण वर्तते स्मरणस्य मनोजन्यत्वम् अगीक्रियते मन करणम् यथा चाक्षुपप्रत्यक्ष प्रति चक्षु करण भवति, सयोग-सन्निकर्षो वा अन्यसन्निकर्षो वा तत्र व्यापारो भवति, फलञ्च चाक्षुषप्रत्यक्ष भवति तद्वदेव मनो अत्र करण, सस्कार सन्निकर्प , स्मरणञ्च मनोजन्य ज्ञान फलम्

मनस इन्द्रियत्वे किं प्रमाणम् इति प्रच्छ्यते अन्यथा अन्योन्याश्रय स्याद् इति अत्र उच्यते मनस इन्द्रियत्वे श्रुतय स्मृतय च प्रमाण भवन्ति गीतायामेव "मन षष्ठानि इन्द्रियाणि" इति वाक्यम् अस्ति तद्वदेव "इन्द्रियाणा मनश्च अस्मि" इति विभूतियोगे मनस इन्द्रियाणा मध्ये अन्तर्भाव श्रूयते यद्यपि "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था" इत्यत्र मनस पृथक् कीर्तन वर्तते परन्तु, तेन मनस इन्द्रियेभ्य पृथक्त्व वर्तते, इन्द्रियत्व न अस्ति इति न वक्तु शक्यम् तत्र कुरु-पाण्डवन्यायेन तस्य कीर्तनम् पाण्डवानामपि कौरवत्वम् अस्त्येव अत्रापि "सन्तानबीज कुरु-पाण्डवानाम्"

इत्यादौ बहुत्र कुरुभ्य पृथक् पाण्डवाना सकीर्तन श्रूयते तथैव इन्द्रियस्य मनस इन्द्रियेभ्य पृथक् प्रस्तावो न अयुक्त

मनस इन्द्रियेभ्य पार्थक्य वदताम् अयम् अभिप्राय "वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" इति श्रूयते तत्र सजातीयगत-सख्या-पूरकत्व सजातीयस्य इति नास्ति वेदो अपोरुषेयो, महाभारतञ्च पौरुषेय भवति एवञ्च अनयो वैजात्यम् अस्ति अथापि "महाभारतपञ्चमा वेदा" इति उच्यन्ते वेदविजातीयस्यापि महाभारतस्य पञ्चत्वसख्यापूरकत्व यथा अगीक्रियते तथा "मन षष्ठानि इन्द्रियाणि" इति अत्र इन्द्रियविजातीयस्यापि मनस इन्द्रियगत-षट्त्व-सख्यापूरकत्वम् अगीकर्तुं शक्यते इति अत्र इद वक्तव्य यत् सजातीयस्य सजातीयगत-सख्यापूरकत्वमिव, विजातीयस्य विजातीयगत-सख्यापूरकत्वमपि दृश्यते इति उभय सत्यमेव परन्तु मनस इन्द्रियत्वे अनेकानि प्रमाणानि वर्तन्ते यथा "इन्द्रियाणा मनश्चास्मि" इति गीतावाक्यम् अत्र मनस इन्द्रियत्व स्पष्ट प्रतिपादितम् अस्ति अपिच भागवते "इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचरा" अस्मिन् वाक्ये "इन्द्रियाणि दश एकञ्च" इति मन इन्द्रियान्तर्गतम् अस्ति अत्र उपचारो नास्ति अन्यत्र भागवते नवमस्कन्धे "यति ययाति सयाति आयति वियति कृति, षडिमे नहुषस्य आसन् इन्द्रियाणीव देहिन" (भाग पुरा ९।१८।१) इति नहुषस्य षट्पुत्रा आसन् यथा तथा षडिन्द्रियाणि देहिनो वर्तन्ते इति वर्ण्यते षडिन्द्रियाणि इति तत्र मनस इन्द्रियेषु अन्तर्भाव स्वीकृत्य कथित वर्तते एव भागवते तत्र-तत्र गीताया च मनस इन्द्रियत्वप्रतिपादन स्पष्ट वर्तते इति हेतो

विन्ध्येश्वरीप्रसाद :

डी प्रह्लादाचार : तत्रतु समाधानम् उक्तम् मनस किञ्चिद् वैशिष्ट्य वर्तते अत मनस पृथक् सकीर्तनम् इति मनसो वैशिष्ट्य किम्? इति चेत्, इन्द्रियसहकारित्वम् सर्वेन्द्रियसहकारित्व हि मनसो असाधारणो धर्म एव मनस इन्द्रियत्वे सिद्धे मनोजन्य स्मरणात्मक ज्ञान प्रत्यक्षम्

इति स्वीकार्यम्

अनेन नैयायिके —ज्ञान द्विविध १ स्मृति २ अनुभव च इति अनुभवश्च चतुर्विध १ प्रत्यक्षम् २ अनुमिति ३ उपमिति ४ शाब्द च इति यो विभाग क्रियते सो अपाक्रियते स्मृतेरपि अनुभवएव अन्तर्भावो, मानसप्रत्यक्षम् इय भवति इति हेतो तत्रच सस्कारस्य सन्निकर्षत्व स्वीक्रियते

अत्रापि कश्चन प्रश्नो भवति सस्कारस्य अय स्वभावो यत् पूर्वानुभूत विषयम् उपस्थापयतीति अननुभूतस्य विषयस्य उपस्थापक सस्कार कदापि न भवति किन्तु, स्मरणे अनुभूताएव विषया विषयीक्रियन्ते उत अननुभूताअपि ? इति

स्मरण तावत् "सो देवदत्त तत्र आसीत्" 'स' इत्यनेन अतीत-देशकालसम्बन्ध तस्मिन् पुरुषे इदानी विषयीक्रियते 'अतीतत्व' नाम ध्वसप्रतियोगित्वम् पूर्वन्तु अतीतत्व न अनुभूतम् यदा देवदत्तविषयको अनुभव पूर्व जात तस्मिन् काले अतीतत्वस्य अनुभवो नास्ति इदानीं स्मरणेतु अतीतत्वस्य विषयीकरण वर्तते अतीतत्व सस्कारेण कथम् उपस्थापयितु शक्यते ? अतीतत्व तावत् अननुभूत कथ वा स्मरणेन विषयीकर्तुं शक्यते ? रास्कारस्य तत्र कथ सामर्थ्यम् ? इति कश्चित् प्रश्नो भवति परन्तु मन करण, सस्कारो व्यापार इति यदा उच्यते तदानीं नास्ति दोष सस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्व तावत् प्रत्यभिज्ञाया दृश्यते सस्कार-सन्निकर्षाभ्या जायमान ज्ञान 'प्रत्यक्षम् उच्यते तत्र सस्कारोऽपि कारणम् तत्र अतीतत्वाशो य प्रत्यभिज्ञाया विषयीक्रियते सच अतीतत्वाश सस्कारबलात् उपस्थाप्यते ततश्च सस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्व सर्वेणापि प्रत्यभिज्ञाविषये अगीकृत वर्तते एव स्मरणस्थलेऽपि अननुभूतस्यापि अतीतत्वस्य विषयीकरण सस्कारवशाद् भवति सस्कारस्य तादृश सामर्थ्य सर्वैरपि अगीकर्तव्य भवति इति हेतो तत्र मन करण सस्कार व्यापार, स्मृतिश्च फलम् एव स्मरणम् असाधारण फल भवति मनसा तस्मात्,

मनस इन्द्रियत्व वर्तते इति हेतो स्मरण मानसप्रत्यक्षम् तस्य प्रत्यक्षभिन्नत्व कथमपि वक्तु न शक्यते इति द्वैतदर्शने प्रतिपाद्यते

एतस्मिन् दर्शने साक्षिरूपम् इन्द्रिय स्वीकृत वर्तते आत्मस्वरूपम् इन्द्रिय 'साक्षी' इति उच्यते अत्रतु अय विशेष 'साक्षी' इति शब्द इन्द्रियेऽपि प्रयुज्यते, फलेऽपि प्रयुज्यते अत्र आत्मा तावत् फलरूपोऽपि साक्षिज्ञानस्वरूपम् अस्ति तथा इन्द्रियस्वरूपमपि, उभयमपि आत्मस्वरूपमेव साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य आत्मस्वरूप विषय, आत्मधर्मा सुख-दु खादय ये भवन्ति तेऽपि विषया, एव आकाश, काल, मन, मनोवृत्तय, एते सर्वेऽपि साक्षिविषया एतस्मिन् दर्शने स्वीक्रियन्ते

गोस्वामिचरणै यदा विषयनिरूपण कृत तत्र मया श्रुत यत् सुषुप्तिकाले चित्त जाग्रत भवति अन्त करणस्य प्रभेदेषु अन्यतमद् भवति चित्तम् चित्तस्य जाग्रत्व स्वीक्रियते चित्तेन तावद् आत्मनो अनुभवो वर्तते इति किन्तु द्वैतदर्शने, अद्वैतदर्शने, विशिष्टाद्वैतदर्शने अपि मन सर्वथा सुषुप्तौ उपरत भवति मनसो जाग्रत्व सुषुप्तिकाले कथमपि नास्ति

नैयायिका वदन्ति, सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति तत्र दु खाभावो वर्तते दु खाभावस्य अनुभवोऽपि नास्ति कुत ? किमपि करण तत्र नास्ति करणानि भवन्ति षट्, बाह्येन्द्रियाणि अन्तरिन्द्रिय च सर्वाण्यपि करणानि सुषुप्तिकाले उपरतानि सन्ति एवञ्च ज्ञानसाधन किमपि नास्ति तस्मात् सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति

अद्वैतवेदान्तिनस्तु स्वापकाले आनन्दस्य अनुभवो वर्तते अयञ्च आनन्द आत्मस्वरूपभूत इति स्वीकुर्वन्ति यतोहि "एतावन्त काल सुखम् अहम् अस्वाप्सम्" इत्येवम् औत्तरकालीन परामर्शो भवति तस्मात् कारणात् सुखस्य अनुभवो अवश्य स्वीकर्तव्य सुषुप्तिकाले सुखस्य अनुभव केन वा करणेन भवति? मन तथा सर्वविध करण तदानीम् उपरत वर्तते

तदानीम् आत्मा वर्तते. आत्माच स्वप्रकाशः, आत्मस्वरूपं, साक्षिरूपं ज्ञानं आत्मस्वरूपभूतं सुखं विषयीकरोति. सुखानुभवः चैतन्यात्मकः वर्तते इति वेदान्तिनां मतम्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तत्सुखं ...

डी.प्रह्लादाचार : न वैषयिकं सुखम्.

प्रद्योतकुमार : न. आनन्दस्वरूपं ननु वृत्तिरूपम् ?

डी.प्रह्लादाचार : नैव. सुखं द्विविधम्. १. मनःपरिणामभूतं सुखम् एकम्. एतदेव वृत्तिरूपं सुखम् उच्यते. २. आत्मस्वरूपभूतम् अपरम्. चैतन्यस्वरूपभूतं सुखन्तु सुषुप्तिकाले अनुभूयते. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य अथवा साक्षिरूपस्य इन्द्रियस्य अनेके विषयाः भवन्ति. कालः विषयः. "इदानीम् इदम् अस्ति, इदं नास्ति" इति वयं वदामः. 'इदानीम्' इति कालानुभवो वर्तते. अयञ्च कालानुभवो न अनुमानजन्यः. लिंगपरामर्शः इदानीं नास्ति, शब्दः च नास्ति, उपमानस्य कालविषये प्रसक्तिरेव नास्ति. तथाच प्रत्यक्षानुभवः कालस्य विषये वक्तव्यः. बाह्यानाम् इन्द्रियाणां अन्तःकरणस्य च तत्र प्रवेशो नास्ति. किन्तु साक्षिणः.

एवम् आकाशोऽपि साक्षिविषयः. अन्धकारे अस्माभिः हस्तप्रसारणं क्रियते. तदानीम् अस्माकम् अयं विश्वासः "अस्ति अत्र आकाशः" इति. आकाशो वर्ततइति सिद्धवत्कृत्य हस्तप्रसारणं कुर्मः. नहि अस्माभिः आकाशो अत्र वर्तते इति केनापि अनुमानेन ज्ञात्वा तदनन्तरं हस्तप्रसारः क्रियते. स्वयं हस्तप्रसारः क्रियते खलु. तस्मात् आकाशोऽपि साक्षिविषयः इति सर्वैः अंगीकर्तव्यं भवति.

मनोरूपम् इन्द्रियं साक्षिविषयः. इतरेषाम् इन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं न उच्यते. बाह्येन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं नास्ति. "मम मनः एवं वदति" इति वदामः. तत्र मदीयं मनः मया अनुभूयते, सुख-दुःखादिमनोवृत्तयः याः भवन्ति तासाम् अनुभवो मम भवत्येव. एवम् एतत् सर्वमपि साक्षिणा

गृह्यते साक्षिरूपम् इन्द्रिय, साक्षिरूप ज्ञान च यदि न स्वीक्रियेते तर्हि आकाशस्य ज्ञान न स्यात् अन्त करणस्य मनस आकाशविषये सामर्थ्याभावात् आकाशो बाह्य पदार्थ, मनस्तु अन्तरिन्द्रियम् अन्त करणस्य बाह्यार्थे साक्षात् सम्बन्ध केनापि न अगीकृत तथाच कालाकाशादीनाम् अनुभव कथ भवति इति वक्तु न शक्यते एव सुषुप्तिकाले सुखस्य अनुभव कथ भवति इति वक्तु न शक्यते इति हेतो साक्षिरूपम् इन्द्रियम् अवश्यम् अगीकार्यम् अत इन्द्रिय सप्तविधम् इति एतन्मते स्वीक्रियते

प्रत्यक्ष तावत् निर्विकल्पक सविकल्पकम् इति द्विविध नास्ति सर्वं ज्ञान सविकल्पकमेव शिशो यज् ज्ञान भवति तदपि ज्ञान सविकल्पकमेव भवन्त सर्वे वदेयु कथम् इदमिति शिशो यज् ज्ञान भवति तत् निर्विकल्पकमेव स्याद् इति परन्तु किमपि प्रमाण तत्र वक्तव्यम् शिशो अनुभवो न मम अनुभवो भवति भवद्भि पृच्छ्येत शिशो सविकल्पक ज्ञानम् अस्ति इत्यत्रापि किं प्रमाणम्? इति परन्तु अस्माकम् अनुभव परिशील्यता नाम, अनन्तर शिशो अनुभव परिशीलयितु शक्येत

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : किञ्चिद् इति ज्ञान जायते

डी प्रह्लादाचार तर्हि किञ्चित्वप्रकारक ज्ञान भवति

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : विकल्प

डी प्रह्लादाचार . 'विकल्पो' नाम प्रकार "इद किञ्चिद्" इत्यत्र किञ्चित्वेन रूपेण ज्ञात वर्तते सर्वथा निष्प्रकारक वस्तुमात्रग्राहकम् ज्ञान असम्भावित भवति अपिच इन्द्रियस्य वस्तुना यदा सन्निकर्ष भवति तदा नैके पदार्था भासन्ते इति अवश्यम् अभ्युपगन्तव्यम् घटो अस्ति, घटे रूप वर्तते, रूपघटयो य समवाय, समवायस्य ऐन्द्रियकत्व ये अभ्युपगच्छन्ति तन्मते, एते त्रयोऽपि इन्द्रिययोग्या सन्ति, इन्द्रियेण तेषा सन्निकर्षो भवति सतिच एव वस्तुत्रयविषयक निर्विकल्पक ज्ञान जातम् इति वक्तव्यम् वस्तुत्रय कुत ? घटत्व घट, रूपत्व रूपम्, समवायत्व समवाय एव न्यूनातिन्यूनतया षट्पदार्थविषयक प्रत्यक्ष जायते इति अवश्य

स्वीकर्तव्य भवति

नैयायिका: वदेयु तेषा मध्ये परस्पर सम्बन्धस्तु न अस्माभि अवगत, पृथक्तया सर्वेऽपि पदार्था गृहीता तेषा परस्परसम्बन्धस्तु न गृहीत इति तत्र किं कारणम्? इति वक्तव्यम् नैयायिकै विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञान कारणम् इति कार्यकारणभाव सिद्धवत्कृत्य "रूपी घट" "अय घट:" इत्यादिज्ञान विशिष्टज्ञान भवति विशिष्टज्ञानस्य च विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमात्, विशेषणज्ञान पूर्वम् अगीकर्तव्यम् विशेषणज्ञान-स्यापि सविकल्पकत्वे तस्यापि विशेषणज्ञानजन्यत्वम् इति अनवस्था स्यात् अनवस्थापरिहारार्थं निर्विकल्पकज्ञानम् अगीकरणीय भवति विशेषणज्ञान च निर्विकल्पकम् इति उच्यते परन्तु अस्मिन् नियमे किं प्रमाणम्? इति पृच्छ्यते विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञान कारण कुत? सर्वं ज्ञान विशयेणज्ञानजन्यम् इति नैयायिकेनापि वक्तु न शक्यते स्मरणात्मक ज्ञान निर्विकल्पकज्ञान किमपि जायते, तदनन्तर सविकल्पकज्ञान स्मरणात्मक उत्पद्यते इति केनापि वक्तु शक्यते किम्? स्मरणविषये नास्ति

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकस्मरणमपि सम्प्रदायविशेषे अगीकृतम् अस्ति

डॉ प्रह्लादाचार : एवम् गदाधरभट्टाचार्येणापि तत्र स्मरणस्य तावद् सविकल्पकत्वमेव अगीकृतम् एवञ्च यद् ज्ञान विशिष्ट ज्ञान तत् सर्वं विशेषणज्ञानजन्यम् इति नियम त्यक्त

प्रद्योतकुमार : अभावप्रत्यक्षे निर्विकल्पकजन्यत्व नास्ति

डॉ प्रह्लादाचार : अभावज्ञान प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण भवति तत्र प्रतियोगि विशेषणम् अस्ति एवञ्च अभावज्ञान विशिष्टज्ञान सद् विशेषणज्ञानजन्यम् अभावप्रत्यक्षविषये विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्व सिद्धम् अस्ति यद् विशेषयो कार्यकारणभाव तत्सामान्ययो कार्यकारणभाव इति न्यायानुसारेण सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वम् स्वीकरणीयम् इति नैयायिका वदन्ति परन्तु यदि यद्विशेषयो कार्यकारणभाव तत्सामान्ययो

कार्यकारणभाव इति नियम स्वीक्रियते तर्हि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वमपि स्वीकर्तव्य भवति यतोहि अनुमितिस्थले "पवतो वह्निमान्" इति अनुमिति विशिष्टज्ञानम् अस्ति इदञ्च विशिष्टज्ञानम् अनुमित्यात्मक कदा भवति? पर्वतस्य विशेष्यस्य ज्ञान पूर्वं वर्तते चेत् पर्वतस्य ज्ञान, विशेष्यस्य पक्षस्य ज्ञान नास्ति चेत् अनुमिति न उत्पद्यते एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञान विशेष्यज्ञानजन्य वर्तते यदि विशेषयो कार्यकारणभाव इति न्याय सर्वत्र अनुम्रियते चेत् तर्हि सर्व ज्ञान विशेष्यज्ञानजन्यमपि स्वीकरणीय भवति एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वदर्शनेऽपि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्व यथा न स्वीक्रियते तथा अभावज्ञानस्थले अभावज्ञान प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन अगीकृतत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणज्ञानस्य कारणत्व न स्वीकर्तव्यम् अपिच अस्ति तादृश विशिष्ट ज्ञान यद् विशेषणज्ञानजन्य न भवति, यथा स्मरणात्मकम्, एवञ्च अनेकशो व्यभिचार दृश्यते इति हेतो अय नियमएव अप्रामाणिक य नियमम् आधारीकृत्य अनेकै दार्शनिकै, विशेषतो बौद्धै, नैयायिकै च निर्विकल्पक ज्ञान किमपि समर्थयितु प्रयत्न क्रियते



चर्चा

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

वी. एन्. झा : प्रमातृस्वरूपम् इन्द्रियत्वेन स्वीकृतम्. तर्हि कर्तृकरणयोः ऐक्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तत्तु सत्यम्. अत्र अयं प्रश्नः. प्रमाता चेतनः साक्षिरूपी इन्द्रियात्मकः इति उच्यते. तत्र भवद्भिः अयं प्रश्नः करणीयः. कर्तृ-करण-फलानां ... कर्तृकरणयोः अभेदः स्वीक्रियते इति. परन्तु अत्र अयं विशेषः. चेतनस्य, साक्षिणः इन्द्रियत्वं यदा उच्यते तदा सः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति इति न अर्थः. यथा चक्षुः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति तथा अत्र साक्षिरूपः चेतनः स्वभिन्नं ज्ञानम् न उत्पादयति किन्तु स्वात्मानमेव विषयसम्बद्धतया अभिव्यनक्ति इति हेतोः इन्द्रियत्वेन व्यवहारः क्रियते.

गो. श्या. म. : ''उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्'' आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्. कर्तृ-करणयोः ऐक्यम्.

प्रद्योतकुमार : अद्वैतवेदान्ते साक्षिज्ञानं स्वीकृतम्. The reason why they admit Sāksi Pratyaksa is this that they admit perception of pleasure etc But at the same time they find Manas is not an Indriya And therefore, to account for it they have to admit a separate type of Pratyaksa That is there position The idea is this that here 'Pratyaksa' is used in the same sense Vrttijñāna In the Vrttijñāna what happens is this that Visayākar Vrtti is necessary for any

pratyaksa may be possible whether सुखविषयक घटविषयक, विषयाकारवृत्ति is necessary But since in the case of Sukha Duhkha etc such Antahkarana Vrtti is not possible, they admit Avidyā Vrtti अविद्यावृत्तिसहायेन यस्य विषयस्य प्रत्यक्ष तत् साक्षिप्रत्यक्षम् तत्र साक्षिस्वरूप नतु इन्द्रिय, तत्तु चैतन्यमेव। किञ्चिदुपाधि-विशिष्टतया तस्य साक्षित्वेन व्यवहार परन्तु अत्र सुखदु खादीना यज् ज्ञान तत् प्रमातृरूपसाक्षिरूपेन्द्रियेण जन्यते तस्य किं स्वरूपम्? वृत्तिरूप ज्ञान तत्?

डी प्रह्लादाचार : अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूप ज्ञानम् अगीक्रियते भवद्भि उक्तरीत्या अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षि इति अगीक्रियते सुख-दु खादिक न बाह्यम् अन्तरा भवति मन परिणामभूता एव तस्मिन्नपि मते परन्तु तत्र शुद्धस्य चेतनस्य विषयग्राहकत्व न अगीक्रियते शुद्ध चेतन स्वप्रकाशो अगीक्रियते स्वप्रकाश इत्यस्यापि प्रमाणान्तरेण अवेद्य इति, अद्वैतदर्शने इद विवरण दीयते परन्तु शुद्धस्य चेतनस्य सुखादिग्राहकत्व नास्ति यदा वृत्तिसम्बन्ध प्राप्नोति तदानीमेव स चेतन विषय ग्रहीतु प्रभवति अतएव अविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षिरूप स्वीकृत्य एतस्य साक्षिणो विषया भवन्ति सुख-दु खादय इति ते निरूपयन्ति

प्रद्योतकुमार : तत्र साक्षिग्राहक

डी प्रह्लादाचार : साक्षि तावत् चेतनस्वरूप ज्ञानम्

प्रद्योतकुमार : विषयि, नतु इन्द्रिय

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्व तै न उक्तम्

प्रद्योत कुमार : अनयो मध्ये श्रेयस्कर पक्ष क ?

डी प्रह्लादाचार : द्वैतमतेतु साक्षिरूप ज्ञान स्वीकृतम् यथा अद्वैतमते साक्षिरूप ज्ञान चेतनस्वरूप ज्ञानम् अस्ति तद्वदेव साक्षिरूप चेतनात्मक ज्ञान स्वीकृतम् अस्ति एतस्मिन् अशे अनयो

साम्य भवति अन्येषु बहुषु विषयेषु वैलक्षण्यम् भवति अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूप ज्ञानम् अयथार्थमपि भवितुम् अर्हति यतोहि शुक्तिरजतज्ञान यदा भवति

प्रद्योतकुमार : श्रुतयोऽपि न प्रमा!

डी प्रह्लादाचार : शुक्तिरजतज्ञान यदा जायते तच्च ज्ञान साक्षिरूप ज्ञानमेव तत्र अविद्यापरिणामो वर्तते शुक्तिरजतम् अविद्यापरिणाम तद्विषयीकारित्व स्वीक्रियते एवञ्च शुक्तिरजतज्ञान यद् भ्रान्तिरूप ज्ञान तत् साक्षिरूप भवति

द्वैतदर्शने साक्षिरूप ज्ञान नियमेन यथार्थम् इद ज्ञानम् अयथार्थं कदापि न अनुभूयते अस्माकम् "अहम् अस्मि न वा?" इति सशयो वा "अह न अस्मि" इति विपरीतनिश्चयो वा नास्ति यदा "मयि सुख दुःख वा नास्ति तदानीम् अह सुखी अह दुःखी" इति अनुभवो नास्ति यदा सुखम् अस्ति तदानीमेव "अह सुखी" इति ज्ञानम् यदा दुःखम् अस्ति तदानीमेव "अह दुःखी" इति ज्ञानम् एव साक्षिणा यद्यद् गृह्यते तत् सर्वदा सत्यमेव भवति

गो श्या म : Synthetic a priori

डी प्रह्लादाचार : साक्षिरूप ज्ञान कदापि अयथार्थं न भवति इद किञ्चिद् वैलक्षण्यम् भवता प्रश्नस्तु भवति, साक्षिण इन्द्रियत्व कुत? साक्षिरूप ज्ञान स्वीक्रियता, यथा अद्वैतदर्शने, अत्र साक्षिण इन्द्रियत्व कुत? इति यद्यपि साक्षी एकएव इन्द्रियभिन्न साक्षिरूप ज्ञानम् अत्र नास्ति साक्षिचेतनस्तु वर्तते इदानीमपि सच चेतनो विषयान् अभिव्यनक्ति चेतनरूप ज्ञान नैव जायते तच्च ज्ञान नित्य परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्व तावत् विशेषतो भवति पूर्वं विषयाभिव्यञ्जकत्व यत् न आसीत् तद् इदानीं जातम् तत्र किं कारणम्? स्वयमेव

प्रद्योतकुमार : आवरणभंगम्.

डी.प्रह्लादाचार : किमपि उच्यताम्. परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्व यत् पूर्वं न आसीत् चेतनरूपस्य ज्ञानस्य ... ज्ञानन्तु आसीत्. परन्तु तत्र विषयाभिव्यञ्जकत्वम् इति कश्चन विशेषः कोऽपि जातः.

प्रद्योतकुमार : विषय... आवरकत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र किमपि अन्यत् करणं नास्ति, स्वयमेव विषयाभिव्यञ्जकमपि भवति इति हेतोः तस्यैव इन्द्रियत्वेनापि व्यवहारः क्रियते.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति दृष्ट्या इन्द्रियं नैव इन्द्रएव.

डी.प्रह्लादाचार : तद् अस्तु. तत्तु अन्यया रीत्यापि वक्तुं शक्यते. तत्र इन्द्रत्वं नाम महासामर्थ्यशालित्व यत्किमपि तद् भवतु नाम. अत्र तावत् साक्षिरूपं यज् ज्ञानं वर्तते ... 'ज्ञानं' नाम विषयाभिव्यक्तिः ...

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तच्च चैतन्यस्वरूपमेव इति चेत् तस्य स्वप्रकाशत्वम्. तत्प्रकाशार्थं कथम् इन्द्रियं स्वीकार्यम्?

डी.प्रह्लादाचार : जाग्रत्कालेऽपि सएव चेतनो अस्ति. स्वापकाले यत् सुखम् अनुभूयते तत् सुखं जाग्रत्काले न अनुभूयते. जाग्रत्काले अनुभूयमानं सुखं हि दुःखमिश्रितं भवति. तत्तु जडभूतं सुखम्. अन्तःकरणपरिणामभूतं वृत्तिरूपं सुखं तत्. चैतन्यात्मकं यत् सुखं ... दुःखामिश्रितं सुखं वर्तते ...

वी. एन्. झा : ... ज्ञानजन्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तद् अभिव्यक्तिमात्रम्. सर्वत्रापि अभिव्यक्तिरेव तत्र.

प्रद्योतकुमार : तत्तु स्वप्रकाशम्?

डी.प्रह्लादाचार : स्वप्रकाशं नाम ... अभिव्यक्तिस्तु जाता. पूर्वम् अभिव्यक्तिः न असीत्, इदानीम् अभिव्यक्तिः अभूत्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिरेव तत्र सहकारिणी ?

डी.प्रह्लादाचार : सुषुप्ति नाम अवस्थाविशेष तस्याम् अवस्थायाम् अभिव्यक्ति जाता तादृशाभिव्यक्ते स्वयमेव तत्र का

प्रद्योतकुमार : तदवस्थाविशेषे यत् सुखस्य प्रकाशो अस्ति तत्र इन्द्रियस्य किं कार्यम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रिय किमपि अन्यत् नास्ति

अच्युतानन्द दास : तत्र एका शका यदि साक्षिरूपस्य चैतन्यस्य इन्द्रियत्व स्वीकुर्वन्ति तर्हि सामान्यत "इन्द्रियम् अतीन्द्रियम्" इति उच्यते आत्मनस्तु साक्षात्कारो भवत्येव तथा सति पुन इन्द्रियस्य लक्षण किञ्चित् अन्यथा रीत्या वक्तव्य भविष्यति किल ? साक्षिरूप यद् आत्मचैतन्य वर्तते साक्षिण इन्द्रियत्वे स्वीकृते सति इन्द्रियम् अतीन्द्रियम् इति कथा कदाचित् अपास्ता भविष्यति यत साक्षिण

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियम् अतीन्द्रिय नाम बाह्येन्द्रियाणा वा मनसो वा अविषय इति अर्थ मनस्तु इन्द्रियम् एतस्मिन् अर्थे अतीन्द्रियम् किन्तु मन साक्षिविषयम् इति मया प्राग् नैयायिकमते भवतु नाम तत्र नैयायिकान् प्रति ऐन्द्रियकत्व मनस साध एतस्मिन् दर्शने

बलिराम शुक्ल : तेषाम् आशय इद भवति, तत्र इन्द्रियत्व नाम किम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्व प्रत्यक्षात्मकज्ञानकरणत्वम्

बलिराम शुक्ल : तद् यत्र कुत्रापि वर्तते तत्र सर्वत्रापि इन्द्रियत्वम्

डी प्रह्लादाचार : एवम्

बलिराम शुक्ल : तर्हि विषयस्यापि इन्द्रियत्वापत्ति भविष्यति

डी प्रह्लादाचार : तत्तु वर्तते तथापि सर्वेष्वपि मतेषु योऽपि अय विषय चर्चित तत्र सन्निकर्ष तावत् प्रत्यक्षम् इति उच्यते प्रत्यक्षम् अक्षस्य यथा अर्थसन्निकर्षो भवति, अर्थस्यापि अक्षसन्निकर्षो वर्तते एवञ्चेत् 'प्रत्यक्ष' ज्ञानम् इति कुत ? 'प्रत्यर्थं' ज्ञानम्

इति व्यवहार स्यात्   इति ते शास्त्रिभि उक्तम् तत्र अक्षस्य करणत्वात् करणस्य प्राधान्य स्वीकृत्य खलु व्यपदेश स्वीक्रियते

प्रद्योतकुमार : भवतो अभिप्राय एवम् आसीत् यद् विशिष्टज्ञान विशेषणज्ञानपूर्वकम् इति नियमे का युक्ति ? नास्ति युक्ति तत्र कथम्? यदा विशेषणज्ञानपूर्वक विशिष्टज्ञानम्, अनुमिति शाब्दोऽपि that rule will be applied But in that case you have not done distinction between if I say in case of Anumiti, Sabda all these cognitions are necessarily, नियमतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही नतु विशिष्टज्ञानम्

डी प्रह्लादाचार : विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान विशिष्टज्ञानमपि भवति विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान विशेषणतावच्छेदक-प्रकारकज्ञानजन्य विशिष्टज्ञान विशेषणज्ञानजन्यम् इति एवम् उच्यते शाब्दरूप ज्ञानम् अनुमित्यात्मक ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान भवति प्रत्यक्षमपि तथैव यथा "घटो रूपी" इति प्रत्यक्ष जायते तदानीं रूपत्वविशिष्ट-रूपवैशिष्ट्यावगाही इद ज्ञान भवति अय घट इति ज्ञानन्तु घटत्वविशिष्टज्ञान यदि घटत्वस्य स्वरूपतो भानम् अगीक्रियते "दण्डी पुरुष" इत्यादौ तावत् विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान

(अत्र सहसा विद्युत्प्रवाहोपरोधाद् ध्वनिमुद्रणभग)

Perception
Sānkhya and Śuddhādvaitic Views

Dr Sunanda Y Shastri

In the field of epistemology, perception as means of valid knowledge has been unanimously accepted by the systems of thought as an important one Sāṅkhya system has accepted three means of valid knowledge i e perception, inference and testimony

दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचन च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविध प्रमाणम् इष्ट प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद् हि॥
(साख्यकारिका ४)

Sankhyas do not accept the other means of valid knowledge like comparison(उपमान), assumption (अर्थापत्ति), non apprehe nsion(अनुपलब्धि), (ऐतिह्य) tradition, intuition (प्रतिभा) etc All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge

Sānkhya Sūtra ' तत्सिद्धौ सर्वसिद्धे नाधिक्यसिद्धि " (I 88) emphasizes that there should be only three Pramānas While commenting on this Sūtra Vijnanabhiksu (साख्यप्रवचनभाष्य १।८८) explains that

for the accomplishment of all purposes perception, inference and testimony alone are enough Accepting additional Pramānas is unnecessary त्रिविधप्रमाणसिद्धौ च सर्वस्य अर्थस्य सिद्धे न प्रमाणाधिक्य सिध्यति, गौरवाद् इति अर्थ In this regard Vijnanabhiksu quotes Manu

प्रत्यक्षम् अनुमान च शास्त्र च विविधागमम्।
त्रय सुविदित कार्य धर्मशुद्धिम् अभीप्सता॥
(XII 105)

"One who desires purity in the path of righteousness should resort to these three means of valid knowledge viz perception, inference and scriptures"

Sānkhyakārikā places perceprtion in the first place in Kārikā 4 and on it Māthārācārya says "यथा श्रोत्रादीना शब्दादय पञ्चेन्द्रियार्थी पञ्चाना दृष्ट प्रमाणम् प्रथमम् इद मुख्य सफलप्रमाणानाम्" Perception is caused by sense capacities Perception is the principle instrument of knowledge and is hence stated first. Vācaspati states three reasons why perception has to be considered first of all the means of valid knowledge viz. 1 Perception occurs in time before the other means of valid knowledge such as inference etc 2 the other means of valid knowledge dependent on perception and 3 every system of philosophy accords first place to perception Sānkhyakārikā has given word 'दृष्टम्' for perception and Mātharacārya has explained what 'दृष्टम्' means in the Kārikā It says 'दृष्टम्' is synonym of 'प्रत्यक्ष'=perception "दृष्टम् इति प्रत्यक्षपर्याय. अक्षम्

इन्द्रिय प्रतीत्य यद् उत्पद्यते ज्ञान तत् प्रत्यक्ष दृष्टम् उच्यते" The knowledge which arises through sense object contact is called perception

Definition of perception put forth by Sāṅkhyakārikā is "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" Perception is The reflective discerning (अध्यवसाय) that rises through sense contact with the particular object of sensing (सा का ४) अध्यवसाय Could be understood as belief or discrimination Mātharācārya explains the 'अध्यवसाय' as, the knowledge obtained through eye etc, five sense organs-object contact i e "विषय विषय प्रति यो अध्यवसायो नेत्राणाम् इन्द्रियाणा पञ्चाना रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्ष प्रतिपत्तिरूप दृष्टाख्यम्" Vācaspati defines perception as "reflective discerning" as belief (निश्चय) as opposed to doubt or vacillation (सशय) Vijñānabhiksu's definition is not far from the above definition Commenting on Sāṅkhyasūtra, "यत्सम्बद्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत् प्रत्यक्षम्" (साङ्ख्यप्रवचनसूत्र1 89) Vijñānabhiksu says, when connected with the object, the (बुद्धिवृत्ति) modifications of mind take the form of that object, that is perception "सम्बद्ध भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद् विज्ञान बुद्धिवृत्ति तत् प्रत्यक्ष प्रमाणम् इति अर्थ" (साङ्ख्यप्रवचनसूत्रभाष्य1 89) This clearly signifies that for the accomplishment of perception unhindered sense object contact is necessary

Process of perception according Sāṅkhyas is more or less understood from their definition of perception Sāṅkhyakārikā does not clarify the process of perception It simply says 'दृष्टम्' and defines, "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" from which one understands only that five sense organs perceive sense objects

Vacaspatimisra has elaborately described the process of perception, that is, "Perception is the reflective discerning (अध्यवसाय) that arises through the direct contact (सन्निकर्ष) between ■ sense capacity (इन्द्रिय) and a real object to be known (प्रमेय)such as earth, pleasure etc" Such reflective discerning, which is on operation of intellect, is one important kind of awareness, and this kind of awareness arises when the intellect is in its Sattva modality has been subverted When there is such contact between a sense capacity and an object with the resulting awareness taking place in intellect, the condition is also known as an operation (वृत्ति) Awareness, operation and intellect, it should be noted are manifestations of materiality, and thus are devoid of consciousness Nevertheless, the intellect casts a kind of shadow of perhaps better, becomes a reflection (प्रतिबिम्ब) in the pure medium of consciousness so that it appears as if it were consciousness By the same token the images that manifest themselves in consciousness appear to characterize the nature of consciou sness Finally, it should be noted that the description of perception as direct contact with specific object excludes doubt, misconception, inference and memory (Encyclopaedia of Indian Philosophies, vol IV Sankhya,p 303) Sānkhyapravaca-nabhāsya's definition leads us to understand the process more clearly, i e modification of mind/intellect take form of outer object

The process by which a means of valid knowledge works in this— first intellect assumes the form is reflected as an

image in consciousness Since consciousness can not be modified, his reflection can only be an image "इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिगज्ञानादिना आदौ बुद्धे अर्थाकारा वृत्ति जायते" (साख्य प्र भाष्य I 87)

The Yoga school calls the process of awareness as 'चित्तवृत्ति' instead of 'बुद्धिवृत्ति' or 'अन्तःकरणवृत्ति' Vyāsabhāsha on Pātañjala Sūtra defines the process of perception as the modification of the mind being connected with an outside object through the channel of sense organs and making that object its own Mainly comprehends the special nature of the object which has general and special characteristics is the source of correct knowledge called 'perception' The result of perception is the knowledge of modification of the mind as belonging to the Purusa (self) which is identical with the modifications of mind Purusa is conscious by reflection

"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषय सामान्यविशे-षात्मनो अर्थविशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाणम् फलमू अविशिष्ट पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध बुद्धे प्रतिसवेदी पुरुष इति"
(पात सू समा पा ७ व्यासभा)

Vijñānabhiksu explains Vyāsabhaṣya even more perfectly He says "The senses are themselves the channels i e the path through which the mind travels, combining with them and through their parts, the mind affected by the outside objects, becomes one with the objects, only with the help of the senses The mind alone does not become one with

the object, just as, when the conch is seen yellow, it is the presence or absence of bile in the eyes, which is its cause Therefore, in seeing colour and so on, the eyes etc also is mentioned as 'cause' in the Śāstras and not the mind alone

"इन्द्रियाण्येव नाडी-चित्तसञ्चरणमार्ग, तै सयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषु उपरक्तस्य चित्तसेन्द्रियसाहित्येनैव अर्थाकार परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य, शखपैत्याद्याकारताया नयनादिगत-पित्ताद्यन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् अतो रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनामपि कारणत्व शास्त्रेषु उच्यते"

(Vijnānabhiksu's Vārtika on Vyāsabhāsya, Samādhipāda-7)

This indicates only the outside object's knowledge or perception It does not include perception of Ātman or Īśvara, since it combining with the senses does not give rise to it In the perception of Ātman or Isvara, there are no senses involved

We gain perceptual knowledge through five sense organs of sound, touch, colour, taste and smell Sometimes knowledge of perception is obstructed due to many reasons Sānkhyakārikā enumerates eight such reasons viz

1 being very far,
2 being very close,
3 disability of sense organs,
4 mind being inattentive,
5 object being too subtle,

6 object being hidden,

7 being overpowered by some other object and

8 being mixed with similar things

— sense object contact does not take place and prevent ordinary perception

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहारात् च॥
(साङ्ख्यकारिका ७)

Thus non apprehension of existents is of eight kinds, whereas, non existence (अभाव) is of four kinds viz 1 prior non existence (प्रागभाव) 2 posterior non existence (प्रध्वंसाभाव) 3 absolute non existence (अत्यन्ताभाव) and 4 mutual non existence (अन्योन्याभाव) This makes non apprehension as of twelve kinds Mātharācārya says "एवम् इय द्वादशधा अनुपलब्धि सताम् अष्टधा हि असता चतुर्धा" For ordinary persons, perceptions are limited to specific awareness related to the gross aspects of experience, by Yogis and other higher beings are also able to perceive 'non specific' (अविशेष) matters, such as the subtle elements

It is necessary to note that Vacaspatimiśra for the first time made clear distinction between indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प) perception in Sankhya epistemology The sense organs can only sense (आलोचनमात्र) the object without any mental ordering and verbal characterization i e mind is not involved in this stage nor can it be described

by speech This is indeterminate (निर्विकल्प)perception Then mind performs the task of ordering and verbalizing the impression of the senses i e mind is involved in this stage and makes perceptual knowledge determinate (साङ्ख्यकौमुदी)

Regarding the theory of perception, Vijñānabhiksu's special contribution is two fold (साङ्ख्यप्रवचनभाष्य - II 32) 1 Vijñānabhiksu disagrees with Vācaspati and states that sense organs are capable of both indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प)perception Mind only plays a role of focusing attention (सकल्प) and initiating mental constructions (विकल्प) Here, Vijnānabhiksu relates the role and function of sense capacities in perception and 2 Sānkhyakārikā and Pātañjala Sankhya refer respectively to 'बुद्धिवृत्ति' and 'चित्तवृत्ति' but do not explain their functions in the cognitive process Vācaspati carried the discussion further by attributing mere awareness with mental elaborations (निर्विकल्प) to the sense capacities and mental elaboration (सविकल्प) to mind According to Vijñānabhiksu, perception is primarily a result of interaction or will and sense capacities Mind as the result plays a very minor role

"कश्चित्तु निर्विकल्पक ज्ञानमेव आलोचनम् इन्द्रियजन्य च भवति, सविकल्पकन्तु मनोमात्रजन्यम् इति श्लोकार्थम् आह, तत् न योगभाष्ये व्यासदेवै विशिष्टज्ञानस्यापि ऐन्द्रियकस्य व्यवस्थापितत्वात्, इन्द्रियै विशिष्टज्ञाने बाधकाभावात् च सएव सूत्रार्थमपि एव व्याचष्टे बाह्येन्द्रियम् आरभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्ति उत्सर्गत क्रमेण भवति कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेषु एकदैव वृत्ति

भवति इति अर्थ इति तदप्यसत्, सूत्रे इन्द्रियवृत्तिनामेव क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात् न बुद्धयहङ्कारवृत्त्यो प्रसंगोपि अस्ति"
(साख्यप्रवचनभाष्य २।३२)

In Prasthānaratnākara, Purusottamacarana has clearly accepted four means of valid knowledge viz testimony/autho rity, perception (Pratyaksam), tradition (Aitihya) and inference (Anumāan) "श्रुति प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमान चतुष्टयम्" (प्रस्थानरत्नाकर २।२।९) First placeis given to Sabapramāna or testimony, since all other means of valid knowledge are dependent on Sruti (प्रस्थानरत्नाकर - II II 12) "सर्वाण्येव प्रमाणानि सत्त्वमेव कथञ्चन, उपजीवन्ति तद् हेतौ कथित पूर्वम् आगम"), whereas, Sankyas consider only three Pramanas (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) and they place Perception first

Purusottamaji defines perception as 'इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्" (प्रस्थानरत्नाकर - p 127) perception is indentified with sense organs, that means sense organs are the instruments of direct perception This knowledge of perception is gained through six instruments viz five sense organs and the mind "प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि" (प्रस्थानरत्नाकर p 127)

Sankhyas do not consider Perception as 'इन्द्रियात्मक', but according to them, Perception is reflective discerning (अध्यवसाय)

Perceptual knowledge is of six kinds viz
1 visual (चाक्षुषप्रत्यक्ष)

2 Tactual (त्वाचप्रत्यक्ष)

3 Gustatory (रासनप्रत्यक्ष)

4 Auditory (श्रावणप्रत्यक्ष)

5 Olfactory (घ्राणप्रत्यक्ष) and

6 mental (मानसप्रत्यक्ष)

Manas is regarded as internal organ (अन्तःकरण) "तानि चक्षु-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनो-भेदेन षट्" (प्रस्थानरत्नाकर p 127) These six faculties are considered atomic in size They can not be perceived by sense organs, they are non eternal yet long lasting and subject to transfermation "एतेषा इन्द्रियाणा स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम्, अनित्यम्, चिरस्थायी विकारी च" (प्र र p 128) Eyes can perceive form, cloour and size when it is manifested Similarly, sense qualities of touch, smell, taste and sound should be manifested for the sake of perception (प्र र p 128 129) Desires, affection, passions etc are perceived by the mind "मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्या" (प्र र p 130)

Perception of the self (Atma) in its pure form can not be perceived by ordinary perception "आत्मातु केवल शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्ष तथा तद्धर्मा च" (प्र र p 120)

Only through proper means prescribed by the scriptures, the perception of the self (Ātma) is possible The self can be experienced through the notion 'I' by an individual, due to the identification of self with ego "अहबुद्धिस्तु पटावृतघटबुद्धिवद् अहकारससर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्" (प्र र p 130) Perception of the God is possible

only through the grace of God. This kind of perception is the seed of devotion Bhakti (प्र र p 160 161)

Tamas (darkness) is considered as separate category which can be perceived. It is not mere negation of light. Tamas is considered as production of Māyā. Human beings can not see through darkness, but animals like cat and owl can see in the darkness, because darkness of Māyā can not cover their eyes.

"अन्धकारस्थघटादिषुतु नृचक्षु प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषय तदावृतत्वात् एवञ्च विषयालोकसयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादि-विशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहात्, "यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्यात् नतु तद् विधत्ते" (भाग पुरा १०।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षु-सम्बन्धि-तमोनिवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसयोगस्य विषयादिसस्कारतायाः विरुद्धत्वात् एवञ्च उलूकबिडालादीनाम् आलोकसयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोभावो "अन्धकारोऽस्त्रिया ध्वान्तम्' (अमरकोश १।८।३) इत्यादिनामपाठात् "ध्वान्ते गाढे अन्धतमसम्" (तत्रैव १।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, "हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योति प्रलीयते, स्वतेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापन तम" (भाग पुरा १०।३।१४) इति तध्यघातकविरोधवचनात् च"

(प्र र १३०-३१)

Similarly reflection (प्रतिबिम्ब) also is accepted as separate category and product of Māyā "तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वम्" (प्र र - १३१)

Abhava (non existence) is locus of negated object Negation is itself regarded as the positive existence of the locus in which the negation appears with specific reference to the appearance or dissapearance of the negated object Non existence is connected with material cause When, material cause is seen, appearance and dissapearance of the product of that cause is subject of perception (प्र र p 131 36)

According to Sankhyas, the object beyond sense perception (अतीन्द्रिय) are subject of inference and authority "अतीन्द्रियाणा प्रतीति अनुमानात्" (साख्यकारिका-६) which is different than Vallabha view, which accepts perception of self through scriptures and not through Inference In the earlier, Sānkhya school, perception of God is not accepted because existence of God can not be proved "ईश्वरसिद्धे" (साख्यसूत्र १।९२)

Four kinds of Abhava (non existence) is accepted by Vallabhas as well as Sankhyas Neither Vallabhas, nor Sankhyas accept non apprehension (अनुपलब्धि) as an independent means of valid knowledge After evaluating views of other schools of thought, in this regard, Purusottamacarana has stated that it is not necessary to accept non apprehension as an independent means of valid knowledge to perceive Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its knowledge is manifested Similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension "अनुपलब्धे न अभावग्रहण प्रति करणत्व, चक्षुषा अवगत, इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगत" इति प्रत्ययाभावात्"(प्र र १४१)

Process of direct perception according to Purusottamacara-na as follows—

"तत्र अय क्रम - "दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यति, तत् चइन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण सगृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विपयससृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पक उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्धयापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति"

(प्र र p 147-148)

1 Mind becomes ready for particular action, inspired by inner controller (अन्तर्यामी),
2 then mind inspires concerned sense organs,
3 when sense organs are in agreement with their presiding deities, then only sense organs come in contact with objects,
4 then indeterminate knowledge is generated after objects are reflected in the sense organs,
5 then along with the mixing and friction of the three Gunas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially or totally,
6 then mental states accordingly, manifest and different kinds of determinate knowledge arise,
7 emotions like attachment, aversion or neutrality etc become strong according to the different kinds of determinate knowledge,
8 from those emotions, inner and external activities, like will

efforts etc emerge,

9 then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and

10 in the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or indifference manifest

The division of indeterminate (निर्विकल्पक) and determinate (सविकल्पक) knowledge is explained by Purusottamacarana in the above process itself Indeterminate knowledge created by the sense object contact achievers its visual etc determinate state through mental states (वृत्ति)

Here, Purusottamacarana presents the Sānkhyas as prior view and refutes it According to Sānkhyas, the form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes This form can not be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible Therefore, that form has to be accepted as the form of some inner object within Sānkhya school calls it 'Vṛtti' (mental state) as different egoistic principle

> "तत्र नेत्रे निमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रान्तर् भासते स आकारो न बाह्यवस्तुन, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अप्रस्थवचनत्वात् अत स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन साङ्ख्यै आहङ्कारिक तत्वान्तर वृत्ति नामक कल्प्यते"
>
> (प्र.र p 144)

Sānkhyas believe that the perceived object takes form

of internal state, but treat it as different principle or different property of Ātman Puruṣottamacaraṇa disagrees with this stand and says that it is necessary to note that the form of the perceived object in the eyes is the matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state But should not be deemed as different principle or different inherent property of Ātman Because, this is some particular state of intellect take form of outer object, answer to such a doubt is, when sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object is reflected in sense organs, jst as one's face is reflected in the mirror Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance and non-disturbance in the intellect, therefore, due to this disturbance mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also It happens so because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect on position of helping the organs, determinate knowledge of error arises Thus all the mental states are particular state of intellect only After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place, otherwise, if intellect shaped in the form of different than the object, then it is believed to be an error Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states As per the statement of Bhāgavata, "mental states, viz, awakening, dreaming and

deep sleep emerge from Gunas and individual soul is definitely different from them as a spectator" proves that all kinds of knowledge is mental state only When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant, then it is dream or state of deep sleep Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that, the mixing and friction among three Gunas, which are manifested for the sport of God, goes on according to will of God

Thus, it is better to accept that, Gunas are the nearest cause of different states of intellect That is why, in the eighteenth chapter of Bhagvadgita, it is said, that, "body as substratum, Jiva as agent, instruments such as sight etc, external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāna etc vital airs called Cestā, time and God's will called destiny, or the inner controller (Antaryāmī) of all living beings" described in the sixty first verse, in the same chapter, become instrumental in all our activities (Prasthānaratnākara, Introduction,p 65 66)

In the light of the above discussion, few similarities and dissimilarities emerge between these two schools of thought Sāṅkhyas accept three means of valid knowledge, whereas Vāllabha accept four Both of them accept 'बुद्धिवृत्ति' i e mental states but process of analysis of perception differs from each other Sāṅkhyas deem that the perceived object take the form of internal state, which is different egoistic principle

Vallabhas do not consider it as separate principle Sāṅkhyas do not accept the presiding deities of sense organs, whereas Vallabhas believe that the operation of sense organs is not possible without their grace Sense organs are not involved in the perception of self According to Sāṅkhyas and perception of God is not possible because existence of God can not be proved by any means of valid knowledge According to Vallabhas, perception of self is possible through means described by the scriptures and it can be experienced through the notion 'I', due to the identification of self with ego Perception of the God also is possible through the Grace of God

Bibliography

1 Prasthānaratnākara Gosvāmī Purusottama Granthmala series, 3rd ed Goswami Shyam Manohar, Shri Vallabha Vidyapeeth - Shri Vitthalesh Prabhucharana Trust, Kolhapur, V S 2056

2 Sāṅkhyasūtra with Vijñānabhiksu's commentary, (Hindi) Dr Ramshankar Bhattacharya, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, V S 2022

3 साङ्ख्यकारिका - ईश्वरकृष्ण with माठरवृत्ति, Chowkhamba Sanskrit series office, Benares, 1922

4 साङ्ख्यतत्त्वमनोरमा - डो दीनानाथ पाण्डेय, मनोरमा प्रकाशन, वाराणसी, 1991

5 Yogavārttika of Vijñānabhiksu Vol I Samadhipāda, Tr T S Rukmani, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd , New Delhi, 1981)

6 Encyclopedia of Indian philosophies Vol IV Sānkhya, Larson and Bhattacharya, Motilal Banarasidass, Delhi, 1987

7 Philosophy of Shri Vallabhacharya - Life and works of Shri Vallabhacharya - Dr. Sunanda Shastri (Paper).

...... +.......

चर्चा

Perceprion: Sānkhya and Śuddhādvaitic Views

डॉ. सुनन्दा शास्त्री

सिद्धेश्वर भट्ट : I have two queries Why is it that the word 'Drsta' is used by the Sānkhya thinkers instead of 'Pratyaksa'? Is it just stylistic or there is some philosophical significance? Other query is both Sānkhya and Vāllabh thinkers follow the Vrtti model and not the Sannikars model of Nyāya In Sannikarsa model there is sense-object contact Whereas in Vrtti model the Antahkaran goes out, meets the object i e attends the object The initiative is from the Antahkarana Why is it that we resort to the language of Sannikarsvāda even while describing the Sānkhya or the Vallabha view of Praktyaksa? Because in Vedāntsār they use the word 'Tadākantā' they don't use the word 'Sannikarsa' So they use different language

I think, here also, that sort of clarity should be observed

सुनन्दा शास्त्री : "Drstam iti pratyaksa paryāyah" So 'Drsta' is what is seen And what is sensed by the Indriya that is sent by the sense organ that is Pratayakṣam So 'Drstam' is used because it is directly pursued by the sense organ

सिद्धेश्वर भट्ट : My hunch is that in Sānkhya you have a gestalt view of the object Whereas in Nyaya Vaisesika systems we have an associationistic view And perhaps that might be responsible for the choice of a particular word to express perceptual cognition

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षज्ञान पाचो इन्द्रियोसे या मनके साथ छह इन्द्रियोंसे होता है लेकिन जो ज्ञान आखोसे होता है उसे मुख्यतया हम प्रत्यक्ष कहते हे चक्षुषा दृष्ट तत्रैव अस्माक प्रामुख्यम् आस्ति कुत ? 'दृश्' धातुका अर्थ चक्षुर्जन्यज्ञान ऐसा एक मत हे लेकिन दूसरा मत ऐसा भी है कि सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञान 'दृश्'का अर्थ हो सकता हे लेकिन चक्षुर्जन्यज्ञानके अर्थमे 'दृश्' धातुका प्रयोग बहुतर होता है वेदमे आत है कि एक आदमी कहता हे कि "देवदत्त यहा आया हे आपने सुना या देखा?" मैने केवल सुना है तो वह असत्य हो सकता हे देखा है तो सत्य है चक्षुसे जो ज्ञात होता है उस ज्ञानमे दार्ढ्य बहुत होता हे इसीको लक्ष्यमे रख कर 'दृश्'का प्रयोग है अन्य पाच इन्द्रियोसे जो ज्ञान होता है वह गौण प्रत्यक्ष हे मुख्य प्रत्यक्ष तो चक्षुर्जन्य ही है ऐसा मै मानता हू

एस्. बोकिल् : You say 'Sānkhya do not accept the other means of knowledge like Upamāna, Arthāpatti, Anupalbdhi, Aitihya, Pratibhā etc All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony" And according to them these are the only three Pramānas accepted My comments are on your sayings "Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge" Now consider perception I really do not know what it is to demonstrate something that I know through perception If I know through perception, there is no question of demonstration at all All that I can say is that I shall verify But verification doesn't amount demonstration Then consider inference With respect to inference, yes I can think of demonstration of a certain proposition I construct the truth and prove it, I demonstrate it But in that process of demonstration, remember, I have depended on some other propositions which operate as premises Now the question of the demonstration of that premises will arise So that will cause certainly infinite regress And therefore, inference can not be accepted as valid knowledge Because that will involve further questions Again, testimony, it is accepted on just Sraddha, belief There is no question of demonstrating the testimony Now, Sankhya might have taken that position But

thing, we should really find out the reasons what is there rationality behind these assertions that something which I know by perception can be demonstrated, something which I know through inference can be demonstrated and something which I know through the testimony can be demonstrated



Thomistic Philosophy of Perception: Some Reflections

George Karuvelil, SJ

Since there is no specifically Christian philosophy of perception, and I am supposed to speak in terms of Christianity, what I shall do is to provide a brief sketch of the Thomistic philosophy of perception After that I shall point out a few possible comparisons that struck me as I was reading through the material on Vallabha school's theory of perception Finally in the third part of the paper I shall draw your attention towards some contemporary developments in the Western philosophy of perception

1 A brief sketch of the Thomistic philosophy of perception

Thomistic philosophy, like other pre modern Western philosophies, is metaphysical in its approach Although scepticism was not unknown to the ancient Greeks, the great metaphysicians of the time do not take scepticism as the starting point of their epistemology Rather, they assume the possibility of knowledge, which Plato defined as "true belief with an account"[1] Although this sounds deceptively similar to the contemporary definition of knowledge as Justified True Belief, to give an account in the metaphysical scheme is rather different from providing justification An account involves a description of the elements that go into the making of

knowledge and an explanation in terms of the described elements[2] Since the possibility of knowledge is taken for granted, the question they raise is What must the world and we be like if we are to know something?[3] Their descriptions are meant to respond to this question

As far as the Thomistic description of the world goes, he took it as a matter of common sense that we live in a readymade world a world of apples and oranges, barking dogs and striped zebras, of fat men and little children In giving a description of this world of multiplicity, he is heavily indebted to Aristotle All these multiple entities are made up of matter and form Form makes a thing to be what it is by 'informing' matter, which by itself has no form whatever The Thomistic account of the human knower is the faculty psychology that is largely a legacy of Plato and Aristotle Accordingly, human beings have three faculties senses, intellect or understanding and the will Of these the last is not a knowing power,[4] its job is to strive to attain what is known As far as the senses are concerned, there are five external senses and four internal ones The internal senses and their operations are as follows

1 Central or general sense synthesises the input from different external senses
2 Imagination retains the impression made on the external senses, after their objects have disappeared
3 Memory associates objects with the past

4 Cogitative sense called estimative sense' in non humans, it collates all the sense impressions and arrives at a judgment

Given this understanding of the knower and the world, knowledge is a matter of getting hold of the form of entities by means of the knowing faculties (senses and intellect) In other words, while all things are made up of matter and form, knowing beings differ from others in this that the latter "possess their own form only, while the knower is adapted from its origin to possess also the form of another thing"[5] Since matter is a limiting principle, the more immaterial a being, the more capable it is of knowing Thus, humans can know more than animals, angels more than humans, and God, of course, is all knowing. Thus, each type of knower comes to possess knowledge according to the mode proper to its nature

Human perception arises from being stimulated by sensible objects and the operation of the internal senses upon the input from the external senses Thus, for example, in perceiving a barking dog the sensible qualities such as the size and shape of the animal and the sound it produces are received by the external senses The central or the general sense synthesizes these inputs from the different externals senses (eyes, ears, nose etc) as coming from one entity After imagination and memory have played their role, the cogitative or estimative sense finally arrives at a concrete judgement "This barking dog is dangerous"

Thus far the perceiving process is not very different from that of other higher animals, they too have to sense their environments and adjust to it What is special to the human knower is the ability to grasp the universal characteristics (rationes) of things This ability is called intellect There are three acts of the intellect A Intelligibility or understanding (intellectus) is the simple apprehension of some meaning that involves no judgement, B Judgement is that which could be true or false, and C Discursive reasoning or ratiocination moving from one or more known judgments to a new one, as in syllogisms One implication of this theory of perception is that humans cannot perceive anything that is immaterial, such as souls, angels or God (all of which he believed exists) These are known through reasoning from effects to cause if it can be shown that certain of our experiences cannot be explained with reference to bodily causes, we can argue to the existence of non bodily causes For example, he argues that our intellectual and volitional activities cannot be caused by bodily causes and therefore we must have souls

2. Some Possible Comparisons With The Vallabha School

Comparison is a risky business, especially when it involves comparing two vastly different philosophical systems whose developments are completely independent of one another, as in the case the Tomistic and Vallabha schools For the same reason, I do not want to make any straightforward comparisons, I shall only point out what struck me as some areas of possible comparisons and leave to scholars to decide

whether they really are comparable

A first and obvious point of comparison is their overall concern Both thinkers are great theologians and religious pursuit remains their primary purpose But both see the need to engage the intellectual currents of their times A second point of comparison seems to be their method Both are metaphysical in their approach As pointed out in the beginning, the metaphysical approach, unlike that of modern Western philosophy, begins with some descriptions of the world, the knower, and knowledge, then it strives to provide an account of these in a coherent manner It is true that their descriptions are different the Vallabha school is indebted to the descriptions provided by the Naiyayikas and the Samkhya school, whereas St Thomas largely relies on the descriptions provided by Aristotle and to a lesser extent on some Arabian thinkers But both rely on certain metaphysical descriptions to provide an account of their theories of perception

A more substantive point of comparison concerns their approach to religious perception Neither SriPurushottam nor St Thomas thinks it possible to have religious perception Although the Vallabha schools accepts yogic perception, it is clearly stated that perceiving God is possible only through Grace and not through the means of valid knowledge Similarly for St Thomas, any substantial knowledge of God is to be had from revelation and not through any ordinary or natural means The main reason for is the faculty psychology

he has adopted from Plato and Aristotle, together with the devaluation of the senses that characterise Plato Since senses are what we share with other animals and senses can give us knowledge only of sensible things, it follows that we cannot perceive God who is immaterial The only natural avenue to knowing God is through reason and that too would take us only to the doorsteps of religious knowledge by showing that God exists without telling us what God is Having been brought to the doorsteps by means of reasoning, revelation takes over Therefore, unlike contemporary authors like William Alston who talks about 'perceiving God' or John Hick who talks of religious faith as an 'experiencing as' there is no philosophy of religious experience to be found in Thomas Aquinas This situation began to change in Western epistemology only in the post Kantian period as a response to Kant's conclusion that we cannot have any knowledge of God because there is no possibility of any sensible intuition of God

There is also some similarity and contrast regarding perception of the soul In the Vallabha school there is the distinction between soul in its true form and the ego or the I The former is not a matter of ordinary perception, whereas the latter is Since such a distinction between soul and ego is not found in St Thomas, there is no question of perceiving the soul either The existence of the soul needs to be inferred as already mentioned

Another possible comparison is between the identity contact

of the Vallabha tradition and what is known as knowledge by connaturality in St Thomas Although such knowledge is not strictly a matter of perception, it is not inference, either Here is what he says on the matter

> Now rightness in judging can come about in two ways, through the perfect use of reason or through a certain natural kinship with the things one is judging about Thus in matters of chastity, one who is versed in moral science will come to a right judgment through rational investigation, another who possesses the virtue of chastity still be right through a kind of instinctive affinity So it is with divine things[6]

Although I have said this sounds similar to the *identity* contact in the Vallabha tradition, the difference between the two is also immediately clear identity contact is one of the five kinds of contact operative in ordinary perception Perception of inner states like determination, doubt, pleasure etc , are said to result from identity contact In St Thomas, however, connaturality is not an ordinary means of knowledge It is worth noting that Robert K C Forman, in a recent book, has suggested a theory of 'knowledge by identity' to deal with mystical experiences The basic point of the suggestion is that "I know it because I am it or live it"[7] This seems

very similar to what Thomas says of knowledge by connaturality

3. Some Contemporary Developments:

If there is one thing that is common to the pre modern or metaphysical approach in Western philosophy and the contemporary naturalistic approach to human knowledge, it is their anti foundational convictions The moderns thought that they could secure their philosophy on firm foundations by eschewing prior descriptions This can be said of rationalists like Descrates as well as empiricists like Locke, with some variations One of the contentions of naturalized epistemology is the impossibility doing epistemology without any prior descriptions In other words, some prior description of the knower and the world cannot be avoided In this respect, the procedure of Sri Purushottam and St Thomas are being vindicated by naturalized epistemology This is something that Thomists could be happy about because one of the things that they boast of is Aquinas' empirical, or even naturalistic approach to human knowledge and yet being able to synthesise it with religious faith[8] On the other hand, the sort of metaphysical descriptions adopted by St Thomas may seem problematic today In its place we might need more non controversial phenomenological descriptions Let me point out some of the descriptions of the Thomistic philosophy that could be problematic today

Let us begin with the description of the human knower in terms of faculty psychology Thomism, in its history, has

tended not merely to distinguish these different faculties, but also to separate them[9] Taken in this manner, sensing is something that we humans share with animals and then the intellect, with its conceptualising and reasoning abilities, takes over This is clearly a false picture of the human knower, as it has been shown beyond doubt that there is a close and inseparable link between percepts and concepts such that conceptual richness leads to perceptual richness To put in terms of contemporary cognitive psychology, perception is complex process that involves both ■ 'concept driven' or 'top down' processing as well as a 'data driven' or 'bottom up' processing

Even more than the involvement of concepts in perception, there is the phenomenon of selective attention that must find a place in any description of the human knower Only a fraction of the myriad sights, sounds and smells with which we are constantly bombarded, gets entry into our consciousness[10] Bernard Lonergan, a contemporary interpreter of Thomistic epistemology was fond of giving the example of the milkmaid who laughed at Thales for falling into the well, as he walked along with his eyes fixed on the stars The point is that "the causal sequence set off by the proximate stimulus determines what can be perceived in any given conditions, but not necessarily what will be perceived"[11] What will be perceived ■ also dependent on what we pay attention to What it indicates is that there is a close collaboration not only between the senses and the intellect, but also with

look through a telescope and you ask me, what do you see?" I may answer (1) A bright speck, (2) A star, (3) Sirius, (4) The image in the fourteenth mirror of the telescope All the four are perfectly legitimate and correct answers In Thomistic language, there is more than one intelligibility, which in turn, leads to four different judgments, all of which are equally valid The point is that there is no one form of the object that is taken into the mind in the process of perceiving Meaning or the intelligibility that accompanies perception is a much more complex affair than was assumed in the metaphysical approach that begins with the assumption of a ready made world of objects

Let me conclude by outlining an alternative view of perception that I like to call a relational theory Rather than begin with the assumption of a pre fabricated world as in the metaphysical approach we begin by standing back and asking like Heidegger, how do these multiple entities that we take so much for granted come to be or alternately, come to have any meaning for us? The briefest answer to this question is provided by Hilary Putnam when he says, 'Objects' do not exist independently of our conceptual schemes We cut up the world into objects when we introduce one or another possible scheme of description [12] "I prefer to call it a relational theory of knowledge" since that is much less misleading than other terms like constructivism, cognitivism and the like Human knowledge, upon this view, is like a family brought forth through a love relationship between two

persons Putnam's idea of a joint making conveys this notion of knowledge being produced by a mutual relationship Obviously, we do not begin with the assumption of any pre existing fact world And this starting point is very problematic for many Besides the fact that it seems to go against our ingrained natural attitude, such a starting point invites the objection that if knowledge is the result of a relationship, the relata must first exist So how can we not start with a fact world, a world of existing entities?

A proper understanding of this matter is very crucial if we are not to end up in the sort of contradictions Kant is said to make On the one hand, there exists a mind independent thing in itself which is unknowable, on the other hand we know our experience to be caused by that thing in itself In order to avoid such contradictions, we must recognize that just as there is no family prior to a certain relationship, there is no world (cosmos, ordered universe of meaningful entities) prior to the relationship between a knowing mind and its surroundings Notice that there is no thing in itself here That is a totally misleading expression because it makes us think of objects like oranges and apples, animals and persons (i e, a pre fabricated world) as known to us to be existing, but none of these objects can be really known, all that can be known are their appearances Such talk is obviously non sense The relational theory says, rather, that anything that may be considered an object are those which we can call by names such as 'apple' and 'orange' and

it is the product of a relationship, such objects have no existence prior to that All that can be said about the relata that exists prior to the relationship is a knowing mind and its surroundings (the environing world, as the phenomenologists would say) Nothing can be said of the shapes and contours of this environing world except that it is there and that we are constantly interacting with it, like explorers in an unknown land It is in the course of the explorations that the environing world becomes a fact world And only about a fact world can we say that it is made up of different objects arranged in a certain way, it is such a fact world that is meaningful to us and not an amorphous surrounding world

Once it is recognized that we cut up the world into objects according to our conceptual schemes, the next question that naturally arises is this where do these schemes come from? It is here that evolutionary epistemology comes into the picture and answers the question in terms of our phylogenetic experience or the explorations done by our evolutionary ancestors[13] The relationship between action and knowledge is reversed in this scheme of things R W Newell succinctly puts this view when he says,

> We may see them [human persons] as agents acting in the world and guided by their beliefs, motives, desires and needs, and thus seen, explain epistemological ideas by focussing on human activities and practices[14]

Human actions oriented to fulfilling our needs and desires come, then, at the very centre of our conceptual schemes and accordingly, of our knowledge Not only does this sort of theory recognize the intimate relationship between the three faculties in the process of knowing, but also would make room for scientific and religious knowing, if it can be shown that they are oriented to fulfilling needs and desires are significantly different from what is involved in perceptual knowing Such knowledge, especially religious knowledge, would be a matter of connaturality arising from one's practice of prayer and meditation Thus, a relational theory can maintain both the naturalistic as well as the religious concerns of St Thomas

1 Plato, Theaetetus, 201c

2 See, Stephen Everson, ed (1990) Epistemology Companions to Ancient Thought 1, Cambridge Cambridge University Press, 1990, p 4

3 White, 'Plato' in Dancy & Sosa eds, A Companion to Epistemology Basil Blackwell, 1992, p 345

4 Vernon J Bourke, The Pocket Aquinas Selections from the Writings of St Thomas New York Washington Square Press, 1960 p 4

5 Thomas Aquinas, Summa Theologiae, 1, 14,1e Bourke, p 8

6 Thomas Aquinas, Summa Theologiae 2 2, q 45, a 2

7 Robert K C Forman, Mysticism, Mind, Consciousness Albany State University of New York Press, 1999,

p 121

8 See, for example, Bourke, p 5

9 See, Joseph Flanagan, Quest for Self Knowledge An Essay in Lonergan's Philosophy Toronto University of Toronto Press, 1997, p 195 6

10 D H Dodd, R M White Jr, Cognition Mental Structures and Processes Boston Allyn and Bacon, Inc, 1980 p 23

11 David Kelly, The Evidence of the Senses A Realist Theory of Perception Baton Rouge and London Louisiana State University Press, 1986, p 148, emphasis added

12 Hilary Putnam, Reason, Truth, and History Cambridge Cambridge University Press, 1981, p 52

13 Franz Wuketits, ed Concepts and Approaches in Evolutionary Epistemology Towards an Evolutionary Theory of Knowledge Dordrecht D Reidel Publishing Company, 1984, p 81

14 R W Newell, Objectivity, Empiricism, and Truth Routledge and Kegan Paul, 1986 p 7

+

चर्चा

ज्योर्ज करुवेलिल् एस् जे

प्रद्योतकुमार : When you come to the modern period you notice that there [illegible] tendency towards

naturalism So modern epistemology is basically naturalistic And this naturalistic epistemology you almost equate with non foundationisitc epistemology In current epistemology we draw a distinction between the epistemological theories that are foundationalist and coherentist So as per your reading it must be that all modern naturalistic epistemology are coherentistic epistemologies

The other thing, when you speak of Quine, he is a naturalistic no doubt, but his naturalize philosophy is not necessarily naturalistic philosophy What he only mean to say is this that earlier conception of epistemology has got no basis what so ever And with that conception your JPT thesis is very closely related That JPT hypothesis, that conception of knowledge, which is also a modern conception of knowledge traced back to Plato by Gettier, he has revived in this time Now his point is little deferent So what Quine mean is this that it was in a modern period only that this conception of epistemology as primary philosophy arose And his objection to that, that there can not be any primary philosophy so there can not

be any search for certainty All that he can search for is genetic explanation or causal explanation And that he says to be naturalized epistemology So your understanding of naturalized epistemology is not doing justice to Quine at all That is not his conception

Now about your remark that what Kant says is nonsense I think it is not It makes perfect sense if you place him in context He is not uttering any contradiction when he says that there are things in themselves and we do not know them For knowing, has a very definite sense in Kant He says that we cannot grasp them through the theoretical exercise of reason So his conception that comes very much from the Neo platonic tradition also that two distinct applications or use of 'reason' are there theoretical and practical So we can still know them, even God we can know, immortality you can know as presupposition And that is a matter of practical reason

One more thing I would say that, you have very well brought out the Thomistic conception of general sense organ That is very useful in the sense that there was

ज्योर्ज कल्वेलिल् : Let me complete what I was saying first about the naturalized epistemology There are lot of further developments after Quine is what I wanted to say Among these developments, I just adopted one point, which I thought would fit in here with the continuity of metaphysical tradition Continuity in the need for descriptions prior to proposing a theory And describing certain things which are non controversial and proceeding further And even in describing, metaphysical description can be problematic But then there are certain common phenomena that can be described and then their explanation that give a best coherent account of those non controversial phenomena It is this methodology that was adopted This necessity for description is another way of saying what you said Quine to be saying that there can not be any first philosophy in the modern sense, a first first philosophy without any prior assumptions (descriptions)

As for Kant again is a complex thinker Each and every one of these thinkers is coherent sensible in their own systems And that way I can not scold of Kant

प्रद्योतकुमार . Then please don t use the word 'nonsense'

ज्योर्ज कल्वेलिल् : That is why I qualified earlier ' He *seemingly* makes contradiction I have used that word

प्रद्योतकुमार . Then it can not be nonsense

ज्योर्जे कस्वेलिन् : Afterwards I said "understood in this sense it is nonsense" I have no said Kant to be saying nonsense Not at all I have great admiration for Kant And I have profited a lot from him

Now while interacting about a relational theory other then the word there is nothing common between Russell and the theory I proposed

प्रद्योतकुमार : Another important question you raised was where from came this conceptual frame itself So this question is un permissible in their thinking

ज्योर्जे कस्वेलिन् : That's what I said, other then the word 'relation' there is nothing common to Russell Russell already takes a ready made world for granted That [redacted] being questioned here Here 'relation' is taken from human relations especially from the book of Vincent Bruemmes who talks about love as a mutual relationship between two persons So only that idea is being taken There is a surrounding world with which we are in constant interection, [redacted] Heideggerian terminology, we are thrown into a situation with which we are totally unfamiliar And in the process of meeting our practical needs we come to understand our surroundings in terms of something as something He gives the example of hammering   So it is that sort of thing that I am referring to and not Russell

सिद्धेश्वर भट्ट : It seems that you are using this expression 'relational theory of meaning' in a very specific

sense But otherwise there can also be another version of the relational theory of knowledge wherein it can be granted that there are objects located in an ordered way and we may apprehend the objects and their relations and reconstruct them That means there can be order at the objective level, there can also be order at the inter-subjective level And at that level we may view them in this particular sort of order or that particular sort of order But there is no incompatibility between the original order and the constituted order. If there were no order there already, I think, any construction of an order would be just simply a superimposition, simply an imagination And it would be groundless So, why should we not grant that there is an order there We apprehend the order but we reconstruct it

ज्योर्ज कल्वेलिल् : There is precisely the point of relational theory If you begin with a fact world [and an objective order, then the problem would always be, "How can we be sure that we have captured that objective order?" On the other hand, if there is no objective order, our perception would be pure superimposition, a fiction Relational theory seeks to avoid both these extremes It does not deny that there is mind independent reality, but it derives that the categorical world (reality that can be described in categories) is mind independent

The mind dependence of the categorical or factual world, however, is a conclusion and not the starting point of relational theory Its starting point is that we use categories for describing reality From this non controversial starting point it takes a step back and asks "How do we come to have these categories?" Relational theory is an answer to this question It says that we humans are thrown into a situation (non categorical, formless surrounding reality) and in the process of our interacting and relating to that surrounding, reality gains its form for us and our categorical world comes to be This is basically the view of Heidegger The point is that the surrounding reality must have certain features that enable the categories to develop in the way they do] A psychologist like like J J Gibson etc. he would talk about the affordances of the things that are there They have their affordances So that it can not be an arbitrary construction That's why though I used the word 'constructivism' earlier, I avoided that word precisely to do away with the impression that it is merely a human construction The objects or the world *or our* surrounding has certain capabilities and not other capabilities [The basic differecne between this view and our traditional coman sense view of a ready made fact world is that in the traditional view there is just one fixed set of objects and

categories whereas the relational theory says that the objects and categories would be different if our manner of relating to the surrounding would is different] Our surroundings could be approached in terms of Martin Buleer's I' 'it' which is basically a practical relation It could also be approached in terms of I-thou, then the worlds become completely deferent And that's precisely why I want to avoid the notion of a ready made world

सिद्धेश्वर भट्ट : But this reconstruction may take place in deferent ways E g it can be in such a way that my reconstruction and your reconstruction may tally Or it could also be possible that my construction and your construction may be radically deferent E g a normal man also can reconstruct and abnormal schizophrenic person also undertakes reconstruction And we do say that ours is something which is commonly acceptable but a reconstruction of a schizophrenic's is not acceptable And therefore we give treatment to that person So, there can be diferent ways of reconstructing the relations among objects

डी. प्रह्लादाचार : As per St Thomas, who follows Aristotle and Plato, senses are of two kinds Five external senses and four internal ones The four internal ones are 1 Central or general sense 2 Imagination 3 Memory 4 Cogitative sense It seems that all kinds of cognitions can be produced by these five

plus these four only That means, according to St Thomas there is only one kind of cognition, namely perceptual cognition and there is nothing else, is it so?

ज्योर्ज करुविलेल् : This is an explanation of perception then as I said there is an intellect coming to the picture And there is inference then, of course there is revelation

डी. प्रह्लादाचार : The examples that you have given

सिद्धेश्वर भट्ट : I think they are comparable to the functioning of Ahankāra in terms of मन बुद्धि चित्त अहकार but not exactly the same Because in Mind there is Samśaya But there, there is no role of doubt But correspondence is there in the functioning of Antahkarana

गो. श्या. म. : "चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि, विकल्प्य मनसा तथा, अह मत्यापि अहकाराद्, बुद्धयैव अध्यवसीयते" (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तर-लेखनीकर)

+

सगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीज्योर्ज करुवेलिल् एस जे के सुवैदुष्यपूर्ण आलेखकी समालोचना या समर्थन के रूपमे नहीं, केवल इनके द्वारा छेडे गये मुद्दोको सुन कर जो विचार मेरे मस्तिष्कमे घुमड़ रहे है, उन्हे इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनके रूपमे लेखबद्ध कर देना चाहता हु

प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया (The theory of perception) का अध्ययन अनेकधा सम्भव है : पदार्थमीमांसा (Metaphysics), प्रमाणमीमासा (Epistemology) मनोमीमासा (Psychology), प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics), मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) यो ऐसे अनेक शास्त्रोपर आधारित प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया हमारे अध्ययनका विषय बन सकती है.

इन विविध शास्त्रोकी अन्वेषणाकी रीति और उसपर अवलम्बित निष्कर्षोमे आन्तरिक प्रभेद ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरोधाभास भी प्रकट हो ही सकते हैं.

[१] दृश्य वस्तु · वर्ण आकृति परिमाण गति स्थैर्य गुणधर्म धर्मी द्रव्य सम्बन्ध आदि.

[२] दर्शनोपकरण : अकृत्रिम मानवीय नयन, मानवेतर प्राणिओके नयन अथवा दूर/सूक्ष्म व्यवहित/अव्यहित प्रकाशित/अप्रकाशित वस्तुओंके प्रदर्शक आधुनिक कृत्रिम उपकरण भी

[३] द्रष्टा : मानवीय नेत्रसस्थानसे सम्पन्न स्वस्थमना या अस्वस्थमना व्यक्ति इसी तरह अनेकविध नेत्रसस्थानोसे सम्पन्न मानवेतर प्राणी भी

[४] दर्शनानुभूति : मानवीय मस्तिष्कमे घटित होती अथवा स्वतश्चालित राडर आदि वैज्ञानिक उपकरणोमें दर्ज होती

इनका स्वरूप इस लघुतम सूचिके अवलोकनमात्रसे ही इतनी विविधता प्रकट करता है कि जिसकी कल्पना भी शक्य नहीं. इस सूचिमे कहीं और भी कुछ यदि जोड़ा जाये तब तो कुछ भी गणनाई ही नहीं रह जायेगा. किसी भी सूरतमें इन सभी शास्त्रोंका परस्पर सवाद और/अथवा विवाद बद नहीं पड़ना चाहिये. और न किसी एक शास्त्रके आधारपर

दूसरे शास्त्रकी अध्ययनपद्धति या निष्कर्ष की अकारण ही अवहेलना की जानी चाहिये

अतएव इस विषयमे प्राचीन आर्य शास्त्रोके निष्कर्ष भी वैचारिक दृष्टिसे ओझल नहीं होने देने चाहिये जैसाकि इन विचारगोष्ठिओमें अनेक वार हम प्रतिश्रुत हुवे हैं. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, वेदादि शास्त्रोकी व्याख्या होनेके रूपमे प्रवृत्त हुवा चिन्तन होनेपर भी इसी प्रयोजनवश ज्ञानकी जिस किसी विधाके साथ अपना सवाद विसवाद या विवाद जो भी हो उसे समझनेको ही ऐसी विचारगोष्ठीका आयोजन करता रहा है. अतएव सन्त थोमस अक्वीनाके प्रत्यक्षप्रमाण सम्बन्धी ईसाई चिन्तनके महत्त्वको, वैज्ञानिक अध्ययनोपात्त निष्कर्षोकी तुलनामे, हम कभी भी अब अप्रस्तुत मानना नहीं चाहते अतएव श्रीज्योर्ज कलविलेल्का इस विचारगोष्ठीमे सहभागी हो कर विद्वत्तापूर्ण आलेख प्रस्तुत करना हमारेलिये निश्चय ही हार्दिक सन्तोष एव उपलब्धि की बात है

अस्तु, प्रत्यक्षप्रमाणकी गोचर दृश्य वस्तुका वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्षानुभूतिमे बिम्ब-प्रतिबिम्बन्यायेन दृष्टिका विषय बनता है वह प्रतीकालम्बन और तदनुकूल प्रतीकसरचनाके न्यायसे प्रतीकैकाध्यवसायिनी बुद्धिका विषय भी बन सकता है वह वस्तुत तो दर्शनके सर्वथा अयोग्य वस्तुका परन्तु हमारे ज्ञानोपकरणकी सरचना या वासना के वश उभरते प्रत्ययोके माध्यमसे प्रकट होती थोथी कल्पनाका विषय भी बन सकता है अथवा सक्रियबुद्धि और निष्क्रियदृश्यवस्तु के इतरेतरोपरक्त स्वरूपका भी प्रत्यक्षमे साक्षात्कार हो सकता है. इनमेसे किसी भी प्रक्रियाको ऐकान्तिकतया ही शक्य अथवा ऐकान्तिकतया अशक्य ही मान लेना मुझे उपपत्त्यर्ह नहीं लगता क्योकि प्रस्तुत चर्चाके उपसहारमे मैंने हमारे यहा *प्रमेयरत्नार्णव* नामक ग्रन्थमे प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्रकी प्रत्यक्षप्रक्रियाका प्रतिपादन करनेवाली कारिका जो उद्धृत की, तदनुसार सर्वप्रथम चाक्षुष आलोचनकी प्रक्रिया ही इतनी जटिल लगती है कि उसी स्तरपर चक्षु और तद्गोचर पदार्थ प्रकाश-जैविकसरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics),

मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) की अध्येतव्य सामग्रीके रूपमे इतरेतरोपरक्त होते माने जा सकते है

द्वितीय मानसविकल्पना, तृतीय अहंकारानुगति, चतुर्थ बुद्धिकी विविध अज्ञान सशय भ्रान्ति निश्चय वृत्तिओमेसे किसी भी एकतम वृत्ति, यो इतने स्तरोपर घटित होती प्रक्रियाओको मनोमीमासा एव प्रमाणमीमासा (Psychology & Epistemology), का अध्येतव्य विषय बनाया ही जा सकता है

अन्तमे इन सभी ज्ञान-विज्ञानकी विधाओका साकल्येन निरूपण करना चाहती पदार्थमीमासा (Metaphysics), भी इनके निष्कर्षोसे ऊपर उठ कर प्रत्यक्षानुभूतिके घटक पदार्थोका प्रतिपादन करनेवाला पदार्थमीमाकीय स्वरूप भी विचारार्थ प्रसक्त हो सकता है

प्रत्यक्षानुभूति न तो एकाकी आत्मचेतनामे और न केवल पाचभौतिक देह या बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियो के सघातमे घटित होती कोई एकरसात्मक घटना है वह तो इन सभीके सघातमे ही केवल नहीं प्रत्युत बहुविध बाह्यविषय और सजीव व्यक्ति की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियामे सम्पन्न होती घटना है वह, अतएव, कदापि ऋजु-आकारमे परिभाषित हो ही नहीं पायेगी यह बात इस तथ्यके अवधानसे और अधिक सम्पुष्ट होती है कि बाह्य किसी वस्तुका जब चक्षु आलोचन कर पाती है, तब उस आलोचनकी प्रक्रियाको स्थगित या निरस्त करके मन स्वर्यमाण विकल्पोका *अवगाहन नहीं करता* चाक्षुषालोचनके, प्रत्युत, सातत्यमे ही उस आलोचनको यथासम्भव विकल्पोसे सयोजित करता जाता है इसी तरह अहकार भी उस सविकल्प चाक्षुषालोचनको "*अह पश्यामि*" के पहलुसे जो मण्डित करता है तो वह भी सविकल्प चाक्षुषालोचनको स्थगित या निरस्त करके नहीं उसके सातत्यमे ही उसे अहकारानुस्यूत बनाता है बादमे बुद्धिकी विविध वृत्ति—अज्ञान सशय भ्रम प्रत्यभिज्ञा निश्चय आदि—से "इम

न ज्ञातु शक्नोमि" "किम् इद घट वा अन्यत् किमपि।" "नाय घट" "घटोऽय पूर्वमपि दृष्टएव" अथवा "अय घटमेव" आकारवाली प्रत्यक्षानुभूति होती है तो वह भी "मच्चक्षुगोचरम् इदम्" के सातत्यमे ही उसे इन विविध वृत्तियोमे से किसी एकतमसे बुद्धि सयोजित करती हुयी पायी जाती है अत स्वरूपदृष्ट्या और कारणकलापदृष्ट्या भी कोई भी प्रत्यक्षानुभूतिकी घटना निरश ऋजुता लिये हुवे नहीं होती वह तो शतपत्रवेधवत् दुर्लक्ष्य साश जटिलता लिये हुवे ही होती है

अत अनुव्यवसायके स्तरपर अनुभूत होती निरवयव एकताके बारेमे वाल्लभ मतकी अवधारणाओके अनुसार इस घटनाको सघातवश उत्पन्न नूतन आरम्भ अथवा सघातघटक अनेकत्वमे एकत्वकी भ्रान्ति माननेके बजाय सघातघटक अनेकत्वमे निहित शक्य या सम्भाव्य एकत्वका वास्तविक एकत्वेन प्रादुर्भाव मानना उचित लगता है

क्योकि लौकिक दृश्यवस्तुओके ब्राह्मिक पहलुओका ज्ञान जैसे हमे ब्रह्मशास्त्रोद्वारा ही मिल सकता है, वैसे ही ब्रह्मके दृश्यवस्तुतया प्रकट होनेके कारण दृश्यवस्तुओसे घीरे जैविक अधिष्ठानमे घटित होती जैविकी प्रतिक्रिया या मानसिक प्रतिक्रिया या बौद्धिक प्रतिक्रिया अथवा दृश्येतर अन्य भौतिक पदार्थोके साथ घटित होती भौतिकी प्रतिक्रिया की गवेषणामे रत विभिन्न ज्ञानप्रणालियोद्वारा भी उन्हे जाना ही जा सकता है उदाहरणतया दृश्यवस्तुके वर्ण आकृति तुलनात्मकपरिमाण गति स्थिति तादात्म्य या सयोग आदि अनेक पहलुओकी सगणकमे सख्याकीय एककोमे न केवल व्याख्या प्रतिकृति या प्रतिरूप प्रत्युत प्रदर्शनीय प्रतिभास भी अब शक्य बन गया है एतावता वास्तविक बाह्य जागतिक वस्तुओको सगणकीय एककोका केवल सघात नहीं माना जा सकता यह तो वैसी कथा हो जायेगी कि अजैविक जयपुर-फुट पहन कर कोई चल या नाच पाता हो एतावता जैविक चरणोको जैविक न मानना

आज तो दृश्य प्रकाशतरगकी तरह मानवचक्षुसे अगोचर एक्सरे इन्फ्रारेड

अल्ट्रावायोलेट् ही नहीं प्रत्युत श्रव्य और अतिश्रव्य तरंगोद्वारा भी किसी वर्ण/आकृति/परिमाण/गति/स्थितिशील वस्तुओका साक्षात्कार शक्य बन गया है

हम मनुष्योने अकारण ही यूनानी दर्शनके पिता सुकरातकी सी भोली श्रद्धाके वश अपने-आपको तार्किक पशुके रूपमे चिरदा कर अज्ञान सशय भ्रम इच्छारूप सकल्प या स्मर्यमाण विकल्पो की हमारी शक्तिओको हीनदृष्टिसे देखनेकी मनोवृत्ति घड ली है अन्यथा ओषधिहेतुक पीडाका अज्ञान, निद्राकालीन बाह्यविषयोका अज्ञान, क्रियासमाधि या असम्प्रज्ञात ध्यानसमाधि की दशामे चित्तकी एकाग्रता के कारण होता अनपेक्षित वस्तुओका अज्ञान तो अति श्लाघ्य ही होता है। इस दृष्टिसे निहारनेपर अज्ञान आदि भी हमारी चेतनामे प्रकटे अति श्रेष्ठ वरदान ही है। जीवनमे यदि हमारी बुद्धि यदि सशयकी सामर्थ्यसे सर्वथा वंचित बनायी जा सकती हो तो दार्शनिक या वैज्ञानिक विकासकी सारी सम्भावनाये ही निःशेष हो जायेगी प्राकृतिक आपदाकी पूर्वसूचना देते दृश्य-श्रव्य आदि चिह्नोमे, भूकम्प या युद्धकी पूर्वसूचना देनेवाले सायरन् अथवा सिंह व्याघ्र आदिकी क्रूर ध्वनिओमे, भीतिजननार्थ शब्दोम की जाती घोषणाओमे वे जिन पदार्थो या घटनाओ के सूचक द्योतक या वाचक हो उनके साथ तादात्म्याध्यास प्रकट न हो पाता हो तो सजीव प्राणीका भूतलपर जीवित ही रह पाना असम्भव हो जायेगा। अतएव इन अज्ञान सशय भ्रम स्मृति आदि, दर्शन आदि शास्त्रोमे निन्दित, बुद्धिवृत्तिया बुद्धिरहित मानवेतर प्राणिओकी ही नही प्रत्युत मानवरूप प्राणीकी भी जीवनरक्षामे बहोत श्लाघ्य उपयोगी और अनिवार्य होती है

अतएव देवीसूक्तमे भगवती देवीका "या देवी सर्वभूतेषु चेतनारूपेण निद्रारूपेण बुद्धिरूपेण (तथा) भ्रान्तिरूपेण सस्थिता" (देवीसूक्ते ७,८,२६) ऐसा उल्लेख मिलता है अतः इन्हीं बुद्धिवृत्तिओको भगवान्‌की शक्ति या लीला की दृष्टिसे निहारनेपर ये वन्दनीय भी लगती है, केवल निन्दनीय ही नहीं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका इस विषयमे नितान्त अनुसन्धेय एक

वचन यो है "सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते अन्यथा प्रतिभान यद् उच्चनीचादिभेदत तद् भान तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविध यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्य चापि हरि स्वयम् विरुद्धपक्षा सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते।" (सुबो २।१।३२)

अर्थात् ब्रह्म यदि एकमेव अद्वितीय पदार्थ हो तो उसे सर्वरूपोंको प्रकट या धारण करनेमें समर्थ मानना ही पड़ेगा उस ब्रह्मकी अवधारणासे विपरीत जो भी कुछ पुण्य-पाप सुन्दर-असुन्दर शुभ-अशुभ सत्य-असत्य ऋत-अनृत ऊंचा या नीचा भान होता हो उसे ऐसे भानको और भानको प्रकट करनेवालेको भी ब्रह्म ही मानना चाहिये यदि ऐसी अवधारणामे दूषण अथवा दूष्य स्फुरित होते हो तो उन्हे भी भगवान्‌के लिये विविध रूप मान लेने चाहिये परस्पर विरोधाभासी सारे पक्ष इस परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌के स्वरूपमे शोभास्पद अलंकाररूप ही होते है।



PERCEPTION: A Philosophical Impasse

Dr. S. V. Bokil

The problem of Perception is about our knowledge of the external world whose reality would not be slighted by us in any way One cannot seriously maintain that there exists an external world of physical objects, living beings and human persons and also maintain at the same time a view that their knowledge however has no genesis in perception One would not know what it is to have knowledge of external world except through recourse to perception A strong robust common sense would certainly support such a contention And we know a few philosophers who would also defend Perception or Pratyaksa as a valid source of knowledge We say that they advocate a thesis of realism They would then claim either that we directly know through perception (or sense-experience) the existence of physical objects and the sorts of properties which those objects have or that such knowledge is had by us only indirectly, contents of our sense experience being ideas, or impressions, or sense data or sensibilia, or representations Thus we have either Direct Realism or Indirect Realism What is common to both is that *perception plays crucial* role in acquiring true justified beliefs about the external world Our beliefs concerning external world are not only caused by perception but they also stand justified before the tribunal of experience Philosophers whether

in the East or in the West have some times even claimed the superiority of perception over other sources of knowledge such as Anumāna and/or Sruti But there are also philosophers who have often said that our knowledge is not only somehow limited but also impossible because seeing, hearing and other forms of sensory perception are systematically defective or at least by nature incapable of disclosing to us anything with the characteristics we ordinarily suppose physical objects to have Most of our philosophical anxieties are thus centered around perception and howsoever strongly we feel like defending robust common sense and intuitionistic certainties of a few philosophers regarding perception, there are seemingly plausible philosophical arguments which make us skeptical about the claims made in behalf of perception Consider e g Zeno's paradoxes, which were designed to discredit the evidence of senses in our belief of the reality of motion and plurality of being They were brought in support of the Parmenidean thesis that 'being alone is, non being is not' These arguments of Zeno kept philosophical and mathematical brains till recently busy with the problematic of perception Perception tells us that motion of things in the world is real, i e the change is real and the plurality is also real But the paradoxical conclusions of Zeno's arguments discredits the evidence of perception which amounts to discrediting of perception itself Consider further Plato's criticism of Perception in his Thaetetus In defense of perception, while Protagoras was content in claiming that man is the measure of all things, Plato by continuing the logic of Protagoras' thesis reduces it to the

absurdity of contending that pig be the measure of all things If perception and knowledge are identified, then any irrational brute that is capable of perception is equally the measure of all things Further if perception is identified with knowledge as is contended by Protagoras, my own perception at any moment becomes infallible and then there is no possibility of any instruction, any scientific discussion nor any debate or refutation Identity of perception and knowledge leads to contradiction a very subtle charge made by Plato against Protagoras Further[1] Plato claims that to identify perception with knowledge is to annihilate knowledge of future Plato further blames Protagoras for his ignorance of an apriori element in knowledge The most important point which Plato makes is that we see with the eyes and hear with the ears, but to conjoin these perceptions thus acquired by different sense organs and to embrace them in the unity of self consciousness neither of these is an affair of the senses We cannot have visual sensation by ear nor auditory sensations through eyes but nevertheless if we compare them, and distinguish them, that function cannot be performed by senses themselves

Zeno and Plato were rationalists and for them reason in man was dependable organ of knowledge that referred infallibly to trans empirical reality In denouncing perception, they had a philosophical axe to grind But Now consider the indictment of perception and indeed of all knowledge as such through ten skeptical tropes i e points or arguments

given by Sextus Empiricus a Greek physician who lived probably in the first half of the third century after Christ (Refer to his Pyrrhonic Hypotheses in three books The skeptical reservation of opinion or suspension of belief was based on

1 Varieties of sensations and feelings which living beings in general have

2 The bodily and mental diversities of men, by reason of which things appear different to different persons,

3 to the varying accounts of the senses themselves in regard to things, and to the uncertainty as to whether the organs of sense are competent or not,

4 to the dependence of our perceptions of things on our different bodily and mental states, as well as

5 on the various positions of things to us and to each other (distance, etc),

6 to the fact that we know nothing directly, but all only through some extraneous medium (air, etc),

7 to the varying impressions of the same thing by varying quantity, temperature, colour, motion, etc ,

8 to the dependence of our impressions on custom, the new and strange affecting us differently from the common,

9 to the relativity of all notions, predicates in general expressing only relations of thing to each other or to our perceptions of them,

10 to the diversity of the customs, manners, laws, religious conceptions, and dogmatical opinions of men

These ten tropes summarise succinctly ancient skeptic's

philosophical perspective It is clear that ancient skeptics disavow belief Naturally their scope is less radical They do not doubt the reality of external world nor do they doubt that other persons have the sorts of feelings or perceptions as they have The modest scope of ancient skepticism both of reason and perception is, it is claimed, due to its practical concern Skepticism in ancient times was considered to be a way of life It was believed that "He who has adopted the skeptical mood of thought, lives ever in peace, without care and without desire in a pure apathy neither of good nor of evil"

I must now hasten to speak of the treatment of Perception in classical modern period which begins with Rene Descartes I shall also later on briefly indicate 20th century perception of Perception especially after the major linguistic turn I shall keep the notion of perception at the center and develop the remaining presentation

1 Descartes was rationalist and also a realist He argued knowledge must be true justified belief and that beliefs or ideas must be caused by external material objects that exist independent of me Thus all knowledge is comprised of innate ideas and perception can never play any justificatory role *in knowledge* Thus his skeptic (better known as Cartesian skeptic ■ man of straw), in executing his methodological affair, denounces perception as a valid source of knowledge But Descartes also advocated Mind-body substantial dualism

and thereby created host of problems in relating mind and body It certainly seems that mind and body must be related in some way if you have to account for the knowledge of the external world But if they are substances in their own right, no relation whether at physical level or at metaphysical level can be logically satisfactory I shall not rehearse Descartes' proof which is lengthy one draw your attention to the core point in Descartes argument viz , though god is final sanction for all our knowledge, God guarantees the external existence of only those characteristics of objects of which we have clear and distinct apprehension Of these there is only one, that is that they have extension in width, breadth and depth (hence they have shape) and relatedly they have substance, location, motion, duration, and number Knowledge of these is guaranteed by God through reason which is the essence of mind or soul Ideas like colour, sound, taste, heat and the like are adventitious, hence variable and relative Because they are confusedly apprehended as properties of objects and hence uncertified by God These properties which we come to perceive through senses may or may not accurately represent external objects What we can know and prove with the exactitude of a geometrical theorem is that material objects exist and have extension This is what is known as Representative Realism and which states that there is a real object (sustance) represented by ideas and indirectly know the objects they represent

2 This theory is also held by John Locke father of

classical Empiricism He does not however indict perception On the contrary he advocates the thesis that there are no such things as innate ideas and that sense experience is only and sole source of all our ideas that go to make knowledge However he expounds this thesis within the metaphysical framework of Descartes, thereby inviting a very perceptive comment that he is more ■ Cartesian than a Baconian He subscribes to Descartes' distinction between Primary and Secondary qualities a distinction acknowledged by the then world of science and holds that the material substance which exists independent of mind is represented by ideas that we have through our senses of the properties which objects have We do not really know or perceive substances but refer our ideas, which we do perceive, to them as their causes A substance is merely a something, I know not what its unknown cause of my sensations or ideas of sensation He attributes primary properties to material substance substance inheres these properties, they are shape, size, number, motion and rest But there are qualities which we attribute to objects outside but which do not inhere in them they are secondary properties Locks maintains that colours, odours, sounds, tactual feels and tastes of ■ thing exist as qualities only in the mind They primarily depend upon sense organs and the mind, which is for Locke, a mere tabula rasa having nothing to contribute of its own a priori Thus we infer what the substance is from its effects on us

3 If we consider both these presentations of the

representative theory of knowledge, one giving no place to perception and the other solely resting on perception, one can see that both the presentations are unsatisfactory Descartes partly but Locks fully appeal to principle of causality Appeal to causation is of no avail, because how can we empirically verify a causal relationship between objects and ideas unless we know first that such a relationship holds, we cannot know that there are any such things as external objects? Representative realist needs to verify this relationship in order to infer the existence of an external world, but in order to verify this relation he must first know that there really is and external world The consequence is that both Descartes and Locke founder upon a skepticism concerning external world of material objects It is this skepticism that has led for the first time in modern philosophy to the rise of epistemic idealism which reduces the 'esse' of an object to 'percipi' (Brunet and Berkeley) Direct realism may not be a satisfactory philosophical account of our knowledge of external world but it at least sides with common sense Representative realism intensifies philosophical anxieties that center round the relationship of mind and world It presupposes metaphysical dualism of mind and body but it also introduces the myth of ideas in between mind and the external world It's a known story how this my exorcises the concept of matter in Berkeley's philosophy and through that halfway house lends to skepticism about the very very substantial notion of mind It leads to full blooded sensationalism in Hume and Condillac a reductio ad absurdum of both reason and perception

as organs of human knowledge It's the phenomenalistic reductionism which led to the rejection of metaphysics and to the introduction of mechanistic conception of man in La Mettrie Descartes and his rationalistic supporters are non naturalists, so are Locke and Bishop Berkeley Hume introduced naturalism for the first time in Modern philosophy and identifying 'perception' with 'impressions' boldly handed Humean spectre in the hands of a skeptic

4 Attempts were made to overcome the difficulties presented by the Representative theory of Perception by suggesting modifications here and there by developing theories like Neo realism (R B Perry) and Critical Realism, (George Santayana I shall not deal with them (Those interested may refer to Vol 51, no 2, April 1967 issue of Monist, which ■ devoted entirely to studies of neo realism and critical realism) Scholars are agreed on the general failure of these theories in handling squarely the issue of our knowledge of external world through Perception

5 The 20th Century Phenomenalism or Sense data Theory has much in common with Berkeley's epistemological idealism, it's a linguistic refinement of Berkeley's position without the theological metaphysics which he introduces Both Berkeley and Hume had proposed reduction of material objects we perceive to the sensible qualities The modern phenomenalist agrees with Berkeley that sense contents to not exist unperceived "To be ■ to be perceived" ■ correct with

respect to immediate data of perception. Surely material things are constituted by sense data He however departs from Berkeley in asserting that material things do exist independently. In order to remove prima facie incompatibility in asserting these contentions, phenomenalist moves from material mode of speech to a formal mode of speech and says that there is an important sense in which objects may be said to be constituted out of sense-data, which objects may be said to be constituted out of sense data, which does not require *saying that they are composed of them* If we properly understand the relationship between sense data and objects, then according to Ayer, objects can be regarded as logical constructions out of sense data To say thus is to say that the physical object statements are those that can be translated into sense data statements Thus the phenomenalist shifts the whole problem of the external world to a linguistic level Highly sophisticated and technically subtle accounts of the possibility of such translations were worked out by the defenders of such a theory but all of them failed for two important reasons

1 No reduction of any physical object statement can be satisfactorily effect without introducing in the reductive analysis some new physical object statements or reference to physical objects

2 As pointed by Waismann, the empirical concepts are open textured *concepts in such a way that there is always* an element of uncertainty about their application In his

own words

"The phenomenalistic translation would be possible only if the terms of a material object statement were completely definable For only then could we describe completely all the possible evidences which would make the statement true or false As this condition is not fulfilled, the programme of phenomenalism falls flat, and in consequence the attempts at analyzing chairs and tables into patterns of sense data which has become something of a national sport in England are doomed to fail"

'Verifiability' in Logic and Language, (ed) A N Flew (1955, p 121)

6 There are several new perspectives and new bearings in the philosophies of Ryle, Austin and Wittgenstein (Later) based on linguistic analysis and ordinary language use But, more of that on some other occasion

1 If everbody is right, then surely no one including Protegoras himself is right

चर्चा

PERCEPTION A Philosophical Impasse

डा एस् वी वोकिल्

सिद्धेश्वर भट्ट : Why you have confined your analysis of the problems of perception to our knowledge of the external world Because even in the western tradition there has been analysis of sense impressions, simple ideas, mental world also also in judgement of perception, but why can we not take that from other non skeptical So, to begin with they have definite conception of knowledge as per your opening sentence If they have definite conception of knowledge then why we bring in sort of Platonic

एस् वोकिल : You just tell me who was the philosopher in the west up to Descartes & Lock, who have believed in perception the philosophers who have believed in perception as a source of knowledge of external world They have all the time remained skeptical Perhaps you have Aristotle But in Aristotle what has happened? He certainly depends upon perception for our knowledge of the external world Because he is not Platonic

सिद्धेश्वर भट्ट · They have developed natural and social sciences and have drawn upon perception

एस्. बोकिल : But ultimately in Aristotle as well you will find that knowledge is ultimately my understanding of the form of the external objects Now how do I get that form? Surely not through perception So, Aristotle, though he criticised Plato, in the ultimate analysis he also becomes Platonic

सिद्धेश्वर भट्ट : No But he has e g developed inductive logic How can there be a development of the logic without relying upon observation or perception? The best sort of picture we should not overlook, my suggestion is this

एस् बोकिल : His inductive logic is not merely a simple enumeration

सिद्धेश्वर भट्ट : But observation is there

एस्. बोकिल : Observation is there but what has happened to the problem of induction in the west, we still accept the opinion of Hume that inductive

सिद्धेश्वर भट्ट : But induction is there, that can't be denied Any way, this is one point

एस्. बोकिल : That is the philosophical impasse that induction is there but we can't justify Because philosopher's problem is

सिद्धेश्वर भट्ट : We do have limited justification, otherwise there would not have been light of scientific knowledge And all the scientific and technological inventions would not have taken place

एस्. बोकिल : I think philosophers will not say that scientific knowledge which we have reached is the ultimate

truth Every belief is revisible There are philosophers like Putnam, Quain e g

सिद्धेश्वर भट्ट : Any way, my point was only this much that there is available an analysis of inner world as well

एस्. वोकिल : This ■ a part of conception

सिद्धेश्वर भट्ट : And the second is even in a Greek thought we do have not only references to but say grounding in perceptual cognition so far as scientific knowledge is concerned I have one more point, you have approvingly mentioned Plato's indictment of perception saying that it could be perception of a pig

एस्. वोकिल : This is what Plato mentions

सिद्धेश्वर भट्ट : Yes, but you are approvingly mentioning Well my point is that by perception while we are analyzing it e g in our present context, we mean ratiocinated organized articulated sense experience That is what we call in our tradition 'Pratyaksa' Otherwise we are not concerned with the Pratyaksa of a crow or pig etc we don't refer to that So I think that

एस् वोकिल : *That is a reductio* ad absurdum that Plato has My response to this would be that those who believe in perception should first consider if it is possible for us to have perception without language ? How do we acquire language

सिद्धेश्वर भट्ट : This is debatable

एस् बोकिल Why debatable? You show me a single perception, which you make and you do not put it in

सिद्धेश्वर भट्ट : Buddhist would say that every perception is nonverbal Even Naiyayika would say that Nirvakalpaka is nonverbal In our tradition we have that position

एस् बोकिल : On the other hand modern philosophers are inclined to believe that there is no such thing as pure sensation William James e g says that every perception is by some kind of hypothesis, which we have There is no such thing as pure sensation So there is no such thing like Nirvikalpak

प्रद्योतकुमार : Prof Bokil was trying to say that how the theories of perception developed in the west from times of Plato and up to modern time is partly And in this regard, his presentation is perfectly all right excepting three or four minor omissions The first one is that speaking of sense data theory, how can you afford to omit mentioning Russell and Second thing, while you speak of phenomenalism, and you are trying to say why phenomenalistic reduction is not possible, you have forgotten to mention John Stuart Mill, who says that perception of matter is the permanent possibilities of sensation But the important point is that when you that this conception has developed in the 20th century simultaneously with the

development of the modern science And you are very correctly asserting that there are two completely different types of skepticisms classical Greek skepticism and the modern skepticism Greek skepticism, which you have not emphasized, which I think you should have emphasized, that it was basically skepticism about the knowledge itself Modern skepticism is mainly three kinds 1 skepticism of the external world 2 skepticism of the other mind and 3 skepticism of the knowledge of past All of them But my perception is this that why was I have noted it first developed that Baker could not justify his belief in perception And there he says that he also introduced world But actually the thing is otherwise Because he introduced this version(?) that created this problem But the most basic point is this that when you speak of phenomenalistic reduction, one aspect has been there that any phenomenalistic reduction physical object statement is bound to invoke subjective conditions And that means any certain peace of knowledge would become only subjective conditional And that is wrong These are the few remarks

But the important point is this It is true the problem is about the external world and not of the knowledge about our own self Simple reason is this Though it is not denied that ideas are

always known, they are the immediate data for experience but it is not said that those ideas are object the object of the perception Actually the object of perception is external world And that perception itself consists of certain ideas and various So that both of way it is suggested that they also have their of perception that is a different thing I don't think about the of perception But how this problem of perception was generated and into what it has made us to But more or less basically this phenomenalistic reduction is a thing of past Now a days are See, again of realism There is physicality language is still found to be the better one because of its simplicity

एस् चोकिल : You have certainly made very important observation My problem was this, after long experience I have decided that for seminars I should always write short papers so that we can get more time for discussion If you refer to 20th century development, and if I take we have perception of our own feeling just see what Wittgenstein says They aren't there he says They don't have any ontological reality at all

सिद्धेश्वर भट्ट : Private language

एस् चोकिल : Yes private language argument is there But I think to bring in private language argument to I should better use perception for the reasons for which we considered to be most important namely

perception of external world And I think problem before the scientists is also exactly the same

सिद्धेश्वर भट्ट : These days scientists are very much busy with the analysis of consciousness Tremendous research is going on in the field of understanding of consciousness



भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ॰ कृष्णमूर्ति शास्त्री, चेन्नई

उपोद्घात ।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्या पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर् द्वाभ्या स नो विष्णु प्रसीदतु॥

"मानाधीना मेयासिद्धि मानसिद्धिश्च लक्षणात्" इति सूक्ति प्रमाण विना प्रमेय खलु नैव स्थाप्येत सर्वप्रमाणज्येष्ठभूतम् इद सर्वसम्मत यत् प्रत्यक्ष नाम प्रमाणसख्याया तावत् विवदन्तो वादिन एवम्—

चार्वाका तावद् एक द्वितयमपि पुनर् बौद्ध-वैशेषिकौ द्वौ
भासर्वज्ञ च साख्य त्रितयम् उदयनाद्या चतुष्क वदन्ति।
प्राहु प्राभाकरा पञ्चकम् अपिच वय तेऽपि वेदान्तविज्ञा
षट्क पौराणिकास्तु अष्टकम् अभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगाद्॥
(मानमेयोदयम्)

"व्यवहारे भट्टनय" इति आभाणकम् अनुसृत्य वयमपि षट्प्रमाणवादिन इदानीं प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षस्य विमर्शं यथामति कुर्म

प्रमाणम् :

"प्रमाकरण प्रमाणम्" इत्यत्र नास्त्येव विप्रतिपत्ति वादिनाम् प्रमाच एतन्मतरीत्या "अज्ञात-तत्त्वार्थ-ज्ञानत्वम्" इति मानमेयोदये स्पष्टम् उक्तम्

"प्रमाकरणमेव अत्र प्रमाणं तर्कपक्षवत्, प्रमाच अज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेव अत्र भिद्यते".

'अज्ञात'पदेन अत्र ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोः निरास. तत्र तार्किके अनुवादानाम् अप्रामाण्यं न अनुमतम्. वयन्तु ब्रूमो, अनुवादो हि अर्थपरिच्छेदे व्यवहारे वा पूर्वज्ञानात् कञ्चिदपि विशेषं न आधत्ते. अतः फलविशेषाभावात्, फलार्थं च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृतिवद् अनुवादो अयं प्रामाण्यं न अर्हतीति तद्वारणं 'अज्ञात'पदेन आवश्यकम्.

शंका : एवं चेत् धारावाहिकेन "घटोऽयं घटोऽयं" इत्येवंरूपे द्वितीयादीनाम् अप्रमात्वं स्यात्?

समाधानं : "अयम् अयम्" इत्येवम् अत्र उत्तरोत्तरयां कालांशानाम् अज्ञातानाम् अवगमात्, उत्तरे क्षणे घटादिसद्भावस्य च पूर्वज्ञानेन अनधिगतत्वात् प्रमात्वमेव.

शंका : कालविशेषस्य औपाधिकत्वात् केन उपाधिना अवच्छिन्नानां कालांशानां भानम्?

समाधानं : पूर्वपूर्वज्ञानजनितानां प्राकट्यानाम् उत्तरोत्तरज्ञानपर्यन्तम् अवस्थानात्, प्राकट्यावच्छिन्नानां कालांशाना तत्र-तत्र अवगम. प्राकट्यविशेषाणां सूक्ष्मत्वात् तदवच्छिन्नकालविशेषाणामपि सूक्ष्मत्वात् पुनरपि दूरवगमत्वं स्याद् इति न शंकनीयम्. प्राकट्याना कालविशेषाणाञ्च सूक्ष्मत्वम् अथवा दुरवगमत्वं नास्ति. अन्यथा "कमलदलशतं युगपद् भिन्नं सूच्या" इति वत् "सकृद् अवबुद्धो घट" इति यौगपद्याभिमानप्रसंगात्. इहतु 'अयम्'-'अयम्' इति पुन-पुन क्रमेणैव प्रतीते धारावाहिकस्वभावसिद्धत्वाद् यौगपद्याभिमानस्य विरोध.

डी.प्रह्लादाचार : अयम् अशः कथं...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्य प्रमाणस्य फलम्. फलं कालविशेषाः क्षणविशेषा च. तेऽपि सूक्ष्माः. प्राकट्यावच्छिन्नानां कालविशेषाणाम्

उत्तरोत्तरक्षणे नूतनतया भानम् इति यदि उच्यते तत् कथ स्याद् इतितु न शकनीयम् तेऽपि यद्यपि सूक्ष्मा अथवा सूक्ष्मत्वमेव नास्ति इति उक्त्वा तेऽपि प्रत्यक्षविषयाएव भवन्ति अतएव 'अयम्'-'अयम्' इत्येव नूतनतया एकैक क्षण अस्मद्दृष्टिगोचरो भवति नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षत्व वयम् अगीकुर्म तत्रच एका युक्ति उच्यते यदि कालादीना दुरवगमत्व प्राकट्यस्य च तदानीम् "अय घट सकृद् अवबुद्ध" इति अनुव्यवसाय स्यात् यथा "कमलदलशत युगपद् भिन्न" सूच्या शतपत्रभेदन्यायेन युगपद् भिन्नम् इति भ्रमो भवति अत्रतु दुरवगमत्व यदि स्यात् तथा अनुभव स्यात् अनुभवेतु पुन -पुन क्रमेणैव प्रतीति जायते इति कृत्वा यौगपद्याभिमानस्य न विरोध

प्रद्योतकुमार : प्राकट्यस्य भेदो अगीक्रियते वा?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्याना भेदस्तु अगीक्रियते, कालविशेषात्

के ई देवनाथन् : ज्ञानभेद

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्येन अवच्छिन्नाना कालाना सूक्ष्माणामपि उपलब्धि भवितुम् अर्हति धारावाहिकस्थले द्वितीयादिप्रामाणानाम् एव प्रमात्व स्वीकार्यम् अनधिगतत्वञ्च अगीकृतम् एकैकस्य शास्त्रकारस्य स्वकीयप्रक्रियायाम् आग्रहस्तु वर्ततएव तदर्थ कापि कल्पना युक्तियुक्ताएव गृह्यते

प्रमाणलक्षणे 'तत्त्व'पद भ्रमसशयादीनाम् अयथार्थज्ञानाना निरासाय प्रयुक्तम् प्राभाकाराणा मतेतु अयथार्थज्ञानस्यैव अभावात् 'तत्त्व'पदम् अनर्थकम् एवहि तेषा मतम् "इद रजतम्" इत्यत्र 'इदम्'इति अगृहीतविशेष शुक्तिशकल गृह्यते, 'रजतम्' इति च रजतमात्र प्रमुष्टतत्ताक स्मर्यते तयोश्च भेदाग्रहात् "इद रजतम्" इति व्यपदेश पुरोवर्तिनि प्रवृत्ति च शुक्तिशकलस्य रजतत्त्वेन भानरूपो भ्रमस्तु नास्ति इति

इदन्तु एव निराकरणीय तत्तज्ज्ञानस्य स्वविषयएव प्रवृत्तिकरत्वनियमात्

रजतज्ञानस्यापि इदंविषयत्वाभावे पुरोवर्तिनि इदमि प्रवृत्तिः न स्यात्. किञ्च चेतनस्य प्रवृत्तिः सर्वापि ज्ञानपूर्विकेवेति भेदाज्ञानात् प्रवृत्तिः अनुपपन्ना. अपिच "इदमेव रजतम्" इति सामानाधिकरण्यं तयोः अभेदप्रतीतिं विना न सिद्ध्येत्, इति.

तस्मात् अन्यथाग्रहणरूप-प्रमादिज्ञान-सद्भावात् तन्निरासार्थं 'तत्त्व'पदम्. तद् एव अज्ञाततत्त्वावगमरूपाया प्रमाया करणत्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादीनां प्रमाणत्व सिद्धम्.

अत्रच 'प्रमा' शब्देन लक्षणया तत्कार्यभूतस्य प्राकट्यस्यापि प्रतिपादनात् प्राकट्यरूपप्रमाकरणत्वेन ज्ञानस्यापि प्रमाणत्व भाट्टाः आहु. एतावताच वय फलप्रमाणवादिन इति गीयामहे.

प्रत्यक्षम् :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रमाण प्रत्यक्षम् इन्द्रियाणिच चक्षु-रसन-घ्राण-स्पर्शन-श्रोत्राणि मन च इति षट् पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चभूतात्मकानि गीयन्ते एवम्—

चक्षुर् नाम कनीनिकान्तरगत तेजो अथ जिह्वाग्रगस,
तोयांशो रसन, क्षितेरिव मनो घ्राण च घोणोदरे।
सर्वाङ्गप्रसृता च मारुतलवा त्वङ् नाम, कर्णोदर-
व्योमैव श्रवण, मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम्॥

रूपज्ञानस्य केनचित् कारणेन भवितव्य इति सामान्येन सिद्धौ दीपादितेजसएव रूपज्ञानहेतुत्वदर्शनात् चक्षु तैजस कल्प्यते. तथा रसज्ञानस्यापि करणकल्पनाया, शुष्कवस्तुषु रसाव्यञ्जकत्वम् अपामेव दृष्टमिति रसनेन्द्रियम् आप्य कल्प्यते एव चन्दनगत-पार्थिव-निम्बत्वगनुलेपनस्य गन्धाभिव्यञ्जकत्व-दर्शनात् गन्धाभिव्यञ्जकत्वेन कल्प्यमान घ्राण पार्थिव भवति तथा व्यजनपवनस्य

अंगसगि-सलिलस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगेन्द्रियस्य वायवीयत्वं कल्प्यते. शब्दग्राहकतया कल्प्यस्य श्रोत्रस्यतु परिशेषाद् आकाशात्मकत्वम्. चक्षुरादीनां खलु अन्येन्द्रियारम्भकेण आरब्धत्वं न दृष्टमिति, तेजप्रभृतीनां अन्येन्द्रियारम्भकत्वात् तेषां श्रोत्रत्वं न सम्भवति. भूतात्मकत्वमेव च बहिरिन्द्रियाणां दृष्टमिति अवशिष्टस्य आकाशस्य भूतस्यैव श्रोत्रत्वम् इत्येवं परिशेषो भवति.

तार्किकास्तु "शब्दस्य आकाशगुणत्वात् तद्ग्राहकस्य श्रोत्रस्य आकाशत्वम्" इति साधयन्ति; तद् अस्माभि न अंगीक्रियते, शब्दस्य द्रव्यत्वात्.

मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यते. तस्यच विभुत्वं साधयिष्यते यद्यपि मनो विभुः तथापि तस्य शरीरावच्छिन्नस्यैव इन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेशएव कार्याणि करोति. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिपरतन्त्रं प्रवर्ततएव. अनुमानादिष्वपि तत् लिंगादिसहाय भवति इति स्थितिः.

चक्षुरादिषु इन्द्रियेषु नेत्रश्रोत्रयो प्राप्यकारित्वे विवादो अस्तीति बहिरिन्द्रियत्वेन हेतुना त्वगादिवत् तयोरपि प्राप्यकारित्वं साधनीयम्. ततश्च नेत्रस्य पृथुतरपृथिवीधरादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेज स्वभावसिद्धम् आश्रयणीयम्. तथा उन्मीलनक्षणएव दूरतर-शनैश्चरादिदर्शनाद् व्याप्यावस्थितेन बाह्यतेजसा निर्गमनसमयएव एकीभावः कल्पनीयः बाह्यतेजसः सकलव्यापित्वेन केरलेभ्योऽपि गंगादर्शनप्रसंगस्तु नापादनीयो, अदृष्टोपगृहीतेनैव आलोकभागेन एकीभावात्.

परन्तु तार्किका तदिदं दूरदर्शनं वेगातिशयात् साधयन्ति. अनन्तयोजनान्तरितेषु शनैश्चरादिषु झटिति दर्शनं वेगमात्राद् असम्भाव्यमिति तद् उपेक्षितम् अस्माभि. एतानिच इन्द्रियाणि अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वात् प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते.

सन्निकर्षः :

इन्द्रियार्थयो सन्निकर्षो द्विविध [1]सयोग [2]संयुक्ततादात्म्य च इति.

१. तत्र पृथिव्यप्तेजसां चक्षुस्त्वगिन्द्रियाभ्यां संयोगाद् ग्रहण, वायोः त्वक्सयोगाद्, आत्मनः मन संयोगात्. विभुनोरपि आत्ममनसो अजन्यसयोगांगीकारात् न विरोध.

२. यदातु चक्षुरादिसयुक्तेषु पूर्वोक्तेषु पृथिव्यादिषु तदात्मभूतानां जातिगुणकर्मणां ग्रहणं तदा संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष. तद् उक्त "रूपादीनान्तु संयुक्त-द्रव्यतादात्म्यमेव नः, प्रतीतिकारण तस्मात् न सम्बन्धान्तरस्पृहा" इति.

यदातु जाति-गुण-कर्मगताना सत्ता-रूपत्व-कर्मत्वादीना ग्रहणं तदा तेषामेव परम्परया तादात्म्यसम्भवात् सयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्ष इति मन्यामहे. यद्वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय समवेतसमवायम् आश्रयन्ते तथा अस्माकमपि सयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्य नाम तृतीय सन्निकर्षो अस्तु, का हानि। जाति-गुण-कर्मणाञ्च स्वाश्रयैः तादात्म्यमेव सम्बन्ध तस्मात् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्ष.

तार्किकास्तु तादात्म्यस्थाने समवायम् अभिषिञ्चन्तो अन्यथा सन्निकर्षम् आहु : सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव च इति षोढा सन्निकर्ष इति इदन्तु न उपपद्यते

तत्र आद्य त्रिविध तावत् नाममात्रेण भिद्यते।
समवायादयस्तु अन्ये सन्निकर्षा निराश्रया ॥

प्रथमा त्रय अस्माकमपि नामान्तरेण सम्मता.

शब्दस्य हि श्रोत्रगुणत्वाभावात् समवाय-समवेत-समवायौ निरवकाशौ. अभावस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात्, समवायस्य च शशशृंगायमाणत्वाद् विशेषण-विशेष्य-भावसन्निकर्षोऽपि हेय. किञ्च चक्षुसंयुक्तेन अर्थेन अभाव-समवाययो विशेषण-विशेष्यभाव. सन्निकर्षो न सम्भवति; "दण्डी पुरुष" इत्यादौ सम्बन्धान्तरपूर्वकस्यैव विशेषण-विशेष्यभावस्य दर्शनाद् अभावसमवाययो च अर्थेन सम्बन्धान्तराभावाद इति.

प्राभाकरास्तु १. संयोग २. संयुक्तसमवाय ३. समवाय च इति त्रेधा सन्निकर्षम् आहु. तन्मते रूपत्वादीनाम् अभावात् संयुक्त-समवेत-समवायो न आश्रयणीय. शब्दत्वस्य अभावात् समवेत-समवायोऽपि न आश्रीयते. अभावस्यैव अभावात्, समवायस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात् विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न आश्रयणीय इति. तदपि मतं, रूपत्वादीना साधनात् तार्किकैरेव निराकृतम्. तस्माद् उक्तप्रकारएव सन्निकर्ष.

प्रत्यक्षं द्विविधं : १. निर्विकल्पकं २. सविकल्पकं च. तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमेव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगमशून्यं यत् सम्मुग्धज्ञानं जायते, तत् विशिष्टकल्पनाभावात् निर्विकल्पकम् इति उच्यते.

यत्तु तदनन्तर शब्दस्मरणसहकृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं "रक्तः अय" "घटः अयम्" इत्यादिव्यक्तविज्ञान तत् सविकल्पकम्.

शाब्दिकास्तु निर्विकल्पकं नास्ति इति आहु. उक्तहि "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमाद् ऋते" इति. तद् अयुक्तम्, पूर्वम् अर्थदर्शनाभावे शब्दस्मरणस्य हेत्वभावप्रसगात्

सौगतास्तु प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमेव आश्रित्य सविकल्पकस्य प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वं च न अस्ति इति आहु.

तदपि अयुक्तम्, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षतया लोकसिद्धस्य निषेधे

लोकविरोधात्. तद् उक्तम् "'चन्द्र'शब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति सएव सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वं निवारयेद्" इति. अपिच सविकल्पकानन्तरमेव अर्थक्रियादर्शनाद्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं प्रमाणत्वं तस्य दुर्निवारम्.

शंका : सविकल्पकस्य 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्वं कथम्? तस्य निर्विकल्पकेन व्यवधानेन, साक्षाद् अक्षजत्वाभावात्, परम्परया अक्षजत्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे, अनुमानादीनामपि प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्.

समाधानं : निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि साक्षाद् अक्षजमेव; यथा आहुः आचार्या

ताश्च इन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पना।
यदितु आलोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद् विकल्पयेत्॥
प्रत्यक्ष नैव मन्यन्ते तल्लोकिकपरीक्षकाः।
इति.

किञ्च परम्परया अक्षजत्वेऽपि न अनुमानादिषु प्रत्यक्षत्वप्रसंगः, पंकजादिष्विव योगरूढिस्वीकारेण अनुमानादिषु 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य अप्रवृत्ते.

अत्र गुरु. आह : पंकजादिषु रूढि नास्ति, अवयवशक्त्यैव पद्मे वृत्युपपत्ते. कुमुदादिषु अप्रवृत्तिस्तु तेषु अप्रयोगादेव भविष्यति इति.

तद् अयुक्तम्. 'पंकज'शब्दस्य पद्मे वृत्तौ का सामग्री इति चिन्तायां ...णां कुमुदादिष्वपि सत्वेन व्यभिचाराद् रूढिरपि सामग्रीत्वेन कल्प्या. योगश्च प्रतीतो न हातुं शक्तइति उभयसिद्धि. तस्माद् योगरूढिशक्त्या निर्विकल्पक-सविकल्पकयोरेव 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्व न अक्षापेक्षाणामपि अनुमानादीनाम् इति सिद्धम्.

सविकल्प पञ्चविधो : [1]द्रव्य-[2]जाति-[3]गुण-[4]कर्म-[5]नामभि.

यथा १. वेणुमान् अयम् २. गोपो अयम् ३. श्यामो अयम् ४.... अयम् ५. गोविन्दो अयम् इति.

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमपि षष्ठो विकल्प इति केचित्. तन्न, नामकल्पनायाम् अन्तर्भावात्. नाम्ना हि पूर्वम् अनुभूतरूपे स्मारिते तद्रूपविशिष्टतया अर्थस्य कल्पना नामकल्पना इति उच्यते. तेन "गोविन्दो अयम्" इत्यस्य अयम् अर्थ — "यो असौ 'गोविन्द'शब्दवाच्यतया पूर्वं गृहीत सएव अयम्" इति. यदातु शब्दवाच्यत्वं अतन्त्रीकृत्य पूर्वापररूपयो ऐक्यावगमएव तात्पर्यं तदा सएव अयम् इति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टा भवति; साच प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहितेन इन्द्रियेण एकज्ञानत्वेन जायते. तथाच 'सः' इति 'अयम्' इति च द्वे भाने जन्येते; तत्र 'सः' इति भानजननशक्ति संस्कारकृता, 'अयम्' इति भानजननशक्ति इन्द्रियकृता इति विभावनीयम्.

इहच प्रत्यक्षज्ञानेषु विवक्षाभेदेन १. इन्द्रियस्य २. तत्सन्निकर्षस्य ३. ज्ञानस्य वा करणत्वं भवति. अत सिद्धम् इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम् इति.

गुरुस्तु आह : "साक्षात्प्रतीति प्रत्यक्षम्. तच्च मेय - मातृ - प्रमास्वरूपम् इति त्रिपुटं भवति" इति. तद् आलोच्यते.

तत्र किम् इदं साक्षात्वं नाम ? ननु साक्षाद्धीः स्वरूपधीः; अक्षाद्धि स्वेनैव रूपेण भानं; लिंगादिभ्यस्तु परसम्बन्धिरूपेणैव अग्न्यादीनां भानाद् असाक्षात्त्वम्, इति चेत्, न, एवं चेत् नामादिपरसम्बन्धिरूपेण भानात् सविकल्पकस्य असाक्षात्त्वं स्यात्. यदि तत्र परसम्बन्धिरूपभानेऽपि स्वरूपधीरपि अस्ति इति उच्येत, तर्हि अनुमानादिष्वपि तथात्वात् साक्षात्त्वम् आपद्येत. आत्मस्वात्मनोस्तु सर्वज्ञानेषु प्रत्यक्षत्वकथनं कर्मकर्तृभावादिविरोधात् निराकरिष्याम.

बौद्धास्तु "कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" इति आहु..

'कल्पनापोढ'पदेन सविकल्पाना निरासो 'अभ्रान्त'पदेन निर्विकल्पकेऽपि भ्रमत्वेन अभिमताना केशोण्ड्रकादिज्ञानाना निरास तद् अयुक्त, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसाधनेन तत्र लक्षणस्य अव्याप्तत्वात्

यत्पुन योगिज्ञानम् ईश्वरज्ञान च भूतभविष्यदादिविषयम् इन्द्रियसन्निकर्षाजन्यम् अपरोक्षम् अस्ति इति तत्सग्रहणाय ''अपरोक्षप्रमाव्याप्त प्रत्यक्षम्'' इति लक्षयितव्यम् इति तार्किकै उक्तम् तदपि अयुक्त, प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनियमात्, भूतादीना प्रत्यक्षत्वस्य अनुपपत्ते तस्माद् अस्मदुक्तमेव प्रत्यक्षलक्षण रमणीयम् ''इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याणि एवा च जातय, प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणि इति वक्ष्यते''

जैमिनिसूत्र-तद्व्याख्यानुसारेण प्रत्यक्षविषये शास्त्रदीपिकाया श्लोकवार्तिके च महती चर्चा अतिविस्तृता कृता तस्य अय सग्रह प्रदर्श्यते

जैमिनिना महर्षिणा इद सूत्र प्रणीतम्

क सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्,

ख अनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात् (१।१।४)

अत्र प्रथमभागे प्रत्यक्षस्य (लक्षणम्)स्वरूपम् उच्यते द्वितीयभागे तस्य धर्मं प्रति अप्रवृत्ति कथ्यते इति शाबरव्यतिरिक्ताना वृत्तिकाराणाम् आशय शाबरभाष्येतु इद सम्पूर्णसूत्र प्रत्यक्षस्य अनिमित्तत्वकथनपरत्वेनैव व्याख्यातम्

प्रथमभागस्य लक्षणकथनपरत्वमपि निर्दुष्टमेव इति बोधनाय शास्त्रदीपिकाया अतिव्याप्त्यादिदोष परिह्रियते एवम् इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्व भ्रमे अतिव्याप्तम् इतितु न वक्तव्यम्, अत्र 'सत्'पद तदपि सम्प्रयोगविशेषणत्वेन उक्तत्वात्

वस्तुतस्तु मीमासाया शब्दप्रमाणाधिकारे प्रत्यक्षलक्षणकथन निष्प्रयोजनम्

लोकसिद्धप्रमाणव्यवहारिणो मीमांसकस्य लक्षणकरणं च अयुक्तमेव, अत एतत्सूत्रं प्रत्यक्षस्य धर्मविषये अनिमित्तत्वकथनपरमेव. "प्रत्यक्षं, धर्मे अनिमित्तं, विद्यमानमात्रोपलम्भनत्वात्" इति अनुमाने विवक्षिते सति, हेत्वसिद्धिपरिहाराय, प्रत्यक्षं, विद्यमानमात्रग्राहकं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्" इति कल्प्यते. अत्र सूत्रे 'इन्द्रियाणाम्' इति कथनम् उपलक्षणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, इन्द्रियगन संयोगस्य, आत्ममनःसंयोगस्य च. आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, तत प्रत्यक्षम् इत्येवं संयोगत्रितयम् एकं प्रमाणम्. 'बुद्धिजन्म' इत्यनेन जायमाना बुद्धि प्रमाणम् इति उक्तत्वात् न भूता नापि भाविनी. अतएव बुद्धे कारकान्तराद् वैलक्षण्यं, कारकान्तर हि जन्मव्यतिरिक्तव्यापारान्तरेण प्रधानक्रियां निष्पादयति, बुद्धिस्तु जन्मनैव इति

इन्द्रियं किम्? उच्यते. यत् सम्प्रयुक्ते अर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तद् इन्द्रियम् तच्च द्विविधं बाह्यम् आभ्यन्तरं च इति. बाह्यं पञ्चविध : घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रात्मकम्. आन्तरन्तु एकं मन. तत्र आद्यानि चत्वारि पृथिव्यादिभूतचतुष्टयकार्याणि अक्षपाददर्शनवदेव अभ्युपगम्यन्ते. श्रोत्रन्तु आकाशात्मक स्वीकृतम् वयन्तु "दिश श्रोत्रम्" इति श्रुते दिग्भागमेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रं मन्महे मनस्तु पृथिव्यादीनाम् अन्यतमात्मक वा तेभ्यो अन्यद् वा सर्वथा पृथग् अस्ति. तच्च मन आत्म-तद्गुणेष्वेव स्वतन्त्र प्रवर्तते न बाह्येषु रूपादिष्विति 'आन्तरम्' इति उच्यते. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिसहाय प्रवर्तते, अनुमानादिष्वपि लिंगादिसहायं; अन्यमनस्कस्य सम्प्रयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्ते. अत्र अनुमानस्य भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्ते, अनुमानस्य च मनोजन्यत्वेन, इन्द्रियजन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनस्य व्याप्यं न भवेदिति शंका न युक्ता, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वेन उक्तत्वात्. नहि अतीताया भविष्यन्त्या वा वृष्टे अनुमानेन अनुमीयमानाया मनसा सयोगो अस्ति.

इन्द्रियैः अर्थसन्निकर्षे सति प्रथमत सम्मुग्धाकारं निर्विकल्पं प्रत्यक्षज्ञानं भवति, तदनन्तरमेव सविकल्पकं ज्ञानम् उत्पद्यते. निर्विकल्पकजन्यस्यापि

तस्य पारम्पर्येण इन्द्रियजन्यत्वम् अस्ति तद् उक्तं "तत पर पुन वस्तुधर्मै जात्यादिभि यया वुद्धया अवसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता".

शका : इन्द्रियस्य निर्विकल्पकोत्पत्तावेव उपक्षीणव्यापारत्वात्, इन्द्रिय-सम्प्रयोगस्य च शब्दादिस्मरणेन व्यवहितत्वात् सविकल्पकस्य अप्रत्यक्षापत्ति स्यात् ?

समाधान : इन्द्रियव्यापार सविकल्पकोत्पत्तिपर्यन्तम् अनुपरतो भवति, तेन जायमान ज्ञान (सविकल्पक) इन्द्रियैः व्यपदिश्यते.

सविकल्पकम् एकमेव प्रत्यक्ष भवति इति केषाञ्चिद् मत, तन् न उपपद्यते, लोके बाहुल्येन सविकल्पकएव 'प्रत्यक्ष'शब्दप्रयोगेऽपि "कल्पनापोढम् अभ्रान्त प्रत्यक्षम्" इत्यनेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य लक्षितत्वात्, शिशवादीना प्रथमत इन्द्रियसन्निकर्षे सति सम्मुग्धाकारनिर्विकल्पकस्यैव जायमानत्वात् च उक्तहि शास्त्रदीपिकाया "लोके प्रतीमो हि वयम् अक्षसन्निपातानन्तरम् अविविक्तसामान्यविशेषविभाग सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचर आलोचनज्ञानं, तदभावेतु विकल्पएव न जायेत यतो विकल्पयता पुरुषेण पूर्वानुभूत जातिविशेष सञ्ज्ञाविशेष च अनुस्मृत्य, तेन पुर स्थित वस्तु विकल्पयितव्यम् सविकल्पक हि सकेतग्रहणकालभावि-शब्दादि-स्मरणपूर्वक, अकस्मादेव तत्स्मरण न आविरस्ति, निर्विकल्पकेन तत्सस्कारोद्बोधात् स्मरणोपपत्ति

निर्विकल्पकस्य व्यवहारानगत्वात् तन् न प्रमाणम् इतितु न शक्य, तस्यापि व्यवहारोपयोगित्वदर्शनात् दृश्यतेहि वह्निना दह्यमानस्य सहसा अपसरण तद्विमर्शानपेक्षमेव झटिति जायमानम् उपलभ्यते तिरश्चा बालाना च निर्विकल्पकेनैव सर्वो व्यवहार, अगृहीतसम्बन्धाना तेषा शब्दसभिन्नार्थबो-धस्य असम्भवात् उक्तहि "अस्तिहि आलोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पक बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम्, न विशेषो न सामान्य तदानीम् अनुभूयते, तयो आधारभूतातु व्यक्तिरेव अवगम्यते" इति

आलोचनं ज्ञानम् इत्यनेन बोधकत्वं प्रामाण्यहेतुत्वेन उक्तम्. 'प्रथमम्' इत्यनेन अस्तित्वं निर्विकल्पकत्व च युक्त्या साधितम्. "न विशेषम्" इत्यनेन शुद्धवस्तुजत्वं विवृतम्.

बौद्धास्तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकम् इच्छन्ति; तदपि प्रतीतिविरुद्धम्. प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव यत् पश्चात् जातिद्रव्यगुणक्रियानामभि पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते "गौः अयम्" "दण्डी अयम्" "शुक्लो अयम्" "गच्छति अयम्" "डित्थो अयम्" इति.

तत्र निर्विकल्पकम् अनेकाकारं सम्मुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकन्तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति.

श्लोकवार्तिके इदं प्रत्यक्षसूत्रं बहुविवृतम्. तत्र केचन विषया अ(धि)क्रियन्ते. "प्रत्यक्षं यज् जने सिद्धं तस्य एवंधर्मकत्वत. (सत्सम्प्रयोगजत्वत), विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मे अनिमित्तता प्रत्यक्षत्वम् अदो हेतु, शेषं हेतुप्रसिद्धये" इत्यस्यां कारिकायां व्याख्यावसरे पार्थसारथिमिश्रैः त्रयः प्रयोगा एवम् उक्ताः—

१. प्रत्यक्षम् अनिमित्तं, विद्यमानोपलम्भात्
२. प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्
३. प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात् इति.

अत्रच 'सत्'पदस्य वर्तमानार्थकत्वं विवक्ष्यते, तच्च 'सत्'पदं सम्प्रयोगसमानाधिकरणम्; अतो "वर्तमानात् सम्प्रयोगात् यद् ज्ञानं जायते तत् सत्सम्प्रयोगजम्" इति अर्थ. अतो अनुमाने न अतिव्याप्ति. तत्र इन्द्रियसम्प्रयोगस्य लिंगज्ञानजननेन निवृत्तव्यापारत्वात्. अत्रच प्रयोगेषु योगिप्रत्यक्षं पक्ष, अस्मादादिप्रत्यक्षं दृष्टान्त इति भाव्यम्.

सम्प्रयोगस्य द्विनिष्ठत्वेन, सूत्रे 'प्रत्यक्षम्' इति यो व्यपदेश सो अनुपपन्न, इन्द्रियार्थसम्बन्धनिमित्तत्वाद्, व्यपदेशस्य च उभयाश्रितत्वेन 'प्रत्यक्षम्' इति व्यपदेशोऽपि किं न स्यात् इति शङ्कायाम् इदम् उक्तम् "योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशो अथवा अध्यक्ष तत्र असाधारण भवेद्" इति अत्र व्याख्याया पार्थसारथिमिश्रै उक्तम् "१ डित्थकपित्थयो माता 'डित्थमाता' इति उच्यते यथा अथवा २ अर्थसम्बन्ध प्रमाणान्तरसाधारण इति हेतो प्रत्यर्थम् इति न व्यपदेश, प्रत्यक्षम् इत्येव व्यपदेश

इन्द्रियाणा ग्राह्यग्राहकशक्तय, ताश्च क्वचित् रूपादौ असकर, क्वचित् द्रव्यादौ सकर च व्यवस्थितो भवति इति उच्यते "तस्माज् ज्ञानानुसारेण व्यवस्थासकरौ क्वचिद् ग्राह्यग्राहकशक्तिभ्य कार्यद्वारेण कल्पितौ, तस्मात् पञ्चभिरपि अक्षै बोध सत्तागुणत्वयो, द्रव्यमूर्ता (परिमाणम्) पुन द्वाभ्या रूपादौ एकश स्थिति"

तस्मात् मीमासारीत्या प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञानम् इति वार्तिककारै सुनिरूपित मतान्तराणा खण्डनपूर्वक सविस्तरम् यथावकाश यथामति सगृहीतम् इति शम्

+

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डा आर् कृष्णमूर्ति शास्त्री

के ई देवनाथन् अनुवाद सर्वोऽपि इति नास्ति "ग्रामो ग्रामो रमणीय"

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ आर् कृष्णमूर्ति शास्त्री

के ई देवनाथन् : अनुवाद सर्वोऽपि इति नास्ति "ग्रामो रमणीय" "पच-पच" इति उक्तौ तत्र शैत्य ज्ञायते इति भाष्यकारेण उक्तम्

कश्चित् : अनुवादस्य कथम् अप्रामाण्यम् इति प्रश्न खलु ?

के ई देवनाथन् "इद रजतम्" इति अत्र सामानाधिकरण्यम् अभेदप्रतीति साधयति तथा मया "चौर स्थाणु" इतिवत् सामानाधिकरण्यम् अस्ति चेद् अभेद इति न नियम अभेद प्रतीयते परन्तु युक्तिसहकृतलाघव यत्र भवति तत्र अभेद त्यज्यते कुत इति उक्तौ, यत्र नष्टपटे "स अय पट" इति अभेदप्रतीतौ सत्यामपि सो अभेदो बाध्यते नैयायिकै तद्वत् अत्रापि प्राभाकरमतेऽपि भवितुम् अर्हति

अनन्तर, सयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम् इति उक्तम् शब्द "सयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्" इति स्याद् वा ? अनन्तर भवद्भि उक्त यत् प्राभाकरमते रूपत्व न अगीक्रियते लोकावेदाधिकरणे भाट्टैरपि गुणगता जाति न अगीक्रियते इति भाट्टमतेऽपि अस्ति इति स्मर्यते अनन्तर, विषदावभासत्वम् इत्यत्र असाधारणाकारेण अवभासमानत्वम् इति व्याख्यान युक्त वा इति मम शका

"बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम्" तत्रतु शकाद्वयम् अस्ति "न विशेषो न सामान्य तदानीम् अनुभूयते, तयो

आधारभूतात् व्यक्तिरेव अवगम्यते'' इत्यत्र न्यायरत्नाकरकारे निष्प्रकारक ज्ञानम् अत्र सम्मुग्धाकार विवक्षितम् इति उक्तम् परन्तु अत्र वार्तिके "न विशेषो न मामान्यम्" इत्यनेन व्यक्तिमात्रम् अवगम्यते इति भाति अत्र न्यायरत्नाकरकार समर्थनीयो न वा? अनन्तर "वालमूकादिविज्ञानम्" अस्ति किल वालमूकादीना तिरश्चामपि हेयोपादेयविभागो वर्तते वालाना सर्वेषु हेयोपादेयविभागो यद्यपि नास्ति केषुचित् विशेषस्य अस्माकमपि नास्ति बहुषु परन्तु बालकानापि कुत्रचिद् अस्त्येव अत तत् कथ दृष्टान्तीकृतम् वार्तिककारै ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामानाधिकरण्य चतुर्धा भवितुम् अर्हति अभेदे अध्यासे विशेषणविशेष्यभावे कार्यकारणभावे वा ("राहो शिर (!)"), "इद रजतम्" इति भ्रमस्थले, "नीलम् उत्पलम्", "मृद् घट" इत्यनेन अभेद

के ई देवनाथन् : मम शका तथा नास्ति युक्तिराहृकृत लाघवम् अस्ति प्राभाकरमते लाघव बहु प्रदर्शितम् तै

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राभाकरमते लाघव प्रदर्श्यते च अख्यातिमतखण्डने बह्व्यो युक्तय सन्ति अहम् इदानीम् एक वदामि दृष्ट पुरोवर्तिपदार्थ हस्तेन निर्दिश्य सत्यरजतार्थी पुरोवर्तिनि प्रवर्तते यदि पुरोवर्तिपदार्थमेव रजतत्वेन न जानीयात् कथ तत्र प्रवर्तेत? तस्य प्रवृत्ति अन्यत्र स्यात् एवञ्च पुरोवर्तिपदार्थम् अगुल्या निर्दिश्य "इद रजतम्" इति वदति

के ई देवनाथन् : असंसर्गाग्रहाद्

कृष्णमूर्ति शास्त्री . असंसर्गाग्रहाद् इति उक्तो कुतो इष्टभेदस्य असंसर्गाद् यदि प्रवर्तते, अनिष्टभेदग्रहात् कुत्रा न निवर्तते? एव सर्वम् आलोच्यैव अभेदो यथावत् प्रतिपादित युक्त्यन्तरम् अनालोच्य तथव अगीकरणीय इति उत्सर्ग स्वीकृत्य ते वदन्ति इतितु तत्र समाधानम्

'तादात्म्य' पद वा 'तदात्म' पद वा इत्यत्र तु पुस्तके

"सयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम्" इत्येव उक्तम् अस्ति तदपेक्षया "सयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्" इति कथन न इद श्रुतिवाक्यम् मुद्रणत्रुटिरपि स्यात् यदि इदम् अनुपपन्न परन्तु गत्यन्तर मया चिन्त्यते

के ई देवनाथन् : श्रीमद्भि समर्थयितु शक्यते

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पुस्तके तथा लिखितम् अस्ति तत्र मम अनुपपत्ति न स्फुरिता तस्मात् तस्य दोषस्य यदि निराकरण .. तदपि कर्तुं शक्यते

डी प्रह्लादाचार : सयुक्त-समवाय-समवाय that is not the relation

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनन्तर, रूपत्वजाति अगीक्रियते न अगीक्रियते इति उक्तौ, सर्वेषा शास्त्रकाराणा पक्षद्वयम् यत्र यद् भवति तत्र तद् अगीक्रियते ततु इदानी विशेषतो न स्मर्यते तद् अधिकरणम् कुत्रचित् रूप न अगीक्रियते इति उक्तो न अगीक्रियते यथा वा गदाधरभट्टाचार्य व्यधिकरधर्मावच्छिन्नाभावो दशपुटेषु खण्ड्यते विशतिपुटेषु समर्थ्यते एव तत्र तेषा बुद्धिकौशल भवति एव रूपत्व पृथग् अगीकार्यम् इति मया उच्यते तदा उच्यते तस्मिन् दिने मम एव रुचि अन्यस्मिन् दिने तत् खण्ड्यते ततु बुद्धिकौशलम् भाट्टैरपि कदाचिद् एव स्वीक्रियते

के ई देवनाथन् : प्राभाकरै भाट्टैरपि लोकवेदाधिकरण वाक्यम् अस्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्ष इति किमर्थम् उक्तम्? द्वेधैव तै खलु स्थापनीयम् इदन्तु यथा अस्माक विवाद इदानीं प्रचलति तथैव तदनन्तर, निर्णितत्व नाम यदनन्तर सशयो न उदेति इति मम भाति स्फुट भाति अतएव प्रत्यक्षपरिकलित चेत् नहि दृष्टे अनुपपन्न नाम इदानी दृष्ट चेत्, यद्यपि वेदान्तिभि अस्माभि अद्वैतिभिरपि प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यमेव उच्यते अथापि "नहि आगमा सहस्रमपि घट पटयितुम् ईशते" इति अगीक्रियतएव प्रत्यक्षानुभवस्य इदमपि

वैलक्षण्यम् अगीकृत यत् न खलु इक्षुक्षीरगुडरसा मधुररसभेदा अनुभूयमाना शक्या सरस्वत्यापि आख्यातुम् प्रत्यक्षेण अनुभूयमानो विषयो अन्येन प्रमाणेन न उपपादयितु शक्यते तादृशन्तु वर्तते वैशिष्ट्यम् तद्रीत्या विशदत्व नाम

के ई देवनाथन् : असाधारणधर्मवत्वम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्त सगुणेश्वरस्य वा निर्गुणब्रह्मणो वा ज्ञान फलीभूत स्वीक्रियते इदानीन्तु बहव सशया सन्ति "भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसशया" अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्त गमनम् वस्तुतो अद्वितीय ब्रह्म एकमेव प्रत्यक्षप्रमा यत् साक्षात्परोक्षाद् ब्रह्म इति आरम्भे एव

के ई देवनाथन् · भवद्भि कथञ्चिद् अत्र अद्वैतम् आनीयते

कृष्णमूर्ति शास्त्री . बालमूकादिरूपम् इति उक्तौ, तत्र का अनुपपत्ति ? इदानी बालस्यापि हेयोपादान न निषिध्यते परन्तु प्रथमतो माम् अवेक्षयन् कश्चन शिशु किमपि पश्यति हसति परन्तु तत्र केवल सम्मुखाकारज्ञानेनैव हासो भवति हास आकस्मिकएव इति उच्यते मा दृष्ट्वा हसति त्वा दृष्ट्वा रोदिति इत्यादिकन्तु तत्र नास्ति

विन्ध्येश्वरीप्रसाद . शास्त्रिवर्या ! निर्विकल्पकज्ञाने ज्ञातता भवति न वा ?

के ई देवनाथन् न भवति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : निर्विकल्पक ज्ञान क्षणमात्र तिष्ठति निर्विकल्पकस्य पुन अनुसन्धान वेद् ज्ञातता ज्ञातता नाम प्राकट्यविशेष इति तै अगीक्रियते तथा वेदान्तिभि अस्माभि न उच्यते अथापि

के ई देवनाथन : निर्विकल्पकस्य सप्रकारकत्वाभावात् सप्रकारकभूता ज्ञातता निर्विकल्पकेन जन्या न भवति

डी प्रह्लादाचार सविकल्पकज्ञानेन सप्रकारा ज्ञातता जायताम्, निर्विकल्पकज्ञानेन निष्प्रकारा ज्ञातता जायताम् ज्ञातता नास्ति इति कथम् उच्यते ? केवल प्रतिज्ञामात्रेण इद सर्वम्

उच्यते न कश्चिद् अनुभव तत्र

के ई देवनाथन तथा नास्ति ज्ञाततासामान्य सप्रकारकमेव ज्ञातता तावद् अनुभवेनैव

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : निर्विकल्पकज्ञाने फलमेव नास्ति तर्हि कथ प्रत्यक्षत्वस्य सिद्धि ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री . निर्विकल्पक निर्विकल्पकेनैव समाप्यते इति तु उक्तम् तदनन्तरक्षणएव सविकल्पक प्रायो जायते तत्र फल वर्तते प्रावट्यत इति तु अत्र अगीकृतम् निर्विकल्पकन्तु सविकल्पकस्य स्वोपारोह आरोहणपक्तिरेव वर्तते अतएव यावत्

बलिराम शुक्ल : प्राकट्य कुत्र ? निर्विकल्पके अस्ति वा सविकल्पके ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पके एव

अम्बिकादत्त शर्मा : बौद्धपक्षको लेकर दो शकाए है एक शका प्राप्यकारित्वको ले कर है और दूसरी प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है श्रोत्र और चक्षुरिन्द्रिय का जब प्रभाकर मतमे प्राप्यकारित्व माना जाता है तब बौद्धपक्षसे शका होती है "सान्तर्ग्रहण न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च, बहि नाक्षम् अधिष्ठानात् तच्चिकित्सादियोगत" ये चार युक्तिया है प्राप्यकारित्वके विरोधमे

के ई देवनाथन् यदि पार्श्वे अस्ति तदानीं ज्ञानन्तु अधिक भवति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पार्श्वस्थितस्य दूरस्थितस्य च चक्षुषा ग्रहणम् अस्ति न वा ?

के ई देवनाथन् : विशदावभास

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तनु देशप्रयुक्तो भवितुम् अर्हति अनेन हेतुना न गच्छति इति तु कथम् आगच्छति ? अतएव गच्छति इति मया उच्यते कुत , यस्माद् अत्र गमनम् अत्र सन्निकृष्टत्वात् विशदतर भासते, तत्र

के ई देवनाथन् : बहुभागसन्निकर्षाभावे अविशदग्रहणम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री . विशदाविशदत्वन्तु दूरस्थत्व-समीपस्थत्व

डी प्रह्लादाचार : रश्मिद्वारा खलु सन्निकर्ष ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : चक्षुरिन्द्रिय गच्छति इति उक्त तथा न तैजसत्वात् तेषा व्यापकत्वम् अंगीक्रियते बहि· गच्छति

डी प्रह्लादाचार : रश्मय क्षीणा भवन्ति दूरस्थवस्तुविषये, समीपस्थविषयेतु गाढा भवन्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव दूरे शब्दो मया श्रुत इति अनुव्यवसाय भाट्टानाम् अस्ति इतरेषाम् अस्ति न वा अनुव्यवसायविषयेतु निर्णयएव न स्यात् ईश्वरस्य समीपे कर्पूरस्य

डी प्रह्लादाचार : अन्य प्रश्न

अम्बिकादत्त शर्मा : दूसरी शका प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है ज्ञानमे शब्दानुविद्धता किन कारणासे आती है? यदि ज्ञानके कारणोमे ही कही शब्दानुविद्धताका स्रोत है तो जिस क्षणमे ज्ञान उत्पन्न होता है उसी क्षणमे उसे शब्दानुविद्ध हो जाना चाहिये

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सर्वेषा कार्याणा क्रमिकत्वम् अवश्यम् अंगीकार्यम् एकक्षणावच्छेदेन सर्व भवितु न अर्हति सर्वस्यापि क्रमापेक्षातु वर्तते क्षणविलम्बो वा आवश्यक प्रथमतएव शब्दानुविद्धतया तादृशजात्यादिमत्त्वेन क्रियावत्त्वेन नैव भवति अतएव माघे द्वितीये वा तृतीये वा श्लोके उक्त 'विभु विभक्तावयव पुमानिति क्रमाद् अमु 'नारद' इति अबोधि स'' इति क्रमिकत्वाद् वाच प्रवृत्ते वा सर्वस्या क्रियाया शब्दानुविद्धत्व कुत तस्मिन् क्षणे न भाति? कुत अस्मिन् क्षणे भाति?

के ई देवनाथन् : मम भाति यत् तेषा प्रश्न एवम् अस्ति प्रथमतो निर्विकल्पक जायते अनन्तरन्तु सविकल्पक शब्दानुवेधविशिष्ट जायते

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामग्री का

के ई देवनाथन् : अधिका सामग्री? निर्विकल्पकघटिता सामग्री निर्विकल्पक वस्तुविषयकज्ञानम् वस्तुनि ज्ञाते तेन तावद्

शब्दसस्कार उद्बुद्धो भवति तेन द्वितीय यज् ज्ञान भवति शब्दानुविद्धविषयकम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव उक्तम्, सविकल्पकद्वारा उद्बोध

बलिराम शुक्ल : किं सविकल्पकज्ञानमात्र शब्दानुविद्ध भवति ?

के ई देवनाथन् : तथा नास्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पकज्ञान शब्दानुविद्धमपि भवति

अम्बिकादत्त शर्मा : शाब्द ननु अर्थोत्पन्न जायते, शाब्द ननु इन्द्रियोत्पन्न जायते तर्हि किं श्रोतेन ज्ञान शब्दानुविद्ध भवति ?

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकजन्य तत्र सामग्री ज्ञानमेव

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : सर्वोऽपि ज्ञान किं शब्दानुविद्ध नास्ति ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : इति नियमो नास्ति

सिद्धेश्वर भट्ट : 'सन्निकर्ष' और 'सम्प्रयोग' के बीच क्या अन्तर है ?

के ई देवनाथन् · दोनों एकार्थक है प्राचीन न्यायभाष्यवार्तिकमे 'सम्प्रयोग' शब्द है बादमे 'सन्निकर्ष' का प्रयोग किया गया है

प्रद्योतकुमार : मीमासकै रूपत्व न खण्डित, रूपत्वजातित्व खण्डितम् ईश्वर सृष्टा भवति न वा ?

बलिराम शुक्ल : भाट्टमते ईश्वर स्वीकृतो वर्तते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : स्वीकृत

बलिराम शुक्ल : कीदृश ? सृष्टिकर्तृत्वेन ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : यदि समीचीन सर्वोत्तम मीमासक स शब्दस्वरूपएव देवता ईश्वरो नास्ति इति वदति परन्तु खण्डदेवपर्यन्त ये वर्तन्ते मम जिह्वापि भीति "वाणी दूष्यति" इत्यादिकन्तु अगीकृतम् अस्ति परन्तु ममतु एव प्रतिभाति यत् तेपामपि ईश्वरनिराकरणे न तात्पर्यम् ईश्वरो वर्तते इति कृत्वा कर्माणि परित्यज्य तस्य SOMETHING दत्वा किमपि कुर्याद् इति भीत्या तै ईश्वरनिराकरण कृतम् इति तेषा भाव

प्रद्योतकुमार - सर्वज्ञ प्रमालक्षण

के.ई.देवनाथन् : नैयायिकमतएव सर्वज्ञः ईश्वरः स्वीकृतः. तत्र "यथार्थानुभवो ..." इति. तत्र अनधिगताबाधितार्थगन्तृत्वम् इति ईश्वरस्वीकारपक्षे नास्ति. अतएव वार्तिककारः "यथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा प्रदर्श्यते" ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ईश्वरस्य ज्ञानं सर्वं प्रत्यक्षरूपम्. मीमांसकानामपि प्रत्यक्षे अनधिगतत्वं न दोषाय. शब्दविषयएव अधिगतत्वं दोषः. इदानीम् अत्र Water Bottle दृष्ट्वा पुनरपि दृश्यते चेत् द्वितीयस्य ...

के.ई.देवनाथन् : धारावाहिकज्ञाने किमर्थम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनधिगतांशो वर्तते. शब्दे तावत् तथा न भवति.

के.ई.देवनाथन् : ईश्वरो न स्वीक्रियते इति कथं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मया किम् उच्यते, ईश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं वा प्रत्यक्षं वा ?

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यक्षमेव भवति.

...

डी. प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्रायः एवं भाति. ईश्वरस्यापि अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणविशेषविशिष्टत्वेन भवितुम् अर्हति ?

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वमेव वर्तते...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवम्. कुतः ?

डी. प्रह्लादाचार : तावता दोषो नास्ति. अनधिगतार्थगन्तृत्वं नाम ईश्वरस्य अज्ञानम् अस्ति वा इति प्रष्टव्यं भवति. परन्तु ईश्वरो यद् अस्ति तद् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति चेत् तस्य अज्ञानित्वं वा भ्रान्तित्वं न सम्भवति. अस्मिन् क्षणे... असतो ज्ञानं नास्ति तस्य. सतो ज्ञानं वर्तते. एवञ्च यस्मिन् क्षणे घटो अस्ति तत्क्षणसम्बद्धतया घटस्य ज्ञानं तावत् अनधिगतार्थग...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... धारावाहिकस्थलन्तु भवितुम् अर्हति. ... जातित्वं

खण्डित रूपत्व न खण्डितम् इति तदुपरि विपदतया मया ग्रन्था न स्मर्यते परन्तु तेषा रूपत्व नास्ति इति उक्तौ तद् अर्गाकायमेव गुरुमतएव ते उक्तम्

के ई देवनाथन् . कारणम् अस्ति सस्थानन्तु न भवति तदेव कारणम् आकृति जाति

प्रद्योतकुमार · धारावाहिकज्ञाने अन्यान्याश्रयदोपो भवति

डी प्रह्लादाचार . प्रश्न विवृणोमि ज्ञानभेदेन प्राकट्यभेद प्राकट्यभेदेन ज्ञानभेद एव रीत्या अन्योन्याश्रय तेषाम् अभिप्राय एव, उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानजनित-प्राकट्यावच्छिन्नविषय स्वीक्रियते तस्माद् उत्तरज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वम् इति वदन्ति एवञ्च पूर्वज्ञानेन हि प्राकट्य विलक्षण तेन जायते इति हेतो उत्तरज्ञानात् पूर्वज्ञान भिद्यते तत्र ज्ञानाना भेद कुत

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ज्ञानाना भेदो न साधनीय , सिद्ध क्षणे-क्षणे वृत्तिभेद इति मत स्वीकृत्य इद प्रवर्तते तत्र भेदस्य प्रमाण न अपेक्षितम् वृत्ति वा भवतु अन्यो वा भवतु

के ई देवनाथन् . तेपा प्रश्न एव स्यात्, ज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्व तदा सिद्ध्यति यदि क्षणादि भिन्ना उत्तरत्र ज्ञाने विषयो भवति उत्तरत्र ज्ञाने क्षणादि भिन्न-भिन्न पदार्था यदि विषयो भवति तदानीमेव द्वितीयादिज्ञानानाम् अनधिगतार्थगन्तृत्व भवति अनधिगतार्थगन्तृत्वसिद्ध्यर्थ

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणाना विलक्षणाना भिन्नत्वे प्रमाण न अपेक्षितम् एकैक क्षण स्वतो भिन्नएव वर्तते खण्डकाला सर्वेऽपि भिन्नभिन्ना तत्तद्विशेपावच्छिन्ना स्वतो भिन्ना

प्रद्योतकुमार : सामग्रीतो भिन्ना

के ई देवनाथन् : सामग्रीतो भिन्ना अनन्तर कालस्य तावद् वेदान्तिभि भाट्टै च नीरूपस्यापि विपयत्व स्वीक्रियते

गो श्या म : प्रत्यक्षमे धारावाहिकज्ञानमे उत्तरोत्तर अनधिगतका अधिगम होता रहता है इसी तरह शब्दमे भी सम्भव है जैसे

उद्दिष्ट पदसे अधिगतका लक्षणसे जब ज्ञान होता है तब वह ज्ञान अनधिगतका ही होता है लक्षणघटकपदाधिगत अर्थका जब परीक्षासे अधिगम होता है तब वह ज्ञान लक्षणानधिगत अर्थका परीक्षामे अधिगम होता है अत शब्दमे भी यह सम्भव है और इसी तरह सूत्राधिगतार्थका भाष्यमे

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता है आपके कहनेके बाद मुझको भी अनुमानमे भी हो सकता है उपनयवाक्ये निगमनवाक्ये च

के ई देवनाथन् : तत्र मर्यादा वर्तते शब्दे तावत् कालो न बोध्यते शाब्दबोधे कालो न विषय प्रत्यक्षे तावत् अनुल्लिखितोऽपि कालो विषय

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आचार्या शृण्वन्तु भवद्भि इदानीं प्रत्यक्षएव धारावाहिकम् इति न, शब्दादिष्वपि धारावाहिकम् अस्ति इति शब्देन प्रथमत ''सत्य ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म'' इति स्वीक्रियताम्

डी प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव धारावाहन यदा भवति तदानीमेव खलु अय प्रश्न उत्तिष्ठति यदि एक ज्ञान तदानीम् अनधिगतार्थकत्व तदेव अनुस्यूततया भासते यदा तदा धारावाह शब्द प्रयुज्यते एवञ्च यथा प्रत्यक्षे ''अय घट अय घट '' इति यदा भवति एवमेव शाब्दजन्ये बोधविषयेऽपि एक वाक्य तत्र च बहूनि विशेषणानि एक विशेष्यम् इति स्वीक्रियताम् प्रथमविशेषणविशिष्टतया ज्ञातम्, अनन्तर द्वितीयविशेषणविशिष्टतया तदेव विशेष्य ज्ञायते एवमेव खलु भवताम् आशय ? तत्रापि अधिगतस्यैव पुन अधिगम वर्तते

के ई देवनाथन् : नहि अनधिगतस्यापि अधिगम वर्तते

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अधिगत विशेष्य पुनरपि विशेषणान्तरविशिष्टत्वेन

अधिगम्यते एवञ्च धारावाहिकस्थले अनधिगतार्थनिर्वाहार्थं या प्रक्रिया सा अत्र

डी प्रह्लादाचार : तथा प्रश्नो नास्ति उद्देश्यवाचकपदेन केवल वस्तुस्वरूपबोध्यते लक्षणवाचकपदगुच्छेन अन्ये विषया प्रतिपाद्यन्ते परीक्षासम्बन्धिवाक्येन अपरे विषया प्रतिपाद्यन्ते एव रीत्या अनधिगतार्थ

के ई देवनाथन् : ततु इष्टमेव

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्रतु प्रश्नएव न उत्तिष्ठति कुत ? उद्देश्यमे तो सामान्यरूपसे ज्ञात होता है लक्षणमे कुछ विषदांशोका नूतन अंशोका भान हाता है परीक्षामे उससे भी प्रकटतया

गो श्या म : तदा प्रत्यक्षएव अनधिगतार्थज्ञापकता

डी प्रह्लादाचार • नास्ति नास्ति

गो श्या म : तथा शब्दे नास्ति इति यद् उक्त तत्र मया प्रच्छ्यते

डी प्रह्लादाचार : प्रमाणसामान्यलक्षणम् इदम् अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् इति तु न केवल प्रत्यक्षप्रमाणस्य

अच्युतानन्द दास : यथा भवद्भि उक्त द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नामभि पञ्चधा विभक्त वर्तते सविकल्पकज्ञान तावता किं तत्र भाट्टमते पदार्थाना पञ्चधा विभागो भवति इति कल्पयितु शक्यते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पदार्थाना सङ्ख्याविषये मया न उक्तम् सविकल्पक जायते अनन्तर निर्विकल्पकम् सविकल्पकज्ञान पञ्चधा विभज्यते

अच्युतानन्द दास : वैयाकरणा यथा पदस्य पञ्चधा विभाग कुर्वन्ति तथा अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते तत्र वैयाकरणा द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नाम इति पञ्चधा पदविभाग कुर्वन्ति तथैव अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते यदि निपुण परीक्षाम तर्हि किं भवति, यथा न्याय-वैशेषिकसम्प्रदाये द्रव्य-गुण-क्रिया-सामान्य इति चत्वार पदार्थाः अत्र आगता.

सन्ति अत्र 'नाम'पदेन कदाचित् शब्दस्य द्रव्यत्व स्वीकृत्य भाट्ट

डी प्रह्लादाचार : प्रत्यक्ष तावत् सविकल्पकम् एव पञ्चविध भवति तावता पदार्थाना पाञ्चविध्य नास्ति यतोहि प्रत्यक्षाग्राह्या अभावादिपदार्था तन्मते वर्तन्ते अभावोऽपि पदार्थ भाट्टमते स्वीकृत ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न स्वीकृत

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो वर्तते तर्हि सम्बन्धरूपपदार्थोऽपि वर्तते वा ? तस्य ग्रहण कथ भवति ? तत्र समवायपदार्थस्य

कृष्णमूर्ति शास्त्री : समवायो न अगीक्रियते सयोगो अगीक्रियते

डी प्रह्लादाचार : सम्बन्धस्तु गुणे अन्तर्भवति, गुणविकल्प

अच्युतानन्द दास : गुणे अन्तर्भवति वा सम्बन्ध ?

डी प्रह्लादाचार : एव सयोग

अच्युतानन्द दास . सयोगो वर्तते तादात्म्य गुणे

डी प्रह्लादाचार : तादात्म्यन्तु वस्तुस्वरूपमेव द्रव्य भवति

अच्युतानन्द दास . तादात्म्यस्य ज्ञान कथ भवति ? प्रत्यक्षेण भवति वा अन्यथा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षेणेव भवति य पदार्थो दृश्यते तदात्मतया तादात्म्य

अच्युतानन्द दास : यदि प्रत्यक्षेण तादात्म्यस्य ज्ञान भवति तर्हि तादात्म्येन सह क सन्निकर्ष केनच इन्द्रियेण भवति इति प्रश्न

गो श्या म : गुण-कर्म-सामान्याना सर्वेषामपि धर्मे अन्तर्भावो भवितुम् अर्हति

बलिराम शुक्ल कि नैयायिकाना मते समवायस्य ज्ञान सर्वथा प्रत्यक्ष भवति वा ?

अच्युतानन्द दास नहि अनुमेयमपि भवति अत्रतु भाट्टमते किं भवति इति जिज्ञासा वर्तते तादात्म्यस्य ज्ञान कथ भवति ?

विन्ध्येश्वरीप्रसाद . वस्तुनो धर्मत्वेनैव भवति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तादात्म्य चक्षुषा गृह्यते कुतो ? घटरूपत्वात् तादात्म्य द्रव्यरूप स्वीक्रियते

प्रद्योतकुमार : सन्निकर्षस्य सन्निकर्षम् अस्ति न वा ?

अच्युतानन्द दास . सएव प्रश्न

डी प्रह्लादाचार : घटस्य प्रत्यक्ष घटगतरूपस्य प्रत्यक्ष च घट-रूपयो तादात्म्य यदि अंगीक्रियते समवायानगीकर्तृभि तस्य प्रत्यक्षम् एवञ्च प्रत्यक्षत्रयम् अत्र वर्तते—घटप्रत्यक्ष, घटगतरूपप्रत्यक्ष, घट-रूपयो दातात्म्यप्रत्यक्ष च इति तत्र तादात्म्यप्रत्यक्षे क सन्निकर्ष इति तेषा प्रश्न अयन्तु प्रश्न समाधेय

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मयातु एव चिन्त्यते, तादात्म्य घटरूपम् तदपि द्रव्ये अन्तर्भूतमिव तस्माद् घटस्य प्रत्यक्षे य सन्निकर्ष सयोग तेनैव घटतादात्म्यमपि गृह्यते

अच्युतानन्द दास . तर्हि स्वरूप तादात्म्ययो क भेद स्यात् इति प्रश्न

प्रद्योतकुमार : नास्ति भेद

अच्युतानन्द दास : स्वरूपसम्बन्ध भिन्न स्वीकुर्वन्ति नैयायिका , तादात्म्यमपि भिन्न स्वीकुर्वन्ति

कोलाहलः

डी प्रह्लादाचार : भवता प्रश्नमेव विवृणोमि तादात्म्यस्य घटस्वरूपत्व स्वीकृत्य घट तादात्म्यम् इति भिन्न नास्ति तस्मात् घटे य सन्निकर्ष तादात्म्येऽपि सएव सन्निकर्ष इति तेषाम् उत्तरम् परन्तु तदुपरि प्रश्नो भवति यदि तादात्म्य घट च एकाएव तर्हि रूपे घटएव सम्बन्ध स्यात् तादात्म्यम् इति कश्चन सम्बन्ध कुत उच्यते ? घटस्य रूपे तादात्म्य सम्बन्ध तादात्म्यञ्च घटएव एवञ्च घटएव सम्बन्ध इति आगतम् तर्हि तादात्म्यम् इति मध्ये कुत आनीयते ? रूपे घटस्य सम्बन्ध घटएव इति उच्यताम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अह प्रतिवन्द्या उत्तर ददामि स्वरूपसम्बन्ध स्वीक्रियते

डी प्रह्लादाचार : प्रतिवन्दी मास्तु भो

के ई देवनाथन् : प्रतिवन्द्या न उच्यते तेन वाक्येन समाधानम् उच्यते
कथम् इति चेत्, स्वरूपसम्बन्धस्य लक्षण मणिकारेण उक्तम्
अस्ति "सम्बन्धान्तर विना विशिष्टप्रत्ययनियामकत्व स्वरूपसम्ब-
न्धत्वम्" एवञ्च सम्बन्धान्तर नाम स्वव्यतिरिक्त सम्बन्ध
विना इति अर्थ क्रियते एवञ्च विशिष्टबुद्धिनियामकत्वेन
तादात्म्य स्वीक्रियते अतो हेतो तस्य भिन्नत्वन्तु न आवश्यकम्
भिन्नत्वाभावेऽपि सम्बन्धस्य घटापेक्ष्यतादात्म्यस्य वा स्वरूपस्य
वा स्वापेक्ष्यभिन्नाभावेऽपि विशिष्टप्रत्ययोग्यजननत्वम् अस्ति

डी प्रह्लादाचार : घटस्यव वर्तते ?

के ई देवनाथन् : घटस्यव वर्तते केनचिद् आकारेण तद्व्यक्तित्वेन आकारेण
घटस्य घटत्वेन रूपेण तत्र आश्रयत्वम् अस्ति सम्बन्धत्व
तद्व्यक्तित्वेन अस्ति, स्वरूपत्वेन अस्ति

डी प्रह्लादाचार : एवमेव वक्तव्य ननु तादात्म्यमिति सम्बन्ध इति
वक्तव्यम् घटस्य रूपे तद्व्यक्तित्वेन सम्बन्धत्व घटत्वेन द्रव्यत्वम्

के ई देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वमेव तादात्म्यम्

अच्युतानन्द दास : यदि नीलो घट इति स्वीक्रियताम् नीलघटपदार्थमध्ये
तादात्म्य वर्तते अभेदरूपम्

बलिराम शुक्ल : 'तादात्म्यम्' इत्यस्य क अर्थ ? स्ववृत्त्यसाधारणधर्म
इति व्युत्पत्तिवादे प्रतिपादितम्

प्रद्योतकुमार : "शुक्ल घट" इत्यस्य को अर्थ ? घट-शुक्लत्वया
सम्बन्ध तादात्म्यरूप

के ई देवनाथन् : सर्वेऽपि विषया शास्त्रदीपिकाया चर्चिता केवल
भेदो न, केवल अभेदो न, भेदाभेद उभयोरपि तात्विकत्वम्
इति मीमासकसिद्धान्त

डी प्रह्लादाचार : एवञ्च तादात्म्य यदि भेदाभेद तर्हि तद्व्यक्तित्वम्
इति न वाच्यम्

के ई देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वरूपो अभेदन रूपेण अत्र ग्राह्यत्वम् उक्तम्
भेदांशेन तावद् अग्राह्यत्वमपि भवति

डी प्रह्लादाचार : तद्व्यक्तित्व हि घटनिष्ठो असाधारणो धर्म सच रूपे घटस्य सम्बन्ध इति उच्यते चेद् घटे तद्व्यक्तित्वम् आयाति घटस्य यो असाधारणधर्म सो रूपनिष्ठ इति वक्तव्य भवति

के ई देवनाथन् . स्वीक्रियते परन्तु

डी प्रह्लादाचार : परन्तु रूपस्य तावद् गुणत्वम् नतु तद्व्यक्तित्वरूपत्वम्

के ई देवनाथन् : भेदाभेदो अत्र विस्तरणीयो वर्तते भेदाभेदवादिभि अवच्छेदकभेद स्वीक्रियते एतै मीमासकै केनचिद् अवच्छेदेन तद्व्यक्तित्व रूपे स्वीक्रियते केनचिद् अवच्छेदेन तदभावोऽपि स्वीक्रियते अन्यथा

डी प्रह्लादाचार . गोस्वामिचरणाना प्रश्नोपरि किमपि वक्तुम् इच्छति भवान्?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : शाब्दबोधेऽपि धारावाहिकस्थलवद् ज्ञातज्ञान वर्तते इति तत्रतु उद्देश्ये यो विषयो अवगत तस्य अनवगता अशा लक्षणे ज्ञायन्ते, तत्रापि अनवगता अशविशेषा परीक्षाया ज्ञायन्ते इति अनधिगतार्थत्व सुस्पष्ट वर्तते तत्र कालक्षणघटना न आवश्यकी यत्रतु अधिकविषयप्रवेशो नास्ति "घटोऽय घटोऽय घटोऽयम्" इत्येव धारावाहिकस्थल भवति तत्र कालविशेष सूक्ष्म प्रवेश्य तद्द्वारा अनधिगतार्थकत्वकल्पन कर्तव्यम् इति श्रमो जायते तत्रतु भवन्निर्दिष्टस्थले उद्देश्य-लक्षणे परीक्षा च इत्यादो तु विशेषविशेषा उद्देश्यापेक्षया केचन विशेषा लक्षणे यथा वा तत्र उपनयवाक्यात् शब्दबोधानन्तर पुन निगमनवाक्यात् प्रथमत "पर्वतो वह्निमान्" इत्यनेन को विशेष ? तदपेक्षया विशेष अनुमानेऽपि एव वक्तु शक्यते इति मया तदर्थमेव उक्तम्

प्रद्योतकुमार : सर्वथा कथञ्चिद् वैलक्षण्य सम्भवति तदा अनुवाद-प्रमाण को

के ई देवनाथन् : शाब्दबोधे न भवति किल प्रत्यक्षे तावत् कालविशेष

गो. श्या. म. : शब्देन उद्दिश्य लक्षणे अनुवादो भवति न वा?
लक्षितस्य परीक्षायाम् अनुवादो भवति न वा?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनुवादो ज्ञातस्य अज्ञातविषयबोधनप्रयोजनकः. ज्ञातम् अनूद्य अज्ञातं बोध्यते.

गो. श्या. म. : अनूदितस्यापि पुनः धर्मान्तरेण बोधने प्रामाण्यं भवत्येव तत्र मम अभिप्रायः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनूदितस्यापि प्रामाण्यं स्वतो अनूदितत्वेन रूपेण न. अनूदितम् उद्दिश्य तदनन्तरं कश्चन विशेषो यदि विवक्ष्यते तदानीमेव प्रामाण्यम्.

गो. श्या. म. : तस्मादेव अनूदितानूदितयोः तादात्म्यम् अंगीकार्यम् नात्यन्तिको भेदः तत्र भवितुम् अर्हति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव स्मृतिसाधारणन्तु प्रमात्वं न अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव तत्तु अबाधितार्थविषयकत्वमेव. इति पक्षान्तरमपि स्वीकृतम्. अनधिगतत्वे आग्रहो नास्ति. अधिगतोऽपि विषयः स्मृत्यादि प्रमारूपएव इति यदि स्वीक्रियते तदानीम् "अबाधितार्थमात्रविषयकत्वं प्रमात्वम्" इति लक्षणान्तरं स्वीकृतमेव.

बलिराम शुक्ल : प्रत्यभिज्ञाविषये तेषा मते का स्थितिः?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र नामविशेषविशिष्टतया ज्ञायते इति उक्त खलु.

बलिराम शुक्ल : तत्र अनधिगततत्वन्तु नास्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अन्ते पक्तिरपि पठिता वर्तते "पूर्व यो दृष्टो मया 'गोविन्द' शब्दवाच्यः" इत्येवं रीत्या

बलिराम शुक्ल : तत्पदवाच्यत्वेन

.......+.... ..

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

समादरणीयै श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागै भाट्टमीमांसाम् अधिकृत्य प्रस्तुतम्

आलखपत्रम् इद मध्ये-मध्य प्राभाकारमीमासामपि तुलनया विशदीकरोति अतः सरलया भाषया मीमांसायाः सर्वस्यापि विषयस्य अवितथाववोधकेन लेखनेन सर्वेऽपि विचारगोष्ठीसहभागिनः शास्त्रिमहाभागाना भृशम् अधमर्णा सञ्जाता।

ममतु सगोष्ठ्युत्तरलेखनम् इद यत् किमपि वाल्लभमतदृष्ट्या अस्मिन् विषये विवक्षितं तदावेदकमेव

तत्र तावत् प्रस्थानभेदेन प्रमाणाना सामान्यस्वरूप-सख्या-प्रामाण्यस्वरूप-स्वतस्त्वपरतस्त्वविषयेषु बहव प्रभेदा उपलभ्यन्ते तत्र प्रथमे तावत् सामान्यस्वरूपविषये प्रस्थानरत्नाकरकृद्भि "तत्र 'प्रमाण'शब्दो भावव्युत्पन्नो रूढो वा अबाधितज्ञान बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, करणव्युत्पन्नस्तु तादृशज्ञानकरणे" (प्रस्था रत्ना प्रमा परि उपक्रमे) इति व्युत्पादितत्वेन प्रमारूपस्य ज्ञानस्य द्वैविध्य गमयति तथाहि कीदृश ज्ञान बाधित कीदृश वा बाधयोग्यव्यतिरिक्तम् इति विचिकित्सायां न तावत् सर्वमपि ज्ञान बाधित बाधयोग्य वा इति अभ्युपगन्तु शक्य, स्वतोव्याहते नापि सर्वमपि ज्ञानम् अबाधित बाधयोग्यव्यतिरिक्त वा इत्यपि वक्तु युक्त, गरुमरीचिका-रज्जुसर्प-स्वप्नादिज्ञानाना बाधस्य अनुभवसाक्षिकत्वात्, तन्न्यायेन इतरेषामपि बाधयोग्याव्यतिरेकस्य कल्पयितु शक्यत्वात् च किञ्च बाधिता बाधयोग्य वा ज्ञान प्रमारूपेण ज्ञानेनैव बाधार्ह चेत् तस्य बाधकज्ञानस्यापि अबाधितत्व बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्व वा कथ निर्धारणीयम्? बाधार्हज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीना विचारेण उत बाधकज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीना विचारेण आहोस्वित् तदेकतरावेदितस्य विषयस्वरूपप्रकारस्य विचारेण?

तदिह श्रीमदाचार्यचरणाना वचनानि प्रथमतो अवश्यावगाहयानि —

प्रमाणसामान्यस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्याना विषये :

"यथा इन्द्रियग्राहकत्व मनस तथा इन्द्रियानुग्राहकत्व बुद्धे बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञान-क्रिययो तारतम्यम् एतत् कार्यानुसारिल-

क्षणम् 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य घटादे स्फुरणे सति शब्देन संस्कारेण आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानम्; यस्मात् केवल चक्षुषा ज्ञाने तारतम्य न स्यात् द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धि नानाविधा संस्कारतेजसो तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्ती सम संशयो अल्पविशेषस्फूर्ती उत्कटकोटिक. 'विपर्यास'= संस्कारप्राबल्यात् तेज तदनुगुणमेव धर्मं (तत्र) प्रकाशयति विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयो च भिन्नविषयत्वम्—तथाच इन्द्रियसम्प्रयोगजनकक्रियाविषयाद् भिन्नो यो अर्थः तदेकविषयकप्रतिरूपो यो वृत्तिविशेष स विपर्यास— निश्चयो यथार्थानुभवो, अर्थो हि ज्ञानस्य अर्थम् अगम् अतएव स्मृति न निश्चयात्मिका अर्थाभावात् अनुमतिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव शब्दोऽपि निश्चयएव, (धूमादिरूप) धर्म- (लक्षणरूप) सादृश्यातिरिक्त-संस्कारजनकत्वात् शब्देन (परोक्षतया) द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम् त्रीण्येव प्रमाणानि तत् सिद्धार्थवाक्येतु प्रत्यक्षसहकारित्वाप्रत्यक्ष-हेतुत्वमेव साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थे बुद्धिकल्पिते प्रमाणाभावेन अप्रमाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव—लौकिके 'घटम् आनय' वाक्यार्थ प्रयोज्यकर्तृकघटानयनादिक्रियारूप प्रयोजकबुद्धिकल्पितइति वाक्यश्रवणसमये तस्य अर्थस्य अभावात् प्रमाणरूपज्ञानानुदय किन्तु ज्ञानमात्रस्य उदयइति प्रमाणाभावेन ज्ञानजनकवाक्यस्य अप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रयोज्यकर्तृकानयनक्रियादिरूपप्रमेयस्य बलाद् प्रमाणमेव वाक्याद् जात शाब्द समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् प्रमाणरूपमेव इति अथ एतेन एतादृशस्थले परतःप्रामाण्य स्फुटीकृत ज्ञेयम् ननु लोकेऽपि संसर्गरूपस्य वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वात् प्रमाणबलादेव प्रामाण्य कुतो न स्वीक्रियते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः—लोके वाक्यार्थो न अपूर्व वक्तृज्ञानविषयविष-यित्वात् तद्बोधनसमर्थपदसमूहस्यैव प्रयोगात्—तथाच उक्तविधस्य वाक्यस्य सम्भावितविषयकत्वात् तज्जन्य ज्ञान सम्भावनारूपमिति तस्य संशये निवेश 'अप्रमाण'पदन्तु 'प्रमाण'शब्दस्य नानार्थत्वाभिप्रायेण उक्तम् 'प्रमाण'शब्दो अबाधितज्ञाने वर्तते बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा"

(सुबो प्रका ३।२६।२९-३०)

धर्मब्रह्मणो ज्ञापक श्रुत्यादिप्रमाणस्वरूपम

"अस्मिन् शास्त्र परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम आह 'वेदा' इति शब्दएव प्रमाण तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वत सिद्धप्रमाणभाव — तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनाद् तेषु नैकान्तिक प्रामाण्यम् अत तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आदियन्ते इति अर्थ ननु वेदादाना चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्य तर्हि लौकिकेऽपि तुल्य प्रत्यक्षोपजीवकत्वात प्रमाणान्तरता-स्यात् च इत्यत आहु तत्रापि', नहि अस्माभि शब्दत्वेन वेदाना प्रामाण्यम् उच्यते आपतु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, आत्पत्तिकसूत्रानु-रोधात् तथा सति यथा धर्मे समपरिके चादनैव मानम् एवम् अत्र वेदादिरेव मानम इत्यतो न तौल्य नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वम नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातु शक्यते तयो तदेकवेद्यत्वस्यव तन्मामासासिद्धत्वात् परत प्रामाण्यवादे प्रवृत्तिसाम-र्थ्यादेव ज्ञानप्रामाण्यग्रह तस्यापि सामर्थ्यज्ञानस्य च अन्यत एव स्यात अनवस्थानिवृत्त्य क्वचिद् विश्रामे वाच्ये अन्ततो गत्वा योगसुद्धान्त करणस्यापि प्रमाणत्व शुद्धस्य सत्त्वस्यैव वा प्रमाणानुग्राहकत्व स्वीकृत्य तज्जन्यज्ञानस्य स्वत प्रामाण्य साधनीयम्"

(त दी नि.प्र आ १।७)

एतेन वाल्लभमते यथार्थानुभव प्रमा (Theory of correspondence) अनधिगतावाधितार्थगामक ज्ञान प्रमा (Theory of coherence) फलाविसवादिप्रवृत्तिजनक ज्ञान प्रमा (Theory of utility) इति पौर्वात्य पाश्चात्यै दार्शनिकै पृथक् पृथकतया ये प्रामाण्यनिकषा अगीकृता ते त्रयोऽपि निकषा वाल्लभमते सकलीकृत्य अभ्युपगता इति प्रतिभाति

तत्र सामान्यत लौकिकप्रमाणाना यथार्थानुभवत्वेन प्रामाण्ये अगीकृतेऽपि लौकिकप्रमाणानधिगतावरूपयो धर्मब्रह्मणो वेदादिशास्त्राणा प्रमाजनकत्वरूप प्रामाण्यन्तु अनधिगतावाधितार्थज्ञापकत्व(Theory of coherence)रूपमेव एतेन

बाधयोग्यव्यतिरिक्तता द्योतिता यथाच आहु भगवत्पादा श्रीशकराचार्याअपि "नच प्रमाण प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तर ज्ञापयति", "अपिच क्वचिद् गौण शब्दो दृष्टइति न एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसगात्" (बृह उप भा २।१।२०, ब्र - सू भा १।१।७) इति तस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणै श्रुत्यभिहितार्थबाधकल्पनायान्तु श्रुतिवचनेषु गौणार्थकल्पनाप्रसक्ति दुर्वारैव सातु न सम्भवति लौकिकरूपाद्यभावाद्धि ब्रह्म न प्रत्यक्षगोचर, प्रत्यक्षगोचरहेतुसाध्ययो कयोश्चिद् व्याप्तिग्रहणाभावात् लिगाभावात् च नानुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्यत्वस्य अभ्युपेतत्वात् च न श्रुत्यादिवचनव्यतिरेकेण धर्मब्रह्मणो याथार्थ्यावगतिसम्भवनापि तस्माद् धर्मब्रह्मणो श्रुत्यादिशास्त्रवचनाना हि इतरप्रमाणानधिगताबाधितार्थज्ञापकत्वेन स्वतएव प्रामाण्यम् अवसीयते

सति चैव प्रमाणसामान्याना प्रामाण्यन्तु यद् याथार्थ्यरूप ततु अर्थानतिलधित्वरूपम् इति अगीकृतम् तदेतद् अर्थानतिलधित्वन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणाना न प्रमोत्पत्तिसाधारणकारणसामग्रीजन्य स्वतप्रामाण्यरूप किमुत परतएव ग्राह्यम् तद् उक्त सुबोधिनीप्रकाशकारै "जन्यज्ञानस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थो ज्ञानस्य अदृष्टम् अगम्" (सुबो प्रका ३।२६।३०) इति एतेन अतिदूरादिग्राह्यार्थदोषाणा इन्द्रियगतमनोनवस्थानादिसाक्षादर्थग्राहकदोषाणा अज्ञानसशयभ्रान्तिजनकबुद्धिगतताम-सराजसावस्थादोषाणा च सम्भवे ग्राह्यार्थोल्लधिता जन्याना ज्ञानाना न अस्वाभाविकी तस्मात् तत्र याथार्थ्यमेव प्रामाण्याधायकम् श्रुत्यादिवचनतो ज्ञायमान जगतो ब्रह्मोपादानकत्वादिकन्तु सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणो अप्रतिपक्षकल्पेन प्रादुर्भूताना नाम-रूप-कर्मणा "सत्त्वेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत बहु स्या प्रजायेय" (छान्दो उप ६।२।१) इति वचनात् सदात्मकत्वरूप, तेन तेषा ब्रह्मात्मकत्वमपि ब्रह्मणो हि अद्वितीयैकत्वबोधनात् तद् ब्रह्मातिरिक्तस्य अर्थस्य अभावादेव श्रुत्यादिवचनै प्रतिपाद्यमान सर्वस्य जडजीवात्मकस्य जगतो ब्रह्मात्मकत्व विधेयाशे लौकिकप्रमाणै पूर्वानवगतमपि सद् उद्देश्याशेतु तत पूर्वमपि अधिगतमेवेति एतादृग्ज्ञान न अर्थजन्य, यस्माद् अर्थजन्यत्वे श्रुत्यादिवचनप्रवृत्ते प्रागपि जगतो ब्रह्मात्मकत्व समववुध्येत, अतो श्रुत्यादिशब्दजन्यमेव श्रुत्यादिवचनैस्तु

८. जडजीवात्मकस्य प्रपञ्चस्य पूर्वसिद्धस्यैव "ऐतदात्म्यम् इद सर्व स आत्मा तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ६।७।७) इति वचने इदमा निर्दिष्टस्य जडजगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकता 'त्व'पदोपलक्षिताना निखिलाना जीवात्मना च ब्रह्माशत्वेन ब्रह्मात्मकता उपदिष्टा तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वबोधनेन ब्रह्माज्ञानरूपावरणनिवारणमात्राशएव प्रमाकरणाना चारितार्थ्य केवलाद्वैतवादवद् वाल्लभमतेऽपि सुप्रतिपाद्यम् तस्मादेव नाम-रूप-कर्मणा द्वैतावबोधकानि "त्रय वा इद नाम रूप कर्म ब्रह्म एतद्धि नामानि रूपाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रय सद् एकम् आत्मा आत्मा उ एक सन् एतत्त्रयम्" (बृह उप १।६।३) इति श्रुत्यादिवचनानि न ज्ञातज्ञापकत्वेन स्वार्थे अप्रमाणरूपाणि नापि पूर्वासिद्धज्ञानजनकान्येव वा, निखिलस्य ब्रह्मात्मकस्य जडजीवप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वेन अनवबुद्धस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनपरत्वात्

तस्माद् यत्र किञ्चित् प्रमेय केनचिद् एकेनैव प्रमाणेन बोध्य न तदतिरिक्तप्रमाणगोचर तत्र प्रमाणस्य अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव आस्थेयम्

यत्र पुन कश्चन पदार्थ नैकप्रमाणै अवगम्यते तत्र प्रथमप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्ये याथार्थ्यमेव निकष वेदितव्य, यथाहि लौकिकेन्द्रियगोचरा बहव पदार्था तथाहि गन्ध-रस-रूपादीना तन्मात्रारूपधर्माणा घ्राणरसनाचक्षुरादीन्द्रियमात्रग्राह्यत्वेऽपि तद्धर्मिरूपाणा पृथिव्यपतेजआदीना हि अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वम् उपलभ्यतएव तत्र एकेन केनचिद् इन्द्रियेण अपरेन्द्रियविसवादिज्ञानजनने न अनधिगतार्थज्ञापकत्वशपथेन तादृगनुभूतौ प्रामाण्यपरिग्रह शक्यो, यथा मरुमरीचिकाया जलरूपदर्शनस्य जलपान-जलावगाहन-रूपफलजननासामर्थ्येन तदविसवादितया प्रामाण्यबाध यतोहि यद्देशकालावच्छेदेन प्रथमप्रवृत्तस्य जलरूपविषयकस्य ज्ञानस्य तद्देशकालावच्छेदेनैव जलपान-जलावगाहनाशक्यत्वेन विसवादितया प्रामाण्यबाधावगमात् तथाच एतादृशे विषये यस्य कस्यापि ज्ञानस्य बलवत्प्रमाणाविसवादितयैव प्रामाण्येन भवितव्य नतु मिथो विसवादितया इति

तत्र अन्येन प्रमाणेन विसवादइव स्वतो विसवादोऽपि प्रामाण्यनिरासकइति

एतेनैव हेतुना ब्रह्मणि सर्वेषा श्रुतिवचनाना समप्रामाणत्वेन तेषा मिथो विरोधपरिहारायैव महर्षे वादरायणस्य ब्रह्मसूत्रेषु समन्वयाविरोधोपपादने भर तथाच प्रथमप्रमाणावगतस्यापि द्वितीयादिज्ञाने सन्देहास्पदताया भ्रमास्पदताया शक्यत्वेन बहुतरप्रमाणसवादाद् बलवत्तरप्रमाणाद् वा सवादितयैव प्रामाण्यम् अगीकार्यम् तस्मादेव प्रत्यक्षानुमित्यो धर्मब्रह्माभावसाधकत्वसम्भवेऽपि आगममात्रसमधिगम्ययो तयो धर्मब्रह्मणो आगममात्रसमधिगम्ये स्वरूपे न प्रत्यक्षानुमित्यादिप्रयुक्तबाधयोग्यतासम्भावनापि, आगमेतरप्रमाणागम्यत्वादेव न तस्माद् विसवादितापि तस्मादेव अबाधितत्वरूपप्रामाण्यवद् बाधकज्ञानत्वेन सम्भाविताना प्रमाणाना कारणसामग्री-स्वरूपसफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्योपरोधविचारेण बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वरूप प्रामाण्यमपि अगीकार्यमेव

इदञ्च यथा धर्मब्रह्मणो तथैव मधुगुडयोरपि प्रत्यक्षमात्रैकगम्ये माधुर्यभेदेऽपि अगीकर्तव्यमेव तथैव अनुमित्यैकगम्ये सूर्यादिग्रहपिण्डाना परिमाणेऽपि बोद्धव्यम् नहि शतशोऽपि जनाना प्रत्यक्षगृहीताल्पपरिमाणज्ञानेन विसवादिताया शपथेन अनुमानैकगम्यस्य सूर्यादिग्रहपिण्डाना बृहत्परिमाणस्य बाध सम्भवति

यथाच प्रमाणानाम् इदम् याथार्थ्यापरपर्यायम् अर्थानतिलघित्व, अनधिगताबाधितार्थापरपर्याय च मिथो असवादित्व तथैव सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यरूप प्रामाण्यमपि अकामेन अगीकार्यमेव तत्र हेतु उपरितनयो आचार्यवचनयो अधोरेखाकनेन सूचितएव

अथ इदानीं प्रमाणसामान्यसख्याविषये यथा प्रत्यक्षानुमितिशाब्दभेदै "त्रीण्येव प्रमाणानि" इति उपलभ्यते तथा धर्मब्रह्मसम्बन्धिसकलमीमास्यविषये "प्रमाणम् आह 'वेदा' इति शब्दएव प्रमाण, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वत सिद्धप्रमाणभावम्" इत्यपि आचार्यवचन विराजतएव एवहि वचनद्वयी वरीवर्त्यते तत्र प्रत्यक्षस्यापि लोके प्रामाण्य बुद्धौ सत्त्वगुणोदयएव अभ्युपगतमिति सत्त्वसहिता बुद्धि प्रमाणम् इत्यपि निश्चप्रचम् तदेतद् व्यावहारिकमपि सत् न अपारमार्थिकम् इति वाल्लभवेदान्तरहस्यमपि न जातु विस्मरणीयम्

एतनैव प्रामाण्यस्वरूप तेषाञ्च स्वतस्त्वपरतस्त्वे च अर्धजरतीयन्यायो अभ्युपेयते ति प्रस्थानरत्नाकरे "साध्यार्थलौकिकवाक्यप्रयोगकाले भाविन्या क्रियाया असत्त्वेन जायमानस्य ज्ञानस्य क्रियाकर्मान्वितसंसर्गाग्रहएव जननात् तस्य ज्ञानस्य प्रमाणलक्षणानाक्रान्तत्वेन तादृशस्थले ज्ञानग्राहकसामग्र्या य प्रामाण्यग्रह सो अयथार्थ अत ईदृशस्थल परतो अन्यत्र स्वत इति अर्धजरतीमेव युक्ताम् उत्पश्याम" (प्र १ प्रमा कर तर ६) इति प्रतिपादितम् अत्र अनुसन्धेयम् इति अलम् अतिपल्लवितेन

पुनश्च सुगृहीतनामधेयै श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागै भाट्टमतरीत्या यद् प्रत्यक्षविवरण कृत तेन तेभ्यो भृश स्वकार्तज्ञ्यज्ञापनपुरःसर प्रस्तुत मदीय सगोष्ठ्युत्तरलेखन समापयामि



Dr P K Mukhopadhyay, Kolkata

How then Pratyaksa may Pramāna ? For, when I say that "I perceive a jar" is it that jar I perceive ? For, perception is possible only through the contact of the sense organ with the object But my senses are in the contact with the front portion of the jar, front portion of the tree But there is other part of the tree with which my sense organ is not there in contact For, there is Vyavadhāna So therefore, my senses are never in contact with the object at all My senses are in contact with the part of the object So if I say, 'I perceive the branch' that might have make sense but not if I say 'I perceive the tree' But the same problem can be raised with reference to branch also For that also is the problem So this problem is not that I am conducting it This problem is there very much and this we ignore

This problem was raised by Gauttama in his Nyāyasūtra as a Pūrva paksa He says "pratyaksānumānam, asamagra grahanāt" We can not perceive, we can not take the whole of it But the answer he provided is beautiful His first answer is "pratyaksena yāvat tāvad upalabhyate" You are saying that you perceive the part of it, so perception is Pramāna

If you can not perceive the whole, at least part you say you are perceiving So perception is Pramāna How can you say that it is not Pramana and it is Anumana? This is the first question And that is the route of the distinction between what you call phenomenalism and realism In the west theory of perception And our Indian parallel is what we call Punjavada v/s Avayavivada

In the Punjavada theory, we can never know the object as a whole but only the sensible qualities like Rupa, Rasa, Nila Pita etc You can never know the physical object But then there are two possibilities One, since, you perceive only the sensible qualities, you say that only sensible qualities are real and nothing else is there This is call reductionism They say that dravyasya antarbhavh indriya gunādau Sensible qualities are the things and nothing more is there In the similar way, in the west also, scientists have divided into two groups They says, science basically is an empirical theory of the observable universe Now, since, its an empirical theory, it is based only on the evidence of perception And just now we have seen that the perception is the evidence for the sensible qualities only And they say that there is nothing over and above the sensible qualities These are the phenomenalists And now there is a great problem with the

scientists whether they go with phenomenalism or with realism

One very familiar story that much of science I know I can tell you also That Einstein was at one time of his life very much under the influence of Ernst Mach And he was a Humian who was a Phenomenalist Later on he was objecting to some form of Machianism, he was reminded that how you say, you yourself were a positivist few year back And his reply was very beautiful He says, even a good joke should not be repeated too many times So he was a realist And the problem is this that can we have any evidence for admitting over and above the sensible qualities of the physical object And this bring me back to the second part of Gauttama's answer In the first part he says, after all as the knower of as a means of knowledge of the sensible qualities there is Pratyaksa So you can not simply say that there is no Pratyaksa, only Anumāna is there But the second part is this, even if you say that knowledge of physical object then also he says that knowledge of physical object is also a perception How that is possible? He says, when you think that we only perceive the front part of it and not the second part of it, you are taking that the thing is composed of certain parts only But we are Avayavavādins Avayavī is something distinct entity Its a unity, its a distinct

entity and it is in every part of it So therefore, unless we accept Avayava, we can not this issue that Pratyaks is not a Pramāna= Pratyaksm anumānameva A Pratyaksa or we can say that a perception of a tree or a jar, they will become inference, we can not answer this charge unless we admit Avayava in addition to the Punjas So therefore, it becomes very necessary from the Nyāya point of view You have very good answer to the question why there should be a perception and perception is as much a direct form of knowledge and not just interpretation And how is it that with the help of the sense organs we can know not only the sensible qualities but also the physical objects as such So therefore this particular approach is totally absent in the western tradition So all that they could do by way of refuting phenomenalism and establishing realism is as Prof Bokil was expounding the other time that we can not reduce a physical object statement in to the sense data statement But that in addition to this we can have a real argument by admitting Avayavī that is simply unknown to them Here we can enter into discussion in the theory of perception with our western counterpart and particularly the scientists who depend on this perceptual knowledge of that

Now I will try to touch upon most of the division

we find in Prasthānaratnākar is, so to say each other

So it creates lot of trouble But if you accept only one principle of division and you go by that but there are too many principles are given and too many different ways of defining it and that creates problem sometimes I give one example It is said that one time of knowledge not Jnana as such, perhaps Anitya Jnana That division is like this Saṁśya, Niscaya, Viparyasa, Smrti, Swapna like that But the problem is this that how a cognition be other then both Niscaya and Samśya? For first if we say that Niscaya Aniscaya bhedena dvairasrayameva Niścayaniścaya virodhe hi na prakaranta sthituh So if something is not Niscaya then it must be Aniscaya Then either he say Viparyaya is Aniścaya or say it is Niścaya But none he said in this scheme In this scheme it is neither Aniscaya nor Samsya it is a third category So his fivefold division we can not reduce immediately into the twofold divisions So division or classification by logical division, with which we are rather familiar of ing E g first we distinguish Jnana into Smrti and Anubhava Then Anubhava in to Saksat and Paroksa And then each time we have Dvairaśraya That is possible but here that is not possible And therefore this for two or distinction of Prama Aprama also But that I will discuss currently

How do you define Pramā and that is a very difficult problem also I have some questions which I will raise and then discuss something One is this, the principle of distinction is this that Sātvika-jñāna is Prama and Niścaya is also Pramā But when Niścaya is said to be Pramā, it is said to be Sātvika rājasa So both the things have been said That creates problem of classification.

My other question is this, suppose we say Sātvika-rājasa jñāna is Pramā This Pramā is defined only in the context of Anitya Jñāna and once in the context of Nityajñāna. So should I understand the position of Śuddhādvaita in this sense that Nityajñāna is necessarily Pramā and that is only Sātvika Whereas, Pramā Anityajñāna is Sātvik rājas So that can make somehow a rational division But then again the point is this is it possible for any jñāna to be Sātvika only ? If we believe that 'jñāna' to mean Vṛtti, whether a Buddhi or not Svarūpabhūta jñāna The reason is this, Satva Rajas-Tamas these three they may be there present in different proportion but it is not possible that there is no Rajas, no Tamas and only Satva and so on This is normally not possible Abhibhava is possible So if it is understood that Satva is Pradhāna that is understandable but only Sātvikajñāna is it possible ? This is not intelligible to me This is one problem

Then, normally substance of Dravya is perceived only by two sense organs: Caksu and Tvag Indriya But in this tradition it is believed that Dravya can be understood by all the sense organs But that is not the great problem for me The deeper problem is this how Ghrānendriya can perceive Dravya Some examples have been given Such as even in the darkness I can say 'I am smelling a rose' that is possible But problem is this that has been said that Gandhavattvena gandhasya ghrānendriyena grahanam, Sparsvatvena dravyasya grahanam sparśendriyena etc But come to this question of Gandhavattvena gandhasya ghrānendriyena grahanam In our example we can well understand it that how do we perceive the colour present in a Dravya We say Saṁyukta Samavāyena dravyavatah rūpam grahyate Ko atra āśayah Indriya-saṁyogah dravye asti Tad dravye rūpam samavetam Atra tu dravyena saha na saksāt saṁyogah Tat to gandhena saha Gandhadvārena dravyena saha yah sambandhah tasya kim svarūpam? Tādātmaym na sambhavati To my mind first my sense organ is to be in relation to the Gandha And since that Gandha is there in the Dravya then we can have that relationship So it should be what relation? It can not be saṁyoga tādātmya or Saṁyukta tādātmya But what it is this question is to be discussed here

Some of the question I am raising I have my own

answer to give to them But basically I am raising some questions

1 Whether Pratyaksa can be regarded as an additional Pramāna or not ?

2 Whether we have any answer to the question that Pratyaks is Anumāna if we do not accept Avayavivāda ? If we accept Avayavivāda how it can be answered I have given But every system does not accept Avayavivvāda

3 Whether we can have any Jñāna which is only Sātvika, there is no mixture of Rajas or Tamas at all ?

4 How or what exact Sannikarsa when we perceive Gandhavattvena dravyam through ghrānendriyena ? Is it Tādātmya tādatmyaor whatever it is

+

चर्चा

प्रो. प्रद्योतकुमार मुखोपाध्याय

के.ई.देवनाथन् : You said that Naiyāyika accepts Avayava-avayavivāda and if it is not accepted then the Prāmanya of Pratyaksa can not be established

प्रद्योतकुमार : How can it be established? What other way is there?"

के.ई.देवनाथन् : What I understand by that Bhāṣya, this problem comes if Avayava-avayavivāda is accepted Question there is like Pratyakṣam apramāṇam, ekadesopalabdheh That is the question. Because you Nayāyika accept Avayava avayavivāda Therefore, if one part is perceived you think that other part is not perceived Then Pratyakṣa becomes Apramāṇa That is the question The answer is that apart from the perceived part the Avayavī also is there In that case if a part is perceived, the whole is perceived This kind of problem does not emerges in those systems who don't accept Avayava avayavivāda

वी.एन्.झा : When you say "I see the tree" actually you are seeing only the part of a tree But your claim is "I see the tree' Do you say that "I see a part of the tree'? No Then how do you explain the perception?

के.ई.देवनाथन् : The Bhātta Mīmāṁsakas accepts Bhedābheda So, if a part is perceived then whole also [redacted] perceived

वी.एन्.झा : So the problem is unless we accept Avayavī how to explain the perception of whole?

के.ई.देवनाथन् : My understanding is that this problem may occur more in Nyāya system. Because, they have accepted Bheda between Avayava and avayavi

वी.एन्.झा : It can occur with anybody. Because, anybody can ask

के.ई.देवनाथन् : It can but Naiyayikas have to answer this question forcefully. One more thing. You asked that Niścaya, Saṁśya etc. are the kinds of

प्रद्योतकुमार : There are five kinds. They can not be reduced to dichotomy

के.ई.देवनाथन् : According to Naiyāyika it doesn't necessarily mean Niścaya as Samsyabhinnah. Because Niścaya may consist of both Saṁśya in one part and

बलिराम शुक्ल : No. No. One single knowledge is Saṁśya or Niscaya? There may be partly doubt. But it is not accepted as a single knowledge

के.ई.देवनाथन् : It is accepted. General belief of Naiyāyika is Saṁsya is Saṁśya and Niścaya is Niścaya. But in Pramānyavāda Bhattācārya accepts. Both can be "Saṁśayatva niścayatve avyāpyavrtti-jātiviśeṣau" "संशयत्व-निश्चयत्वे अव्याप्यवृत्तिजातिविशेषौ".

प्रद्योतकुमार : He is saying that actually Naiyāyika can not claim the credit of offering the solution. Actually they are the cause of the problem. But why don't

you notice that it is you If the Purvapaks was that "Vrksabuhiddhih anumiti, avayava grahanat" then your question would have been all right But where it is not said 'Avayava grahanat, ekades grahanat" Why they used "ekades grahanat"? And ekades grahana will be equally applicable in the *case of Punja vada also So form the whole Punja* of which only ekadesa you are taking So, the same question will in the Punja vada also

के ई देवनाथन् : No In Punjavada it is not the problem Because if ten Paramanu are perceived then the perception will be like : I have perceived this much Therefore, no Avayavi

प्रद्योतकुमार : Then you can not say that Ghatam pasyami

कृष्णमूर्तिशास्त्री : ज्ञान सत्त्वगुणजन्य कथ राजसम् इति प्रश्ने जो ज्ञान भगवद्विषयक होता है वह सात्त्विक कहलाता है जो विषयविषयक होता है वह तामसिक है विषय और भगवान् को मिलाकर हम जो ज्ञान पा रहे है वह राजसिक है इस तरहका लक्षण तो हो सकता है अनन्तरम् एक प्रश्न अन्ते कृत किम् एक ज्ञान तादृशम् अस्ति यत्र सत्त्व-रजसो अशोऽपि नास्ति, शुद्धसात्त्विकम् अस्ति वा? इति तत् न अस्ति इति उत्तर गीताया दत्तम् "न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन, सत्त्व प्रकृतिजेर्युक्त य एभि स्यात् त्रिभिर् गुणे" 'सत्त्व' नाम न द्रव्यम् य

कोऽपि पदार्थ अशत रजस्तमोगुणसस्पर्श विना एकएव वर्तते शुद्ध इतरत्र तावत् कश्चन ससर्ग द्वयो भवेदेव

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रीमदभागवते "वदन्ति तत् तत्वविद तत्त्व यज् ज्ञानम् अव्ययम्" अत्र 'ज्ञानम्' इति पदेन तत्र भगवानेव गृहीत

कृष्णमूर्ति शास्त्री : भागवतएव न "सत्य ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म" इत्यत्रापि भगवानेव गृहीत

प्रद्योतकुमार : अतो 'ज्ञान'शब्दस्य मया 'ज्ञान'शब्देन वृत्ति उच्यते तद् वृत्ति केवल सात्विकरूप सम्भवति न वा? तत्र रजस्तमस स्पर्शासम्भव

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मुख्य ज्ञान चैतन्यस्वरूपम् चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तौ ज्ञानत्वम् उपचर्यते अयन्तु सर्वैरपि अगीकार्यमेव

डी प्रह्लादाचार : नैयायिकै न अगीक्रियते

गो स्वा मी : *डाइकोटोमीके प्रिन्सिपल्* के अनुसार किसी भी *टर्म्* को जब *नेगेटिव्* बनाया जाता है तो वह *इन्फाइनाईट टर्म्* बन जाती है इस स्थितिमे जब सशय और असशय कहेंगे तो उसमे सब ज्ञान आ जायेगे निश्चय - अनिश्चय, विपर्यास - अविपर्यास और इसी तरह स्मृति - अस्मृति कहनेसे सारे ज्ञान आ जायेंगे तो आपकी जो समस्या है कि *डाइकाटोमी प्रिन्सिपल्* के अनुसार किसी भी *टर्म्* को जब *नेगटिव्* किया जाता है तब वह *इन्फाइनाईट टर्म्* बन जाती है यह इस प्रसगमे ध्यानमे रखना चाहिये यहा *डाइकाटोमी* नहीं की गई है उसका एक कारण यह है कि जितने भी वृत्यात्मक ज्ञान ह वे, मने पेपरम

इसीलिये यह बात स्पष्ट कही है, वे शुद्ध चैतन्यरूप नही है भागवतमे कहा गया है "आसीज् ज्ञानम् अथो हि अर्थ एकमेव अविकल्पितम्" ज्ञान स्वय ज्ञान और ज्ञेय के रूपमे विभक्त हुवा है बादमे महत्तत्व उत्पन्न हुवा, तदनन्तर अहकार उत्पन्न हुवा इस तरह सारी साख्यकी प्रक्रियाको ब्राह्मिकी प्रक्रियाके समन्वित किया गया है अत प्रकृति गुणत्रयकी साम्यावस्था होती है और विकृति गुणत्रयकी विषमावस्था विषमावस्थाका मतलब ही यह है कि कोई एक चीज प्रबल है तो दो चीज निर्बल है और उसीके अनुपातसे सारा विकास हुवा है लिहाजा ज्ञानोत्पत्ति जहा भी लौकिक प्रक्रियानुरोधी है वहा बुद्धिवृत्त्यात्मक ज्ञान माना गया है क्योकि प्रकृतिसे चित्त पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है और उस चित्तसे जो अहकार पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है उससे जो मन पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है उस अहकारसे जो बुद्धि पैदा हुयी है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है अब जब सभी कुछ त्रिगुणवैषम्यरूप है तब बुद्धि समय-समयपर अपनी उन विषमावस्थाओंको प्रकट करती रहती है इसलिये सत्त्वमे रजस्, सत्त्वमे तमस्, सत्त्वमे सत्त्व हम ऐसा *स्किमेटिक्* *इन्टप्रिटेशन्* करते है उसके तहत बुद्धिकी वृत्तिसे होनेवाला जो ज्ञान सत्त्वरूप होता है वह एक *जनरल्* बात है और उसकी *सब्-वेराईटीज़्के* रूपमे सात्त्विक-सात्त्विक, सात्त्विक-राजस, सात्त्विक-तामस इत्यादि आते है इसलिये वहा यह मीमासा की गयी है वस्तुत यह बात

प्रस्थानरत्नाकरकारकी अपनी नही है. यह सारा प्रतिपादन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने किया है. उन्होने तो केवल उसका संकलनमात्र किया हे. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी एक *पॉलिसी* हे कि यह सारा जगत् जो प्रकृतिसे प्रादुर्भूत हुवा है यानि जो भी प्राकृत प्रोडक्ट है वह सारा सत्त्वआदिकी नवविध *वेराईटीज्* मे *एक्स्प्लेईन्* हुवा है. और महाप्रभु प्रायः *पेडुलमृकी* तरह हर सगुणकी निर्गुण *सिच्युएशन्* दिखलाते रहते हैं. ज्ञानकी निर्गुण स्थिति और ज्ञानकी सगुण स्थिति. भावकी निर्गुण स्थिति भावकी सगुण स्थिति. कर्मकी सगुण स्थिति कर्मकी निर्गुण स्थिति. इस तरहकी उनकी *मोडस ऑपरेन्डी* है. इसके अनुसार उन्होने कहा है कि "संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च, स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षणं वृत्तितः पृथक्" इन बुद्धिवृत्तियोंमे गुणवैषम्यकी कैसी *वेराईटीज्* और *सब्-वेराईटीज्* प्रकट हो रही हैं. यह मूल बात है.

प्रद्योतकुमार : That is not my problem All this is well understood and there is no problem at all For everything that comes from Prkrti must be Trigunātmaka

वी. एन्. झा : शुद्धचैतन्यविषयक वृत्तिज्ञान सम्भव है?

गो. श्या. म. : सम्भव है प्रकृतिमेंसे सबसे पहला परिणाम महत्का हुवा है. महत् समष्टिभूत चित्त हे ओर व्यष्टिभूत चित्त हम सबमें है. उस चित्तमें सुषुप्तिसाक्षिक, जिसे "गाढं मूढो अहम् आसम्, न किञ्चिद् अवेदिषम्" या "सुखम्

अहम् अस्वाप्स, न किञ्चिद् अवेदिषम्" ऐसे, केवलाद्वेती कहते है इसमे आत्मसाक्षात्कार चित्तमे होता माना गया है वह सुषुप्तिसाक्षिक चेतन्यका अन्त करणजन्य ज्ञान चित्तमे उत्पन्न होता है वह बुद्धिसे नही होता है क्योंकि उस समय बुद्धि निद्रावृत्ति अपनाये हुवे होती है अहकार और मन भी सो जाते है केवल चित्त जाग्रत रहता है पर जब अहकार और मन जाग्रत होते है और बुद्धि तामसी वृत्तिके साथ तब धीरे-धीरे स्वप्न आने लगते है और जब इन चारोके अन्तर्गत बुद्धि निद्रावृत्तिका त्याग कर देती है तब हम पूर्णतया जग जाते है यह जाग्रत अवस्था है

वी एन् झा • अशी उसका विषय कैसे हो सकता है? शुद्धचैतन्यवाला

गो श्या म : शुद्ध चैतन्य एक तो पारमात्मिक अशी रूपमे है वह तो हमे अनुभूत होता नहीं है पर अशरूपसे जो हमारे अदर मौजूद है वह भी शुद्धचैतन्य है, उस शुद्धचैतन्यको अर्थात् जीवात्मचैतन्यको चित्तद्वारा विषय बनाया जा सकता है "स्वमपीतो भवति" "स्व हि तदा अपीतो भवति"

एक बात मै और कहना चाहूगा कि आपने अवयवीका जो प्रश्न उठाया उसके बारेमे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका दृष्टिकोण पुन अर्धजरती है बहुत सारी बातोमे हमारे यहा अर्धजरतीवाला दृष्टिकोण अपनाया गया है क्योकि मूल तादात्म्यमे ही कुछ अर्धजरती है, भेदाभेदके बीचमे

तो जहा जहा भी हमारे सामने कोई अतिवादी बात आती है तो हम उसका समाधान अर्धजरतीसे करते हैं

अवयव-अवयवीकी बातके बारेमे महाप्रभुका एक वचन है "उपचिते अवयवे सहतो गुप्तो अवयवी प्रकटो भवति" देखो! अर्धजरती है अवयविवाद और पुञ्जवाद मे यह सत्कार्य और सत्कारणवाद को छोड कर नहीं सघातवाद ओर द्रव्यवाद की अर्धजरती महाप्रभु कर रहे हे और इस न्यायसे यदि आप देखगे तो हमारे यहाके द्रव्यका भी विलक्षण स्वरूप है हम द्रव्यको ऐसे नही मानते हे कि द्रव्य शुद्ध अवयवी है और "उत्पन्न द्रव्य क्षणम् अगुणम् अक्रिय च तिष्ठति" और बादमे गुण उत्पन्न होता है उसके बारेमे भी हमारा यह दृष्टिकोण हे कि तन्मात्राये सहत होकर घनीभूत होकर द्रव्य बन जाती हैं तो किसी तन्मात्राका आपने प्रत्यक्ष किया है वही तो घनीभूत हो कर द्रव्य हो रही है अर्थात् शब्दतन्मात्रा घनीभूत हो कर आकाश है रूपतन्मात्रा घनीभूत हो कर तेज तत्व है और गन्धतन्मात्रा घनीभूत हो कर पृथ्वितत्त्व है इस तरहसे घनीभावका भी हमारे यहा सिद्धान्त है जो कि सघातवादकी अर्धजरती है और फिर उस द्रव्यको हम बौद्धोंकी तरह शून्य नहीं मानते हम कहते ह कि वह वहा छिपा हुवा था सो वहा प्रकट हो गया "द्रव्य कर्म च काल च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्वत" तो द्रव्यात्मक

वासुदेव वहां प्रकट हो जाता है. यह हमारी अर्धजरती हे. इसपर ध्यान देना चाहिये. तन्मात्राओंवाले गुणधर्मोके संघातसे गुप्त अवयवी प्रकट होता हे. सद्वादको हम इस तरहसे *बेलेस्* करते हे. इसपर ध्यान देगे तो "एकदेशदर्शनात् अप्रमाणं"की समस्याका हमारा समाधान जाना जा सकेगा. क्योंकि गुप्त अवयवी प्रकट होता हे तो कुछ संहत अवयव ऐसे हे कि जो अवयवीको प्रकट कर देते हैं. *मोडर्न् सांइसे विजुअल् पर्सेप्शन्के* बारेमें इस बारेमे कई प्रयोग किये हैं. ओर उन्होंने हमारे *ब्रेईक्* की इसे *इनेट् केपेसिटि* मानी हे. ओर उसको वे लोग बहुत अच्छी तरहसे *डेमोन्स्ट्रेटिव् एक्स्पेरिमेन्ट्से* सिद्ध करते हे. कुछ समय पहले गांधीजीका एक *स्केच्* प्रसिद्ध हुवा था उसमे गांधीजीका बाल बिनाका कपाल ओर गोलकाचवाला चश्मा मात्र बनाया गया था पर वहा गांधीजी प्रकट हो जाते हे *साईंस्* कहता है कि *सजेस्टिव्नेस्* का एक ऐसा *पोईन्ट्* आता है कि जिसके सहारे *माईन्ड्* गुप्त अवयवीकी प्रकट अनुभूति कर लेता है.

डॉ. प्रह्लादाचार : I think that whatever you have told so far it was about the origination of the Avayavī Whether the Avayavī is produced by the Avayavas i e Asat kārya-vāda or whether the Avayavī that is there in the Avayas they are revealed by the avayavas? In that connection whatever you have said in Śuddhādvaita vāda that Gupta avayavī is prakatīkrtah like that But the point that is Avayavī has all ready come in to existence and now while you are seeing the object only a part of it is perceived and the whole is not at all perceived

because the whole is not connected with the sense organ, only a part of it is being contacted by the sense organs Even then we say that we have the perception of the whole How can it be possible? This question, I think, whether the Avayavī is deferent from the Avayavas or whether it is identical with Avayavas can be explained While Avayavī is considered as deferent from Avayavas but it is existing there with the relation of inherence Then Avayavī is there in that part also? Whatever part is being seen in that part Avayavī is there Therefore it is seen, directly eyes come into contact with the Avayavī It is not the case that the Avayavī is not there It is not possible to have contact with the sense organ While you say that Avayavī and Avayavas are identical then the question doesn't arise While Avayavas are come in to contact with the sense organ and Avayavī also come into contact with the sense organs I think

ते. श्या. म. : That's what I meant to say! Because of Tādātmya between Avayavas and Avayavī And ultimately it is the way you look at it E g when we are thinking that "tantvārabdhah patah" then Pata is Samaveta in Tantū But suppose if we take Pata as a whole then all the Tantūs are Samaveta in Pata also So, Samavetatā can be two way That means Anyonya tādātmya What you call Anyonya samavetatā, we mean Avayavī and Avaya

vas, Bheda-sahisnu-abheda So, Tantūs are also in Pata "Pate tantavah". After Pata is produced and somebody says that "I have removed one Tanatu from the Pata" then he is saying Pata as an Adhikarana and Tantu as Ādheya That sort of reversibility is there This is not the case if you are looking at it from the causal point of view This is the very case when you look it from the Avayava-Avayavī Bhāva Then Tantus, which are Avayavas, are in Avayavī which is Pata But let me clarify, if we accept Arambha vāda, then this will be the opposite case But in the case of Parinămavāda, all the parts are there in its whole

वलिराम शुक्ल : पात्राधारे घृत नतु पात्र घृताधारम्

गो. श्या. म. : That's what I said! And even Laukika pratyaksa also advocates this Laukika pratyaksa will say Branches are in the tree whereas it is only Naiyāyika who will say that no, branches are not in the tree, it is tree which is in the branches

डी. प्रह्लादाचार : When parināma Vāda is accepted then there is identity between Avayavî and Avayavas Therefore, there is no Ādhāra Ādheya Bhāva Ādhāra Ādheya -Bhāva is possible only when there is deference between two

गो. श्या. म. : Tadātmyasambandhātmako ādhāra-Ādheya Bhā-va It is not Bedātmaka Ādhāra Ādheya Bhāva Tādatmyasambandhātmaka ādhāra Ādheya Bhāva is possible

के.ई.देवनाथन् : Tādātmy is accepted as Bhedābheda then Ādhāra-Ādheya-Bhava is very possible. If it is Naiyayika's Tādātmya then it is not possible

प्रद्योतकुमार : एक प्रश्न अभी भी अचर्चित रहता है गन्धवत्त्वेन द्रव्यस्य यदा ग्रहण भवति घ्राणेन्द्रियेन ..

गो. श्या. म. : मैंने वही कहा कि गन्धका घनीभाव ही द्रव्य है

बलिराम शुक्ल : गन्धतादात्म्य तै. स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : तादात्म्य-तादात्म्य सम्बन्ध होगा?

बलिराम शुक्ल : स्वरूपवदेव. 'तादात्म्यम्' इति नाम तस्य.

गो. श्या. म. : मुखोपाध्यायजी! एक बात सुनिये. जैसे खण्डनखण्डखाद्यमें कहा है कि "एक ब्रह्मास्त्रम् आदाय नान्यं गणयतः क्वचिद् आस्ते न धीरवीरस्य भग सगरकेलिषु" आप हमको कुछ भी पूछेंगे हम 'तादात्म्य' कह देंगे. "एक तादात्म्यम् आदाय नान्य गणयतः क्वचित्"

एस्.वी.बोकिल् : Prf Mukhopadhyay's presentation has raised few philosophical difficulties in my mind The first one is that you started with the point that according to Indian theory of knowledge Jñāna is something which is indefined Now my difficulty is this, if it is indefinable, can we decide with respect to any Pramāna, whether it is Pramāna or not Unless we have some definition of knowledge, some criterial analysis of knowledge, we can not decide Pramāna may be Pratyaksa, Anumāna and so on Because of we speak of Pramana only with the conception of the Pramā This is one. Then those who take Pratyakṣa as very basic and Pramāna and you were implied to say that Pratyakṣa is the most basic

then in that case how can we conceive it as Pramāna unless you have also the notion of what kind of knowledge it measures? That is one thing Secondly, assume for the moment that Pratyaksa is considered to be a very important Pramāna, now in old days, probably I think people did not pay attention to the diciplines like Mathametics, science etc Now I have great difficulty in just finding out how Pratyaksa can be said pramana in respect of Methamatical Knowledge And even with respect to the knowledge that we acquire in the field of natural science Pratyaksa is necessary there but can not be a sufficient condition of science Then I think you also took the view namely that your knowledge is something like Sātvika Now because we consider human nature to be as constituted of three Gunas Now can mathematical knowledge be considered as Sātvika? In the west there were philosophers who inclined to believe that God's knowledge is Mathematical And perhaps some of the Indian philosophers also could also accept taking in to account the nature of God, God can not contain any element of Rajas and Tamas It must be fully Sātvika In that case what would be the nature of divine knowledge? According to our conception, I mean the kind of Sātvika knowledge that we consider to be p ssible, it can be considered mathematical knowledge Because mathematical

knowledge is by universality, objectivity, necessity perhaps that which can not be falsified And last but not least that is even if Pratyaksa where to be take note of the language we sued to express Because even if knowledge is Pratyaksa it takes the form of proposition It does required language Now how do we equate this knowledge of language That means we have already acquired the knowledge and then we use Pratyaksa Or we must somehow see that as we were practicing Pratyaksa all the time language is somehow growing up along with the Pratyaksa

·······+·· · ·

सगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीमान् डा एस् वी बोकिल द्वारा उठाये गये मुद्दोंपर या तो समयाभाववश चर्चा हो नहीं पायी अथवा तब हुयी होगी परन्तु बिजली और टेपरिकार्डर की कोई समस्याके कारण भलीभाति रिकॉर्ड हो नहीं पायी, क्या हुवा वह अब याद नहीं आता

श्रीप्रद्योतकुमार मुखोपाध्यायजी जैसे आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन तथा भारतीय नैयायायिक दर्शन पर समान प्रभुत्व रखनेवाले वयोवृद्ध विद्वान्का इस प्रत्यक्षगोष्ठीमे समिलित होनेके आमन्त्रणको स्वीकारना तथा सहभागी होना वस्तुत हमारे लिये अतीव आनन्द और अभिमान का विषय है प्रथम परिचयमें ही अतिथिभावके सौजन्यवश श्रीमुखोपाध्यायजीने मेरे समक्ष प्रश्न उपस्थापित किया

कि हमारी उनसे क्या अपेक्षा है—क्या उनसे प्रस्थानरत्नाकरके विधानोके समर्थनकी हमें अपेक्षा है या जो भी उन्हे प्र र मे आलोच्य लगे उसकी आलोचना हम सुन पायेगे मैने तबभी उन्हे यही कहा कि जो कुछ उन्हे उचित लगे उसे विचारगोष्ठीमे वे विना किसी सकोचके कह यही हमें अधिक अच्छा लगेगा और हम वस्तुत उनका आभार मानते है कि आतिथेयको प्रसन्न रखनेको निरर्थक प्र र के विधानोके पक्ष लेनेका सकोच श्रीमुखोपाध्यायजीने बरता नहीं क्योकि प्र र के विधानोकी प्रशसा ही सुननी होती तो हम भक्तजनाकी भजनगोष्ठी आयोजित करते नकि विद्वद्गोष्ठी।

द्रव्यप्रत्यक्षमे उसके अशविशेषके प्रत्यक्षवशात् पूर्ण अशीके प्रत्यक्षका अनुव्यवसाय ज्ञानमीमासाशास्त्रकी एक रुचिकर समस्या रही है न्यायशास्त्र पृथ्वी-जल-तेज आदि द्रव्योके साथ हमारी इन्द्रियोके सयोग होनेके बाद उनमें समवेत गन्ध-रस-रूप आदि गुणोका प्रत्यक्ष परम्परा सम्बन्धके द्वारा व्याख्यायित करना चाहता है "इन्द्रियततसयोगतदाश्रयसमवायानामेव परम्परासम्बन्ध-त्वात्" (तत्त्वचि प्रत्य ख सनि वा) इन्द्रियार्थसयोग द्रव्यके अवयवविशेषके साथ घटित होनेपर भी, अवयवावयविभाव या अशाशिभाव इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण ही, अवयवीके प्रत्यक्षका प्रमाण माना जाना चाहिये यह युक्ति तो उचित ही है इसका लाभ परन्तु केवल आरम्भवादी नैयायिक ही ले सकते हैं अन्य परिणामवादी नहीं यह धारणा गलेमे उतरती नहीं है क्योकि आरम्भवादके अनुसार तो समवायी कारणरूप अवयव और वहा समवेत कार्यरूप अवयवी द्रव्य के बीच भेद ही माना गया है जबकि शुद्धाद्वैतवादमे तो तादात्म्यवाद, भेदाभेदरूप नहीं परन्तु भेदाभेदातीत चतुर्थकोटिरूप उभयसहिष्णुवाद, प्राणोपम अवधारणा होनेके कारण न केवल अवयवावयवीके बीच प्रत्युत उपादान-उपादेय अवयव-अवयवी गुण-गुणी क्रिया-क्रियावान्, कुल मिला कर प्रत्येक धर्मधर्मिके उदाहरणमे तादात्म्य स्वीकारता होनेके कारण ऐसी शका अनवसरपराहत लगती है आधुनिक मनोविज्ञानमे इस विषयमे रोचक प्रयोग यो वर्णित हुवा है कि एक रुपयेके गोल सिक्केको कनीनिकासे थोड़ा नीचे रख कर निहारनेपर वस्तुत दृष्टिगोचर होती आकृति वर्तुल न

दीख कर लम्बगोल या मीनवस्ति (elliptic/vesicapiscis) आकारमें दिखलायी देने लगती है इसे केमेराद्वारा चित्र खींच कर भी सिद्ध किया जा सकता है परन्तु बुद्धिमे उसका प्रत्यभिज्ञान पूर्ण वर्तुलके रूपमे ही होता है! इसे चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ पूर्वदृष्ट वर्तुलताके विकल्पका अप्रमात्मक मानस विकल्पसंयोजन मानना ही पडता है. और बुद्धिद्वारा इसका प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष-अध्यवसाय भी होता ही है. अत चाक्षुष बाह्यसवेदन तथा बौद्ध वृत्यात्मक आन्तर अध्यवसाय के तारतम्यका यह प्रमाण बन जाता है. इसी तरह रेलकी दो पटरिया कुछ दूरीपर निर्भ्रान्त जुडी हुयी दीखनेपर भी बुद्धिमे जुडी होनेकी भ्रमणा पैदा नहीं कर पाती. इसी तरह चक्षुर्गोचर होते द्रव्यके अवयव या अश के दृष्टिगोचर होनेपर भी बुद्धिमे अवयवी द्रव्यके प्रत्यक्षका अध्यवसाय बुद्धिवृत्तिकी ही करामात है इसे न स्वीकार कर नैयायिक सयुक्तसमवायरूप सनिकर्षकी नियामकता मानना चाहते है. परन्तु वह द्वितीय प्रत्यक्षमे बुद्धिवृत्तिद्वारा योजित न माननेपर भ्रान्तिकी कथा ही अनुपपन्न हो जायेगी. अत अवयव और अवयवी के बीच आत्यन्तिक भेद स्वीकालेवालोको तो अगतिकतया बौद्धिक भ्रमणाके रूपमें ही स्वीकारना पडेगा! अवयत-अवयवी या धर्म-धर्मी के बीच, किन्तु, तादात्म्यकी स्वीकृतिके वश, दृष्टिसे गोचर न होनेवाले भी पदार्थका बुद्धिसे गोचर होता वास्तविक आकार इस जटिल प्रक्रियाको भ्रान्ति मान लेनेके सकटसे तादात्म्यवादीको बचा लेता है.

इसके अलावा आरम्भवादी नैयायिकोको अभिमत प्रत्यक्षप्रक्रियामे धर्मिभूत द्रव्यके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणप्रत्यक्षकी कल्पना की गयी है "द्रव्यप्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयोगजन्य द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम्" (न्या.मु.५९) साथ ही साथ बाह्येन्द्रियजन्य सामान्य प्रत्यक्षको अकिञ्चित्कारणक या आत्मवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्तासे प्रयुक्त मान लिया गया होनेपर भी चाक्षुषप्रत्यक्षमे पुन रूपको ही कारण माना गया है(द्रष्ट. : न्या मु.५६). फिरभी कारणप्रत्यक्ष सयुक्तसमवायरूप सम्बन्धवश द्रव्यप्रत्यक्षद्वारक माना गया है. जबकि होना चाहिये था कारणप्रत्यक्षद्वारक द्रव्यप्रत्यक्ष! अत परिणामवादी शुद्धाद्वैतवादमे गुणधर्मोके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणी या धर्मी के

प्रत्यक्षगोचर होनेकी ऋजुप्रक्रिया स्वीकारी गयी है.

प्रत्यक्षबोधके जननकी प्रक्रियामे प्राप्यकारिता या अप्राप्यकारिता के प्रश्नमे उलझे मतभेदको थोडे समयके लिये भुला कर द्रव्यप्रत्यक्षको गुणद्वारक न माननेपर जिस इन्द्रियसे जो गुण गृहीत होता है उस गुणसे रहित द्रव्यके भी उस इन्द्रियसे प्रत्यक्षकी आपत्ति होगी। अब यदि किसी विशेष गुणवाले द्रव्यके प्रत्यक्षावभासनमे उसके ग्राहकविशेष इन्द्रियसे ग्राह्य गुणके समवायी होनेके कार्यकारणभावकी क्लिष्टकल्पना "अन्ते विधवाविवाह चेद् आदावेव कुतो नहि" न्यायेन गुणधर्मप्रत्यक्षमूलक गुणी या धर्मी के प्रत्यक्षावभासनका प्रमाण होनी चाहिये थी वह न्यायमतमें मानी नहीं गयी है

इसके अलावा ईश्वरको घ्राणज रासन चाक्षुष स्पार्शन श्रौत्र प्रत्यक्ष होता है कि नहीं? यदि नहीं तो असर्वज्ञतापत्ति यदि होता है तो इन्द्रियवत्ताकी आपत्तिके वश अनित्यसंयोगजन्य अनित्यज्ञानापत्ति होगी अत प्रस्तुत विभाग न्यायमतमे ईश्वरप्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या कर नहीं पाता अतएव न्यायमुक्तावलीकार भी ईश्वरप्रत्यक्षको प्रस्तुत विभाजनमे अप्रसक्त मान कर जन्यप्रत्यक्षका ही विभाजन अपना कर्तव्य मान कर प्रवृत्त हुवे है

श्रीमुखोपाध्यायजीने एक और मुद्दा यह उठाया कि न्यायमतमे युक्तियुक्ततया ज्ञान दो तरहका होता है स्मृति और अनुभव, वह अनुभव पुन दो प्रकारका होता है यथार्थ और अयथार्थ, यथार्थ अनुभव भी पुन दो प्रकारका होता है निर्विकल्पक और सविकल्पक

मुझे, किन्तु, इस बारेमे ऐसा लगता है कि इस तरहके द्वैराश्यविभाजन डाइकोटोमी की प्रक्रियामे बुद्धिगम्यता तो अधिक होती है पर उससे अधिक कुछ भी नहीं क्योकि तब तो *द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव*" के रूपमे पदार्थका सप्तधा विभाजन नव्यन्यायमे भी दोषावह मानना पड़ेगा; और, सभीको तर्कामृतकार श्रीजगदीशकी तरह भावाभावात्मक

दो ही पदार्थ प्रतिपादित करनेको बाधित होना पडेगा.

रही बात बाह्य जगत्‌के वस्तुत ऐसी दो राशियोंमे विभक्त होनेके तथ्यकी तो वर्णोका भी श्वेत-अश्वेतकी दो राशियोमे विभाजन करनेके बजाय शुक्ल नील पीत रक्त हरित् कपिश कर्बुर आदि अनेकधा प्रतिपादन ही न्यायमे मिलता हे कारणविभाजनके अन्तर्गत भी समवायी असमवायी के बावजूद, 'इद-तृतीय'न्यायेन, निमित्तकारण स्वीकारा ही गया है स्पर्शग्राह्य गुणोंमे भी शीत अशीत या उष्ण और अनुष्ण के बजाय शीत अनुष्ण अनुष्णाशीत स्वीकारे गये है और तो और प्रत्यक्षके अलौकिक सनिकर्षमे सामान्यलक्षणा ज्ञानलक्षणा और योगज यो तीन माने गये है. तादात्म्यसम्बन्ध और स्वरूपसम्बन्ध दोनो ही सम्बन्धी द्रव्यकी अभेदात्मकता लिये होनेपर भी दोनो भिन्न प्रकारके सम्बन्ध माने गये है स्वय जीवात्माको होते प्रत्यक्षको इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य माननेके बावजूद, इन्द्रियरहित परमेश्वरके ज्ञानको षड्विध लौकिक सनिकर्ष और त्रिविध अलौकिक सनिकर्षमे न मान कर वहा भी, 'इद तृतीय'न्यायेन, विषयका विषय होना और ईश्वरके नित्यज्ञानका विषयी होना मान गया है पुनश्च उस ऐसे सम्बन्धका न तो स्वरूप और न तादात्म्य मे ही अन्तर्भाव माना गया है अत यह जितना अतर्कित या अतार्किक हो सकता है उससे अधिक दोषावह मुझे बुद्धिकी पाच वृत्तियोका अगीकार लगता नहीं है

डा श्री एस् वी बोकिल द्वारा छेडे गये मुद्दोके बारेमे श्रीमुखोपाध्यायजीकी प्रतिक्रिया रिकार्ड नहीं हो पायी फिरभी अथवा वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिकोणके अनुसार जो कहा जा सकता है वह यो है

सारा गणितशास्त्र हम प्राणियोकी बुद्धिमे प्रकटे वस्तुविषयक बुद्धिसापेक्ष "यह एक और यह एक—यो ये दो" ऐसे वास्तविक पर सापेक्ष प्रत्ययोपर अवलम्बित होता है अत मौलिक एकत्व तथा लीलार्थ प्रकट अनेकत्व के बीच बुद्धि अपनी सात्त्विकादि अवस्थाओके वश इन्हे आपेक्षिक विकल्पानुभूतिका

गोचर बनाती है बादमे निज कल्पनाओके अनुसार घड़े वस्तु-अतीत प्रत्ययोकी धारणा घड कर तर्कणाके अकाट्य नियमोके बन्धनमे वह फस जाती है बिलकुल उसी तरह जैसे शतरजके मोहरोकी चालके नियम स्वय हमारे घडे होते हैं और फिर उन नियमोके अनुसार खेलने जानेपर स्वय नियम घड़नेवाले हम जयपराजयके द्वन्द्वमे ग्रस्त हो जाते है विट्गस्टाईन यही बात कहता था वही बात यहा भी सोची जा सकती है, केवल कुछ थोड़े अन्तरके साथ वह वस्तुको अज्ञेय-अवाच्य कह देना चाहता था वाल्लभ वेदान्त, जबकि, इसे सृष्टिकर्ताद्वारा प्रादुर्भूत बाह्य विषय और प्राणियोकी बुद्धि के बीच इस सीमा के भीतर ज्ञेय भी और वाच्य भी वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया को भगवल्लीलाके रूपमे देखना चाहेगा

बाह्य विषयका तथा उसके बाह्याभ्यन्तर ग्राहक सचेतन करणोका यह इतरेतरसापेक्ष स्वभाव सृष्टिकी रचनामे रही एक सम्भाव्यता है जो वास्तविकताके रूपमें उभरती लीला है गणितशास्त्रीय नियमके अन्य किसी भी बाह्यविषय या देश-काल-कर्म-स्वभाव-द्रव्यके नियमोके ज्ञानकी तरह, यथार्थ होनेपर, सात्विक माननेमे कोई आपत्ति हो नहीं सकती भगवान्के ज्ञानको तो, त्रिगुणातीत होनेके अर्थमें, हम निर्गुण ही मानते हैं सात्विक नहीं प्राणियोके भीतर प्रकट तामस एव राजस गुणोके उद्रेककी तुलनामे सात्विक गुणका उद्रेक अपने यथायथ तरतमभाववश तरतम अनुभूति प्रकट करता है इन्हे गुणातीत ज्ञानकी ओर अधिकाधिक बढती अनुभूति मानी जा सकती है पर गुणातीत नहीं अतएव भगवद्गीतामे किसी एक कार्यरूप पदार्थमे अपर अनेक कार्यरूप पदार्थोंकी अनुभूतिको तामस गुणका उद्रेक माना गया होनेपर भी सभी कार्यभूत पदार्थोमे एक सच्चिदानन्द ब्रह्मकी परोक्ष या अपरोक्ष अनुभूतिको 'सात्विक ज्ञान' कहा गया है "यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्प च तत् तामसम् उदाहृत , सर्वभूतेषु येन एक भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्त विभक्तेषु तज् ज्ञान विद्धि सात्त्विकम्" (भग गीता १८।२२, २०) जबकि परमात्माके स्वरूप या गुणधर्मों के बारेमे यह सुस्पष्टतया कहा गया है "अनादित्वाद् निर्गुणत्वाद् परमात्मा अयम्

अव्यय" (भग गीता १३।३१) अस्तु

इन विद्वान् विचारकोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञताके साथ इस सर्वोपसंहारलेखको यहां उपसंहृत करना उचित होगा



प्रत्यक्षप्रमाणम्

न्यायशुद्धाद्वैतवेदान्तमतयोः तौलनिकं विवेचनम्

डॉ बलिराम शुक्ल, पुणे

''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि'' इति सूत्रेण भगवता गोतमेन चत्वारि प्रमाणानि स्वीकृतानि सन्ति तत्र ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम् अव्यपयदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्'' इति सूत्रेण प्रत्यक्षलक्षण प्रत्यपादि इन्द्रियार्थयो सन्निकर्षाद् यद् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मक ज्ञान जायते तस्येव 'प्रत्यक्षप्रमा' इति आख्या भवति तत्र 'अव्यपदेश्य'पदेन अशाब्दज्ञानम् इति वात्स्यायन, अर्थात् निर्विकल्पकज्ञानम् इति

अत्र प्रश्नो अय जागर्ति, 'अव्यपदेश्य'पदेन कथ निर्विकल्पकलाभ ? अत्र आह दिनकरीकारो, "'व्यपदेश'=पदवाच्यत्व तदविषयकम् इति अर्थाद् विशिष्टज्ञाने तत्पदवाच्यत्वम् उपनीत भासते इति प्राचीनमतानुसारित्वात्- '' अतएव 'कणाद'='कणाद'नामानम् इत्यादिक तत्र-तत्र उक्त सगच्छते

अस्य इद तात्पर्य यद् विशिष्टज्ञानस्य न ''अय घट'' इति आकारो अपितु ''अय 'घट'पदवाच्य'' इति पदवाच्यत्वम् अत्र ज्ञानलक्षणया भासते इति

अत्र केचन वदन्ति 'व्यपदेश' शब्दप्रयोग सच शब्दप्रयोगो विशिष्टज्ञानानन्तरमेव भवति केवल विशेषणज्ञानाद् विशेष्यज्ञानाद् वा ''अय घट'' इति शब्दप्रयोगो न भवति अतो निर्विकल्पकज्ञानानन्तर शब्दप्रयोगाभावात् शब्दप्रयोगानर्हत्वरूपस्य निर्विकल्पकत्वस्य लाभो भवति 'अव्यभिचारि'इति पद सूत्रे भ्रमे अतिव्याप्तिवारणाय इति

मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वम् अनुमित्यादिष्वपि सत्त्वाद् अतिव्याप्ति, ज्ञानमात्र प्रति मनस कारणत्वात् अत "इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशालि ज्ञानत्वम्" इति प्रत्यक्षलक्षण पर्यवसित भवति ज्ञानमात्र प्रति मनस कारणत्व मनस्त्वेन अस्ति, नतु इन्द्रियत्वेन एवञ्च इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशीलत्वस्य अनुमितौ अभावात् न अतिव्याप्ति

सूत्रकारोक्तम् इद लक्षण जन्यप्रत्यक्षस्यैव 'ज्ञानाकरणकज्ञानम्' इति ईश्वरप्रत्यक्षसाधारण प्रत्यक्षलक्षणम्

न्यायमते प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकार इत्थ वर्णित आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, तत प्रत्यक्षात्मकज्ञान जायेत अत्र इय व्युत्पत्ति "अक्ष-अक्ष प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्" अतएव ज्ञानाकरणकत्वाव्यभिचारि-जातिशून्यज्ञानत्वम् इति जीवेश्वरोभयसाधारण प्रत्यलक्षण पर्यवस्यते ईश्वरप्रत्यक्षस्य नित्यत्वेन न किञ्चिदपि कारणम् जीवप्रत्यक्षस्यतु इन्द्रियमेव करणम् अत उभयोरपि जीवेश्वरप्रत्यक्षयो ज्ञानाकरणकत्वम् अस्त्येव

"साक्षात्कारत्वव्यञ्जक-विषयताविशेषवज्ज्ञानम्" इति गदाधर (ग स म) ज्ञाने साक्षात्कारत्व तावत् 'साक्षात्करोमि' इति प्रतीतिसाक्षिको जातिविशेष इदमपि ईश्वरप्रत्यक्षसाधारण लक्षणम् अतएव नव्यनैयायिकै ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणलक्षण स्वीकृत्य प्रत्यक्षस्थाने 'अपरोक्ष'शब्दप्रयोग कृत अतएव ईश्वरविषयकानुमाने गगेशेन "क्षित्यादिक स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्य, कार्यत्वात्" इति अनुमानप्रयोगो दर्शित

प्रभाकरमत "साक्षात्कारिज्ञान प्रत्यक्षम्" इति प्रत्यक्षलक्षण प्रतिपादितम् अस्ति तथापि तथा मते साक्षात्त्व न जाति, नियतव्यञ्जकाभावात्

अद्वैतवादिना मत "अन्त करणावृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यन विषयस्फुरण

प्रत्यक्षम्'' यथाच उक्त पञ्चदश्याम् ''बुद्धि-तत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घट तत्र अज्ञान धिया नश्येद् आभासेन घटः स्फुरत्''

न्यायमते लौकिकप्रत्यक्ष द्विविध परिकीर्तित १ सविकल्पक २ निर्विकल्पकञ्च यथाच उक्तम् ''अपरोक्षप्रमाव्याप्त प्रत्यक्ष द्विविध मत सविकल्पकम् इति एकम् अपर निर्विकल्पकम्''

तत्र १ नामजात्यादियोजनारहितम् २ वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानम् ३ निष्प्रकारक प्रत्यक्षम् ४ विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहिज्ञानम् इत्यादीनि बहूनि लक्षणानि न्यायग्रन्थेषु प्रतिपादितानि सन्ति

तच्च ज्ञान, वस्तुस्वरूपमात्रावगाहि 'यत्किञ्चिद्' इत्याकारक भवति इति केचन वदन्ति घटस्य निर्विकल्पकज्ञान घटघटत्वे इत्याकारक भवति तच्चज्ञानम् अतीन्द्रिय भवति इति भाषापरिच्छेदकारेण उक्त ''ज्ञान यत् 'निर्विकल्पा'ख्य तद् अतीन्द्रियम् उच्यते'' इत्यादिना

मायावादिना मते ज्ञातृज्ञेयादिविभागशून्य ब्रह्मैकात्मविषयम् अखण्डाकारक विशेष्य-विशेषण-सम्बन्धरहित ज्ञान निर्विकल्पकज्ञानम् (व्या को पृ ४३७)

निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षेण तस्य सिद्धि न भवति इति नैयायिका वदन्ति अतो निर्विकल्पकसत्त्वे किं प्रमाणम्? निर्विकल्पकसत्त्वे अनुमान प्रमाणम् इति नैयायिका तद् यथा ''विशिष्टज्ञान जन्यविशेषणज्ञानपूर्वक, जन्यविशिष्टज्ञानत्वात्, 'दण्डीपुरुष' इति विशिष्टज्ञानवत्''

यदि निर्विकल्पकज्ञान न स्वीक्रियेत तदा सुप्तोत्थितस्य ''अय घट'' इति ज्ञान न स्यात्, कारणीभूतस्य विशेषणज्ञानस्य अभावात् विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् पूर्वविशेषणज्ञानाभावे कथ

विशिष्टज्ञानम्? अतो विशिष्टज्ञानात् पूर्वं विशिष्टज्ञानजनकं विशेषणस्य निर्विकल्पकज्ञानं स्वीकरणीयम्. चक्षुसंयोगानन्तरं घटस्य घटघटत्वयोः वैशिष्ट्यानवगाह्येव 'घटघटत्वे' इति ज्ञानं जायते, तदेव निर्विकल्पकम्. तस्य सविकल्पकत्वे तत्रापि सविकल्पकान्तरं विशेषणज्ञानं कारणं स्वीकर्तव्यम्. तथाच अनवस्थाप्रसंग. अतः पूर्वविशेषणज्ञानं वैशिष्ट्यानवगाह्येव स्वीकार्यम्. तदेव च निर्विकल्पकम्.

अत्र पुनः प्रश्नो अयं जागर्ति, विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे का युक्तिः? चक्षुसंयोगानन्तरं द्वितीयक्षणएव "अयं घटः" इति प्रत्यक्षस्वीकारे क्षत्यभावात्. नहि तृतीयक्षणएव तादृशं प्रत्यक्षं भवति इति वक्तुं शक्यम्, क्षणविलम्बस्य शपथनिर्णेयत्वात्. "रक्तो दण्डः" इति निर्णयं विना "रक्तदण्डवान्" इति विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि प्रत्यक्षे विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्या सिध्यति. परन्तु निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् निर्विकल्पक-सविकल्पकयोः कार्यकारणभावः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न सिध्यति. अतो विशेषणज्ञानं विशिष्टबुद्धिं प्रति कारणम् इति कार्यकारणभावः कथं सिध्येत्.

अत्र आह दिनकरीकारः "कदाचिद् 'घटः' इत्याकारकं, कदाचित् च 'जातिमान्' इत्याकारकं जातित्वेन घटप्रकारकं ज्ञानं जायते इति अनुभवसाक्षिकम्. तन्निर्वाहाय घटत्वांशे अन्याप्रकारक-घटत्वप्रकारकबुद्धौ तादृशघटत्वज्ञानत्वेन जातित्वप्रकारक-घटविशिष्टबुद्धौ च तादृशघटत्वज्ञानत्वेन हेतुत्वम् आवश्यकत्वाद् इति भावः.

अस्य अयं भावः "अयं घटः" इति ज्ञानं द्विविधाकारकं भवति. कदाचित् स्वरूपतो घटत्वप्रकारकं, कदाचित् जातित्वेन घटत्वावगाहिजातिमान् इति आकारकम्. जातित्वेन घटत्वप्रकारकमिति प्रामाणिकानाम् अनुभवः. अतः तादृशानुभवनिर्वाहाय स्वरूपतो घटत्वप्रकारकबुद्धिं प्रति स्वरूपतो घटत्वज्ञानं कारणम् इति स्वीकरणीयम्. एवं घटत्वांशे जातित्वप्रकारकजातिमान् इति

अनुभव प्रति जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञान कारण स्वीकर्तव्यम् अन्यथा स्वरूपतो घटत्वज्ञानात् जातिमान् इति प्रत्यय स्यात्

नच 'घट' इति प्रत्यक्षकाले जातिमान् इति प्रत्यक्षापत्ति इति वाच्य, विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानरूपकारणविरहाद् इति चेत्, न, जातिमान् इति घटत्वप्रकारकबोधोत्पत्तिदशाया 'घट' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्ते

ननु जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वात् तत्र जातित्वरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्यैव कारणत्वम् अस्तु, किमर्थं विशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वम् ? इति चेत्, न, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमानस्य जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यानवगाहित्वात्

नच प्रकारांशे जातौ जातित्वस्य प्रकारत्वात् तदपि ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाह्येव, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमानस्यापि ज्ञानस्य विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिक-तत्संसर्गावगाहित्वात् विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम् अक्षुण्णमेव इति वाच्यम्

विशेषणावच्छिन्नप्रकारताशालित्वमेव विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम् विशेष्ये विशेषणम् इति रीत्या जायमाने ज्ञानेतु प्रकारप्रकारेण अवच्छेदकताख्या विलक्षणविषयता अत तस्य न विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वापत्ति इति केचित्

किञ्च, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमान जातिमान् इत्याकारकज्ञान प्रति न जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञानरूप-विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान कारण, यतोहि विशकलित-जातित्व-घटत्व-ज्ञानादपि तादृश ज्ञान जायते अतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धि प्रति एव विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य कारणत्व स्वीकर्तव्यम्

केचित्तु विशिष्टबुद्धि प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे

ज्ञानलक्षणाया हेतुत्वान्तर न कल्प्यते, विशेषणज्ञानकारणतयाएव तन्निर्वाहात्

अन्येतु विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे ज्ञानलक्षणाया लौकिकान्यघटादिविषयताशालिप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदक वाच्यम् विशेषणज्ञानस्य हेतुतास्वीकारेतु लौकिकान्यत्वम् अनिवेश्य घटादिविषयताशालिमानसत्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्व स्वीक्रियते इति लाघवम्

अपरेतु विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे अप्रसिद्धसाध्यकपरामर्शात् पृथिव्याम् इतरभेद इत्याकारकसाध्यविशेष्यकानुमित्युत्पादकाले इतरभेदप्रकारकानुमित्यापत्ति पृथिव्याम् इतरभेद पृथिवीतरभेदवती इत्याकारक द्विविधविषयताशाल्यनुमिते अनुभवविरुद्धत इष्टापत्ते अयुक्त्वादिति विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धि प्रति हेतुत्वम् आवश्यकम् इति उक्तञ्च "अस्ति हि आलोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पक बालमूकादिविज्ञान सदृश शुद्धवस्तुजम्" (श्लोकवा ११२) इति

अत्र केचित् यत्तु पठ्यते 'अस्ति हि आलोचनम्" इत्यादि, तदपि न समीचीन, निदर्शन च विशिष्टविषयकमेव बालमूकपश्वादीना जातिगुणादिविशिष्टवस्तुग्रहणाभावे तन्नियतप्रवृत्यादिभगप्रसगाद् इति

तत् न युक्त, वस्तुस्वरूपमात्रस्य निर्विकल्पकेन ग्रहण पूर्वं भवति इति अस्वीकारे तद्वाचकशब्दस्य स्मृत्यभावात् सविकल्पकस्यापि सिद्ध्यभावप्रसग अत सविकल्पकसिद्ध्यर्थमेव एतत्स्वीकरणीयम्

किञ्च सजातीयव्यक्त्यन्तरानुवृत्ते विजातीयेभ्यो व्यावृत्ते च ग्रहणानन्तरमेव सामान्यविषयक ज्ञान जायते तदनन्तरमेव विशिष्टविषयक ज्ञान भवति इति स्वीकरणीयम् एवञ्च पूर्वपिण्डान्तरानुसन्धानाभावेन अनुवृत्तिव्यावृत्यो च ग्रहणासम्भवात् सामान्यविशिष्टविषयक ज्ञान नैव भवितुम् अर्हति, वस्तुस्वरूपग्रहणन्तु भवत्येव, तस्य पिण्डान्तरानुसन्धानानपेक्षितत्वात्

किञ्च सर्वं ज्ञान विशिष्टविषयकमेव इति मते घटज्ञाने पटत्वस्य

प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? स्वीक्रियते चेत् तत्रापि घटत्वत्वस्य प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? अत्र तत्प्रतीतिस्वीकारे अनवस्था अस्वीकारे घटत्वस्य निर्विकल्पकाभ्युपगमः इति.

अत्र वाल्लभीयानां मते ज्ञानं सात्विकादिभेदेन त्रिविधं भवति. तत्र सात्विकज्ञानं प्रमारूपमेव, राजसज्ञानं सविकल्पकमेव इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदेन तस्य द्वैविध्यं प्रतिपादितम्. तामसज्ञानन्तु तेषां मते प्रमाणमेव नास्ति. सविकल्पकज्ञानात् पूर्वम् इन्द्रियजन्यज्ञान यत् सात्विकम् उत्पद्यते तत् निर्विकल्पकम्. तज्ज्ञानं सन्मात्रावगाहि एकविधमेव. सात्विकजागृतवृत्तिजन्यं सत्त्वानुग्रहे सति इन्द्रियै प्रथमं तद् ज्ञानं जन्यते इति उक्तं प्रस्थानरत्नाकरकारेण.

नैयायिकमताद् अत्र अस्ति कश्चन विशेष. प्रस्थानरत्नाकरकारेण "निर्विकल्पकज्ञानं न सविकल्पकज्ञानस्य कारणम्" इति तस्य कारणत्वे प्रमाणाभावाद् इति यद् उक्तं तत् न समीचीनम् यतोहि सविकल्पकज्ञान प्रति तस्य कारणत्वास्वीकारे कथं तत् सिद्धि ? विशिष्टबुद्धि प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादेव विशेषणज्ञानत्वेन तत्सिद्धे निर्विकल्पकज्ञानस्य कारणत्वे प्रमाणम् नुमानमेव. तद्यथा "विशिष्टज्ञान जन्यविशेषणज्ञानपूर्वक जन्यविशिष्टज्ञानत्वाद् 'दण्डी पुरुषः' इति विशिष्टज्ञानवद्" इति अनुमानेन निर्विकल्पकरूपस्य विशेषणज्ञानस्य विशिष्टसविकल्पकज्ञान प्रति कारणत्वसिद्धौ प्रस्थानरत्नाकरका- राणाम् इदं कथनम् "एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न कारणत्वं, प्रमाणाभावाद्" इति न शोभते.

"इन्द्रियात्मकं प्रमाण प्रत्यक्षम्" इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण इन्द्रियस्यैव प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वम् उरीकृतम्. परन्तु नैयायिकानां मते प्रत्यक्षप्रमाया करणं त्रिविध; क्वचित् इन्द्रिय, क्वचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, क्वचित् ज्ञानं च. तत्र निर्विकल्पकप्रत्यक्षएव इन्द्रियस्य करणत्व भवितुम् अर्हति. तथाहि यदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण प्रथमतो निर्विकल्पकज्ञानम् उत्पद्यते तस्य ज्ञानस्य

इन्द्रियमेव करणं भवति, तल्लक्षणं तत्र संघटते परन्तु यत्र निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे यद् सविकल्पकज्ञानं जायते तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करणम्. तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षएव प्रत्यक्षप्रमाण. तत्र निर्विकल्पकज्ञानं व्यापार. सविकल्पकज्ञान फलम्. यत्र सविकल्पकज्ञानानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः भवन्ति तत्र सविकल्पकज्ञानं व्यापारो निर्विकल्पकज्ञानं करणम्. हानादिबुद्धयः फलम्.

"इन्द्रियाणि चक्षुस्त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षड्" इति यद् उक्त तत्र नास्ति अस्माकं विप्रतिपत्ति. मनस इन्द्रियत्वसाधने यद् प्रतिपादितं तदपि ग्राह्यमेव.

चक्षुरादिइन्द्रियाणां स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्य चिरस्थायि विकारि च इति यद् उक्तम्, तत्र 'अणुतमम्' इत्यस्य परमाणुरूपम् इति अर्थे अनित्येन सह विरोध स्यात्. अतो 'अणुतमम्' इत्यस्य सूक्ष्मतममेव अर्थ प्रतिभाति.

तत्र द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता इति रीत्या प्रस्थानरत्नाकरकारेण द्रव्यस्य चाक्षुपप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम् इति उक्तम्. प्राचीनाना नेयायिकानां मतेऽपि बहिरिन्द्रियजन्य-द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे रूपं कारणम् इति उक्तम्.

तत्र द्रव्यचाक्षुपप्रत्यक्षेतु अनेकद्रव्यवत्वं महत्वं वा उद्भूतरूपम् आलोकसंयोग च कारणम् इति स्वीकृतम्. अत्र परमाणु-द्व्णुकयो चाक्षुपप्रत्यक्षवारणाय महत्त्वमपि कारण महत्वं षड्विधहेतु इत्यादिना षड्विधप्रत्यक्षं प्रति महत्वस्य कारणत्व नैयायिकैः स्वीकृतम् अस्ति. तद्विषये अस्ति प्रस्थानरत्नाकरकारस्य विप्रतिपत्ति. यथाच उक्तं "तत्र द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता. अत. परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र

निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात् परमाणुषु उद्भूतरूपसत्वे युक्त्यभावाद् इति''

तत् न अस्मभ्य रोचते पिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावान् न चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति अत्र नास्ति अस्माक विप्रतिपत्ति परन्तु परमाणो अप्रत्यक्षत्वे महत्त्वाभावएव प्रयोजकत्वेन निर्धारणीयो, लाघवात् वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वात् त्रुटे स्पार्शनप्रत्यक्षापत्ति वारणाय प्रकृष्टमहत्त्वस्य कारणत्वम् अवश्यमेव स्वीकरणीयम् त्रसरेणो उद्भूतरूपसत्वेऽपि तस्य स्पार्शनप्रत्यक्ष न भवति अत उद्भूतरूपसत्वेऽपि आवश्यकप्रकृष्टमहत्त्वाभावादेव न त्रुटे स्पार्शनप्रत्यक्षम् अनया रीत्या महत्त्वस्य कारणत्व सिद्धमेव एवञ्च, महत्त्वाभावादेव न परमाणो प्रत्यक्षम् इति स्वीकरणीयम्

यदि चाक्षुषप्रत्यक्षे उद्भूतरूप कारणम् स्पार्शनप्रत्यक्षे उद्भूतस्पर्श कारणम् इत्यादि अनेककार्यकारणभावकल्पनापेक्षया बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे उद्भूतरूप कारणम् इति षड्विधप्रत्यक्षे महत्त्व कारणम् इति स्वीकारे लाघवम्

परमाणुषु उद्भूतरूपसत्वे युक्त्यभावद् इति यद् उक्त तदपि न रुचिकरम् सत्य, परमाणुषु उद्भूतरूपस्य न प्रत्यक्षेण सिद्धि परन्तु अनुमानेन उद्भूतरूपसिद्धौ न किमपि बाधकम् अवयविरूप प्रति अवयवरूपस्य असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकरूप प्रति परमाणुरूपम् असमवायिकारणम् तथैव त्रसरेणुरूप प्रति द्व्यणुकरूपम् असमवायिकारण भवति द्व्यणुकस्य अप्रत्यक्षत्वाद् अनुद्भूतरूपवत्त्वम् अनुद्भूतरूपजन्य त्रसरेणुरूपमपि अनुद्भूत भवति अनुद्भूतत्वे च तस्य अप्रत्यक्ष स्यात् प्रतिबन्धकाभावे रूपस्य स्वसजातीयरूपजनकत्वनियमात्

अतो अत्र इयम् अनुमान भवितुम् अर्हति ''द्व्यणुकरूपम् उद्भूत, त्रसरेणुगतोद्भूतरूपान्यसमवायिकारणकत्वाभावे सति त्रसरेणुगतरूपासमवायिकारणत्वात्, कपालरूपवद्'' इति अनुमानेन द्व्यणुकरूपस्य उद्भूतत्व सिद्ध्यति

एवमेव द्व्यणुकावयवरूपमपि उद्भूतम्, उद्भूतरूपासमवायिकारणरूपजनक-त्वात्, कपालिकारूपवद्'' इति अनुमानाभ्यां परमाणुष्वपि उद्भूतरूपं सिद्ध्यति. अत उद्भूतरूपसत्त्वेऽपि अप्रत्यक्षत्ववारणाय महत्त्व षड्विधे प्रत्यक्षे कारणं स्वीकर्तव्यमेव.

नैयायिकैकदेशिनां मते रूपादीनाम् इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वरूपम् अनुद्भूतत्वं नास्ति. अत. परमाणौ उद्भूतरूपाभावात् न प्रत्यक्षम् इति न वक्तुं शक्यम्. यथाच उक्तं रघुनाथशिरोमणिना ''रूपादीनाञ्च न इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वं, वाय्वादौ रूपं न अस्ति इति सर्वलोकप्रत्ययात्. अन्यथा अतीन्द्रियप्रतियोगिक-त्वेन पिशाचात्यन्ताभावस्येव तत्सामान्याभावस्यापि अप्रत्यक्षत्वापत्तिः'' (रघु. पदार्थतत्त्वनिरूपणम्).

एवमेव घ्राणयोग्या — उद्भूतगन्धः तद्वान् तज्जातिः तत्समवाय. च. एवं रसनायोग्या — उद्भूतो रसः तज्जातिः तत्समवाय च. श्रोत्रयोग्याः — उद्भूतशब्दः तद्वान् तज्जाति च इति यद् प्रस्थानरत्नाकरकारेण उक्तं तत् न समञ्जसम्. घ्राण-रसन-श्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वमेव नास्ति. नोचेद् सुरभिगन्धानन्तरं कस्यापि अयं गन्ध चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा इति सन्देहएव न स्यात्. सन्देहस्य अनुभवसिद्धस्य अपलपितुम् अशक्यत्वात्. अतो द्रव्यग्रहणे घ्राणादीना सामर्थ्यमेव न इति न्यायमतमेव समीचीनं प्रतिभाति.

श्रवणेन भेर्यदिः अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद् इति यद् गोस्वामिपादे प्रतिपादित तदपि न रोचते. शब्दश्रवणानन्तरं सामान्यजनस्य अयं सन्देहो जागर्ति यद् ''अयं तबलावाद्यस्य वा मृदंगस्य वा शब्द.'' ''वीणाया सितारस्य वा'' इति. यस्य विशिष्टवाद्यस्य विशिष्टध्वन्यात्मकशब्देन अव्यभिचारसहकृतव्याप्तिज्ञानम् अस्ति तस्यैव तस्य वाद्यस्य बोधो भवति न अन्यस्य. व्याप्तिलक्षणं यत्समानाधिकरणेत्यादिना अस्माभि प्रतिपाद्यते तस्य लक्षणस्य ज्ञानं माभूत्, परन्तु व्याप्तिज्ञानं भवत्येव. भूयोदर्शनादिना

व्याप्तिज्ञानं प्राणिमात्रस्यैव भवति. अतएव उक्तं "गावः पश्यन्ति गन्धेन" इति अत्र तृतीयार्थो ज्ञापकत्वमेव. अतो गन्धहेतुज्ञानद्वारा तदाश्रयस्य अनुमानमेव भवति इति मामकीनः पन्थाः.

अतएव उक्तं, "तत्र इन्द्रियात्मकं प्रत्यक्षं द्वेधा १. द्रव्यग्राहकं २. द्रव्याग्राहकं च. आद्यं चक्षुस्त्वङ्-मनांसि; द्वितीयं घ्राणं, रसनं, श्रवणम् इति" (न्या.सि.मञ्जरी).

एवमेव "आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः" इति यद् उक्तं तदपि न समीचीनं, शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धस्य आकाशस्य उद्भूतरूपाभावात् न चाक्षुषप्रत्यक्षं द्रव्यग्रहणे श्रोत्रस्य असामर्थ्यात् न तस्य श्रावणप्रत्यक्षम्. अतो अनुमानेनैव तत्सिद्धिः इति प्रशस्तपादभाष्यादिग्रन्थेषु विस्तरेण अनुमानम् इदं प्रतिपादितम् अस्ति. विस्तरभयात् न अत्र उच्यते.

"आत्मा तद्धर्माः च न लोकिकप्रत्यक्षविषयाः" इति यत् गोस्वामिचरणैः प्रतिपादितम् तत्र नैयायिकानामपि अस्ति सम्मतिः. परन्तु वैशेषिकाणां मते आत्मा तावद् अनुमानस्यैव विषयः इति. परन्तु शुद्धाद्वैतिनां मतेतु शास्त्रीयसाधनसहकारेण जीवात्मनः सद्भावे प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्. "अहं सुखी" इत्यादिमानसप्रतीतिविषयो जीवात्मा इत्यपि केषाञ्चिद् मतम् अस्ति.

शुद्धाद्वैतिनां सिद्धान्तेतु "यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः" इति भागवतवाक्याद्; एवं अणुत्वात् परमाणुवद् इत्यादि अनुमानात् तस्य लोकिकप्रत्यक्षाविषयत्वं प्रतिपादितं तद् चिन्त्यम्.

प्रत्यक्षं लोकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् अंगीकृतं नैयायिकवत् शुद्धाद्वैतिभिः परन्तु तत्र अस्ति मतवैचित्र्यम्. नैयायिकानां मते सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षण-योगजभेदेन त्रिविधम् अलौकिकप्रत्यक्षम्. परन्तु प्रस्थानरत्नाकरमतेन सामान्यलक्षण-योगज-मायाभेदेन त्रिविधम्. तत्र सामान्यलक्षण-योगजयोः विषये नास्ति महती विप्रतिपत्तिः. परन्तु ज्ञानलक्षणप्रत्यक्षविषये

अस्ति विप्रतिपत्ति प्रस्थानरत्नाकरकारेण न स्वीकृतो ज्ञानलक्षणरूप सन्निकर्ष

स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषो ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष "सुरभि चन्दनम्" इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणया भवति अत्र ज्ञाने सौरभस्य भान सुरभित्वस्य स्मरणेन भवति अयञ्च सन्निकर्ष पूर्वानुभूतस्य सौरभस्य स्मरणरूप सच सुरभिचन्दनम् इति अलौकिक प्रत्यक्ष जनयति ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण तद्विषयीभूत-तत्तत्पदार्थाना प्रत्यक्ष मनसा जायते ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे कविकाव्यमूलभूततत्तत्पदार्थससर्गज्ञान कथ भवितुम् अर्हति?

किञ्च ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे यत्र सौरभत्वस्य जात्युपस्थित्यनन्तर सुरभिगन्ध इतिवत् सुरभिचन्दनम् इत्याकारक सौरभत्वप्रकारक चन्दनविशेष्यक भ्रमात्मक चाक्षुषप्रत्यक्ष जायते तत्र सौरभत्वजाते भान न स्यात् सौरभत्वेन सह लौकिकसन्निकर्षाभावात्

सामान्यलक्षणया सौरभत्वस्य भान भवति इति न वक्तु शक्य, सामान्यलक्षणाया तद्धर्मप्रकारक-तदाश्रय-प्रत्यक्ष प्रत्येव हेतुतया सौरभत्वप्रत्यासत्ते कार्यतावच्छेदकतयाएव सौरभत्वजाते भानात् न तत्र "सुरभिगन्ध" इति प्रत्यक्षम् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति स्थलेतु तादृश स्मरण च यद्विषयक तद्विषयकसाक्षात्कारजनक भवति "सुरभि चन्दनम्" इति प्रत्यक्षे सौरभस्य सौरभत्वस्य च भान ज्ञानरूपसन्निकर्षेणेव भवति अयमेव ज्ञानलक्षण-सामान्यलक्षणयो भेद अयञ्च यद्विषयक ज्ञान जननीय तस्यैव सन्निकर्ष सामान्यलक्षणन्तु आश्रयविषयकप्रत्यक्षजननीये सन्निकर्ष सामान्यस्य ज्ञानरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण पूर्वज्ञातवस्तुनो अलौकिक प्रत्यक्ष जन्यते "सुरभि चन्दनम् इति अत्र चन्दनस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि सौरभस्य तदग्राह्यत्वात् पूर्वज्ञातस्य सौरभस्य अलौकिक ज्ञान भवति "सुरभि चन्दम्" इति अत्र सौरभाशे अलौकित्व चन्दनाशे लौकिकत्वमेव तत्र पूर्वगृहीतसुरभित्वस्य ज्ञान "सुरभि चन्दनम्" इति चाक्षुषप्रत्यक्ष जनयति

यत्र खलु सौरभज्ञानेन चाक्षुषसामाग्र्या च "सुरभि चन्दनम्" इति

सौरभांशे अलोकिकं, चन्दनांशे लोकिकं चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते तत्र सोरभभानार्थं सौरभस्मरणमेव सन्निकर्षत्वेन स्वीकार्यं, सौरभांशे चक्षुसन्निकर्षाभावात्. तत्र "सुरभिचन्दनम्" इति स्मरणमेव भवति इति न वक्तुं शक्यं, "सुरभिचन्दनं पश्यामि" इति प्रतीतिविरोधात्.

अतएव नैयायिका: अन्यथाख्यातिस्थलेऽपि सर्पत्वादिज्ञानं ज्ञानलक्षणया-एव भवति इति स्वीकुर्वन्ति, सर्पत्वादौ चक्षुसन्निकर्षाभावात्.

किञ्च तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रम इति रीत्या मायायाः अलौकिकप्रत्यासतित्वं प्रतिपादितम् अस्ति तदपि न समीचीनम्, तादृश्या. मायाया. प्रमाणाभावात्. मायायाः यत्स्वरूपं शुद्धाद्वैतिभिः स्वीकृतं तद् नैयायिकैः न स्वीकृतम्. मायाविषये भागवतीयं यत् प्रमाणम् उपस्थापित प्रस्थानरत्नाकरकारेण "ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" इति अत्र 'माया'शब्दं मानसभ्रमद्योतक:. यस्तु "शब्दज्ञानानुपाति-वस्तुशून्यो विकल्प." इति सूत्रेण योगशास्त्रे प्रतिपादित. "ऋते अर्थम्" इत्यस्य तात्पर्यम् अस्ति अर्थस्य अभावे यद् अर्थस्य प्रतीतिः जायते तादृशमेव ज्ञानं मायाकरणकम् इति, यथा शशविषाणस्य ज्ञानम्. तत्र विषाणाभाववति शशे विषाणस्य ज्ञानत्वेन भ्रमएव तच्च ज्ञान न प्रत्यक्षप्रमान्तर्गतम् इति. "आत्मनो मायाम्" इति आत्मनो भ्रमः इति तात्पर्यम्.

लौकिकसन्निकर्षाणां संख्याविषयेऽपि अस्ति द्वयो विप्रतिपत्ति. बाल्लभै समवायस्थाने तादात्म्यसन्निकर्ष कल्पितः. तत्र समवाय-तादात्म्ययो भेद समवायसिद्धिप्रसंगे बहुत्र न्यायग्रन्थेषु चर्चितो वर्तते तत्र सुधिभि अन्वेष्टव्य सः विषय.

अभावस्य पदार्थान्तरत्वमपि वाल्लभै न स्वीकृतम्. तत्र प्रागभावादिसिद्धिविषये विभिन्नेषु न्यायग्रन्थेषु चर्चितम् अस्ति. आविर्भाव-तिरोभाव-विषयेऽपि पूर्वेषु चर्चासत्रेषु महती चर्चा जाता.

इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वविमर्शः कर्तव्यो अस्ति. आधुनिकविज्ञानस्यापि अत्र भिन्नमतम् अस्ति, तदपि पर्यालोचनीयम् अस्ति. परन्तु विस्तरभयात् त्यज्यते.

सर्वेषाम् इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं हि न्यायमतसिद्धमेव. तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणाम् अर्था इन्द्रियपर्यन्तम् उपसर्पन्ति इति अनुभवबलात् सर्वैं स्वीक्रियतएव. चक्षु-श्रोत्रेतु विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयान् गृह्णाति.

बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वोद्भूतयोः सहकारिनिमित्तत्वम् इति पूर्वप्रतिपादितमेव. आभ्यां सह आलोकसंयोगस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति हेतुत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम्.

प्रस्थानरत्नाकरकारेण आलोकस्य कारणत्वं नैव स्वीकृतम्, यथाच उक्तम् अन्धकारस्य घटादिषुतु नृचक्षु प्रति मायया तमो जननात् तदेव विषयीक्रियते नतु विषय, तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारिता न कल्पनीया, अभास्वरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानाभावविशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहाद् इति.

अभास्वारद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानभावविशिष्टस्य विषयस्य कारणत्वं स्वीकारे अथवा विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे कार्यकारणभावद्वयं स्वीकरणीयं तदपेक्षया लाघवात् चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोग कारणम् इति एकैव कार्यकारणभाव स्वीकार्य.

ननु चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति आलोकसंयोगस्य कारणत्वे उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे अन्धकारे प्रत्यक्षं तस्यापि इति चेत्, न, आलोकसंयोगाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वम् उपगम्य बिडालचक्षु.संयोगस्य स्वातन्त्र्येण उत्तेजकत्वाभ्युपगमे तादृशः उपपत्यभावात्.

अन्येऽपि केचन विषयाः पर्यालोचनीयाः सन्ति परन्तु विस्तरभयाद् अत्रैव विरम्यते.

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणम्
न्याय – शुद्धाद्वैतवेदान्तमतयो तौलनिक विवेचनम्

डॉ बलिराम शुक्ल

प्रद्योतकुमार : परमाणु रूपसत्त्वे यत् कारणम् उपस्थापित भवद्भि तत्र विप्रतिपत्ति अस्ति त्रसरेणुरूप प्रति द्व्यणुकरूपस्य असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकसामान्यतो अवयवगतरूप अवयवीगतरूप प्रति कारण भवति परन्तु तत्र द्व्यणुकगतरूपस्य त्रसरेणुगतरूप प्रति असमवायिकारणत्वे द्व्यणुकस्य त्रसरेणु प्रति समवायीकारणत्वम् अपेक्षितम् तद् अस्ति परन्तु "पारिमाण्डल्य-भिन्नाना कारणत्वम् उदाहृतम्" तत्र का सगति ?

बलिराम शुक्ल : तत्र एको नियमो अस्ति परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट-परिमाणजनकत्वनियमात् न अय नियमो अत्र रूपविषये कुत्रापि वर्तते पारिमाण्डल्यविषयएव वर्तते तादृशो नियम तादृशो नियमो रूपविषये न कुत्रापि मया दृष्ट तत्र प्रतिबन्धकत्वम् अस्ति इति कृत्वा तत्र सख्याया कारणत्वम् अस्माभि स्वीक्रियते अत्र किमपि प्रतिबन्धक नास्ति अतएव मया तद् विशेषणम् अनुमाने प्रदत्तम् अस्ति

प्रद्योतकुमार . द्व्यणुकस्य त्रसरेणु प्रति समवायीकारणत्वम् असमवायीकारणत्व च ?

बलिराम शुक्ल : नहि असमवायिकारणस्य लक्षण समवायिकारणसमवेतत्वम् तत्र भवद्भि एक तथ्य सर्वदा अवगन्तव्यम् तत्र असमवायिकारण यद् उच्यते तत् द्व्यणुक द्रव्य वर्तते द्रव्य तावत् असमवायिकारण न कुतोऽपि भवति अतो

द्व्यणुकस्य असमवायिकारणत्वं वक्तुं न शक्यम्

प्रद्योतकुमार : समवायि

बलिराम शुक्ल : समवायिकारणत्वन्तु अस्ति द्व्यणुकस्य समवायिकारणत्वम् अस्माभिः स्वीक्रियतएव

प्रद्योतकुमार : तदपि न सम्भवति

बलिराम शुक्ल : कुतः ?

प्रद्योतकुमार : एतस्य समवायिकारणत्वं स्वीक्रियते तदा पारिमाण्डल्यस्य कारणं

बलिराम शुक्ल : न परिमाणस्य विषये, ननु त्रसरेणुविषये तत्र एव वक्तुं शक्यम् अस्ति यद् अनुद्भूतात् परमाणुरूपात् उद्भूतस्य अथवा अनुद्भूताद् द्व्यणुकरूपाद् उद्भूतस्य त्रसरेणुरूपस्य कुतः न उत्पत्तिः ? तत्र मया समर्थ्यते एतेषां मतम् तत्र स्वसजातीयत्वं कुत्रापि यदि स्वीकृतं चेत् चित्ररूपस्य सिद्धिः न भविष्यति अतो विजातीयरूपादपि विजातीयरूपस्य उत्पत्तिः भवितुम् अर्हति अतः समर्थनमपि कर्तुं शक्यम् अस्ति

प्रद्योतकुमार : विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानं प्रति कारणत्वे कारणतावच्छेदकं किं ? ज्ञानत्वरूपेण कारणत्वं किंवा प्रत्यक्षत्वेन ?

बलिराम शुक्ल : तत्र विशेषणज्ञानत्वेनैव कारणता स्वीक्रियते प्रत्यक्षत्वेन कारणता न भवितुम् अर्हति

+ •

सगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो श्या म

नव्यन्यायवैदुष्यावग्राहमूर्तिभिः श्रीमद्भिः बलिराम-शुक्लमहाभागैः प्रत्यक्षप्रमाण-चर्चागोष्ठ्यां वात्स्यायनव्यन्यायमतयोः यत् तौलनिकं स्वरूपम् उपपादितं

तद्गुणाविष्करणाय किमपि लेखन "दीपप्रभया दिवाकरावलोकन" न्यायम् अनुसरति यत् पुन प्रस्थानरत्नाकरकारोत्तरकाले एतयो मतयो विचारविनिमयदौर्भिक्ष्यमिव किमपि आसीत् तत्र एभि महाभागै अस्या गोष्ठ्या नून स्वकीयया तौलनिकविवेचनसुवृष्ट्या सर्वथा तद् निवारितम् तेन वाल्लभवेदान्ताध्ययनशीला वय सर्वे भृशम् अधमर्णा सञ्जाता सच एष परस्परविचारविनिमयप्रवाहो हि एतावतैव अवरुद्धो मा भूदिति ये केचन सन्देहा मम हृदयाभ्यन्त प्ररोहन्ति तान् सगोष्ठ्युत्तरलेखने अस्मिन् बहि भावयामि, ननु अविज्ञायेव एतद् यद् मदीया सशयशकुल्य केनापि नैयायिकपाठीनेन न्यायमतीये ग्रन्थराश्युदन्वति निगलितपूर्वा सन्ति न वा इति।

तथाहि प्रस्थानरत्नाकरकृद्भि "राजस ज्ञान सविकल्पकमेव तत पूर्वञ्च इन्द्रियेषु सात्त्विकम् उत्पद्यते निर्विकल्पकम् एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न तत्कारणत्व प्रमाणाभावाद्" इति यद् उक्त तत् "सविकल्पकज्ञानाकारणत्वे निर्विकल्पकज्ञानासिद्धे असमीचीन विधानम्" इति शुक्लमहोदया वदन्ति तत्र ममतु प्रतिविवक्षित निर्विकल्पकज्ञानसिद्धि तावद् भगवद्गीतोक्तज्ञानत्रैविध्यमूलैव वाल्लभमते नानुमानिकी इति न्यायमतेतु विशिष्टबुद्धि प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुतया या निर्विकल्पकज्ञानसिद्धि तत्र तु अय सन्देहो भवत्येव विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सिसाधयिषित यद् तदव्यवहितपूर्वं विशेषणज्ञान तत् किं विशेषणत्वप्रकारकविशेषणविषयकम्? उत विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकम्? आद्ये तादृशस्य विशेषणज्ञानस्य निर्विकल्पकताभगप्रसगो विशेषणत्वप्रकारकज्ञानस्य विशेषणविशिष्टविशेष्यविषयकज्ञान विना जननासम्भवेन अन्योन्याश्रयदोष च अथ विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकज्ञानस्य कारणत्वाभ्युपगमेतु अनेनैव वा "खले कपोत" न्यायेनापि वा विशेषणविशिष्टज्ञानस्यापि उत्पत्ति भवत्विति विशेषणविषयकज्ञानकारणकत्वन्तु तस्य मुधेव नहि धावतो मृगस्य चाक्षुषोपलम्भे अकर्तृकधावनक्रियाज्ञानपूर्वकमेव तद्विशिष्टस्य धावनक्रियाकर्तृ मृगस्य प्रत्यक्ष भवति इति मन्तु युक्तम्

यत् पुन नैयायिकाना मते प्रत्यक्षप्रमाया करण त्रिविध तत्र निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञानस्य करणम् इन्द्रियम्, निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे

जायमानस्य सविकल्पज्ञानस्य करणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, सविकल्पकज्ञानोत्तरक्षणे जायमानस्य हानोपादानविषयकस्य ज्ञानस्य करण निर्विकल्पकज्ञान, तद्व्यापार च सविकल्पक ज्ञानम्, इति अत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सयोगरूप चेत् तस्य गुणत्वाभ्युपगमेन सयोगस्य पुन द्विनिष्ठत्वेन स सन्निकर्षो अर्थस्य व्यापारो वा इन्द्रियस्य? इत्यत्र विनिगमनाविरहाद् इन्द्रियस्येव तद्गोचरस्य अर्थस्यापि कुतो न करणत्वम्? अथ एततक्लेशपरिहाराय क्रियावद्द्रव्यस्य इन्द्रियस्य करणत्वे अगीक्रियमाणे इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य व्यापारत्वानुपपत्ति यस्माद् विषयसन्निकर्षजनकेन स्वीयतदाभिमुख्यकरणानुकूलान्तरक्रियावत्त्वेनैव इन्द्रियस्य करणताया औचित्यात्

तथैव जीवात्मगुणरूपयो निर्विकल्पक-सविकल्पक-ज्ञानयो हानोपादानज्ञान-करणत्व-व्यापारत्वे अभ्युपगते तत्र नामजात्यादिविस्मरणेतु सविकल्पज्ञानोत्पत्ति न शक्येति मध्ये स्मृत्युत्पत्त्यगीकारेतु इन्द्रियार्थसयोग[1] क्षणोत्तरवर्ति[2] क्षणे जायमान यत् निर्विकल्पक ज्ञान तत् तृतीयेस्मिन् स्वस्थिति[3] क्षणे सस्कारम् उद्बोधयेत् तत तेन सस्कारेण चतुर्थे निर्विकल्पकज्ञानध्वस[4] क्षणे स्मृति उत्पद्येत साच स्मृति स्वस्थितिकालरूपपञ्चम[5] क्षणे सविकल्पकज्ञान जनयितु प्रभवेत् किन्तु तत्क्षणन्तु द्वितीय[6] क्षणे जायमानस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य ध्वस[7] क्षणरूपमिति न निर्विकल्पज्ञानस्य सविकल्पकज्ञानजनकत्व सम्भवति कुतस्तर च तदुत्तर[8] क्षणवर्तिसवि-कल्पकज्ञानरूपव्यापारेण सप्तम[9] क्षणवर्तिनो हानोपादानज्ञानस्य जनकत्वसम्भावनापि।

यत् पुन प्रस्थानरत्नाकरकृद्भि "अन्येतु घ्राणरसनश्रवणाना द्रव्यग्राहकत्व न इच्छन्ति, तत् न अस्माक रोचते, तमसि रसनया दुग्धादे, घ्राणेन चम्पकादे, श्रवणेन भेर्यादे, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च" इति यद् उक्त तत् शुक्लमहाभागा निराचिकीर्षन्ति सुरभिगन्धोपलम्भानन्तर कस्य अय गन्ध — चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा — इति सन्देहएव न स्याद् इति हेतो अत्र ममतु एव प्रतिभाति — चक्षुषा द्रव्यग्रहणेऽपि यथा मन्दालोके "स्थाणु वा पुरुषो वा?" इति सन्देहो भवत्येव तथा स्फीतालोकेऽपि "देवदत्तो यज्ञदत्तो वा?" इति सन्देहोऽपि सकत्तानुभूतिसाधिकएव, ततोहि द्रव्याग्रहण तावद् न सन्देहे तन्त्रम्

पूर्वम् अदृष्टचम्पकस्य पुरुषस्य इदम्प्रथमतया चम्पकदर्शने गन्धग्रहणात् च पूर्वं "कीदृशो अस्य गन्ध स्यात् किं पारिजातस्येव उत केतकस्येव ?" इति जिघ्रासोपलम्भो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ते अकिञ्चित्करता गमयति सकृत् तदाघ्राणोत्तरन्तु दर्शनमात्रेण विशिष्टसौरभवत्त्वप्रत्यभिज्ञानन्तु स्मृत्युपनीतप्रत्यक्षात्मकमपि कुतो न भवितु शक्यम् ?

तथैव "षड्जादिध्वनिश्रवणानन्तर सामान्यजनस्य 'वीणाया पट्तन्त्र्या वा ध्वनि अयम् ?' इति सशयोपलब्धे न ध्वन्युत्पादकद्रव्यप्रत्यक्षम्" इति यद् मत तदपि न बुद्धौ आरोहति तत्र सगीतकवाद्येषु आनद्ध-घन-तत-सुषिरजातिभिन्नेषु अवान्तरजातीयकयो वीणा-पट्तन्त्र्यादिरूपयो समानक्वणनजननोपलम्भाद् अवान्तरभेदेषु कतमयो वाद्ययो जात क्वणनम् इद सन्देहसम्भवेऽपि नहि वीणाक्वणिते दुन्दभिघोषभ्रान्ति कस्यचन शक्यशका तस्मात् तादृक्सन्देहे नादसाजात्यमेव हेतु नतु नादोत्पादकवाद्यग्रहणाग्रहणाभ्याम् कश्चिद् विशेष तद् उक्त सगीतरत्नाकरे "सा देशकाकु या रागे भवेद् देशस्वभावत, शरीर 'क्षेत्रम्' इत्युक्त प्रतिक्षेत्र निसर्गत, रागे नानाविधा काकु क्षेत्रकाकु इति स्मृता वीणावशादियन्त्रोत्था यन्त्रकाकु सता मता" (सगी रत्ना ३।२३-२५) इति षड्जादिस्वरतानरागेषु देशक्षेत्रयन्त्राणा काकवो या श्रूयन्ते न ता स्वजनकद्रव्यश्रवणरहिता सम्भवन्ति नच काकवएव श्रूयन्ते नतु देश क्षेत्र यन्त्रम् अपि इति वाच्य, तद् एतद् नैयायिकैस्तु नैव वक्तव्य, "देशादिविशिष्टकाकुज्ञान विशेषणज्ञानपूर्वक विशिष्टज्ञानत्वाद् 'दण्डी पुरुष' इति ज्ञानवद्" इति समानयोगक्षेमाद्, तत्त्व निमीलितनेत्रस्य जात्यन्धस्य वा काकुग्रहण यथा श्रवणेन्द्रियेण तथा तदीयदेशादे ग्रहणन्तु ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्यैव भवतु का हानि ? वस्तुतस्तु एतादृक्क्लिष्टकल्पनापेक्षया रसनाघ्राणश्रवणेन्द्रियै द्रव्यग्रहणागीकारे न कोऽपि क्लेश नच महाराष्ट्रदेशे कर्णाटकदेशीयगायकस्य गानश्रवणे श्रूयमाणाया देशकाक्वा कर्णाटकदेशस्य श्रावणप्रत्यक्षकल्पना क्लिष्टा न चेत् सर्वेऽपि दूरश्रवणसमर्था सञ्जाता इति वाच्य, यस्माद् 'देशकाकु' इत्यस्य तत्तद्देशस्थगायककण्ठेन श्रूयमाणा या काकु सैव इति अर्थो नतु भूमिखण्डरूपेण देशेन स्वपादिगान श्राव्यते इति कल्पनाया कारण किञ्चित्

अथ श्रीबलिराममहाभागा, 'यत्समानाधिकरण - 'इत्यादि- व्याप्तिलक्षणज्ञान-

रहिता पश्वादयोऽपि भूयोदर्शनादिहेतुना व्याप्यीभूतेन गन्धेन तद्व्यापकीभूतखाद्याखाद्य-द्रव्यानुमिति विधाय अदन्ति, यथाच उच्यते "गाव पश्यन्ति गन्धेन" इति प्रतिपादयन्ति तत्र शब्दाभिलप्यज्ञानरहिताना पश्वादीना व्याप्तिज्ञान निर्विकल्पक सविकल्पक वा आस्थेयम्? तत्र नाद्य, समानयोगक्षेमाद् मनुष्येष्वपि व्याप्तिज्ञानस्य निर्विकल्पकत्व दुर्वार स्यात् अथ द्वितीय सविकल्पकज्ञान चेत् तन्च शब्दाभिलापसमर्थेषु मनुष्येषु निर्विकल्पकज्ञानोत्तर नामजात्यादियोजनेन जायमानमपि ज्ञान, पश्वादिषुतु नामयोजनाया अशक्यत्वेन जात्यादियोजन शक्यतएव तेन तेष्वपि कथञ्चिद् उभयविध ज्ञान सम्भवत्येवेति न किमपि वैषम्यम् इति चेद्, जित तदा "लक्षणाधीना तावद् लक्ष्यव्यवस्थिति लक्षणानि च अनुपपन्नानि ज्ञाताधिकरणलक्षणनिरूपणाद्वारेण चक्रकाद्यापत्ते", "'अविशिष्टाद् विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धी विशेत् तद्बुद्धिधाराविश्रान्ति स्याद् वा मूलाविशिष्टता'इति विशिष्टनिरासेन सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानि इति मन्तव्यम्" इति विकत्थमानेन खाण्डनिकेन नहि एवकल्पनया नैयायिकाना मते कश्चन लाभो भविता तथैव निबिडान्धकारे न केवल तक्रदुग्धयो किमुत गोमहिषीदुग्धयोरपि स्वादपार्थक्येन कण्ठे तक्रदुग्धयो पार्थक्य गोमहिषीदुग्धयोरपि तारतम्य च साक्षाद्रासनप्रत्यक्षगोचरतयैव उपलभ्यते अतोहि एभि इन्द्रियै द्रव्योपलब्धौ न किञ्चिद् बाधक पश्याम

किञ्च शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतयैव आकाश सिसाधयिषुणा नैयायिकाना कृते आकाशस्य प्रमाणबलेन चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रमेयबलेन तद्ग्राह्यत्व यद्यपि अनभिमतमेव तथापि जातिबधिराणा मनुष्याणा, श्रवणेन्द्रियरहिताना नैकप्राणिना च, अवकाशरूपाकाशदर्शनसामर्थ्योपलब्धे तद् अवश्यमङ्गीकर्तव्यमेव इति भाति प्रत्यक्षेण यतु आकाशोपलब्धे अनङ्गीकारेतु तत्र कन्दुकाद्युत्क्षेपण-हस्तप्रसारण-गमनादेरपि विरोधप्रसङ्ग, तादृशाना कृते शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया आकाशसिद्धे भृशाम् अप्रसक्तत्वेन तथा चेष्टायाअपि अभावप्रसक्ते च वस्तुतस्तु अश्रुतशब्दाना जात्यन्धबधिराणामपि पदन्यासात् पूर्वं यष्टिकान्यासेन क्वचित् तच्चालनेन वापि अग्रे स्वचलनानुकूलाकाशोपलब्धे लोके दृश्यमाणतया शब्दसमवायिकारणताव-च्छेदकतयातु आकाशो अन्यथासिद्धएव

प्रस्थानरत्नाकरकारकृद्भि सामान्ययोगजमायालक्षणका प्रत्यासत्तय प्रतिपादि-

ता तत्र शुक्लमहाभागास्तु स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषत्वेन ज्ञानलक्षणसन्निकर्षं प्रत्यापादयन्ति, "सुरभि चन्दनम्" इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणया भवति इति हेतुना तत्र इदानीम् अकृत्रिमेभ्य पुष्पेभ्यो नि शेषजलाशनिं सारणेन तद्वर्णाकृत्यो कृत्रिमा अम्लास्तुवा सम्पाद्यते इति तथाभावितेषु गन्धरहितेषु चम्पकपारिजातपद्मादिपुष्पेष्वपि ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्त्या जायमाना या गन्धानुभूति तस्या भ्रान्तित्वसाधकं किं भवेत्? पुष्पाणि खलु ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीतानि अकृत्रिमाण्येव सुरभिराहित्यन्तु पुन तत्र कृत्रिममेवेति व्यभिचारदर्शनात् ननु उक्त नैयायिकाना मते रज्जुसर्पादिभ्रमे सर्पत्वादिभि चक्षुसन्निकर्षाभावाद् सर्पत्वादिज्ञानमपि ज्ञानलक्षणयैव भवतीति किम् अत्र पर्यनुयोगार्हम्? भ्रमभातविषयाणा ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षज्ञानविषयतांगीकारे बाधकज्ञाननिर्वचनानुपपत्ते पर्यनुयोगार्हत्वम् इति वदाम

तथाहि [क] "लौकिकसन्निकर्षेण चक्षुर्ग्राह्यस्य रज्ज्वादे सर्पादिस्मरणरूपसहकारिकारणसचिवो यो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिरूप सर्पादिभि सन्निकर्ष तद्भास्य च यद् पुरोवस्थितापुरोवस्थितयो तादात्म्य किं तस्य निषेधो "नाय सर्पो रज्जुरियम्" इत्येतादृशेन बाधज्ञानेन भवति? तत्रापि [क१] सर्पादिप्रतियोगिक-पुरोवस्थितेदमास्पदानुयोगिक तादात्म्यम् उत [क२] इदमास्पदप्रतियोगिक-सर्पाद्यनुयोगिकतादात्म्यम् इत्यपि विवेचनीयम् आहोस्विद् [ख] चक्षुषो लौकिकसन्निकर्षेण गृहीत यद् इदमास्पदम् तद् उद्दिश्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्यागृहीतस्य सर्पत्वादे समवायनिषेधो वा बाधज्ञानेन भवति? अथवा [ग] अन्यत्रावस्थित ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीत सर्पादिकम् उद्दिश्य तत्र लौकिकसन्निकर्षेण गृहीताया पुरोवस्थितवस्तुगताया इन्दताया निषेधो बाधज्ञानेन भवति?

तत्र न [क१] आद्याद्य, अलौकिकसन्निकर्षेण चक्षुषा उपलब्धस्य तादात्म्यप्रतियोगिन सपदि स्वदेशाकालस्थत्ववैधुर्येण भाने मानाभावेन अथ तद्भाने च पुरोवस्थितयो देशकालयो भानप्रसक्ते अभावादेव न प्रतिषेधसम्भानापि अन्यथा स्वदेशकालस्थत्ववैधुर्येण सपदि भानांगीकारे प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरेन्दतायाअपि अप्रसक्तो स्मृतिरूपबोधापत्तिरेव भवित्रीति न तच्चाक्षुषता

न [क १] आद्यद्वितीय, लौकिकेन अलौकिकेन वा सन्निकर्षेण चक्षुसन्निकृष्टे वस्तुनि इदङ्कारास्पदतानिषेधस्य स्वतोव्याघाताद् "इदमस्तु सन्निकृष्टे" इति नियमेन तत्र पुरोवस्थितेन्दतानिषेधस्यापि अनुपपन्नत्वात्

न [ख] द्वितीय, समवायरूपपदार्थान्तरमङ्गीकर्तृभ्यो नैयायिकव्यतिरिक्तस्य कस्यचन सामान्यजनस्य रज्जुसर्पादिभ्रमे 'इदमास्पदे वस्तुनि समवायसम्बन्धेन सर्पत्वादिधर्मभानस्य अप्रसक्तत्वेन बाधज्ञाने तन्निषेधस्यापि सुतराम् अनुपपन्नत्वादेव

न [ग] तृतीय, आद्यद्वितीयकल्पीयया [क २] अनुपपत्त्यैव दत्तोत्तरत्वात्

अपिच प्रस्थानरत्नाकरकारै. मायिकसन्निकर्षप्रमापक यद् "ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग पुरा २।९।३५) इति भागवतवचनम् उदाहृत, तत्र 'माया' शब्दो "शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्प" इत्येवरूपस्य मानसभ्रमस्य द्योतक इति शुक्लमहाभागा अभिप्रयन्ति वस्तुतस्तु अनालोचितपूर्वापरसन्दर्भे अस्मिन् वचने एतादृशी अभिप्रायभ्रान्ति न न स्वाभाविकी वचनस्य पूर्वापरसन्दर्भालोचनेतु —

ब्रह्मा उवाच

"यथा आत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहित विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रद् आत्मानम् आत्मना क्रीडसि अमोघसकल्प ऊर्णनाभि यथा ऊर्णुते तथा तद्विषया धेहि मनीषा मयि "

श्रीभगवान् उवाच

" अहमेव आसमेव अग्रे, न अन्यत् सदसत् पर, पश्चाद् अह यद् एतत् च, यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम् ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो माया यथा आभासो यथा तम "

(भाग,पुरा २।९।२६-३३)

इति एतेन पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनेन इह 'माया' शब्दस्य मानसभ्रमवाचकत्व

नैव सम्भवति, निजात्मना नानाशक्त्युपबृंहितस्य निजात्मानं सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृति-कारिणीमायाविषयकजिज्ञासायां हि तदभिज्ञापकं वचनम् इदम्. तस्मात् सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृतिरूपकालत्रयेऽपि भगवद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थस्य अभावादेव भगवद्रूपम् अर्थं ऋते, अभगवद्रूपतया प्रतिभासमानम् इति यावत्, यद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावादिकं किमपि प्रतीयेत तद् नानाशक्त्युपबृंहिते सर्वावभासके भगवद्रूपदर्पणे आभासवत् प्रतीयमानं ज्ञेयम्. अथ द्रव्यगुणकर्मसामान्यसम-वायाभावादिपदार्थेषु यद् भगवदुपादानकतया भगवन्नामरूपकर्मात्मकता न प्रतीयते तत् परमतेजोरूपभगवदनुभवाभावे प्रतीयमानं तमोवदेव ज्ञेयम्. तस्माद् आत्मनो नाम भगवतो नानाशक्तिरूपाः स्वस्य सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, स्वांशाना च व्यामोहिका रूपा माया, इत्यस्यैव अर्थस्य स्वारसिकतया लाभ. तदेतद् उपबृंहित श्रीमदुदयनाचार्यैरपि ''इति एषा सहकारिशक्तिः असमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधभयतो 'अविद्या' इति यस्य उदिता'' (न्या.कु.१।२०) इत्यत्र. नापि इह उदाहरणत्वेन निर्दिष्टे आभासतमसी न्यायमतेऽपि मानसभ्रमतया अभ्युपगते.

सर्वम् एतद् हद्यन्तस्थसंशयाविष्करण न्यायवाल्लभवेदान्तयो मिथो विचारविनिमयप्रवाह सतत समभिवर्धतु इति सगोष्ठ्युत्तरलेखने मम अभिलषितप्रयोजन-कम्. तदनुकूलपूर्वपक्षोपस्थापनेन तत्र भवद्भि श्रीवलिरामशुक्लमहाभागै नून बहूपकृतम् अस्मासु इति पुनपुन निजकार्तज्ञ्य द्योतयन् विरमामि विस्तरात्



Jain Theory of Perception

Dr. B. K. Dalai

Jainas like other system of Indian philosophy have accepted perception as the first and most Prāmāna It is a fact that all systems of Indian philosophy including Carvākas have accepted this and have discussed in their respective texts Our concern, in the present paper, however is to present an analysis of the treatment of Perception in Jaina philosophy The discussion has to be attempted at two different levels The treatment at the early period on the basis of Āgamik literature and the treatment based on more advanced texts of logical period beginning from Siddhasena Divakara and Akalañka etc

In Jainism the knowledge is classified into two main heads Pratyaksa and Paroksa Pratyaksa of Āgamic period is treated as Mukhya Pratyaksa or Pāramārthika Pratyaksa and the sensory Pratyaksa and the sensory Pratyaksa which were treated as Partysksa in the Āgamic period are taken as Vyāvahārika pratyaksa

To start with, we will discuss first the treatment of Pratyaksa from Āgamic period and then go to see what happened in later period It is the self only by which one can perceive

an object in its true nature and with all qualities Therefore, they define Perception as knowledge derived by the self They call it Pratyaksa or direct knowledge as it is produced in the self and by the self They point out that knowledge caused by the sense organ is not direct (Paroksa)

According to the Jaina doctrine knowledge is of five kinds

1 Matı
2 Sruta
3 Avadhı
4 Manahparyaya
5 Kevala

There is false knowledge of Matı Srutı Avadhı and the total number of knowledge recognized in Jainism is eight (8) In Tatvartha Sutra of Umasvatı, Matı Srutı have been described as Paroksa Pramana and Avadhı etc are Pratyaksa The distinction between Pratyksa and Paroksa is that in case of the former, the soul gets a clear knowledge of an object without depending upon any other knowledge, while in the latter, the cognition is not clear by itself, but has to depend upon some other kind of knowledge

In most of the texts of Jaina Logic, knowledge is stated to be of two kinds Pratyaksa and Paroksa It is significant to note that except in Jaina Nyaya, nowhere do we find

that knowledge derived from the senses being called Paroksa

It is Akalankadeva who, for the first time attempted to reconcile this in the following way He divided Pramāna into two namely, Pratyaksa and Paroksa But instead of dividing Patyaksa into Sakala' and Vikala' as is done in early period, he laid down hitherto two unknown divisions namely, Samvyavahārika and Mukhya Pratyaksa[2]

He further lay down that Mati jñana derived through senses and mind is not Paroksa but Pratyaksa[3]

As Mati was recognized as Sāmvyavaharika Pratyaksa, its correlated Smrti, Samjna, Cinta and Abhinibodha as mentioned by Umasvati also come under the same head A further distinction was made that he divided Sāmvyāvahāriks Pratyksa into two Indriya Pratyaksa and no Indriya Prtyaksa / Anindriya Pratyaksa[4]

Under Indriya Pratyaksa was included Mati where as Smrti, Cintā, Samjñā and Abhinibodha were included under Anindriya Pratyksa as mind is prevailed in those four Indriya Pratyaksa or Sāmvyāvaharika or Mati is divided into four categories or kinds Sometimes they are called as fourfold of steps of Sāmvyāvahārika Pratyaksa They are Avagraha, Īhā, Avāya and Dhāranā Nandi Sūtra (N S 27), clearly states Suyamssiyam Cauviham Pannattam, Tam jaha uggaho, Īhā, Avāya, Dhāranā Ācārya Gunabhadra, too, refers to these

four as Maichaukkam in his Vis Bha (G 169) Umāsvati (in Ts and Bh), and others too enumerate these as four verities of perception, although four stages in progression of this knowledge But whether varieties of stages, their nonenumeration in Thana' is a problem and its commentator Abhayadeva tries to overcome this by adding thereon "ईहादयोऽपि श्रुतिनिश्रितएव, न तुष्ट, द्विस्थानुरोधात्" I e Iha, Avaya and Aharana too are implied to be included under Srutanistrita, yet they are not enumerated here due to adherence to the principle of dichotomy throughout this section

Let us now see the nature of the four we get the following picture from Thana 'Arthavagraha means what is obtained or what is sought, and the very first apprehension of its form etc in its generality without reference to its particulars, is called "परिणाम प्रतिपद्यते अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मनो अर्थकृत्यक्षमस्य गृहण सयोगार्थनिर्णयो न पुन अविकल्पक दर्शनमात्रम् अवग्रह" Thus Hemacandra categorically denies the nature of the indeterminate cognition in Avagraha

The reason for this, although not given immediately, can be gathered from his refutation of the Hindu and Buddhist logistic concept about sense perception He clearly states there in We find day to day behavior (Vyavahara) being carried out on the basis of determinate cognition Hence it is better to accord the status of a valid means of knowledge to that itself, why then should it be granted to the earlier indeterminate cognition too which must operate though the

determinate state alone

It is clear from this that while viewing sense perception and its stages Hemachandra was more concerned about their validity i e epistemic value based on the test of empirical utility This alone can explain the concurrence of not only the above two, but also even of Vidyānandi and Vadidevasūri etc

On the Āgamic interpretation of Avagraha also on bringing sense perception into the category of direct knowledge (Pratyaksa) by adding to it the qualification 'empirical' (Samvyavahārika) and Paramārthika or Mukhya (transcendental or main) cognition regarded as Pratyaksa by Jainas from time immemorial

Such attempts point to their desire to synthesize Agamic Jaina tenets with the logic and epistemology of Hindus and Buddhists as much as possible, so as to be able to clearly explain and to defend these, as and when sought to be refuted by these outsiders but such attempts did often land them into difficulties and the case of Avagraha in one such, to be sure.

For, the Āgamas and Āgamic thinkers had viewed sense perception first from the metaphysical and then from the logico psychic view point, as a process consisting of four progressive stages from vague awareness of the stimulus and

the object (Avagraha), through curiosity and speculation about its details characteristics of Īhā to Avāya Elimination of other possibilities by resorting to criteria for distinguishing it from other objects and the final perceptual judgment and last but not the least, Dhāranā (retention) of that judgment for record and for future reference, in the four residual mental impressions , Arthāvagraha Hence, it is the mere object awareness Vyañjanāvagraha is even earlier than that, 'mere contact awareness'

Almost the same explanation (and lack of the definition of the term Avagraha) is enumerated by in NS 27, Vis Bh G 193, TS I 15,17 18 etc This is probably hinted at by the Tīkā through introduction of the phrase at a moment immediately after Vyañjanaavagraha'

His other classifications, namely that Arthāvagraha is a momentary awareness, still bereft of a clear idea of distinctive features (Svarupakalpana) of an association of which concepts such as a name (Nāmādikalpanā etc), are repeated by Vis.Bh 251-2 (Sanmātta aniddesam svarupa namai kalpana rahijam etc), which adds an argument that association with a name and such other concepts as in the example "This is a sound" requires discursive thought and determination which cannot be developed in a single moment/instant That Arthāvagraha endures and are possible only in Īhā, and in the third state of sense perception

However, quite contrary to this view of traditionalists

including Umasvātı, the Dıgambara, Ācārya Pūjyapāda, Devanandı, very categorically state that ıt ıs vyanjanāvagraha that ıs distinct and vague, Arthavagraha differs from ıt ın being distinct and determinate And Pujyapada ıs not without company ın partying with the Jaına Āgamıc view ın this regard The same stand ıs taken by most of the Jaına logicians who came after hım, whether they belong to 'Dıgambaras or Svetambaras' tradition Thus Akalaṅka ın Laghıyastraya I 5 (अक्षार्थयोगे सत्तालोकार्थाकारविकल्पधी अवग्रह) and his auto commentary thereon explains upon contact between a sense organ and ıts objective datum, there occurs intuitive apprehension of the bare existence thereof (सन्मात्रदर्शनम्) which can be defined (merely) as the potential capacity to comprehend The sense Datum (अर्थग्रहणयोग्यतालक्षण) and which undergoes transformation (परिणाम प्रतिपाद्यता) into a cognition immediately afterwards (Tadantarabhutam), characterized by well organized determination of ıts own object (स्वविषयव्यवस्थापलक्षणम्) with reference to distinctive features ıs called Avagraha Similar ıs the definition of Acarya Hemachandra "अक्षार्थयोगे दर्शनान्तरम् अर्थग्रह (Prama Mı 1 1 26) and then the explanation ın his auto commentary "दर्शनम् अनुल्लिखितविषयस्य वस्तुन प्रतिपत्ति दर्शनमेव उक्तम् '

While granting sanction to this four fold traditional divisions of sense perception however, the Jaına logicians could not lose sight of the rigorous epistemic criteria to be applied for shifting valid cognition from one s Agama based epistemology, Therefore what all they could do was to interpret

Avagraha etc, in such terms as would render it a valid cognition, hence their explanation of it as determinate knowledge of sense data

However, this stand raised the following question, Avagraha, even according to Jaina logicians is admittedly the first stage of empirical perception, to be followed by three more stages, and desire or expectations to know details of specific characteristics of the sense datum of Avagraha (तद्विशेषकाङ्क्षणम्) is unanimously accepted as nature and scope of the second stage, namely, Īhā As, such determinate cognition about an object to exclude all other opinions should occur after Īhā, in the third stage called Avāya If all this is to occur in the first stage itself, then what will be the significance of sequential perceptual stages? Surely, Jaina logicians had realized this problem and they even have tried and solved it in their own way Thus commenting on Pramāna Mīmāṁsā I I 27 Hemachandra explains in regard to the object cognized determinably as "This is a sound" In the period before the advent of the stage, there arises in the perceiver's mind a doubt of this nature It is a sound emanating 'from a conch or one from a horn? This doubt is immediately followed by a desire or urge to verify which of the two alternatives is correct Hence, his wish to grasp further specific details about the datum, and for that, he strives to deliberate on the points of aspects in which distinctive features as of the said Datum agree or disagree, with each of the alternatives foreseen as being probably present there This striving, he

tells us, is called Īhā

And accordingly, the third stage viz., Avāya as defined by him as the determination of the specific characteristic regarding the object of Īhā as illustrated by the proposition 'the sound must be of the conch and not of the horn'

Now, this explanation of the first three stages of sense perception, although differing from the traditional one, dose not seems unreasonable either And that lead us into dilemma namely, which of these two standpoints should be accepted as the more correct one?

The answer or the solution to it can only be relative or qualified one, depending on our angle of looking at sense perception If we be interested in it from the logical and epistemic stand, then we shall automatically favor the explanation given by the Jaina logicians and care little about indeterminate cognition of an object, since that has no bearing upon practical activity which can prove it valid or invalid Nevertheless, while doing so, we cannot, and should not lose sight of the fact that, this is merely the explanation given by a group of Jaina scholars, where as another equally well known and venerated group consisting of great names like Umasvati, Siddhasena gani, Jinabhadra gani, etc had promulgated a different explanation of this stages, especially ɪɪ diametrically opposite one as regards the first stage called Avagraha

We cannot dismiss these opposite trends as strictly earlier vs. later developments in terms of chronology. For, although rigorous logistic analysis was a development that began in Jainism relatively later than the Āgamas especially for the purpose of standing of with confidence in later system debates and defending the tenets of Jainism against rigorous dialectical attacks from the outsiders, yet not all great thinkers of later dates tended to give up the Āgamic line of thought altogether and switch over to pure logistic interpretations there of.

Moreover, one may argue here saying · even the logicians had not rejected the old canons altogether While differing from them on the point of general classification of knowledge types, they did not discard it totally in favor of the Buddhist or Brāhmanic view of these either. Rather, they try to synthesize the two standpoints in the best possible manner Similarly, as regard to particular type of cognition called empirical sense perception too, they were probably attempting a similar synthesis At the back of their mind, they had the determinate vis a-vis indeterminate division of perception made by the Nyāya-Vaiśesika thinkers, of which the first, because of its very nature of indistinct and vague, could not qualify as valid knowledge as epistemic point of view. All the same, they were anxious to demonstrate that Jaina agamas were dealing only with the valid stages of sense perception, which were epistemologically quite relevant.

That alone can explain why the Vyāñjanāvagraha,

tells us, is called Īhā

And accordingly, the third stage viz, Avāya as defined by him as the determination of the specific characteristic regarding the object of Īhā as illustrated by the proposition 'the sound must be of the conch and not of the horn'

Now, this explanation of the first three stages of sense perception, although differing from the traditional one, dose not seems unreasonable either And that lead us into dilemma namely, which of these two standpoints should be accepted as the more correct one?

The answer or the solution to it can only be relative or qualified one, depending on our angle of looking at sense perception If we be interested in it from the logical and epistemic stand, then we shall automatically favor the explanation given by the Jaina logicians and care little about indeterminate cognition of an object, since that has no bearing upon practical activity which can prove it valid or invalid Nevertheless, while doing so, we cannot, and should not lose sight of the fact that, this is merely the explanation given by a group of Jaina scholars, where as another equally well known and venerated group consisting of great names like Umasvati, Siddhasena gani, Jinabhadra gani, etc had promulgated a different explanation of this stages, especially a diametrically opposite one as regards the first stage called Avagraha

most of the time

Now, the cognition, namely, this is a sound' is agrahalapāya for Jaina Āgamic thinkers, but when followed a further Īhā for knowing more details about the object concerned and a more detailed Avāya too, that first Avāya must at least theoretically be termed an Avagraha at that later moment, following the sequence of four stages given by the Āgamas themselves

This observation brings home an important fact viz, 'that indeterminate' and determinate are relative terms A cognition appearing determinate in relation to an earlier one, which was somewhat vague or general in nature, may itself appear later on probably in the very moments of its production to perceive rather generic characteristics of an object, which we now desire to know in more detail

We can say that Āgamic thinkers were in their own way insisting that (Artha) Avagraha had to be 'indeterminate cognition' in a relative sense, for, only then could there be any justification for an Īhā arising in regard to it

The problem is that none of them thought in this direction or at least expressed in this way while dealing with the definition of Avagraha or its relation with the ensuing state in TS I 15 and commentaries thereon or in Vis Bh 121 269

On the contrary, Vis Bh 252 insists on the determinate

Arthavagraha dichotomy was quietly overlooked or side tracked by them and even the name of Vyāñjanāvagraha, replaced by Darśan (Matra) Then, taking Avagraha to imply merely Arthavagraha, they interpreted it as 'determinate cognition' and the later three stages of sense perception to suit that one

With this it has been made clear the real reason for the difference of opinion among Jain Ācāryas on the interpretation of Avagraha and other ensuing stages of sense perception

As to the question how opposite views about Avagraha could be legitimately derived from one and the same Āgamic text, the clue lies in the nature and definition of the second stage Īhā Following Umasvati and other Āgamic thinkers, this could signify the desire to know more details about the vague intermediate cognition in the form of "this is something", and that seems quite legitimate, judging from introspection of our own psychological experience, although this happens more when the perceiver is a young child or even if an adult, who is still perceiving a hitherto unperceived object for the first time in life

All the same, it is not improbable that even a 'determinate cognition' in the shape of "this is a sound", may be followed up by a desire to know more details about that object In actual fact, this keeps happening in the minds of intelligents

even most of the time

Now, the cognition, namely, this is a sound' is Avagrahalapāya for Jaina Āgamic thinkers, but when followed by a further Īhā for knowing more details about the object concerned and a more detailed Avāya too, that first Avaya must at least theoretically be termed an Avagraha at that later moment, following the sequence of four stages given by the Āgamas themselves

This observation brings home an important fact viz , 'that indeterminate' and determinate are relative terms A cognition appearing determinate in relation to an earlier one, which was somewhat vague or general in nature, may itself appear later on probably in the very moments of its production to perceive rather generic characteristics of an object, which we now desire to know in more detail

We can say that Āgamic thinkers were in their own way insisting that (Artha) Avagraha had to be 'indeterminate cognition' in a relative sense, for, only then could there be any justification for an Īhā arising in regard to it

The problem is that none of them thought in this direction or at least expressed in this way while dealing with the definition of Avagraha or its relation with the ensuing state in TS I 15 and commentaries thereon or in Vis Bh 121 269

On the contrary, Vis Bh 252 insists on the determinate

nature thereof, clearly stating, that the cognition of an object as 'sound' would not be Arthāvagraha but Avāya, because the former lasts for only one instant (Samaya), a time span not enough for comprehending an object determinately, to the exclusion of every other object Moreover, if "this is a sound" is regarded as insufficient information, hence vague enough to be called Avagraha and followed of by Īhā etc, then even further detailed cognition will gratify for the nomenclature Avagraha

Now, all these types can be easily possible for the Avāya stage, as that is of a determinate nature for all Jainas, (indeterminacy therein can be explained away as being relatively so), but they obviously contradict this concept of Avagraha So, to overcome this difficulty, Gunabhadra in Vis BH 282-3 says This first Arthagraha which lasts for just an instant and comprises only the generalities in an indeterminate way, is the Avagraha per se, in absolute terms (Naiscayika). But after that and after Īha and hence be called Avagraha metaphorically, since in relation to further details (Esyaviśesa) the particulars cognized by it appears to be rather general

We may not be unjustified in extending their restricted idea of absolute VS metaphorical Avagraha to the general empirical sphere as well, which includes epistemology

Thus, we can now with confidence and with Āgamic thinkers themselves, hold that Avagraha is always 'indetermina-

te cognition' provided we remember that this 'indeterminacy' is real and absolute only in case of the very first sensation of an unknown object In all other events, it is metaphorical or transferred indeterminacy, due to determinate cognition of an earlier moment appearing as 'relatively indeterminate' when a desire to learn more about the object arises

And this view even convinces us of the legitimacy of Jaina logicians' interpretation of Avagraha as 'determinate cognition' from the epistemic standpoint One only wishes they had cared to admit that this was true of the Avagraha in relation to an Īhā for further details, and that, in absolute terms, an Avagraha had to be an 'indeterminate cognition'

Akalaṅka in his Nyāya viniscaya defines perception thus "perception is the knowledge, which is self revealing and which reveals the object as substance and as mode, as universal and as particular and which is determinate or conceptual and which is essentially clear" The commentator Vādirāja in his Nyayaviniscaya Vivarana explains this definition He explains all these qualifications one by one and we present here his explanations of Akalaṅka's definition of Pratyakṣa

Pratyaksa is the knowledge which is self revealing If knowledge were not self revealing it could not reveal its object Therefore, Akalaṅka uses the adjective 'self revealing' (Ātmavedanam) for perception

The next adjective is that 'which' reveals the object

(Artha) Perception like all knowledge reveals its object But the object of perception is Dravya Pratyaksa i e perception reveals its object with the aspects of substance and mode

To explain The object gold is revealed in perception, Perception not only reveals the object as substance (Dravya) 'gold' but also it apprehends the gold with its modes (Paryāya), for, the gold may have the form of a ring or of a chain According to Jainas, every object is the combination of substance and modes, substance is the permanent entity while modes are changing Again, the object of perception possesses the universal and particular properties (Sāmānya viśesa) According to the Jainas, every object is सामान्यविशेषात्मक i e every object has the universal and particular properties For example, cow ness is the universal property and 'black' or 'white' is particular property of a cow Similarity amongst the objects is due to their universal properties and their differences are due to particular properties Thus, every object is Dravya Paryayātmaka and Sāmānya visesatmaka, and perception is the knowledge, which apprehends such an object

Again, Akalanka holds that perception is Sakāra jñana He gives these adjectives in the sense of perceptual knowledge Perception is Sakara or conceptual in the sense that it has the power to manifest the object through concepts, it is not merely the pure sensation of unique individuals

Thus, perception manifests the object with all its qualities

When Akalaṅka defines knowledge as Sākāra, he means it 'Savikalpaka' or conceptual perception that perception is clear (viśada) knowledge

The word 'Āñjasā' may be explained, either as quality of being Viśada or as quality of being Sākāra The commentator Vādirāja explains it in both ways In the first case, it would mean that clarity is its essential quality That is perception is a clear knowledge by its own nature (Anjasā) or, knowledge is 'Āñjasa' i e Sākāratva is the essential quality of knowledge

As stated earlier, Akalaṅka defines perception as knowledge which reveals itself and the object as substance and mode, the knowledge is essentially Sākāra or conceptual and is also essentially clear or direct knowledge It is significant to note that all the qualifications recorded by Akalaṅka are applicable to knowledge in general and not Pratyakṣa alone All knowledge whether perceptual (Pratyksa) or non perceptual is self revealing, object revealing and conceptual But the adjectives Viśada and Āñjasas are used only for the Pratyakṣa All knowledge is not clear essentially, only perception is clear, for it is not based on other knowledge, whereas other knowledge like inference and verbal knowledge are dependent on some other knowledge Here, the definition of perception as "ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" may be compared with Akalaṅka's definition of Pratykṣa as clear knowledge Both define perception as a knowledge, which is not brought about by the instrumentality of any other knowledge

Akalanka after defining Pratyaksa has classified Pratyaksa into two Namely Mukhya and Sāmvyāvahārika[5] In this context he has refuted the definition of perception given by the Buddhists, the Naiyāyikas, the Sānkhyas and others He classifies Sāmvyāvahārika in to two namely, Indriya and Anindriya[6]. Then he goes on explaining the types or stages of Sāmvyāvahārika pratyksa In two Kārikās he has defined the four stages of Sāmvyāvahārika Pratyaksa namely · 1 Avagraha 2 Īhā 3 avāya and 4 Dhāranā[7] He defines Avagraha as the first cognition after the contact of Indriya with object In this context he talks of nature of reality as to be द्रव्यपर्यायात्मकम्. Explaining 'Avagraha' he comments. "तदनन्तरम् उत्तरं सन्मात्रदर्शनं ... अवग्रहः" Thus it is clear that according to Akalanka there is the knowledge of mere being (सन्मात्रदर्शनम्)[8] This is followed by a desire to know more about that mere being[9] When the object is known, preceded by Īhā, is Avāya Akalanka does not explain more about either Avagraha or Īhā Unlike elsewhere, he even dose not try to reconcile or make a reference to the two types of Avagraha which we have already discussed

As to question namely, whether Avagraha is distinct and different from Īhā he writes "कथञ्चित् प्रभेदेऽपि परिणामविशेषाद् भेदः"[10]. Thus it appears that though the object remains same due to the distinction at the level of cognition, Avagraha has to be accepted as distinct from Īhā

After Īhā Akalañka defines Dhāranā : "धारणा स्मृतिहेतुः

. स्मृतिहेतुः धारणा सस्कारः इति यावत्'' Thus Dhāranā, i e retention is the cause of remembrance in future and this stage of Dhārana, which is the last stage in the process of Samvyavahārika Pratyaksa, the knowledge acquired at the stage of Avāya is permanently retained, which is remembered at the future time Now, the question is whether Īhā and Dharanā should be accepted as different knowledge Practically as we can say there is no further addition in the context of the knowledge after Avāya Īhā is a mere desire to know more about the object cognized in Avagraha Thus one may doubt the validity of treating "ईहा धारणायापि ज्ञानात्मकम् उन्नेय, तदुपयोगविशेषात्'' Hence, it may be concluded that all the four beginning from Avagraha should be treated as Pramāna

Mukhya pratyaksa / Pāramārthika Pratyaksa:

Now we present an analysis of Mukhya Pratyaksa (मुख्यप्रत्यक्ष) as discussed by Jainas It may be recorded that Mukhya Pratyaksa is called and treated as Pratyaksa in Āgama literature and is different conceptually from the Pratyaksa as defined by other systems of Indian Philosophy

The meaning of Mukhya Pratyakṣa:

The word 'Mukhya' 'Pradhāna' i e superior in comparison to rest of the knowledge It is already stated that in Āgamic literature, there is nothing called Mukhya or Gauna pratyaksa It is only Pratyaksa and is defined as the direct knowledge in the sense that it arises in the self without the instrumentality of sense organs and mind It arises when the obstruction

of the karmas is destroyed Since word Mukhya means superior, therefore Mukhya Pratyksa is defined as superior knowledge The Jainas believes that Mukhya Pratyaksa is of three types 1 Avadhī 2 Manahparyāya and 3 Kevala These are the direct knowledge by the self itself and are not based on the instrumentality of the sense organs and mind

The Kevala or omniscience occurs when there is complete destruction of the veil and when it is not complete, the two varieties, the Avadhi and the Manahparyāya, appear

Definition of Mukhya Pratyakṣa:

The Mukhya Pratyaksa is defined in different ways by different Jaina philosophers, although essentially they do not vary much

Pratyaksa is the knowledge which arises immediately in the self with out the help of sense organs 'Aksa' means the self, and the knowledge derived from the self directly is called Pratyaksa Paroksa is the knowledge, which is not direct to the self but is derived with the help of sense organs

Parokṣa is of two types 1 Mati and 2 Sruti All the system of Indian philosophy accept as Pratyaksa as sensuous knowledge derived from the sense organs Vādideva defines it thus "the Paramārthiaka Pratyakṣa arises in the self without any intermediation" Mānikyanandi and Hemachandra also define

it as a perfect knowledge arising in the self without the instrumentality of the sense organs Now, we explain Manikyanandi's definition of the Mukhya Pratyaksa

Mānikyanandi defines Mukhya Pratyaksa thus "Mukhya is that clear, non-sensuous and infinite knowledge of which all veils are removed by special conditions"[11]

The question may be asked as to what is the speciality of such infinite knowledge The commentator Prabhācandra replies that it arises when all the veils of Karmas are removed completely under special conditions (Sāmagrīviśeṣa) Right faith (Samyakdarśana) is the internal condition while space, time etc are the external conditions when all these conditions are favourable, the karmas are removed completely and there arises the Mukhya Pratyaksa Prabachanda explains Mukhya Pratyaksa with the help of an inference "wherever there is true and clear knowledge, there is the destruction of all veils, just as in the case of perception of trees etc which were being enclosed by clouds or mist"[12] Mukhya Pratyaksa is clear and right knowledge It is non sensuous (Atindriya) i e does not depend on mind and the sense organs, so it is perfect and infinite, Whatever is not non sensuous does not posses the adjective 'is' independent of the mind and the senses' Just as our ordinary sensuous knowledge, which is caused by the sense organs and the mind Thus the Mukhya is that Pratyaksa which is non sensuous infinite, whatever is not of this kind, is not Mukhya, just as our sensuous

non-sensuous and they all arise in the self directly, yet the Deśapratyakṣa are partial knowledge The Sarva Pratyakṣa is the knowledge of all, it is perfect and infinite knowledge Thus, the Kevalajñāna is the knowledge of all, it is omniscience The three types of Mukhyapratyaksa may now be explained one by one

Avadhi Jñāna:

According to the Jaina Āgamas, Mati Śruti, are sensuous knowledge and Avadhi, Manahparyāya and Kevala, are non-sensuous knowledge and are called Mukhya Pratyaksa in the logical literature Jainas hold that the self possesses infinite knowledge as its essential quality but due to the obstruction of the Karmas this infinite knowledge is not manifested When these obstructions are destroyed, the knowledge arises There are five types of obstructions corresponding to the five types of knowledge Each type of knowledge is obscured by its own obstruction or Jñāvarana As for example Matijñāna is obscured by Matijñānavarana and it arises by destruction and subsidence (Ksayopaśama) of its Karmic veil (Matijñānāvarana) The Avadhijñāna is non sensuous knowledge It arises in the self without the help of the sense organ and mind 'Avadhi' means limitation, though Avadhijñāna is non sensuous yet it is limited, because due to Avadhi one can perceive the objects, which possess form or shape (Rūpin) All the objects, which have form, are manifested in Avadhi but all their modes cannot be manifested in this knowledge, although the objects are of

the past, future or is distant It can apprehend very fine objects, such as the atoms and the Karmic matters etc All these objects are known by the self directly

Avadhijna is divided into many types All types of Avadhijnana cannot apprehend all objects of all space and all time This faculty differs in different beings on account of the development of their spiritual discipline The highest type of Avadhijnana is able to apprehend the material objects of all times and all space The lower type of Avadhijnana extend to a very small fraction of space and time

The question may arise as to who possesses this knowledge With respect to its possessor, the Avadhijñana is of two types Bhavapratyaksa and Gunapratyaksa The former is that which arises in a person due to his birth, for example, the beings of heaven and hell acquire this kind of Avadhijnana which is their birthright The Gunapratyaksa is that which has to be acquired as a result of special merit Everybody can acquire it when his Avadhijnana is destroyed by meditation and discipline Although both types of Avadhijnana arise by destruction and subsidence of its Karmic veils, yet for the Bhavapratyaksa avadhijnana the Nimitta Karmna is the birth of the beings who possess it Just as the birds acquire the capacity of flying in the sky from their very birth This Avadhijñana is not the highest type of Avadhijnana, it is limited Avadhijnāna

Manahparyāya Jnāna:

Mind, according to the Jainas is a material substance Its modes are its different changing states As our states of thoughts change, the modes also change correspondingly These changing modes of the mind are called Manahparyāya And the knowledge which knows the modes of thinking of the mind of other persons is called Manah A person possessing Manahparyāyajnāna मन पर्यायज्ञान directly knows the other's mental states without the help of sense organs and mind Such knowledge arises by the destruction and subsidence of मन पर्यायज्ञानावरण According to Jainas, mind is a material substance Its modes are its different changing status ("परकीयमनोगतार्थज्ञान मन पर्याय" TS iv 1 9 4)

There are different views on the nature of Manahparyāya According to Jinabhadra in Manahparyāyajnana one perceives the state of mind substance directly, but then external object of thought of another mind are known only by inference Because, the external object of thought may be material or non material, object cannot be approached by Manahparyāya, because the Amrutas are known directly only in the state of Kevala Jnāna

According to Akalanka Manah Paryaya Jnānaalso apprehends directly the objects of others thought The object of such knowledge cannot be an inference, it is perceptual knowledge Akalańka holds that the external objects also are directly apprehended by Manah Paryaya, as they are associated

with mind However, mind is not the cause of Manahparyāya Akalanka argues that mind is only the Apekṣā in this knowledge and not the cause For example, when one sees the moon in the sky, one cannot see the moon without perceiving the sky The sky [redacted] only the Apeksā and not the cause in the knowledge of the moon It is of two types Rjumati and Vipulamati They are different in respect of purity and duration Rjumati is less pure and Vipulamati purer, clear and more enduring It lasts up to the rise of omniscience Man can possess both type of Manhparyāya According to Hemachandra, the external object of other mind are not apprehend directly in Manah Paryāyajnāna, they are known only by inference

Further, मन पर्यायज्ञान should not be understood, as knowledge desired from mind, it is not any type of mental perception But it is a non sensuous knowledge arising within the self directly, without the help of the sense organs or mind Mind is not the cause of this knowledge, but it is the knowledge of the mental state of others, which is derived from the self itself Thus it is not empirical knowledge

Kevalajnana -

Kevalajnana [redacted] the perfect and infinite knowledge We may call it omniscience As mentioned before, when the obstructions of all the Karmas are destroyed, the self attains Kevala or omniscience

In this knowledge one apprehends simultaneously and

all their qualities simultaneously without the help of sense organs and mind It is perfect and eternal knowledge According to the Jainas, there would be possessor of omniscience should have his birth as a human being within the specified time Omniscience arises from the destruction of all the karmas A question frequently discussed is whether the four imperfect knowledge (Mati, Sruti, Avadhi and Manahparyāya) are present or not, in the state of omniscience Some hold that in the state of Kevala-Jñāna the other four knowledge exist, but they are overpowered by the light of the sun Umasvāti points out that this view is not true, because the Kevala arises due to the total destruction of all Karmic matters, while the other four knowledge arises by the destruction and the subsidence (Ksayopasama) of their own Jñānavaranas or the Karmic matters When there is total destruction of Karmic matters the other knowledge also could not arise There would be only the state of omniscience[16]

Yashovijaya holds in this conception that there are five types of knowledge as well as five types of Āvaranas In other words, a particular Jnana has its own Āvarana as an obstruction to its manifestation And when its Āvarana is destroyed, that knowledge is manifested When the Āvarana of the perfect knowledge (केवलज्ञानावरण) is destroyed then arises perfect knowledge of the Kevala The main question is when the ACvarana of the Kvalajnāna is destroyed and one possesses perfect or infinite knowledge, then does he also possesses the other partial knowledge or not? The partial knowledge

arises due to the destruction of their own different ACvaranas Yośovijaya replies that though the different knowledge are manifested by the destruction of their own knowledge obscuring Karmas, yet the Āvarana of perfect knowledge ■ also same time the cause of manifestation of imperfect knowledge, just as the veil of cloth may be both, obstruction of clear vision and also a cause of unclear vision

In other words the obstruction of perfect knowledge is the cause of manifestation of imperfect knowledge Thus, according to Yashovijaya, for an 'omniscient person partial knowledge is for the cause of partial knowledge i e kevalajnanavaraniya, has been destroyed It may be asked, how can the self be both Āvrta and Anāvrta at one and the same time? In reply, it is said that this is possible only from the Anekānta viewpoint The self may be obscured by the Kevalajnānāvaranaand the self may not be obscured by the Matijñanavarana at the same time Yashovijays says that knowledge is the essential quality of the self but it has many modes (Paryaya) These modes are the partial knowledge, and when the perfect knowledge ■ Āvrta by the Kevalajnānavarana the partial knowledge may be Anavrta And as the knowledge is the essential quality of the self, the self would be both Āvrta and Anavrta by the destruction of different kinds of Karmas at one and the same time

Conclusion:

The Jainas view that the sense organs are not capable

to apprehend the objects with all its permanent and changing qualities seems to be reasonable for sense organs have limited capacities

According to Jaina, Pratyaksa is that type of knowledge, which [redacted] able to apprehend the object with all its permanent and changing qualities and that is possible only by the self Therefore, Pratyaksa means the knowledge arising in the self directly

The object derived from the sense organs [redacted] called Sāmvyavahārika Pratyaksa साव्यवहारिकप्रत्यक्ष The Jainas not only define Sāmvyāvaharika Prtyaksa but also analysis the process involve in it The process consists in the four stages namely, Avagraha etc The idea of four stages is original to this system Though other system of Indian philosophy distinguishes between Nirvikalpaka and Savikalpaka perception, yet this distinction is not as detailed distend as that of Jainas No other system has given such an account of the different stages of sense perception

The concept of non sensuous knowledge of the Jaina philosophy is based on their metaphysics According to Jainas, knowledge [redacted] the essential quality of the self The pure self possess infinite knowledge, but due to the veil of the Karmic matters it cannot realize its true nature When the obstruction of true nature is destroyed, knowledge arises in the self The self can then know the object directly without the help

of sense organs

Regarding the nature of the non sensuous perception, the Jainas are not very clear They say simply that in Avadhijñāna one apprehends directly by the self In Manahparyāya the knowledge of other mind is acquired and in Kevalajñāna, the self possessed the knowledge of all things, past present and future and also of its own pure nature The Jainas do not say much about the nature of it

How does the self apprehend the object? Following what process?
Does it apprehend the objects as done by the sense organs?
Do the objects come in the contact with the self only in the shape of ideas?
Is this knowledge purely subjective experience like the pleasure and the pain?

—These questions are left unanswered The Jainas hold that every body can become an omniscient, which most other schools believe in God as the omniscient being

Regarding the nature of omniscient or Kevala jnana, the Jainas are not very clear They simply say that in Kevalajnana the self posses knowledge of all



चर्चा

Jaina theory of perception

डॉ. बी. के. दलाई

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : "विशदं प्रत्यक्षं" "स्पष्टं प्रत्यक्षम्" इस तरहकी प्रत्यक्षकी परिभाषा आपने बतलाई. इसका अर्थ क्या यह होता है कि अन्य प्रमाणोसे प्राप्त ज्ञान स्पष्ट नहीं है?

बी. के. दलाई : They use three terms one is Viśadam. Sometimes in some text they replace it by Spastam And as I told there are two adjectives Añjasā Actually 'Spasta' means अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण. Therefore, it means the knowledge that is not depending on Anumāna, Śabda and other things So 'Spastam' has nothing to do with clear

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : 'विशदम्' इत्यस्य को अर्थः?

बी. के. दलाई : तदेव. अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण लब्ध ज्ञानवैशद्यम्.

यज्ञेश्वर शास्त्री : जैनोंके केवलज्ञानकी तुलना हम यौगिक प्रत्यक्षके साथ कर सकते हैं.

बी. के. दलाई : Ātmā gets direct knowledge of three types. [1]अवधिज्ञान [2]मन.पर्यायज्ञान [3]केवलज्ञान. So, Pāramārthika is of three kind therefore we have to take them togather

बलिराम शुक्ल : प्रत्यपरोक्षभेदेन प्रत्यक्षं द्विविधम् इति पत्रे लिखितम् अस्ति. Here you say that Indriya-pratyaksa is also Paroksa knowledge What is the reason behind

it ?

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियप्रत्यक्ष परोक्षम् अथवा इन्द्रियज्ञान परोक्षम्? What is the word they have used?

बलिराम शुक्ल : इन्द्रियप्रत्यक्ष परोक्षम् इत्येव.

बी. के दलाई : Indriya pratyaksa is parokṣa, he is right

प्रद्योतकुमार : Do they use words Indriyapratyaksa is parokṣa? Pratyaksam paroksam? तदातु वदतोव्याघातः!

बलिराम शुक्ल : Yes

बी के. दलाई : I will explain it Actually we have to consider the historical account The earliest person was Divakara who has done this division like · Jñāna is of two types Pratyaksa and Parokṣa Then very cleverly he was aware of the Agamic problem

प्रद्योतकुमार : The idea is you begin by dividing Jñāna in to Pratyaksa and Paroksa and later on you say pratyaksam paroksam? I am asking the factual question They say both things Jnana is of two types Pratyaksa and Paroksa Again they say Pratyaksam paroksam

बी. के दलाई : Pratyaksa is a direct knowledge, no Indriya intervention is there No confusion Paroksa knowledge is the knowledge through Indriya, Anumana etc Now, let us come to the logical period In logical period we can see that they are influenced by the Nyaya and Bauddha systems So they feel that they are telling something that is not relevant Because they are telling that Indriya

Pratyaksa is Paroksa in Āgama period So they are very much aware that they are telling something no body is going to accept Akalanka was very claver He wanted to reconcile this abnormality So he said "ज्ञान द्विविधम्: 'प्रत्यक्ष 'परोक्षम् प्रत्यक्षमपि द्विविधम्: 'इन्द्रियप्रत्यक्ष पारमार्थिकप्रत्यक्षम्" So did further dichotomy

प्रद्योतकुमार : You try to consider this point It can not be that in terms of Naiyāyika is such that they started uttering nonsense or contradiction This is not possible that naiyāyika teaches contradiction The idea is, actually what you are saying is this that they admit two types of Pratyaksa One is Indriyajanya and other is Anindriya There is no contradiction in this

बी के दलाई : So that is further division

बलिराम शुक्ल : But they have included Indriya Pratyaksa in Paroksa

प्रद्योतकुमार : What I meant to say there is Indriyajanya jnana and Anindriya jñāna Two types of Pratyaksa is there This is quite intelligible How? I can tell you Indriyajanya jñanam can be Pratyaksa and Paroksa also But how Pratyaksa can be Parokṣa?

बी के दलाई : *They have deferent sense while saying* Pratyaksam paroksam

प्रद्योतकुमार : It may be But then how they begin by saying that the dichotomy is there? द्वैविध्य कथम्? प्रत्यक्ष परोक्ष च इति द्वैविध्य कथम्?

बी. के. दलाई : Firstly, you suggested that it can not be an influence of Nyāya but I am thoroughly convinced that it is an influence of Nyāya Because seeing their development that they are following our pattern They are using Indriya, Artha, Sannikarsa So, definitely Akalanka was consistent that Indriya pratyaksa cannot be Paroksa, hence for him there was no other way than accepting two kinds of Pratyaksa[Post script]

प्रद्योतकुमार : OK we shall come on this question some other time Next question

वी. एन् झा : Do you find any argument for accepting Nirvikalpaka Pratyaksa? What they call it Vyañjanāvagraha?

Post script This problem is already raised in the tradition, and answered to as well When we use the expression "प्रत्यक्षं परोक्षम्", the word Pratyaksa' conventionally means the knowledge derived through sense organs which is 'Pratyaksa' according to all systems of Indian Philosophy But the Jainas following Agamic tradition accepts this as Paroksa. The objection is how Pratyaksa is Paroksa. If knowledge arising from sense perception is Pratyaksa, how to account for the views of those who called it Paroksa The answer has been given in Syadvadaratnakara (II I) "आद्ये परोक्षम् इति तत्त्वार्थसूत्रे मति-श्रुतद्वय परोक्ष भणित भवति कथ प्रत्यक्षम्? मतिज्ञान परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञान तथा स्वात्माभिमुख भावश्रुतज्ञानमपि परोक्ष सत् प्रत्यक्ष भण्यते" (द्रव्यसग्रहवृत्ति ५)

"कथ पुन एतेषा प्रत्यक्षराद् वाच्यत्वम्? रूढित इति ब्रूमः" (न्यायदीपिका २)

बी के दलाई : Yes There is no systematic argumentation Even the definition is lacking Till Akalanka there was no definition And they say that when Indriya comes in to contact with the object, it gets some awareness like *Sattamātra* or *Sanmatra jñanam* And that can be equated with Nirvikalpak They have never used such term Thye say it is Vyanjanavagraha

बी एन् झा : Arthavagraha is produced by Vyanjanavagraha?

बी के दलाई . Yes But they have no argument in favour of accepting Nirvikalpaka

बलिराम शुक्ल . They have followed that argument of Naiyāyika

बी के दलाई : That is my supposition

प्रद्योतकुमार • That I am ready to accept but you can t make me believe that Naiyayika thought them contradiction

अम्बिकादत्त शर्मा : प्राय सभी दर्शन निर्विकल्पककी चर्चामे 'सन्मात्र' शब्दका प्रयोग करते है 'सन्मात्र'का अर्थ जैन दार्शनिक जिस अर्थमे स्वीकारते है वही अर्थ क्यों स्वीकारा जाय? क्यो नहीं केवलाद्वैतियोंके या शुद्धाद्वैतियोके अर्थका स्वीकार किया जाय? जैनियोके ही अर्थको स्वीकारनेमे जैनदर्शनकी क्या युक्तिया होगी? दूसरी बात यह है कि स्वय प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता किस प्रकारके सन्मात्र अर्थको समर्थन देता है? यह विचारणीय है क्योंकि सभी लोग 'सन्मात्र' शब्दका प्रयोग करते है किन्तु उसके अर्थमे परस्पर आत्यन्तिक भेद है 'सन्मात्र' कहनेसे बौद्धोंका स्वलक्षण, अभेदत्व, शुद्धाद्वैतका पक्ष, जैनोका स्वलक्षण भी आ जाता है

प्रद्योतकुमार : सभी दर्शनोमे "सन्मात्रविषयकत्व निर्विकल्पकत्वम्" तो कहा नही गया है. न्यायमे ऐसी कोई बात नहीं है.

अम्बिकादत्त शर्मा : अभिप्राय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमे जब विभिन्न सम्प्रदायोमे मतभेद है और जो-जो सम्प्रदाय निर्विकल्पक प्रत्यक्षको स्वीकारते है उनमे उसके विषयमे आत्यन्तिक भेद है तो स्वय प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता किस प्रकारके विषयका प्रस्ताव करती है?

गो. श्या. म. : आपके प्रश्नको मै इस तरहसे प्रस्तुत करना चाहूगा कि जैनोका जो सन्मात्रावगाही निर्विकल्पक है वह सत् ऐकान्तिक है अथवा अनैकान्तिक है?

बी. के. दलाई : जैनन्यायमे पाचवी शताब्दिके बाद जो ग्रन्थ लिखे गये है उनमे निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी बात है ही नहीं कारण यह है कि उनके प्रत्यक्षके लक्षणमे निर्विकल्पकका कोई स्थान ही नहीं है. इसीलिये अवग्रह, ईहा, अवाय आदि जो चार स्टेज् है वो सब सविकल्पक प्रत्यक्ष है यह एक बात हुई दूसरी बात, अब आप आगमको पकड़े आगममे यद्यपि 'निर्विकल्पकप्रत्यक्ष' शब्द नही आता है लेकिन वह विषय चर्चित है. उन्होंने वहा उसको सत्य या सत्ताजाति के अर्थमे नहीं लिया है, "इद किञ्चित्" इस अर्थमे लिया है और आपने पूछा कि वह सत् ऐकान्तिक है कि अनैकान्तिक तो जैन सिद्धान्तमे तो आप कुछ भी पूछेगे तो वो दोनों बातोंको रखेगे कि इस दृष्टिसे ऐसा है और इस दृष्टिसे ऐसा है

गो. श्या. म. : जैन अनेकान्तमे मानते है यह बात तो समझमे आती है पर मेरे प्रश्नका आशय यह था कि जब जैन दर्शनमे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना गया है तब सन्मात्रकी अनुभूतिमे उसके पर्यायोंकी भी अनुभूति होती है या केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है यह स्पष्ट होना चाहिये.

बी. के. दलाई : केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है.

गो. श्या. म. : यदि केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है तब उसमे सातो भगिमाओंका अनुभव होता है कि उनमेसे केवल "स्याद् अस्ति"का ही अनुभव होता है?

बी. के. दलाई : इसका निर्णय तो हम नहीं कर सकते हे

प्रद्योतकुमार : Don't say that This is a very good question You have to pay attention to it केवल "स्याद् अस्ति" इतना ही ज्ञान होता है कि नहीं इसका उत्तर सीधा-सीधा देना चाहिये

बलिराम शुक्ल : इतना ही होगा

प्रद्योतकुमार : तब तो सप्तभगीका सिद्धान्त .

बलिराम शुक्ल : वहा सप्तभगी नहीं है

यज्ञेश्वर शास्त्री : सप्तभगी आयेगा तो सविकल्पक हो जायगा

गो. श्या. म. : सविकल्पक हो जायगा वह तो ठीक बात है पर मेरी समस्या यह थी कि निर्विकल्पकप्रत्यक्षमे केवल "स्याद् अस्ति"का ही यदि अनुभव होता है तब फिर उसको पारमार्थिक नहीं माना जा सकता है तब फिर जैनसिद्धान्तानुसार वह बात मिथ्यादृष्टिमे चली जायगी

एस्. बी. बोकिल् : One thing which is unique about the Jaina system seems to me is that they talk about the knowledge of other's mind which other systems do not do No other system I have come across presents a discussion of a problem of other minds They speak of Manhparyaya which is mentioned as a kind of Mukhya Pratyaksa But I do not know how they really treat this Manhparyāya as Mukhya Pratyaksa It is quit clear that we know other minds We understand their thoughts We

know that some one is undergoing pain Now this is not a matter of direct perception This is not a sensuous perception This is a matter of inference And therefore we shell not make any gain by just describing as direct perception or Mukhya Pratyaksa The Jaina thinkers will have to think carefully about it that it is a matter of inference And even when its a matter of inference, you can not put it at such a level that it is not possible for the ordinary people It seems to me that Manahparyaya can be had by a very special category of people This is not the case

वी के दलाई : You suggested that it should be inference and not Pratyaksa But, Jainas have built their system in such a manner that they have to tell it Pratyaksa and that too Paramārthika The definition they give is that "परमनोगतार्थविषय मन पर्यायम्" So, as I said, soul has developed to such a stage that it can read others mind you gave a practical example But that is an external thing You see the Linga and go to infer the Sadhya But Jainas are not accepting this view They say that soul develop, like Yogi, such a higher extent that by even closing their eyes, without any contact they can read not anybody's mind but minds of everybody And even they have accepted various stages of Manahparyaya So we can not say that its an inference, it has to be Pratyaksa, and not only Pratyaksa, Mukhya

एस्. बी. वोकिल् : Surely you don't mean by Manhparyāya Jñāna as telepathic knowledge You mean that its a knowledge which can be had by anyone who is living in human society

प्रद्योतकुमार : It is not that there is no recognition of the fact that we can, in Indian system, know others mind Not even it is the case that we do not admit that we can have knowledge of others mind directly And thirdly, we can have also knowledge of others mind by a person who is not explicitly ■ Yogī This is call Prātibha Jñāna This kind of knowledge has many many uses And there are many textual evidence where it has been said that even a small girl or boy says "Me bhrata agamisyati" and actually his brother comes next day So, this kind of cognition is possible But, mostly it is inferential according to Naiyāyika But even when you say Manhparyāya, one point Dr Dalai has made very clear, that it is not the perception of other's mind It is the perception of the stage of other's mind Para manogata dharma And lastly, you started with the assumption, which ■ very risky, you said we all have the knowledge of other's mind So, how is ■ that only Jaina accept it?

एस्. बी वोकिल् : This is a condition of our living in a society that we have knowledge of other mind We can not live in society if we are not able

to read the mind of others

प्रद्योतकुमार : Most of the thing we assume Eg we go on when we utter a sentence Not a single sentence do you utter which gives full description of the event that is described But still we go on conversing So for the purpose of conducting our daily business it is not necessary that we have complete knowledge nor it is necessary that we should have direct knowledge of all the things that we believe So, all these beliefs are not of practical usage But even as a matter of final attainment, then it has to be complete, it has to be direct



श्रीहरिः

श्रीद्भागवतप्रस्थाने 'प्रस्थानरत्नाकरे' च

प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रः

मेघश्यामतनुप्रभा स्थिरतडिद्दीप्तोज्ज्वला मञ्जुलाम्
लीलालास्यलसच्छटा मधुपृषत्सद्वर्षहर्षा पराम्।
शुष्यत्प्रीतिधुनीविवर्धनकरीं चिद्वाटिकोज्जीवनीं
ध्यायामो हृदि सद्घनामृतमयीं राधामुकुन्दद्वयीम्॥१॥

प्रमाणप्रामाण्ये यदनुसरणात् सम्प्रसरतः
प्रमित्साबैविध्य फलति यदुपाश्रित्य सफलम्।
प्रमेयाकार यत् स्फुरति बहुधाऽप्यद्वयपद
नुमः तच्चैतन्य सदिति हृदि भान्त रसघनम्॥२॥

शुकवाङ्माधुरीस्फूर्तं मूर्त्त श्रुत्यन्तविग्रहम्।
वन्दामहे द्रुत दीप्त श्रीमद्भागवतामृतम्॥३॥

कृष्णद्वैपायन श्रीमद्बादरायणसञ्ज्ञितम्।
विधातार रसस्यास्य व्यासदेवम् उपास्महे॥४॥

ब्रह्मराताभिध व्यासात्मज योगीन्द्रवन्दितम्।
नन्दिताखिलसत्सार्थ नमामो बादरायणिम्॥५॥

येषा पादाब्जपांसूना स्मरणादपि तत्क्षणम्।
मनो निश्चलता याति गुरूस्तांश्च भजामहे॥६॥

प्रत्यक्षमिति सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् मुख्य प्रमाणम् इति नम्नान् व्यतिरिच्य प्रायः समेषामपि आस्तिक-नास्तिकोभयनयनिपुणानाम् अभिमतिः. चार्वाकोऽपि व्यतिरिक्तान् प्रमाणभेदान् अनगीकृत्य प्रत्यक्षमेव कक्षीकुर्वन् दृश्यते. ''अक्षम् अक्षं प्रतीत्य यस्मिन् प्रमितिः उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्'' इति अस्य निर्वचन,

तत्तु प्राय प्रायोवादतामेव अवलम्बते, सर्वे वादिभि अत्र नियततयेन्द्रियार्थसन्नि-कर्षनियमस्य प्रत्यक्षलक्षणावसरे अनभ्युपगमाद् इति न अविदित तत् तत्त्वविदाम् 'द्रष्टा' इत्यस्यैव नामान्तर साख्यकृतान्ते अपरोक्षम् इति, अद्वैतवेदान्तिना नये 'आत्मसविद्' इति च, अशत श्रीमद्भागवतप्रस्थानाभिमान-वताम् अस्माक सिद्धान्तइति न जातु भ्रमितव्य सुधीभि

चार्वाकाद् अनन्तर सर्वैरपि वादिभि स्वस्वप्रक्रियाम् अनुसरद्भि अस्य वैशद्येन लक्षणस्वरूपभेदप्रभेदाद्याविष्कृति प्रसाधितेति तत्तदाकरग्रन्थैरेव अवगन्तव्य, विस्तरभयात् प्रकृते अनावश्यकत्वात् न क्रमश तेषा समेषा लक्षणादीनाम् अनुवादो अत्र विधीयते, स्वराद्धान्तसमाराधनावसरेतु यथाप्रसग समालुलोचयिषया तानि अशत समादाय निरूपयिष्यामएव इति अल बहुभूमिकया अधुना प्रकृतम् अनुसराम

श्रीमद्भागवतमहापुराण वेदान्तस्य स्वतन्त्र श्रुतिस्मृतितर्कसमन्वयपर प्रस्थानम्

अष्टादशपुराणेषु अन्यतम श्रीमद्भागवत भावदृष्टचा कलिकल्मषरन्धन ललितकृष्णकथानिबन्धन भगवत्प्रीतिपरायणानाम् अन्यतम परमञ्च धन सद्भक्तिशास्त्र, भगवतो वेदव्यासापरनामधेयस्य बादरायणाचार्यस्य स्वाविष्कृ-तवेदान्तसूत्राणा स्वोपज्ञ रसभाष्य, दार्शनिकसिद्धान्तदृष्ट्या च उपनिषद्रूपश्रुतिप्र-स्थानस्य श्रीमद्भगवद्गीतारूपस्मृतिप्रस्थानस्य ब्रह्मसूत्ररूपतर्कप्रस्थानस्य च मिथ समन्वयपर वेदान्तदर्शनस्य स्वतन्त्र प्रथमञ्च प्रस्थानम् इति अस्माभि स्वीयानेकसन्दर्भेषु पुरापि अभ्यधायि वेदान्तसूत्राणा, श्रीशकरभगवत्पाद-श्रीभास्कराचार्य-श्रीरामानुजाचार्य-श्रीमदानन्दतीर्थ श्रीनिम्बार्काचार्य - महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीबलदेवविद्याभूषणादयो ये-ये भाष्यकृतो अभूवन् ते भारतीयविचारपद्धत्या श्रीमद्भागवतात् कालक्रमतो अर्वाञ्च समेषामपि एषा सिद्धान्तानाम् अनादिपरम्परादृष्ट्या नित्यत्वाद् अथच सत्यत्वादपि एभि प्रवर्तिता समुद्धृता वा सम्प्रदाया सन्दृब्धाश्च भाष्यादिग्रन्था न श्रीमद्भागवतस्य स्वाभिप्रायम् अन्यथयितु प्रभवन्ति - प्रभविष्यन्तीति च सुदृढ मन्यामहे

अत्र यद्यपि समाम्नातपूर्वाणा भक्ति-ज्ञान-वैराग्यादि-साधनसम्पत्त्या स्वस्वस्थाने अपूर्वाणाम् अमीषा केवलाद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैतद्वैताद्वैतादि-वेदान्तप्रतिष्ठापनाचार्याणाम् आर्याणा सिद्धान्तमूलानि तत्र-तत्र अधिकारिभेदाद् रुचिभेदात् श्रीमद्भागवतशास्त्रे प्रसगत सगमयितु शक्यानि किन्तु एकस्यैव कस्यचन आचार्यस्य सिद्धान्त समग्रस्य श्रीमद्भागवतस्य व्याख्याने पर्याप्नोति इति अभिनिवेशो न अस्माक मनो अनुरञ्जयति श्रीमद्भागवतशास्त्रे बहवो अशा दर्शनशास्त्रीया तत्तत्प्रसगेषु अधिकारभेद रुचिभेद च अनुरुन्धाना भक्ति-ज्ञान-विराग-पोषणपूर्वक नैष्कर्म्याविष्कारायैव प्रभवन्ति, वस्तुतस्तु अमलज्ञानात्मिका परमहससहितैव एषा महामुनिकृता वाक्प्रसृति यथा उक्त तत्रैव ग्रन्थोपसहारे "श्रीमद्भागवत पुराणम् अमल यद् वैष्णवाना प्रिय, यस्मिन् पारमहस्यम् एकम् अमल ज्ञान पर गीयते, तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहित नैष्कर्म्यम् आविष्कृत, तत् शृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येत् नर" (भाग पुरा १२।१३।१८) इत्यत्र एतस्मादेव अस्य सर्ववेदान्तसारतापि सागत्यम् उपैति तदपि उक्त भगवता पुराणकृता "सर्ववेदान्तसार यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षण वस्तु अद्वितीय तन्निष्ठ कैवल्यैकप्रयोजनम्" (तत्रैव १२।१३।१२) अपिच "सर्ववेदान्तसार हि श्रीमद्भागवतम् इष्यते" (तत्रैव १२।१३।१५) इत्युक्तरीत्या 'ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणक' 'कैवल्यैकप्रयोजनक' च शास्त्रम् इद भूयस्त्वेन ज्ञानप्रमाण-तत्त्वाचारमीमासासु श्रीमच्छकराचार्यराद्धान्तम् अनुगृह्णाति इति निष्पक्षतया स्फुटम् अवबुध्येरन् मार्मिका किन्तु लीलादिरसरहस्याना प्रकाशनावसरे भगवद्भक्त्युपासनादि-निरूपणसन्दर्भे तत्तद्वैष्णवाचार्याणामपि मतानि उत्तभ्नाति इति निर्विचिकित्स सम्प्रधारयाम अतो अस्मत्प्रतिपादित श्रीमद्भागवतदर्शन ब्रह्मविद्यया सार्द्ध भक्त्यादिसवलितत्वात् न केवल केवलाद्वैतमेव श्रीमद्भाष्यकार-शकरभगवत्पाद-प्रतिपादित मत प्रथयति अपितु नैकेषु प्रसगेषु तद्व्यतिरिक्त्यापि अग्रे सरति इति समालोचनावसरे अवधेय धिषणाधौरेयै एतस्मादेव कारणाद् भागवतोक्त-प्रमाण-प्रमेयादि-सन्दर्भा न सर्वथा वेदान्तपरिभाषादिकाना केवलाद्वैतग्रन्थाना, नवा प्रस्थानरत्नाकरादीना शुद्धाद्वैतसन्दर्भाणाम् अन्येषा वा साम्प्रदायिकप्रबन्धानामेव तात्पर्यम् अवकल्पन्ते तेतु स्वतन्त्रानुरोधात् सुतरा स्वतन्त्राअपीति श्रीहरिगुरुकृपया यथामति श्रीमद्भागवतशास्त्रस्य भृशम् अनुशीलनान्तर निर्भ्रान्त वक्तुम् ईश्महे अधुना

इदम्प्रथतया शास्त्रस्य अस्य प्रत्यक्षप्रमाणावलम्बिनीं पद्धतिं सङ्क्षिप्य निदर्शयाम

श्रीमद्भागवते प्रत्यक्षप्रमाणस्य अभिस्वीकृतिः स्वरूप भेदाः पद्धति च

प्रमाणत्वेन अत्र प्रत्यक्षस्य सुस्पष्टम् अभिस्वीकृति मुक्तिलक्षणलक्षित एकादशस्कन्धे वारत्रयम् यथा "श्रुति प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमान चतुष्टय प्रमाणेषु अनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते" (११।१९।१७)इति प्रथमवारम् "प्रत्यक्षेण अनुमानेन निगमेन आत्मसंविदा, आद्यन्तवद् असन् ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेद् इह" (तत्रैव ११।२८।९) इति द्वितीय वारम् अथ तृतीयवारञ्च यथा "ज्ञान विवेको निगम तप च प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अथ अनुमानम्, आद्यन्तयो अस्य यदेव केवल कालं च हेतु च तदेव मध्ये" (तत्रैव ११।२८।१८)

—इति त्रिष्वपि स्थलेषु सर्वटीकाकृत्सम्मतत्वात् प्रत्यक्षस्य प्रमाणता यथाहि एव प्रमाणचतुष्टयम् " (११।१९।१७) इत्यस्य भावार्थदीपिकाया "आद्यन्तवत्वे प्रमाणानि प्रत्यक्षादीनि " (११।२८।९) इत्यस्य च भावार्थदीपिकायाम् तत्रभगवन्त श्रीधरस्वामिन "श्रुतिरिति द्वाभ्या प्रमाणचतुष्टयम्" " प्रत्यक्ष प्रमाणम्" (११।१९।१७) इत्यस्य 'सिद्धान्तप्रदीप'व्याख्याने श्रीशुकदेव "प्रत्यक्षादिप्रमाणबलेन - "कि१ (११।२८।९) इत्यस्य 'पदरत्नावल्या' च श्रीमद्विजयध्वज

अत्र द्वितीयाभिस्वीकृतौ, "आत्मसंविद्" इति प्रत्यक्षस्यैव आन्तर पारमार्थिक कश्चिद् भेदविशेषो न प्रमाणान्तर, यथाहु श्रीस्वामिवर्या "आत्मसंविदा स्वानुभावेन " (११।२८।९ इत्यत्र 'भावार्थदीपिका') 'प्रत्यक्ष स्वानुभव " (११।२८।१८ इत्यत्र च 'भावार्थदीपिका') इति

ननु च 'आत्मसंविदा' इति उपादान 'प्रत्यक्षेण' इति पृथक्पदग्रहकृतमिति टीकाग्रन्थो न मूलम् आटीकते इति कैश्चिद् उट्टङ्क्येत तदपि नावदात, 'प्रत्यक्षम्' इति प्रथमपदेन विषयेन्द्रियसम्पर्कजस्य व्यावहारिकबोधस्य द्वितीयेन 'आत्मसंविद्' इत्यनेन च 'आत्मसाक्षात्कार'ख्य-पारमार्थिकबोधस्य उद्दिष्टत्वाद्

केवलाद्वैतप्रस्थानवद् अत्र भागवतप्रस्थानेऽपि प्रकारान्तरेण इन्द्रियजन्यं तदजन्यम् इति प्रत्यक्षद्वैविध्यस्य वक्ष्यमाणरीत्या अभ्यंगीकाराद् इति अनाकुलम्. अथ अत्र किंस्विल्लक्षं प्रत्यक्षं? किञ्च तत्स्वरूपम् इति उच्यते भगवता श्रीमद्भागवतशास्त्रकृता व्यासेन स्वमुखेन ग्रन्थे अत्र न अस्य लक्षणं न्यरूप्यतः समग्रग्रन्थानुशीलनमहिम्ना वयमेव अस्य लक्ष्मेत्थं निष्कर्षयामः

"साक्षात्कारिप्रमावृत्त्युपजननं प्रत्यक्षम्" इति.

साक्षात्कारित्वञ्च अत्र ज्ञानान्तरसाचिव्यराहित्यम्. तेन अनुमानादौ न अतिव्याप्तिः. 'प्रमावृत्त्युपजननम्' इत्यनेन भ्रमात्मकज्ञानोपजनके करणे प्रमारूपयथार्थबोधे प्रमाणस्य फले च अतिप्रसक्तिः पराकृता. वृत्त्युपजनकता हि अत्र स्वीकृते बहुविधप्रत्यक्षभेदे पृथक्पृथगेव अवगन्तव्या. तद् यथा व्यावहारिके (लौकिके) प्रत्यक्षे वाक्पाणिपादादि-पञ्चकर्मेन्द्रियैः उपस्थापिते चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानेन्द्रियाणां सामान्यानां, योगिनां योगजप्रत्यक्षे तपःसंयमयोगादि-साधनोद्दीप्तबलवद्विशिष्टेन्द्रियाणां भगवदनुगृहीतानां भवतानां श्रीमद्भगवद्विग्रह-लीलाधामादि-साक्षात्कारे तत्प्रसादावाप्तदिव्येन्द्रियाणां, सुखदुःखमोहाद्यनुभवात्मके मानसप्रत्यक्षे च अन्तःकरणप्रतिरूपस्य मनसो बुद्धेः वा इत्यस्य प्रक्रियातु अग्रे विवरिष्यते. ब्रह्मापरपर्यायस्य आत्मनस्तु साक्षात्कारे यद्यपि "न तत्र चक्षु गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः" (केनोप.१।१।३) "यद् मनसा न मनुते" (तत्रैव १।१।६) "यत् चक्षुषा न पश्यति" (तत्रैव १।१।७) "यत् श्रोत्रेण न शृणोति" (तत्रैव १।१।८) इत्यादिश्रुत्यन्तवचोभिः "यद् न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (तत्रैव ६।१६।२३) "नैतम् मनो विशति वाग् उत चक्षु आत्मा" (तत्रैव ११।३।३६) प्रभृतिभिश्च पारमहंस्यसंहितोक्तवचनैः च मनोबुद्ध्यादीनां तज्जन्यवृत्तीनां वा परमार्थतया नास्ति उपयोगः तथापि "यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः, सतु तत्पदम् आप्नोति यस्माद् भूयो न जायते" (कठोप.१।३।८) "विज्ञानसारथिः यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः, सो अध्वनः पारम् आप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्"(तत्रैव १।३।९) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा न प्रकाशते, दृश्यतेतु अग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"(तत्रैव १।३।१२) इत्यादि श्रवणात्. तथैव "निर्गुणे

ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः, परमानन्दम् आप्नोति यत्र कामो अवसीयते" (भाग पुरा ११।१५।१७) "आत्मानं चिन्तयेद् एकम् अभेदेन मया मुनिः" (तत्रैव ११।१८।२१) "तस्माद् ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानम् उद्धव" (तत्रैव ११।१९।५) "आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षण एवम् अन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमो मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीव अर्कोदये तमः" (तत्रैव ११।२४।२७-२८)

इत्येवमादिभि वाक्यै समुत्थिताद् भागवतशास्त्रानुशासनात् च, विविदिषादशाया मनोबुद्धिवृत्तीनामपि ओपयिकत्वं न न समञ्जसम् तस्माद् वक्ष्यमाणरीत्या अस्मत्स्वीकृतेषु समेष्वपि प्रत्यक्षभेदेषु अस्य लक्षणस्य सगति निरवद्या

अथ प्रत्यक्षभेदाः

अस्मिन् शास्त्रे प्रत्यक्ष प्रथमतया द्विरूपम् . १ इन्द्रियार्थसन्निकर्षज 'प्रत्यक्ष'पदवाच्य प्रथमम् २ मानसम् अथवा अन्त करणार्थसन्निकर्षज 'वेदान्त'पदवाच्यासु उपनिषत्सु 'अपरोक्षम्' इति पदेन श्रीमद्भागवतेतु 'आत्मसंविद्' इति पदेन परामृश्यमाण द्वितीयम्

आद्य पुन पञ्चप्रकारकम्

क सामान्येन्द्रियप्रत्यक्ष लौकिकाना येन आधिभौतिक स्थूल वर्तमानकालिकञ्च जगत्स्वरूपम् अधिगम्यते एतच्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक-विषयपञ्चकत्वात् श्रोत्रत्वक्चक्षूरस-नघ्राणेन्द्रियद्वारक पञ्चविधम् प्रक्रियादृष्ट्या सविकल्पक निर्विकल्पकम् इति द्विविध च

ख सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिना प्रत्यक्षम् इदन्तु एकविधम् ब्रह्मविद्वरिष्ठज्ञानिमात्रैकसंवेद्यम् अनेन पञ्चेन्द्रिय-परिगृहीत-भौतिकप्रपञ्चेऽपि "सर्वं खलु इद ब्रह्म" (छान्दो उप ३।१४।१) इति श्रुत्युक्तदिशा ब्रह्मबुद्धिरेव उपादीयते

ग सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवद्भक्ताना "वासुदेव सर्वम्" इति 'भावनाप्रत्यक्षम्' प्रत्यक्षभेदो अय भावनाप्रवणेषु भगवद्भक्तेष्वेव स्वरूपम् आधत्ते एतस्मादेव विभूतियोगदर्शनस्य ससिद्धि इति पश्चात् स्फुटीकरिष्यते

घ योगजादिदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अनेन भूतभविष्यद्वर्त्तमानत्वावच्छिन्नम् आधिभौतिकम् आधिदैविकम् आध्यात्मिक च जगद् अधिगन्तु क्षमन्ते युक्तयुञ्जानभेदभिन्ना योगिन एतच्च स्थूलशरीरस्थ-गोलकनिरपेक्ष सूक्ष्मेन्द्रियमात्रनिर्वर्त्यम् आन्तरम् इदमपि च भेदद्वयीम् अवगाहते यथा, धारणाध्यानादिचिन्तासहकृत परिच्छिन्नकालमात्रावसायि प्रथमम् समाधिजन्यम् अप्रयासनिर्वर्त्यं शश्वत्कालिक च द्वितीयम्

ङ भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अनेन आधिदैविकस्य जगत तत्रापि प्रकृतिकृतकञ्चुकाद्यतीताना सच्चिदानन्दात्मकाना श्रीमद्भगवत तत्पार्षदाना च श्रीविग्रहलीलाधामादिकान्त साक्षात्कृति उपपद्यते अस्य अधिकारिण सगुणसाकार-भगवन्मूर्त्युपासका भक्ताएव

द्वितीयम् इन्द्रियनिरपेक्षमपि द्विविधम् १ सर्वसाधारणस्य मानसप्रत्यक्ष प्रथमम् २ जीवन्मुक्ताना विदेहमुक्ताना नित्यात्मप्रत्यवमर्शस्वरूपञ्च द्वितीयम्

अथ एतेषा सनिदर्शन प्रक्रियानिरूपणम्

पर्यायेण अत्र समेषामपि एषा प्रत्यक्षभेदानाम् उदाहरणपूर्विका पद्धति अत्र प्रसाध्यते

क सामान्येन्द्रियप्रत्यक्ष

तेषु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्ये प्रथमे सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्मदादिलौकिकजनानाम् श्रीमद्भागवतशास्त्रानुसारम् अस्मदादीना पुरुषाणाम् इन्द्रियाणि ब्रह्माण्डाधिष्ठातृचेतनपुरुषस्य भगवतो 'विराड्' इति उपलक्षितस्य आद्यावतारस्य विग्रहे प्रपञ्चनिर्माणोपक्रमे समष्टिरूपतया अधिष्ठितानाम् इन्द्रियाणा

प्रतिरूपकाण्येव तथ्यम् इद श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धस्य पञ्चमे अध्याये, द्वाविशारभ्य एकत्रिंशत्तम श्लोक यावत्, तत्रैव षष्ठे अध्याये प्रथमाद् आरभ्य पञ्चदशपद्यपर्यन्त, तृतीयस्कन्धस्य षष्ठे अध्याये दशमाद् आरभ्य षड्विंशपद्यपर्यन्तम् एवमेव अत्रैव षड्विंशे अध्याये त्रयोविंशतितमाद् उपक्रम्य त्रिंशत्तम श्लोक यावद् अपिच एकादशस्कन्धस्य द्वाविंशे अध्याये पञ्चदशाद् आरभ्य विंशतितम पद्य यावद् एव विस्तरेण अधिगन्तु सुशकम्.

अथ प्रस्थाने अस्मिन् कति इन्द्रियाणि अभ्युपगम्यन्ते ? किम् एतेषा स्वरूपाणि कार्याणि इति च सक्षिप्य विमृशाम· अथ अत्र क्वचन "तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन् श्रोत्र त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायव" (२।५।३१) "इन्द्रियाणि दश श्रोत्र त्वग्दृग्रसननासिका वाक्करौ चरणौ मेढ्र पायु दशम उच्यते"(३।२६।१३) इत्युक्तपद्धत्या पञ्चज्ञानेन्द्रियाणा श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणा-ख्याना पञ्चकर्मेन्द्रियाणा वाक्पाणिपादपायूपस्थानाम् इत्याहत्य दशेन्द्रियाणाम् अभ्युपगीकार अत्र एकस्मिन् स्थले मनसस्तु उभयेन्द्रियत्वम् उक्तम् अत. क्वचित् तेन सार्द्धम् इन्द्रियाणि एकादशसख्याकानि इत्यपि प्रत्यपीपदद् ग्रन्थकारो यथा "एकादशेन्द्रियचमू पञ्चसूनाविनोदकृत्" (४।२९।२०) "एकादश आसन् मनसो हि वृत्तय" (५।११।९) इति तत्तु औपचारिकमेव आभाति यतो अत्र श्रीविजयध्वज विहाय प्राय सर्वेऽपि टीकाकृतो दशेन्द्रियै साक मनस स्थाने अहकारम् अगीकुर्वन्ति यथा 'भावार्थदीपिकाकार' श्रीधरस्वामिन "एकादश वृत्तय आसन् आकूतय क्रियाकाश पञ्च, धिय च ज्ञानाकाश पञ्च, अभिमान च इति" (५।११।९)

एवमेव 'श्रीभागवतचन्द्रिकाया' श्रीवीरराघव, 'सिद्धान्तप्रदीपे' श्रीशुकदेव, 'सारार्थदर्शिन्या' श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती, 'बालप्रबोधिन्या' गोस्वामिश्रीगिरिधरलालो, 'भक्तमनोरञ्जयिन्या' श्रीभगवत्प्रसादाचार्य चापि इति समे सम्मेनिरे 'पदरत्नावली'कृद् विजयध्वजस्तु "अयम् अर्थ , श्रोत्रादीनि दश, एक मन इति एकादशेन्द्रियाणि" इति उपचारादृशैव व्याचष्टे अथ कुत्रचिद् ज्ञानेन्द्रियपञ्चकेन सम मनस साहित्यम् आदाय इन्द्रियषट्क, कुहचिच्च

तद्व्यतिरिच्य इन्द्रियपञ्चकमेव व्याजहार तत्रभगवान् भागवतकृद् यथा "षाड्वर्गिक जिघ्रति षड्गुणेश" (१।३।३६) "प्रत्याहतषडिन्द्रिय" (१।१३।५३) "षडिन्द्रियवर्गेण" (५।१४।१) "षडिन्द्रियनामान" (५।१४।१) एवञ्च "पञ्चन्द्रियार्थप्रक्षेप" (४।२९।१२) "भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव" (११।१२।२३) "मन कर्म्ममय नृणाम् इन्द्रिये पञ्चभि युतम्" (११।२२।३६) इत्यादौ

तद् एतेषु सन्दर्भेषु प्रकरणसगतिरपि उन्नेया तत्वार्थजिघृक्षुभि भागवतार्थविद्भि यथा सर्वत्रापि अत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव तत्तद्विषयेषु प्रवृत्ति प्रत्याहारप्रसगे च तेभ्यएव निवृत्ति विवक्षिता तद् उक्त महाप्रभुणा श्रीमद्वल्लभाचार्येणापि "प्रत्याहतषडिन्द्रिय" (१।१३।५३) इत्यस्य वचनस्य व्याख्याने श्रीसुबोधिन्या "षडिन्द्रिय इति (कस्मादाहेत्युच्यते) कर्मेन्द्रियाणि नियमएव प्रत्याहृतानि" यत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव कर्तृत्व विवक्षित मनसश्च पृथगुपादान कृत तत्र पञ्चेन्द्रियाणि उक्तानि इत्यस्य प्रकरणार्थो वेदितव्य

वस्तुत. "इन्द्र आत्मा ईयते अनेन इति इन्द्रियम्" इति व्युत्पत्या इन्द्रियदशकमेव अभ्युपगन्तुम् उचितम् अत्र, ज्ञानेन्द्रियै साक कर्मेन्द्रियाणामपि क्रियाशक्तिद्वारेण आत्माभिव्यञ्जनपरत्वात् मनसश्च उभयेन्द्रियानुग्राहकत्वेऽपि उपरिष्टात् निरूप्यमाणसरण्या अस्य तेभ्य स्वरूपतो भिन्नत्वादिति न काचिद् इह विप्रपत्ति

अथ इन्द्रियाणा मनस च अस्मिन् शास्त्रे समुत्पत्ति-स्वरूप-कार्यादीना विवेचनम् यथा "वैकारिकाद् मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश, दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका, तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन्" (२।५।३०-३१) "अहतत्वाद् विकुर्वाणाद् मनो वैकारिकाद् अभूत्, वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जन यत, तैजसानि इन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च (३।५।३०-३१) "वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मन तत्वम् अजायत यत् सकल्पविकल्पाभ्या वर्तते कामसम्भव (३।२६।२७) "तैजसानि इन्द्रियाण्यव क्रियाज्ञानविभागश (३।२६।३१) इत्येभि ग्रन्थसन्दर्भै प्रथम परमात्मन त्रिगुणात्मिका प्रकृति. सञ्जायते सदसदात्मिकायाम् अस्या मायेत्यपरपर्यायाया प्रकृतो कालवृत्या भगवदीक्षणात् सञ्जाते क्षोभे महत् तत्त्व, तस्मात् च तथैव रीत्या अह

तत्त्वम् अजायत. अयम् अहंकारः पुनः क्षोभम् अवाप्य कार्यकारणकर्त्रात्मा सन् भूतेन्द्रियमनोरूपत्वं त्रिधात्वम् आधत्ते. अर्थात् कार्यरूपाणि पञ्चभूतानि कारणरूपाणीन्द्रियाणि कर्तृरूपं मनः इन्द्रियाधिष्ठातृदेवान् च क्रमशः स्वसात्त्विकराजसतामसभेदैः सञ्जनयति. सात्त्विकस्यैव अत्र 'वैकारिकाहंकार' इति सञ्ज्ञा राजसस्य च तैजस इति पारिभाषिकत्वम् अवधेयम्. एतेन कारणभेदेन मनस इन्द्रियाणां च पृथग्व्यवस्थानं सुतराम् उपपद्यते.

श्रीमद्भागवतेऽपि "प्राणेन्द्रियमनोबुद्धि·..." (६।३।२८) "वित्तस्य वित्ते मन इन्द्रियाणा पति महान् भूतभूतगुणाशयेशः" (६।३।२९) "येन इन्द्रियप्राणमनोगुणान्" (६।१।३३) "निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यत्" (१०।८७।२३) "कायेन वाचा मनसा इन्द्रिये वा" (११।२।३६) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो" (११।२।४९) "इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सह वैकारिकै नृप" (११।३।१५) "नैतद् मनो विशति वाग् उत चक्षु आत्मा, प्राणेन्द्रियाणि च यथा अनलम् अर्चिष· स्वाः"(११।३।३६) "बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः" (११।६।७) "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः"(११।१३।२४) "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य" (११।१४।४२) "वाच यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छ इन्द्रियाणि च"(११।१६।४२) "प्राणेन्द्रियमनोमयम्" (११।२१।३६) "भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश" (११।२२।२३) "मन कर्म्ममय नृणाम् इन्द्रियैः पञ्चभि युतम्" (११।२२।३६) 'देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो" (११।२८।१६) "नात्मावपुः पार्थिवम् इन्द्रियाणि मनो अन्नमात्र धिषणा च सत्त्वम् अहकृति ख क्षिति अर्थसाम्यम्" (११।२८।२८) इत्येतेषु सन्दर्भेषु मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथगुपादानात् तस्य तत्त्वतो अनिन्द्रियत्व तेभ्यश्च वैशिष्ट्यमेव व्यवतिष्ठते.

अपिच आत्यन्तिकलयप्रसगे "आम्बर शब्दतन्मात्रे इन्द्रियाणि स्वयोनिषु, योनि वैकारिके, सौम्य!, लीयते मनसि ईश्वरे" (११।२४।२४-२५) इति निरूपणाद् इन्द्रियाणां स्वप्रवर्तकदेवतासु अथवा स्वकारणे राजसाहंकारे लयो अभिमतः तेषा तस्य च तन्नियन्तरि मनसि तदनु देवताभिः सह मनसो वैकारिकाहकारे इति अनेनापि मनो न इन्द्रियम् अपितु तेषा नियन्ता-नायकः इत्येव अत्र अभिप्रेतम् उपलक्ष्यते. वस्तुतो मनो अत्र अन्तःकरणस्य कार्यभेदात्

पृथग् अनुभूयमाना वृत्तिरेव यथोक्त तृतीये कापिलेयोपाख्याने 'मनो बुद्धि अहकार चित्तम् इति अन्तरात्मक चतुर्धा लक्ष्यत भदा वृत्या लक्षणरूपया" (३।२६।१४)

अत्र विविधाश्च टीकाकृत तद् यथा—

"अन्तरात्मकम् अन्त करण वृत्या स्वगुणवृत्या सकल्पाध्यवसायाभिमानचिन्तारूपया" इति भागवतचन्द्रिकाया श्रीवीरराघव

"अन्तरात्मकम् अन्त करणम् एकमेव, मननहेतुत्वाद् मनो, बोधनहेतुत्वाद् बुद्धि, देहादो अहकरणहेतुत्वाद् अहकार, चिन्तनहेतुत्वात् चित्तम् इति चतुर्धा भेदो लक्षणरूपया मननबोधनादिवृत्या लक्ष्यते" इति सिद्धान्तप्रदीपे श्रीशुकदेव

"एकमेव अन्तरात्मकम् अन्त करण मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते" इति सुबोधिन्या श्रीवल्लभाचार्य

अयम् आशय प्रस्थाने अस्मिन् अन्त करणस्य क्रियाभेदत्वादेव मनोबुद्ध्यादीना व्यावहारिक पार्थक्य न पारमार्थिकम् तस्माद् अन्त करणस्य विक्रियाया नाम मन, प्रक्रियाया नाम बुद्धि, सक्रियाया नाम चित्तम्, अहक्रियाया च नाम अहकार इति युक्तम् उत्पश्याम तथापि आधिदैविकपद्धत्या अत्र मनसो बुद्धे च व्यावहारिको भेद स्वरूपभेद चपि अभ्युपगम्यते तत्रहस्यञ्च इत्थम् अवकल्पयाम वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मन तत्वम् अजायत यत् सकल्पविकल्पाभ्या वर्तते कामसम्भव, यद् विदु हि 'अनिरुद्ध'ख्य हृषीकाणाम् अधीश्वर शारदेन्दीवरश्याम सराध्य यागिभि शनै, तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्, सति, द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह, सशयो अथ विपर्यासो निश्चय स्मृतिरेव च, स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक्" (३।२६।२७।३०)इति यद् उक्त तदेतस्य अयम् अभिप्राय श्रीमद्भागवतानुसारेण प्रत्येकमपि सृष्टि-स्रष्टव्य-पदार्थजात तदनुरोधेन च उपास्यरूप भगवत्तत्त्वमपि आधिदैविकम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् इति त्रिधात्वम् उपास्नुते तत् परमार्थदृशा अभिन्नमपि व्यवहारतो भिन्नत्वम् अवगाहते

यथा उक्त द्वितीयस्कन्धे "यो आध्यात्मिको अय पुरुष साऽसावेव आधिदैविक य तत्र उभयविच्छेद पुरुषो हि आधिभौतिक, एकम् एकतरभावे यदा न उपलभामहे, त्रितय तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय" (२।१०।८,९), "वीर्यं हिरण्मय देवा मायया व्यसृजत् त्रिधा, अधिदैवम् अथ अध्यात्मम् अधिभूतम् इति त्रिधा" (२।१०।१३,१४) अत्र आहु भावार्थदीपिकाकृत "आश्रयस्वरूपम् अपरोक्षानुभवेन स्पष्ट दर्शयितुम् अध्यात्मादिविभागम् आह-योऽयम् आध्यात्मिक पुरुष चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीव सएव आधिदैविक चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्यादि तत्र एकस्मिन्नेव उभयो द्विरूपो विच्छेदो यस्मात् स आधिभौतिक चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितो दृश्यो देह पुरुष इति पुरुषस्य जीवस्य उपाधि 'स वा एष पुरुषो अन्नरसमय' इत्यादिश्रुते 'एकम् एकतराभावे' इत्येतेषाम् अन्योन्यसापेक्षसिद्धित्वेन अनात्मत्व दर्शयति तथाहि दृश्य विना तत्प्रतीत्यनुमेय करण न सिद्ध्यति नापि द्रष्टा नच तद्विना करणप्रवृत्त्यनुमेय तदधिष्ठाता सूर्यादि नच त विना करण प्रवर्तते, नच तद्विना दृश्यम् इत्यवम् एकतरस्य अभाव एक न उपलभामहे तत्र तदा तत्त्रितयम् आलोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद साक्षितया पश्यति स परमात्मा आश्रय" इति

तस्माद् अत्र एव व्यवस्था अन्त करण चतुर्धा, मनोबुद्ध्यहकारचित्त-भेदेन

तत्र विपरीतक्रमेण प्रथम चित्तव्यूहम् अत्र यद् अधिभूत तत् 'महद्' इति व्यपदेश्यम् यद् अध्यात्म तत् 'चित्त'सञ्ज्ञितम् यद् अधिदैव तत् 'क्षेत्रज्ञ पुरुष' अयमेव आधिदैविक पुरुष उपास्यत्वेन 'वासुदेव' इति अभिमत

द्वितीयम् अहकारव्यूहम् अत्र अधिभूत वैकारिकादिभेदोपलक्षित समष्टयहतत्त्वम् अध्यात्म प्रतिपुरुषभिन्नो अहकारो 'अभिमान'सञ्ज्ञित अधिदैव श्रीरुद्र सएव उपास्यत्वेन सकर्षणापरनामा सहस्रफणोपलक्षितो भगवान् अनन्त

तृतीय बुद्धिव्यूहम् अत्र अधिभूत समष्टिबुद्धि बुद्धि अव्यक्तमेव

च" (भग.गीता १३।५) इति स्मरणात् अध्यात्म प्रतिपिण्डम् अर्थेन्द्रियसम्बन्धस्फुरणात्मिका अध्यवसायादिरूपा अधिदैवम् अत्र परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा, उपास्यदेव च 'प्रद्युम्न'ख्यो भगवान् चतुर्व्यूहान्तर्गत तृतीय

एवमेव चतुर्थं मनोव्यूहमपि · अत्र अधिदैव ब्रह्माण्डव्यापिसोमतत्त्व तन्मूलतत्त्व चन्द्रमण्डल च "चन्द्रमा मनसो जात" (पुरु.सूक्त १२) इति श्रुते (एतदेव क्षीराकूपारोद्भवम् उडुपतित्वेन उपलक्षितम् इति पुराणेषु प्रथते वाद) अध्यात्म प्रतिपिण्डव्यवस्थितम् उभयेन्द्रियाणा नायकम् अन्त करणवृत्तिरूप मन, "चञ्चल हि मन कृष्ण" (भग.गीता ६।३४) इत्यादिप्रतिपादितत्वात् अधिदैव चन्द्रमण्डलाधिष्ठातृदेवत्वेन ब्रह्मणा व्यवस्थापितो अत्रिनन्दन सोमापरपर्याय 'चन्द्र'ख्यो देव "सोमो अस्माक ब्राह्मणाना राजा" इति श्रुते

इत्थ तत्त्वतो अभेदेऽपि प्रत्यक्षादिव्यवहारे श्रीमद्भागवते स्वरूपकार्यादिभिन्नत्वाद् बुद्धिमनसी पृथक्-पृथङ् निरूपिते

अयम् आशयो मनो वाक्पाण्याद्युपलक्षिताना पञ्चकर्मेन्द्रियाणा श्रोत्रादीना पञ्चज्ञानेन्द्रियाणा प्रेरयिता ईश्वर च, तद्विना तेषा स्वस्वकार्यजातेषु प्रवृत्यनर्हत्वात्, कथञ्चित् प्रवृत्तेऽपि स्वकार्ये अक्षमत्वादिति अस्य स्वरूपम् अथच "यत् सकल्प-विकल्पाभ्या वर्तते कामसभव' (भाग.पुरा ३।२६।२७।) इति मूलोक्तरीत्या सकल्पविकल्पाभ्या कामस्य इन्द्रियार्थजन्य-भोगाभिलापस्य सञ्जननम् अस्य कार्यम् एवमेव "द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह, सशयो अथ विपर्यासो निश्चय स्मृतिरेव च स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक्" (तत्रैव ३।२६।२९-३०) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्रामाण्याद् बुद्धि द्रव्यादीना, श्रोतव्यावलोकयितव्येत्याद्यर्थाना स्फुरणकर प्रकाशक ज्ञानस्वरूपजनन किमपि सामर्थ्यम् इन्द्रियाणा च अनुग्राहक च बुद्ध्या विना तानि-तानि इन्द्रियाणि तेभ्य-तेभ्य विषयभ्य पृथक्-पृथग् भोगाहरण कर्तुम् अनर्हाणि इति एतस्य तात्पर्यम्

इत्थ चित्तस्य भोगादौ प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक स्फुरण, बुद्धे द्रव्यस्फुरणरूप

विज्ञान, मनसो रागद्वेषादीच्छामयत्वम् अहकारस्य च एतेषा त्रयाणामपि कार्याणाम् अभिमानम् इति चतुर्विधस्य अन्त करणस्य व्यतिरिक्तानि कार्याणि इति अवधेयम् तथाहि "शब्द शृणोमि" इत्यत्र प्रथम चित्तेन चेतनामात्र निधीयते बुद्ध्या "शब्दो अयम्" इति स्फूर्ति मनसा "मधुरो अय शब्दो/अरुन्तुदो अयम्" इति जिघृक्षा-परिजिहीर्षा वा अहकारेण च तत्र स्वाभिमानार्पणम् इति निदर्शनसगति

बुद्धे द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्च सशयादिकाज्ञानविशेषा, सदोषनिर्दोषेन्द्रिय-वृत्तिद्वारेण जायन्ते तत्र सशय "स्थाणु वा पुरुष. वा" इति उभयकोट्यवगाही अनिश्चयज्ञानम् विपर्यासो अतस्मिन् तद्बुद्धिरूपो मिथ्याज्ञानम् निश्चयो अध्यवसाय प्रमाणज्ञान वा अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति पूर्वानुभूतस्य विषयस्य सस्कारद्वारेण पुन बुद्धौ उपारोह स्वापो निद्रा च न तिरोहित तद्विदाम्

यत्तु "बुद्धे जागरण स्वप्न सुषुप्ति इति च उच्यते" (१२।४।२५) इति द्वादशस्कन्धोक्तलक्षण न अत्र सगच्छते इति मा एव भाषिष्ठा तत्रैव 'मायामात्रम् इद राजन् नानात्व प्रत्यगात्मनि' (१२।४।२५) इत्युक्तपद्धत्या प्रकरणस्य अस्य पारमार्थिकत्वात् कैश्चिद् मते अत्र 'बुद्धि'शब्दस्य जीवात्मधर्मभूतज्ञानपर-त्वात् च इति अनुक्तोपालम्भनम्

अपरत्रापि अत्र शास्त्रे "मन सर्वविकारात्मा बुद्धि विज्ञानरूपिणी" (२।१०।३२) इति मनसो बुद्धे च लक्ष्मणी यत् निगदिते तत् तयोरपि तात्पर्यं पूर्वोक्तनिरूपाणात् न मनागपि विसवदते यत सर्वान् कामसकल्पादीन् मनएव सञ्जीवयति बुद्धिरपि तथाभूतार्थविज्ञानरूपिणी, नतु स्वय परमार्थग्राहिणी, मन प्रेरितेन्द्रियानुग्रा-हकमात्रत्वात् अत्र सुबोधिनीकृतो व्याख्यान किञ्चिद् भिन्न दृश्यते यथाहि "सर्वे हि विकारा त्रिविधा, तन्मयत्वात् मनोऽपि त्रिविध, बुद्धिरपि त्रिविधा इति आह 'बुद्धि विज्ञानरूपिणी' इति विविध ज्ञान विज्ञानम् तद् त्रिविधमिति तद्रूपिणी बुद्धिरपि त्रिविधा"[२] अनेन बुद्धि-मनसो प्रकृतिकृतगुणसम्पर्केण त्रैविध्यम् उदीरितम्

आचार्येण तदपि "बुद्धे भेदं धृतेः चैव गुणत स्त्रिविधं शृणु" इति उपक्रम्य "धृतिः सा पार्थ तामसी" (१८।२९-३५) इत्यन्त प्रकरणम् अनुसरतीति न प्रमाणपराहतम्.

अथ दशानामपि इन्द्रियाणां लक्षण-स्वरूप-कार्यादीनि. तत्र प्रस्थाने अस्मिन् प्रथमम् इन्द्रियसामान्यलक्षण तत्रैव द्वितीयस्कन्धे "गुणात्मकानि इन्द्रियाणि" (२।१०।३२) इति. अस्य अयम् अर्थो : गुणेषु शब्दादिषु आत्मा प्रवृत्ति स्वभावो येषाम् अथवा औत्पत्तिक सम्बन्धो येषा तानि गुणाभिमुखस्वभावानि इति आशय. शब्दाद्यर्थेषु प्रवृत्तिः यद्यपि मुख्यतया ज्ञानेन्द्रियाणामेव किन्तु कर्मेन्द्रियाण्यपि व्याहरणाहरण-गमनादिक्रियाद्वारेण तदर्थोपस्थापनोपयिकत्वम् आभजन्तइति लक्षणस्य न अव्याप्ति

अथ उत्पत्ति-कारणाभिप्रायेण अपरत्र किञ्चिद् अपरं लक्षणं, तत्रैव च क्रियोपजनन-ज्ञानोपजनन-कार्यद्वयविभागाद्, द्वैविध्यमपि अंगीचकार भागवतकृदपि "तैजसानि इन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः" (३।२६।३१) कापिलेयोपाख्याने. तदुभयलक्षणोत्थं समुदित लक्षण, "तैजसाहंकारजन्यत्वे सति एकपिण्डस्थितत्वात् तदभिमानि-भोगसिद्ध्यौपयिक-तत्तत्क्रिया-ज्ञानान्यतरोपजनन-सामर्थ्यम् इन्द्रियम्" इत्येव निर्गलति

अथ एतेषा विशेषलक्षणानि : श्रीमद्भागवतशास्त्रे द्वितीयस्कन्धस्य पष्ठे अध्याये (प्रथमाद् आरभ्य अष्टमश्लोकपर्यन्त), तृतीयस्कन्धस्य च षड्विंशे अध्याये (सप्तचत्वारिंशतमाद् आरभ्य अष्टचत्वारिंशत् पद्यम् अभिव्याप्य) उभयविधानाम् इन्द्रियाणाम् अधिष्ठातृदेवै सममर्थजातानि कार्याणि च समनुक्रान्तानि. एवमेव एकादशे श्रीमद्भगवदुद्धवसंवादेऽपि "श्रोत्रं त्वग् दर्शनं घ्राणो जिह्वा इति ज्ञानशक्तयो वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माणि अग उभय मन, शब्द स्पर्शो रसो गन्धो रूप च इति अर्थजातयो गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धय" (११।२२।१५-१६) इतिश्लोकद्वयेन ज्ञानक्रियाभेदभिन्नानाम् एषा विषया कार्यभेदा च सन्निरूपिता. तदनुसृत्य क्रमश समेषामपि विशेषलक्षणानि स्वरूपाणि वा च इत्थ निष्कर्षयाम

(अ) कर्मेन्द्रियाणि (पञ्च)

१ वह्निदेवताधिष्ठित स्थूलशब्दोद्भावनसमर्थम् इन्द्रिय वाक् व्यष्टिशरीरस्थमुखोपलक्षितजिह्वा अस्या गोलकम् केवल वैखर्या एव वाच समुद्भावनम् अस्या कर्म मध्यमा-पश्यन्त्यो. मनोरूपत्वात् परायाश्च आत्माभिन्नत्वात्

२ इन्द्रदेवताधिष्ठितम् आदान-विसर्जनादि-बहुविधशिल्पोपजननम् इन्द्रिय पाणि तत् मनुष्येषु सामान्येषु द्वित्वावच्छिन्न देवादीना तपोयोगवरप्रभावादि-परिबृंहितसत्वाना मानवानाञ्च बहुबाहूपलक्षितमपि

३ उपेन्द्र(विष्णु)देवताधिष्ठितगमनसन्तरणस्फालनाघातादि-गत्युपजननम् इन्द्रियम् अघ्रि तदपि सामान्यमानवाना शरीरे द्वित्वमयम्

४ प्रजापत्यधिष्ठित कामसुखोत्पादन सन्तत्युपजनननिमित्तञ्च मेढ्रम् तच्च स्त्री-पुम्भेदेन द्विप्रकारक प्रसिद्धमेव

५ मित्रदेवताक मृत्युदेवताक वा मलनिस्सारकम् इन्द्रिय पायु अस्य मलादिनिस्सारक छिद्र गुद, मूत्रापसारकञ्च मेढ्रस्थानएव व्यवस्थितम् इति वैलक्षण्यम्

एतेषा प्रत्यक्षप्रमाणे न साक्षादुपयोगो, ज्ञानाजनकत्वादिति वयमपि अभ्युपगच्छाम प्रसगवशादेव अत्र विवेचन विहितम् एषाम् इति अवधेयम्

(आ)ज्ञानेन्द्रियाणि(पञ्चैव)

१ ''नभोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् श्रोत्रम् उच्यते'' (३।२६।४४) इत्यनेन, ''व्यभिद्येता कर्णौ श्रोत्र ततो दिश'' (३।२६।५५) इत्यनेन च श्रीमद्भागवतवचनप्रामाण्येन ''दिग्देवता-धिष्ठित नभोगुणविशेषेण शब्दग्राहकम् इन्द्रिय श्रोत्रम्'' एतस्य 'पितृहू दक्षिण कर्ण उत्तरो देवहू स्मृत'' (४।२९।१२) इति पुरञ्जनोपाख्यानतात्पर्याध्यायोक्तदिशा सामान्यतो गोलकद्वय

मानवानाम् शक्ति तारतम्येन स्फुटानाम् अस्फुटाना मन्द्रमध्यतारादिस्वरवता च स्थूलशब्दानाम् अनेन ग्रहणम् सूक्ष्मदिव्यशब्दाना ग्रहणन्तु प्रमेयबलेन गोलकनिरपेक्षमपि उपपद्यते

२ "वायो गुणविशेषो अर्थो यस्य तत् स्पर्शन विदु" (३।२६।८६) इति वचनेन "स्पर्शो अभवत् तत्रा वायु त्वक् स्पर्शस्य च सग्रह" (३।२६।३५) इति वचनेन च "वायुदेवताक वायुगुणविशेषत्वेन स्पर्शग्राहकम् इन्द्रिय त्वक्" एतस्य सर्वस्मिन्नपि स्थूलशरीरे बाह्याभ्यन्तरे परिव्याप्ति त्वग् इति उपलक्षण स्पर्शग्राहकशरीरकोशाना स्नायुतन्त्रोत्थसूक्ष्मसवेदनाना वा तेन न तद् चर्ममात्रपर्यवसायि, दन्तकेशादौ उदराभ्यन्तरावयवेष्वपि च स्पर्शस्य सवेदितत्वाद् इति विशेषेण अवधेयम् वस्तूना मृदुत्व-कठिनत्व, शैत्यम्-उष्णत्व, लघुत्व-गुरुत्व, समत्व-विषमत्व, मसृणत्व च एवमादयो विविधा स्पर्शा अनेन गृह्यन्ते

३ "तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तद् चक्षु उच्यते" (३।२६।४८) इत्युक्त्वा " निरभेद्येताम् अक्षिणी चक्षु एतया तस्मात् सूर्य " (३।२६।५५) इति उक्त्या च, "सूर्यदेवताक बलाबलतारतम्येन उद्भूतानुद्भूतरूपग्राहकम् इन्द्रिय चक्षु" तच्च "द्रव्याकृतित्व गुणता व्यक्तिसस्थात्वमेव च तजस्त्व तेजस, साध्वि!, रूपमात्रस्य वृत्तय" (३।२६।३९) इति उक्तरीत्या रूपतन्मात्रस्य वृत्तयो द्रव्यस्य आकारसमर्पकत्व 'गुणता'= द्रव्योपसर्जनतया प्रतीति 'व्यक्तिसस्थात्व'=द्रव्यस्य या सस्था सन्निवेश तेनैव तत्प्रमाणप्रतीति चक्षुरिन्द्रियविषयत्वम् द्रव्योपसर्जनतया द्रव्ये गुणतया प्रथम सयोगसम्बन्धेन द्रव्यज्ञान तत सयुक्तसम्बन्धेन रूपज्ञानम् इति अर्थ अथच रूपग्रहणेन साक प्रतिबिम्ब-सख्या-परिमाण-पृथक्त्व-सयोग-विभाग-परत्वापरत्वादि-धर्माणा साक्षाद् ग्रहण चक्षुषैव 'साक्षाद्'

इति कुतः चेद्, उच्यते : संख्यादीनाम् असाक्षाद् ग्रहणं स्पर्शादिभिरपि सम्भवत्येव. शुक्लकृष्णलोहितादिवर्णानां वस्तुनो अभावस्य चापि चक्षुषैव ग्रहणं बोध्यम्. एतेषु च अन्येन्द्रिययोगव्यवच्छेद, चक्षुर्मात्रैकग्राह्यत्वादिति सर्वम् उपपन्नम्. अस्य च, "खद्योताविर्मुखी च अत्र नेत्रे एकत्र निर्मिते, रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषा ईश्वर" (४।२९।१०) इति वचनात् लोकप्रत्यक्षाच्च दक्षिणवामनेत्रभेदाद् गोलकद्वयं सामान्यमानवानां दिव्यचक्षु योगचक्षुः इत्यादयस्तु गोलकनिरपेक्षमेव तद् उपरिष्टाद् वक्ष्याम.

४."अम्भोगुणविशेषो अर्थो यस्य तद् रसनं विदुः" (३।२६।४८) इत्यनेन, ".. देवा वैकारिका दश दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका" (२।५।३०) इत्येतेन च वाक्येन "वरुणदेवताकम् अम्भोगुणविशिष्टं रसग्राहकम् इन्द्रियं रसनम्" इत्यस्य चतुर्थज्ञानेन्द्रियस्य लक्षणम् आयाति. इन्द्रियेन अनेन मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायानां षड्रसानां दुग्धघृतादिविशिष्टास्वादसंवेदनाना जलगतस्यापि आयनकरस्य निर्विशेषरसस्य च ग्रहण भवति.

५"भूमे गुणविशेषो अर्थो यस्य स घ्राण उच्यते" (३।२६।४८) इति ग्रन्थवचसा, पूर्वोदहृतेन च "दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्वि"कैर इत्यादिना सन्दर्भेण "नासत्यौ इति ख्याते अश्विनीकुमारयुग्मेन अधिष्ठितं भूमिगुणविशेषेण गन्धग्राहकम् इन्द्रियं घ्राणम्" अस्यापि स्थूलशरीरे एकस्यामेव नासिकाया छिद्रद्वयरीत्या गोलकद्वयमेव आस्थेयम् एतत्प्राणन्तु पुरञ्जनाख्यानतात्पर्यनिरूपणाध्याये यथा "नलिनीनालिनी नासे गन्ध सौरभ उच्यते" (४।२९।११) इति गन्धस्य भेदाअपि तृतीयस्कन्धे "करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभि पृथक्, द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते" (३।२६।४५) इति अलम् अतिपल्लवितेन.

एतत् सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियमात्रजन्यं पञ्चविधमेव न

नैयायिकादिवत् षड्विधम् अस्माभि पूर्वविवेचितरीत्या मनसः इन्द्रियनायकत्वेऽपि तस्य इन्द्रियतया अनभ्युपगीकारात्. तद् इत्थम् : श्रोत्रेन्द्रियस्थूलशब्दसन्निकर्षज श्रावणम्. त्वगिन्द्रियतद्विषयवद्वस्तुसन्निकर्षज स्पार्शनम्. चक्षुरिन्द्रियरूपवद्वस्तुसन्निकर्षजं चाक्षुषम् रसनेन्द्रियरसवद्वस्तुसन्निकर्षजरासनम्. घ्राणेन्द्रियगन्धवद्वस्तुसन्निकर्षजन्य च घ्राणजमिति.

यद्यपि वागादिकर्मेन्द्रियाणां ज्ञानजनकत्व नास्ति किन्तु श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियग्राह्यशब्दाद्युद्भावने, समीप गत्वा शब्दश्रवणे, करेण पुष्पादीनि आदाय आघ्राणेन, स्पर्शे, रसवद्वस्त्वादाय तस्य आस्वादने च परोक्षतया हि एतेषामपि साहाय्यम् उन्नेयम्

प्रत्यक्षप्रक्रियातु अत्र वेदान्तप्रसिद्धा वृत्तिमूलैव. तत्तदिन्द्रियद्वारेण अन्तःकरणस्य विषयाकारपरिणामएव अत्र वृत्ति. यथा तडागोदक छिद्रेभ्यो बहिः निर्गत्य कुल्याप्रणालिकादिना केदार प्रविश्य तदाकार गृह्णाति तथा अन्तःकरणमपि इन्द्रियवर्त्मना विषयम् उपेत्य तदाकार गृह्णाति वृत्तिप्रामाण्यन्तु अत्र शास्त्रे "सखाय इन्द्रियगणा ज्ञान कर्म च यत् कृत सख्य तद् वृत्तय " (४।२९।६) "एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तय" (५।११।९) "... बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक्" (३।२६।३०) "बुद्धे जागरण स्वप्न सुषुप्ति इति वृत्तय" (७।७।२५) इत्यादौ अवलोकयितव्यम्.

प्रत्यक्षप्रमा अत्र वस्तुतो अद्वयज्ञानापरपर्यायचेतन्यमेव तस्य प्रमातृप्रमाणविषयोपाधिवशादेव व्यावहारिक त्रैविध्य, यथा उक्तम् अत्रैव . "ज्ञानम् एक पराचीने इन्द्रियै ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा" (३।३२।२८) अपि च, "बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञान भाति तदाश्रयम्, दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आद्यन्तवद् अवस्तु यद् दीप चक्षु च रूप च ज्योतिषो न पृथग् भवेद् एव धी खानि मात्रा च न स्यु अन्यतमाद् ऋतात्" (१२।४।२३-२४) इत्यादौ

ननु चैतन्यमेव अत्र ज्ञानस्वरूप चेत् सन्निकर्षाणा किं प्रयोजनम्?

इति जिज्ञासायाम् उच्यते व्यवहारे घट-तद्गतरूपररूपत्व-शब्दशब्दत्वावच्छिन्न-चैतन्याभिव्यञ्जक-वृत्त्युत्पादने सयोग-सयुक्ततादात्म्य-सयुक्ताभिन्नतादात्म्य-रूपाणा सन्निकर्षाणा विनियोगत्वात् न निष्प्रयोजनत्वम् यद् उक्तम् एकादशे स्वय भगवतेव "यावद् देहेन्द्रियप्राणे आत्मन सन्निकर्षण ससार फलवान् तावद् अपदार्थो अविवेकिनाम्" (११।२८।१२) इति

एवरीत्या चैत्यसस्कारोद्बोधात् कामात्मकेन सकल्पविकल्पात्मना मनस प्रेरणया बुद्धीन्द्रियाणा विषयेषु प्रवृत्ति पश्चाद्बुद्धिवृत्त्या तेषाम् अनुग्रह तदनु विषयरसस्य इन्द्रियै पुनरपि मनसे समर्पण परस्तात् "ईश्वरो अहम् अह भोगी" (भग गीता १६।१४) इति रीत्या अहकारेण कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमान इति विमूढात्मन प्रत्यक्षप्रक्रिया यथाहि अत्र ग्रन्थो "अन्तपुर च हृदय विषूचि मन उच्यते तत्र मोह प्रसाद वा हर्ष प्राप्नोति तद्गुणै, यथा-यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा, तथा-तथा उपद्रष्टा आत्मा तद्वृत्ती अनुकार्यते" (४।२९।१६-१७) 'मनएव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शसति, भविष्यत च भद्र ते तथैव न भविष्यत सर्वे क्रमानुरोधेन मनसि इन्द्रियगोचरा आयान्ति वर्गशो यान्ति " (४।२९।६६,६८) "नाह ममेति भावो अय पुरुषे व्यवधीयते यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो हि अनादिमान्" (४।२९।७०) "मनएव, मनुष्येन्द्र!, भूताना भवभावन यदा अक्षे चरितान् ध्यायन् कर्माणि आचिनुते असकृद्" (४।२९।७७-७८) युक्तात्मनस्तु "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य, तद् मनो, बुद्धया सारथिना, धीर प्रणयेद् मयि सर्वत" (११।१४।४२) इति अपरैवसाव् परिष्टाद् दर्शयिष्यते इन्द्रियाणा प्राप्यकारित्वविषयेऽपि औपनिषदा राद्धान्तमेव वयम् अव्याकलयाम तस्माद् घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणा स्वस्वस्थानएव गन्धरसस्पर्शग्रहणम् चक्षुश्रोत्रयोस्तु विषयस्थानम् उपेत्यैव रूपशब्दाहरणम् इति सर्वं सम्प्रतिपन्नम्

इदम् इन्द्रियप्रत्यक्ष निर्विकल्पक-सविकल्पकम् इति द्विधा इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रथमक्षणे यत् ससर्गानवगाहि भेदरहित किञ्चिद् इति अनुभूयते तद् निर्विकल्पकम् मनसम्पर्कमात्रजन्य सात्त्विक, बुद्धिवृत्त्या अननुगृहीत ज्ञान, यत्तु बुद्धिकृतभेदभिन्न राजस द्वितीयक्षणे नामजात्यादि-योजनासहितम्

अवबुध्यते तत् सविकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहारपरम् इति यथा, "कैवल्य सात्विक ज्ञान रजो वैकल्पिक च यत्" (११।२५।२४) 'विकल्पबुद्धीम् च गुणे विधत्त' (११।२२।३०) "व्यवहृतये विकल्प इषितो अन्धपरम्परया" (१०।८७।३६) इत्यादी

ख सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिना प्रत्यक्षम् :

अत्र निर्विकल्पकम् इति सामान्यजनप्रत्यक्षप्रक्रियानुगुण व्यावहारिक निरूपितम् यत्र ब्रह्मावबोधेन योगिना तत्त्वज्ञानिना भेदज्ञान विलीयते तत् शुद्धचिन्मात्रावगाहि द्वितीय पारमार्थिक निर्विकल्पकम् तदेव च सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहि ज्ञानिना प्रत्यक्षम्

अत्र पञ्चेन्द्रियै उपस्थापितेऽपि पञ्चविषयात्मके सासारिके बोधे विशुद्धमनसा योगिना न ब्रह्मव्यतिरिक्तम् अन्यद् भान भवति घट-पटादौ सर्वत्रापि ब्रह्माकारा वृत्तिरेव जरीजृम्भते, भेदभिन्नम् अखिल दृश्यजात च "नेह नाना इति किञ्चन" (बृह उप ४।४।१९) इति श्रुत्युक्तदिशा स्वयमेव विलीयते अमीषा शरीरादिव्यवहारजातन्तु बाधितानुवृत्यैव सघटते श्रीमद्भागवते तन्निरूपण च यथा 'निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यद् मुनय उपासते" (१०।८७।२३) "ध्यानेन इत्थ सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मन, सयास्यति आशु निर्वाण द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रम" (११।१४।४६) "यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिक भ्रमम्" (११।२४।१) इति

अस्यैव पारमार्थिक-निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य "तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ६।८।७) इत्यादि महावाक्यानाम् अर्थावगमे सगति उपपद्यते

ग सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवदुपासकाना "वासुदेवः सर्वम्" इति 'भावनाप्रत्यक्षम्' :

पूर्वनिरूपितज्ञानिप्रत्यक्षाद् इद प्रमातृस्वरूपमहिम्ना किञ्चित् प्रक्रियाभेद-महिम्नैव व्यतिरिच्यते नतु परमार्थतया ह्यत्रापि सामान्येन्द्रियद्वारेण सुखदु खादिरूपार्थसार्थवत ससारस्य भगवद्भक्तिजन्य-भावनाप्राबल्येन "वासुदे-

व सर्वम्" इति तत्त्वमात्रपरायणत्वात् तन्निदर्शनानि च अत्र सक्षिप्य समानीयन्ते यथा "ख वायुम् अग्नि सलिल मही च ज्योतीषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् सरित्समुद्रान् च हर. शरीर यत्किञ्च भूत प्रणमद् अनन्य" (११।२।४१) "सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावम् आत्मन, भूतानि भगवति आत्मनि एष भागवतोत्तम" (११।२।४५) 'मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियै अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुध्यध्वम् अञ्जसा" (११।१३।२४) "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य तन्मन बुद्ध्या सारथिना धीर. प्रणयेद् मयि सर्वत" (११।१४।४२) इत्यादीनि

अपिच अत्र एकादशस्कन्धगते श्रीकृष्णोद्धवसवादे, भगवद्विभूतिवर्णनात्मक षोडशो अध्याय समग्रोऽपि अस्यैव निदर्शनभूत इति न प्रमिति

घ योगराद्धदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् :

यन्न्यायनये अलौकिकप्रत्यक्षभेदे अन्यतम, 'योगजप्रत्यक्ष' युक्तयुञ्जानयोगभिन्न', तद् अत्र अस्मिन् भेदे परिगृह्यते अस्माभिरपि द्विविधम् तत्र **"धारणाध्यानादिचिन्तासहकृत प्रथमम्, समाधिजन्यम् अप्रयासनिर्वर्त्यञ्च द्वितीयम्"** यदुक्तम् अस्मत्प्रस्थाने "अनागतमतीतञ्च वर्तमानम् अतीन्द्रियम्, विप्रकृष्ट व्यवहित सम्यक् पश्यन्ति योगिन" (१०।६१।२१) इत्यत्र

अत्र तपो योगधारणया ध्यानमहिम्ना वा मितयोगिनो गोलकनिरपेक्षतया सूक्ष्मेन्द्रियै यत् परिच्छिन्नकालपर्यवसायिनीं साक्षात्कृतिम् आतन्वते तस्य एतानि उदाहरणानि प्रादुर्भवन्ति शास्त्रे अस्मिन् -

पृथो यज्ञे अश्वहन्तारम् इन्द्रम् अनेनैव चक्षुषा ददर्श तत्रभवानत्रि 'तम् अत्रि भगवान् ऐक्षत् त्वरमाण विहायसा" (४।१९।१२) इति व्यावर्णितदिशा तथैव रेणुकाया स्वपत्न्या मनश्च्यवनम् अनेनैव विज्ञातवान् जमदग्नि, "व्यभिचार मुनि ज्ञात्वा पत्न्या प्रकुपितो अब्रवीत्" (९।१६।५) इति एतानि तपोबलकृतप्रत्यक्षस्य निदर्शनानि यद्यपि इमे अत्रिजमदग्न्यादयो युक्तत्वात् न मितयोगिन तथापि अत्र परिच्छिन्नकालावसायिनी प्रत्यक्षप्रक्रिया अमीषाम्

इति उदाहरणत्वेन इह गृहीता. एव तपोजन्य-योगजप्रत्यक्षस्य अन्येऽपि सन्दर्भा "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्या चैव मदाश्रयां ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यसि अपावृतान्" (३।९।३०).

एवं ध्यानधारणाद्युद्भवानि प्रत्यक्षाण्यपि यानि श्रीमद्भागवते ह्युपवर्णितानि तानि एतत्प्रभेदपर्यवसायीन्येव[६].

अथ समाधिजन्यं शश्वत्कालिकं च योगजप्रत्यक्षमपि : "दृष्ट एव आत्मनि ईश्वरे" (१।२।२१) "पश्यन्ति अदो रूपम् अदभ्रचक्षुषा" (१।३।४) "दुर्भगान् च जनान् वीक्ष्य मुनि दिव्येन चक्षुषा" (१।४।१८) "अथो महाभाग भवान् अमोघदृक् समाधिना अनुस्मर तद्विचेष्टितम्" (१।५।१३) "भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहिते अमले, अपश्यत् पुरुष पूर्ण माया च तदपाश्रयाम्" (१।७।४) "स वा अय यत्पदम् अत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वन पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना ननु एष सत्व परिमार्ष्टुम् अर्हति" (१।१०।२३) "भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु विश्व विचक्षते धीरा योगाराद्धेन चक्षुषा" (३।११।१७) इत्येवमादिभि सन्दर्भै सर्वहृद्यताम् आधत्ते.

ङ. भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रिय- प्रत्यक्षम् :

भगवत्कृपया सिद्धभगवज्जनकृपया च यदा भगवद्भक्ताना सामान्येन्द्रियेष्वेव काचिद् ईदृशी दिव्यशक्तिः आविर्भवति यया ते अप्राकृताना श्रीमद्भगवद्विग्रहलीलाधामादिकानां साक्षात्काराय सुतरा प्रभवन्ति तदा अय भेद स्वरूपम् अवकल्पते. श्रीमद्भागवते अत्र बहूनि उदाहरणानि गोचरयितु पार्यन्ते. तेषु कानिचनेव अत्र सगृह्यन्ते, यथा -

(१) "तस्मै स्वलोक भगवान् सभाजित सन्दर्शयामास पर न यत्पदम्" (२।९।९) इति उपक्रम्य "तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनु प्रेमभराश्रुलोचन" (२।९।१७) इति पर्यन्त ब्रह्मकृतभगवत्साक्षात्कारसन्दर्भ.

(२) ध्रुवप्रह्लादादिभगवद्भक्ताना भगवद्दर्शनप्रसगा.

(३) दशमे अवतरणप्रसङ्गे "तम् अद्भुत बालकम् अम्बुजेक्षणम्" (१०।३।९)

इति आरभ्य "बभूव प्राकृत शिशु" (१०।३।४६) इत्यन्त कथानकम्
(४)दशमे मृद्भक्षणलीलाप्रसगे यशोदाये उपाहृत भगवतो विश्वरूपदर्शनम्
(१०।८।३७-४३)
(५)दशमस्कन्धएव उपवर्णित "इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरि, दर्शयामास लोक स्व गोपाना तमस परम्" (१०।२८।१४) इत्यादिरूपेण श्रीकृष्णेन बल्लवजनेभ्य स्वधाम्न प्रत्यक्षीकरणम्
(६)तथा च अत्रैव एकोनत्रिंशे अध्याये यमुनाह्रदे अक्रूराय भगवता स्वकीय विभूतिमद्विष्णुस्वरूपदर्शनप्रदानम्

एव भगवज्ज्ञानानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रियप्रत्यक्षप्रसगा अपि, भागवते-नारदागिरोभ्या प्रत्तविद्यामाहात्म्येन चित्रकेतो सकर्षणदर्शनकथानकेन (द्रष्ट - ६।१६) "व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यम् अह परम्" (भग गीता १८।७५) इति सन्दर्भेण उन्नेया तत्तत्त्वम् अवजिगमिषुभि इति सर्वम् अवदातम्

मानसप्रत्यक्षम् -

"अह सुखी दुखी, मनसि मे कामो मोहो हर्षो वा जागर्ति" इत्याद्यन्त करणधर्मावबोधक मानसप्रत्यक्ष सर्वसवेद्य न इन्द्रियार्थजन्यम्, उक्तपूर्वरीत्या मनसो अनिन्द्रियत्वात् तत्र 'आत्ममन सयोगा'ख्य प्रथम, सुखदु खादिमन सन्निकर्षलक्षण सयुक्तसमवाय च द्वितीय इति प्राभाकराभिमत-पद्धति न अगीकार्या, अस्मत्प्रस्थाने सुखादीना मनोवृत्तित्वाभ्युपगमात् तथाच श्रुति "काम सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृति अधृति ही धी भी इत्येतत् सर्वं मनएव" (बृह उप १।५।३) अत्रच, "अयो दहति" इति लाक्षणिकव्यवहारवद् आत्मन सुखाद्याकार-परिणाम्यन्त करणैक्याध्यासाद् "अह सुखी" इत्यादि व्यवहारसिद्धि बहुलतया उपलभ्यमानत्वाद् ग्रन्थगतोदाहरणवाक्यानि अत्र न उपन्यस्यन्ते

मुक्तात्मना नित्यात्मप्रत्यवर्शात्मक केवलबोधमय स्वरूपप्रत्यक्षम्

अत पर सूक्ष्मतमम् अव्यक्त निर्विशेषणम् "अनादिमध्यनिधन नित्य

वाङ्मनस पथम्" (२।१०।३४) "यतो अप्राप्य निवर्तन्ते वाच च मनसा सह" (३।६।४०) "यद् न स्पृशन्ति न विदु मनोबुद्धीन्द्रियासव" (६।१६।२३) इति आकरग्रन्थप्रतिपादितत्वात् न एकधा च "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह" इत्यादि श्रुत्यन्तवचोभिश्च निरूपितत्वात् केवलानुभवानन्दात्मकस्वरूप-साक्षात्कारे न चक्षुरादीन्द्रियाणां न वा मनसो अनुप्रवेश शक्यस्वीकरण. तस्मात् "पश्यन्ति आत्मनि च आत्मनम्" (१।२।२१) "ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृते पुरुषस्य च, निवृत्तबुद्धयवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शन उपलभ्य आत्मना आत्मान चक्षुषेव अर्कम् आत्मदृग् एव प्रत्यक्पृय असो आत्मना प्रतिपद्यते" (३।२७।१० - १६) "यथा उल्मुकाद् विस्फुलिंगाद् धूमाद् वापि स्वसम्भवाद् अप्यात्मत्वेन अभिमताद् यथा अग्नि पृथग् उल्मुकाद् भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाद् 'जीव'सञ्ज्ञिताद् आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् 'ब्रह्म'सञ्ज्ञित, सर्वभूतेषु च आत्मान सर्वभूतानि च आत्मनि, ईक्षेत अनन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्" (३।२८।४०-४२) "ईक्षेत आत्मनि च आत्मान यथा खम् अमलाशय" (११।२९।१२) इति उपदर्शितदिशा ब्रह्मबोधानन्तप्रकाशेन उपहितबुद्धितत्स्थ-चिदाभासादि-प्रत्यक्षाभ्युपगमसामग्र्या ब्रह्मपरपर्यायात्माकारा-कारित-वृत्त्यात्मप्रत्ययमर्शात्मकस्य अपरोक्षस्य ग्रन्थोक्तदिशा 'आत्मसंविद्' इत्याख्यस्य अस्य चरमप्रत्यक्षस्य सगति इति अध्यवस्याम.

इत्थम् इदम्प्रथमतया श्रीमद्भागवतप्रस्थानोपगता प्रत्यक्षप्रक्रिया प्रतिपत्तॄणा प्रमोदाय भगवत्कृपया अत्र यथामति प्रदर्शिता

अधुना शुद्धाद्वैतनयनिपुणस्य श्रीपुरुषोत्तमचरणस्य प्रस्थानरत्नाकरीया प्रत्यक्षपद्धतिः तुलनात्मकधिया सक्षेपेण अत्र विमृश्यते

प्रस्थानरत्नाकरोक्तप्रत्यक्षनिरूपणे श्रीमद्भागवतस्य संवादो विसंवादो वेति विमर्शः.

प्रकरणम् आरभमाणः तत्र भवान् गोस्वामिवर्य प्रथमम् "इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्" इति प्रत्यक्षप्रमाणस्य किञ्चिद् अपूर्वं लक्षण परिनिश्चिकाय. इन्द्रियाणि अत्र चक्षुरादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मन च इति षट्सख्याकान्येव अगीकृतानि. यद्यपि अत्रैव ग्रन्थे प्रमेयप्रकरणे "तैजसाहकारोपादेयत्वे सति

ज्ञानक्रियान्यतरकरणम्" इति लक्ष्मनिर्धारणपुरस्सर "तानि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-भेदाद् द्विधा. तत्र वागादीनि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि" ('प्रस्थानरत्नाकर' प्रमेयरूपप्रहरण कोटित्रय निरूपके कल्लोले द्वितीयतरंगे)[६] इति भागवतप्रस्थानप्रतिपादितार्थमेव प्रादीदृशत् तथापि अत्र नवीनरीत्या मनसहकृतं षट्कमेव समचीकलदिति मर्मास्य सम्प्रधारयितु नेश्महे वय कुत? उभयत्र विरोधापत्ते. तत्रहि न मनसः इन्द्रियत्वेन ग्रहणम् अत्रच 'इन्द्रिय'पदेन ज्ञानेन्द्रियपञ्चकस्येव स्वीकरणमिति अस्वारस्यम् अवसरति श्रीमदाचार्यस्य स्वकीयेष्वेव वचनेषु.

यदि प्रत्यक्षप्रक्रियानुपयोगित्वात् न कर्मेन्द्रियाणि अत्र सकलितानि इति श्रीमद्भि. मेधिष्ठैः तत्पक्षीयै समाधातुं प्रयत्येत तदपि न मनोरमम्. तथात्वे "ज्ञानेन्द्रियात्मक प्रमाणं प्रत्यक्षम्" इत्यात्मकेन लक्षणेनैव प्रतिपिपादयिषितत्वसार्थक्यम्. अथ मनसः इन्द्रियत्वविषये स्वयमेव दोलायमानचित्तता तत्र भवतो वेदान्तपरिभाषाकृत्समाधानस्य निराकरणाशक्यत्वात् "यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वञ्च उभयम् अस्तु इति व्याहरणोपलब्धे" (तत्रैव १२८ पृष्ठे) श्रीमद्भागवतेऽपि मनो अन्त करणभेदत्वेनैव परिगृहीत, "मनो बुद्धि अहकार चित्तम् इति अन्तःआत्मक चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्या लक्षणरूपया" (३।२६।१४) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्रामाण्यात् तत्रैव च "एकमेव अन्तरात्मकम् अन्त करणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते. एकस्य अनेकधा लक्षणे हेतु "लक्षणरूपया वृत्या भेदो लक्ष्यत" इति वृत्तिभेदाद् भेद वृत्ति च लक्षणरूपा" इति महाप्रभुवल्लभाचार्यकृत-सुबोधिनीग्रन्थप्रामाण्याद् इति प्रकरणम् इद चिन्त्यमूलम्

निबन्धाऽनेन अत पर चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयविचारे महता अध्यवसायेन अभावस्य आविर्भाव-तिरोभावयो अन्तर्भाव प्रसाधित: तमपि श्रीमद्भागवतप्रा-माण्यपराहतमेव उत्पश्याम. एतत्तु युक्तिविधुरमपि सर्वविधाभावस्य अनगीकरणम् इति. "अत्र घटो ह्यत्र च घटाभाव:" इत्याद्यनुभवस्थले न कश्चित् सामान्य उत्प्रेक्षाप्रवणो वा जनो "अत्र घटस्य आविर्भावो अत्रच तस्य तिरोभाव:" इति अनुभवति तत् निपुणतरम् उपपादितमपि प्रकरणम् इदं

न प्रत्यक्षप्रतिपादनम् उपकरोति

इतो अनन्तर विद्वद्धारेयेण श्रीमत्पुरुषोत्तमेन प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणा षड्विधव्यापारनिरूपण निपुणम् उपावर्णि तत्र अलौकिकव्यापारे 'योगज'इति तस्य उपभेदः न प्रत्यक्षभेद इति आम्नात तत्रापि अस्माकम् इय जिज्ञासा समुन्मिषति——योगिना प्रत्यक्षे स्थूलेन्द्रियत्वेन उपचरिताना शरीरस्थगोलकानाम् उपयोगो अनुपयोगो वा ? यदि उपयोग, तर्हि सामान्य-लौकिक-व्यापाराद् अत्र को विशेष ? यदि अनुपयोग, तर्हि कथ व्यापारत्व ? व्यापारस्य च भवन्मते प्रत्यासत्तिरूपत्वाङ्गीकारात् प्रत्यासत्ते च इन्द्रियगोलक-तत्सन्निकृष्ट-विषयरूपत्वादिति उभयत पाशरज्जु यश्च श्रीमद्भागवतम् अनुसृत्य "एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तय" (५।११।९) इति वृत्तिविचारो अत्र कृतो, यच्च जाग्रदवस्थाया षड्विधेन्द्रिय-सन्निकर्षमात्रजन्य ज्ञान निर्विकल्पक तदेव सशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीत सत् सविकल्पक ज्ञान भवति इति न्यरूपि तत् प्रागुक्तरीत्या वयमपि सम्प्रधारयाम श्रीमद्भागवतसमर्थितत्वाद् इति प्रमोदजनकमेव अस्मत्कृते

किन्तु अत्र उपसहारे श्रीमद्भगवत्साक्षात्कारप्रणाली या सर्वथा प्रमेयबलादेव निर्धारिता तस्य अनिन्द्रियग्राह्यत्वात् कथ प्रत्यक्षत्वसगति ? प्रत्यक्षत्वञ्च अस्य तद्वेत्तृणाम् अनुभवसिद्धम् अपिच एवरीत्या "दिव्य ददामि ते चक्षु" (भग गीता ११।८) इति गीताशास्त्रोक्तदिशा श्रीमद्भगवद्दर्शने पुराणग्रन्थेषु भृश निरूपितचर दिव्येन्द्रियमयत्वमपि पराहत भवति तत् न उचित, श्रीमद्भागवतशास्त्रे विविधकथासु निरूपितत्वादिति स्वाभिमतम् अतिविनम्रतया आवेदयाम

अतो अत्र प्रागुपपादिता श्रीमद्भागवतप्रस्थानस्यैव पद्धती रुचिरा इति अवधार्य पर्यन्ते च इदमेव विनिवेद्य विरमामो वय यथा-

याऽस्माभि किञ्चिदुन्नीता श्रीमद्भागवताश्रिता।
प्रत्यक्षपद्धति सेय विद्वद्भिरनुमन्यताम्॥
गोस्वामिश्रीमदाचार्या स्निग्धा श्याममनोहरा॥

बन्धवश्च शारद्वर्याः तुष्यन्त्वेतेन वर्त्मना॥

इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

टिप्पण्यः

१ यथाहि सुगतमतानुयायिना लक्षण, "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्", आर्हताना, "विशद प्रत्यक्षम्", नव्यनैयायिकाना "ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्", प्राभाकराणां "साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्, अद्वैतवेदान्तिना "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह.उप.३।४।१) इति श्रुत्या निर्गलितं "प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणं. प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव" इति वेदान्तपरिभाषोक्तं लक्षणं, विशिष्टाद्वैतवादिनाञ्च "साक्षात्कारिप्रमाकरण प्रत्यक्षम्" इति यतीन्द्रमतदीपिकोक्तं लक्षणम्.

२ द्रष्टव्या अत्र 'भागवतचन्द्रिका' 'शुकपक्षीया' 'पदरत्नावली' सञ्ज्ञिकाः टीका.

३ "वस्तुनो मृदुकाठिन्य लघुगुर्वौष्णशीतताम्,
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना: तस्या रोममहीरुहा" (भाग.पुरा.२।१०।२३) अपि च,
"मृदुत्वं कठिनत्वञ्च शैत्यमुष्णत्वमेव च,
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नमस्वत" (तत्रैव ३।२६।३६।)

४ द्रष्टव्यो अत्र-"वेदान्तपरिभाषाया प्रत्यक्षपरिच्छेद

५. योगजो द्विविध प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदत,
युक्तस्य सर्वथा भान चिन्तासहकृतो अपर" (न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या कारिका ६५)

६ "ईक्षेत चिन्तामयम् एनम् ईश्वर यावन्मनो धारणया अवतिष्ठते" (२।२।१२) इत्यत्र धारणाप्रत्यक्ष, "यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया धिया अनुपश्यन्ति हि तत्त्वम् आत्मन" (२।४।२१) इत्यत्र च ध्यानप्रत्यक्ष दिङ्मात्रम्.

७. गोस्वामिश्रीश्याममनोहरसम्पादितस्य श्रीवल्लभविद्यापीठ कोल्हापुरत प्रकाशितस्य 'प्रस्थानरत्नाकरस्य' (तृतीयसंस्करणे) २५३ पृष्ठे

चर्चा

श्रीद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानरत्नाकरे च

प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रः

मंगला चिंचोरे : What is the period of Bhāgavat? Because of we also has differentiated between four kinds of Pratyaksa Indriya, Manasa, Svasamvedana and Yogaj So, what is the deference between the perception ; that is acceptable to Bhagavat?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भागवतस्य कः कालः इति विषये मम मतन्तु प्राचीन वर्तते, परम्परिक वर्तते आचार्यैः यत् निर्दिश्यते तदेव प्रमाणम्

गो. श्या म : हमारे मतमे तो पुराण वेदसे भी प्राचीन है, प्रकट बादमे हुवे है "पुरा भव पुराणम्" *लॉ ऑफ् ग्रेविटिका* नियम बहुत पुराना है पर प्रकट उसको न्यूटनने किया

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : यह सही है अब भागवतपर किसका प्रभाव है, धर्मकीर्तिका है या ओर किसीका है यह पृथक् प्रश्न है अब आप देखिये कि महाभारतके समय तो पुराण थे ही

गो श्या. म : उपनिषदोमे पुराणोंका वर्णन आता है धर्मकीर्ति स्वय मूलमे तो ब्राह्मण थे, बौद्ध तो बादमे हुवे अत उन्होंने पुराण पढ़े भी हो सकते है

अच्युतानन्द दास : भगवतो विश्वरूपदर्शनयोगे चिकीर्षितमपि अर्थं दृष्ट्वा तम् अर्थं दर्शितवन्त अर्जुनाय

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भविष्यत्कालीनम्

अच्युतानन्द दास : एवम् तम् अर्थं पुन सञ्जयो दृष्ट्वा युधिष्ठिर वदति

सो वदति "मया हता त्व जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्" तत्र इमे भीष्मादयो मया हताएव अत त्व जहि, मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व, जेतासि तत्र प्रश्नो अय भवति, यादृशम् अर्थ न सञ्जात, भावीनम् अर्थ भगवास्तु जानात्येव भगवत तादृश सामर्थ्य वर्तते भगवत चिकीर्षित तद् वर्तते परन्तु चिकीर्षितस्य अर्थस्य अन्यस्मै दर्शन नाम केवल ज्ञापन वा तस्य साक्षात्कारो ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भूत-भविष्यदित्यादिदृष्ट्य तावत् अस्मदादीना कृते भगवत कृतेतु सर्वमपि करतलामलकवत् भवति सर्व वर्तमानमेव अतो भगवता यद् दर्शित तत् सर्व दर्शितमेव नतु श्रावितम् भगवत्कृपया अर्जुनस्य दिव्यचक्षु सञ्जाता "दिव्य ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम्" तर्हि 'योगम्' इति कश्चन प्रभाव गोलक तदेव भवति

अच्युतानन्द दास : तदानी भक्तस्य भगवद्रूपता आयाति वा ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : आयात्येव

गो श्या म : इस सम्बन्धमे हमारे यहा इस तरहसे समाधान है जो भी कुछ नाम-रूप-कर्मात्मक जगत है वह सच्चिदानन्दमेसे चिदानन्दके तिरोधान पूर्वक लोकमे प्रकट है पर वो सारेके सारे नाम-रूप-कर्म भगवान्मे सच्चिदानन्दात्मक रूपमे है ही अत भगवान् जब उनका दर्शन कराते है तब अशतिरोधानके विना उनको दर्शन कराया, नाम-रूप-कर्मोका "स सर्वनामा सच सर्वरूप" भगवान् है तो उनमे जब दर्शन होता है तब इन्हीं सर्व वस्तुओंका भगवदात्मक दर्शन होता है और अभी जब हमे नाम-रूप-कर्मोका दर्शन होता है तो वह चिदानन्दाशके तिरोधानके कारण जडत्वके अनुरूप या जीवात्माके अनुरूप होता है It is a sort of blue print which is there in Brahman And that blue print is developed in Srsti इसीलिये मैने अपने

पेपरमें वह श्रुति भी उद्धृत की है कि जितने भी नाम हैं वो वाणीसे उत्थित होते हैं "नाम्नां वाग्... अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि नामानि बिभर्ति". जितने भी रूप हैं वो चक्षुसे उत्थित होते हैं "रूपाणां चक्षु... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति". जितने भी कर्म हैं वो आत्मासे उत्थित होते हैं "कर्मणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति". तो एक तो ब्रह्मद्वारा धृत नाम-रूप-कर्म है ओर एक चक्षु-वाणी और आत्मा, यानि कि प्राणात्मा लो या जीवात्मा लो, उसके द्वारा पुनरुत्थापित नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरह नाम-रूप-कर्मोंका अवस्थाभेदसे... एक लीलात्मक नाम-रूप-कर्म हैं और एक स्वरूपान्तःपाति नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरहसे दो भेद मानते हैं. माध्वमतमें बहुत अच्छी एक प्रक्रिया है भगवान् प्रत्येक शब्दके परम या प्रथम वाच्य माने गये हैं. तो वो हम भी इस अर्थमें स्वीकारते हैं कि सर्वशब्दवाच्य भगवान् इस अर्थमें हैं कि सारे रूप भगवान्में *ब्ल्यू-प्रिन्टकी* तरह मोजूद हैं तो सर्वशब्दके वाच्य भगवान् होंगे ही.

अच्युतानन्द दास : इस बातपरसे मेरे मनमें यह विचार आता है कि क्या हम भगवान्के मनको 'विश्वमन' कह सकते हैं? तो प्रश्न यह है कि योगिप्रत्यक्षमें योगी अपने मनको विश्वमनके साथ जोड़ देता है. इससे विश्वमनमें जितने अर्थ हे उन सबका योगीको प्रत्यक्ष हो जाता है. अतः योगी भूत-भविष्यत् सबका दृष्टा हो जाता है.

गो. श्या. म. : इसीलिये कालपरिच्छिन्नता उसमे नहीं होती है. सच्चिदानन्दात्मकता होनेके कारण उसमे कालपरिच्छिन्नता नहीं होती है. इसीलिये महाप्रभुने लिखा है "अनित्ये

जनन नित्ये परिच्छिन्ने समागम, नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्य चेति सा त्रिधा'' उत्पत्ति· त्रिधा भवति. १. अनित्ये जननम् २ नित्ये परिच्छिन्ने समागम. जड नाम-रूप-कर्म सब अनित्य है, कालत परिच्छिन्न हे ओर देशत परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मका गमागम होता है, उत्पत्तिनाश नहीं होता है. कालपरिच्छिन्नमे उत्पत्तिनाशकी लीला प्रकट होती है. इसके प्रतिरूप जो आनन्दात्मक है उनमे न तो उत्पत्तिनाश होता है न गमागम होता है, केवल प्राकट्य या अप्राकट्य होता है. ३ नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्य चेति सा त्रिधा. तो अर्जुनको जो दीखा था वह केवल प्राकट्य था और जैसे देहमे आत्माका आना-जाना होता है. और देह खतम होता है और पैदा होता है ऐसी प्रक्रिया हमारे यहा बतलाई गई है

... +· ····

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीमद्भागवत पुराणके प्रति आलेखकारके ममत्वातिशयके कारण और तदनुरूप निरन्तर अवगाहनके कारण भी भागवतीय प्रत्यक्षप्रमाणकी सुविशद तथा अद्भुत मीमासा करनेवाली प्रस्तुतिको पढ कर मन सहज ही विस्मित हो जाता है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुसार श्रीमद्भागवत, परब्रम्ह परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका नामात्मक रूप होनेके कारण, श्रवण-कीर्तन-स्मरण-भावनकी प्रक्रियाद्वारा आराध्य भगवद्रूप है, सर्वसन्देहवारक केवल प्रमाणग्रन्थ ही नहीं अत श्रीकृष्णके ''मल्लानाम् अशनि, नृणा नरवर, स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्, गोपाना स्वजनो, असता क्षितिभुजा शास्ता, स्वपित्रो शिशु, मृत्यु

भोजपते, विराड् अविदुषां, तत्त्वं पर योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितः'' निरूपणके अनुरूप हम शुद्धाद्वैतिओंकी तरह अन्य केवलाद्वैती आदि मतानुगामिओंको भी यह पुराण अपने-अपने भावोंके अनुसार अतिशय ही अपना निजी ग्रन्थ लगे यह स्वाभाविक कथा ही है. अतएव श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भागवतीय उपाख्यानोंको ब्रह्मके निदिध्यासनोपयोगी माना है. श्रीमद्भागवतपुराणके परमभक्त श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजीके आलेखपत्रको भी सुनने-पढ़नेपर इस तथ्यकी सपुष्टि होती है.

भगवत्पाद श्रीशकराचार्यके प्रस्थानत्रयीके भाष्य आदि ग्रन्थोमे उपलब्ध होते तत्त्वनिरूपण तथा विभिन्न देवी-देवताओंके स्तोत्रोंमे उपलब्ध होते भक्तिभावाभिव्यञ्जन की भाषा सस्कृतभाषाके इतिहासमे एक अतीव स्पृहणीय मानक है, इसमे किसी तरहके सन्देहको अवकाश नहीं इनकी वाणीमे प्रदप्रयोगोमे प्रकट हुवा सहज प्रसादगुण, भावगाम्भीर्य, लयबद्धता और विचार्य या स्तुत्य विषयवस्तुके निरूपणमे समप्रमाण प्रयुक्ति, उनकी वाणीको भलीभाति न समझ पानेवालेके हृदयको भी बरबस आकृष्ट कर लेती है यह उनके मतके साथ सहमत हो पानेवाले या न हो पानेवाले प्रत्येक अध्येताके लिये स्वानुभवैकवेद्य विषय है उनके तत्त्वनिरूपणकी प्रभावोत्पादकता एव हृदयावर्जकता का प्रमाण स्वय इतनी बड़ी सख्यामे विद्वत्समुदायका केवलाद्वैतमतानुगामी होना है। इसी तरह भगवत्पादरचित स्तोत्रोंकी भक्तिभावोद्बोधकता भी अनूठी है कोई किसी देवविशेषका भक्त हो या न हो किन्तु भगवत्पादरचित किसी देवी या देव के स्तोत्रोंको एक बार भी पढ़ ले तो अपने अनाराध्य देवको भी स्मृतिपटलसे दूर कर पाना कठिन हो जाता है, यह भी एक स्वानुभवैकवेद्य तथ्य है। साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि स्वय भगवत्पादके तत्त्वनिरूपण और देवस्तोत्रो में प्रकट होनेवाले विचार और भावो की परस्पर सगति बिठा पाना एक अतीव दुष्कर व्यायाम प्रतीत होता है

यद्यपि बौद्धोकी तीखी आलोचना करते हुवे भगवत्पाद ''अपिच

वाह्यार्थ-विज्ञान-शून्य-वादत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयु इमा प्रजा इति" (ब्र सू भा २।२।३२) ऐसा विधान करते है वाल्लभ सम्प्रदाय, परन्तु, भगवान् बुद्धको श्रीहरिका अवतार तो भगवत्पाद श्रीशकराचार्यको उसी रुद्रका अवतार, जो सदा वशीरूपेण श्रीकृष्णके करकमलो और मुखकमल से सलग्न है, मानता है। अत इन दोनोंके बीचकी इस नोकझोको भी हम तो गम्भीररूपसे लेनेके वजाय लीलाकलहके रूपमे ही लेना चाहेगे फिरभी इस सन्दर्भमे एक तथ्य अवश्य ही उल्लेखनीय लगता है कि भगवत्पाद श्रीशकराचार्यके तत्त्वनिरूपण तथा भक्तिपूर्ण स्तोत्रो मे प्रकट हुयी विरुद्धधर्माश्रयताने परवर्ती शाकरोको निरन्तर उलझाये रखा कि इस विरुद्धधर्माश्रयताका समाधान क्या देना।

परवर्ती शाकर विद्वानोने कभी बौद्धोके द्विविध सवृति-परमार्थ सत्योकी तरह व्यावहारिक-पारमार्थिक द्वैतकी कल्पना द्वारा इसे सुलझाना चाहा तो कभी विनेय-विनीतरूप द्विविध अधिकारियोके प्रभेदकी कल्पनाकी तरह चित्तशुद्ध्यर्थ/शुद्धचित्तवाले जिज्ञासु/ज्ञानीके प्रभेद "उपलम्भात् समाचाराद् अस्तिवस्तुत्ववादिना जातिस्तु देशिता बुद्धै अजाते त्रसता सदा" (माण्डु कारि ४।४२) की कल्पनाद्वारा तो कभी निर्वाणैकगम्य सर्वविध शून्यताके सम्पूर्ण साक्षात्कारके बादभी करुणाभावकी प्रबलताके वश निरन्तर जनमते रहनेवाले बुद्धकी ही तरह तरह "सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीन त्वम्!" (षट्प स्तो ३) या ब्रह्मात्मैक्यके साक्षात्कारके बाद भी "द्वैत मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्" जैसी उत्तरकालिक उपासनार्थ द्वैतकी कल्पनाद्वारा तो कभी *"स चोर स स्थाणु"* की बाधितानुवृत्तिकी कल्पनाद्वारा तो कभी "देशना लोकनाथाना सत्त्वाशयवशानुगा भिद्यन्त बहुधा लोके उपायै बहुभि भिन्नापि देशना अभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा" (द्रष्ट ब्र सू शा भाम २।२।१८) की तर्जपर "अधिगतभिदा जननहरणी सुप्ति घस्माद्वैकपरायणा प्राचीने व्यवहारसिद्धविषयेषु आत्मैक्यसिद्धौ परा सनह्यदभि अनादरात् सरणया नानाविधा दर्शिता" (सि ले स प्रग) नीतिकी कल्पनाद्वारा

तो कभी आवरणनिवृत्तिके बाद भी विक्षेपानुवृत्तिकी कल्पना द्वारा तो कभी अपने अलावा अन्य सारे मतवादोको मिथ्या और अपने ही मतको एकमात्र पारमार्थिक मान कर सर्वाविरोधी "स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ परस्पर विरुद्ध्यन्ते तै अय न विरुद्ध्यते" (माण्डु कारि ३।१७) की नीतिके अपना कर भी सुलझाना चाहा इसलिये मिथ्यात्वेन अभिमत अन्य मतोका स्वयके मतमे अन्तर्भाव स्वीकारनेमे भी किसी तरह आपत्ति न होनेके कारण सर्वसमन्वयकी कल्पनाद्वारा भी कभी सुलझाना चाहा तो कभी बौद्धोकी तरह पूर्व-पूर्व प्रसक्तके तात्कालिक अभ्युपगमके बाद उत्तरोत्तर प्रतिषेधद्वारा "यथा-यथा समारोपा जायन्ते तत्त्वयोगिन तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्ववादिना" की तरह अपवादार्थ अध्यारोपाभ्युपगमकी नीति अपना कर "विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि वेदान्तवादे परिणामवाद व्यवस्थिते अस्मिन् परिणामवादे स्वय समायाति विवर्तवाद" (सक्षे शारि २।६१) सुलझाना चाहा यो तत्त्वोपदेश और कर्तव्योपदेश के बीच रहे विरोधाभासके परिहारमे निरन्तर शाकरोका चित्त दोलायमान लक्षित होता है शाकर वेदान्तमे, अत, अनेकविध विरुद्धवादोके आनुषगिकतया अभ्युपगमोके उत्तरोत्तर विकसनकी प्रक्रियाके इतिहासका क्रमबद्धतया निर्धारण एक महान् गवेषणीय विषय लगता है

कहा तो "न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं न शुक्ल न कृष्ण अरूप तथा नच एक तदन्यद् द्वितीय कुत स्यात् नवा केवलत्व नच अकेवलत्व न शून्य नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात्" (दशश्लो ३-१०) और कहा "घनश्यामो वामो व्रजशिशुवयस्यो अर्जुनसख मम भवतु कृष्णो अक्षिविषय" (श्रीकृष्णाष्ट ७)। और फिर "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्" भी यो सतत विरोधाभासी भावोमे आन्दोलित होते मूलाचार्योपदिष्ट तथा परम्पराविकसित द्विविध उपदेशोने ही अन्तमे "अद्वैत न सदेहो अस्ति विदेहे द्वैतम् अस्ति नो जीवन्मुक्तस्य न अन्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सव" के अगीकारद्वारा आविद्यक मिथ्या द्वैतको बाधयोग्य माननेके बजाय महोत्सवका घटक बना दिया! ऐसा प्रतीत होता है कि शाकर वेदान्तिओके ऐसे दोलायमान चित्तका ही यह चरम परिपाक था कि श्रीचित्सुखाचार्य और श्रीश्रीधरस्वामी की

परम्परामे आगे चल कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके पडौसी तथा उनके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके विद्यागुरु श्रीमधुसूदन सरस्वतीको एक श्वासमे ही "एतेन भगवल्लोकादेरपि नित्यत्वम् अपास्तं तस्मात् निर्गुणं निराकारं ब्रह्म इति सिद्धम् वंशीविभूषितकराद् नवनीरदाभात् पीताम्बराद् अरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् पूर्णेन्दुसुन्दरमुखाद् अरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वम् अहं न जाने" (अद्वै सि २) विधानमें कुछ अनुपपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता. गौडब्रह्मानन्दी व्याख्यामे, परन्तु, "जीवन्मुक्तोऽपि आचार्यः पूर्वसञ्चितभजनवासनया श्रीकृष्णं स्मरति" (तत्रैव) कह कर यहा उभरे विरोधाभासको टालनेका प्रयास कथञ्चित् किया गया. इस विरोधाभासका सर्वाधिक विस्फोट भगवान्की आत्मस्वीकृति "अजोऽपि सन्... सम्भवामि आत्ममायया" (भग गीता ४।६) के भाष्यमे भगवत्पाद स्वयं "स्वा मम वैष्णवीं माया त्रिगुणात्मिका यस्या वशे सर्वं जगद् वर्तते यया मोहित सत् स्वम् आत्मानं वासुदेवं न जानाति... आत्ममायया न परमार्थतः" (तत्रैव शा भा) कहते है और शाकर मतके कितने बडे वकील होनेके बावजूद श्रीमधुसूदन सरस्वती भाष्यकारके मतके समकक्षतया अन्यमतके नामसे जो उन्हे रुचता है वैसा वैष्णवपक्ष प्रस्तुत कर उसे उपपन्नतया दरसाना चाहते हैं

"नित्यो यः कारणोपाधिः 'माया'ख्यो अनेकशक्तिमान् स एव भगवद्देह इति भाष्यकृता मतम्. अन्येतु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते किन्तु यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान् वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद् भौतिको मायिको वा इति अस्मिन् पक्षे योजना... सर्वभासक-स्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन् अहं 'प्रकृतिं'= स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम्, माया व्यावर्तयति... स्वस्वरूपम् अधिष्ठाय स्वरूपावस्थितएव सन् सम्भवामि देहदेहिभावम् अन्तरेणैव देहिवद् व्यवहरामि... कथं तर्हि अदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वत्प्रतीतिः इत्यत आह निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्य तद्रूपेण प्रतीतिः मायामात्रम्"

(तत्रैव मधुसू)

यहा यद्यपि यह ग्रन्थकारने कण्ठत यह स्पष्ट नहीं किया उल्लिखित दोनो मतोमेसे उन्हे कौन सा अभिप्रेततर है परन्तु आगे बढ़नेपर -

> "तस्मात् श्रीकृष्णाद् अन्यद् वस्तु पारमार्थिक कि निरूप्यता, तदेव एक पारमार्थिक न अन्यत् किमपि पराकृतनमद्बन्ध पर ब्रह्म नराकृति सौन्दर्यसारसर्वस्व वन्दे नन्दात्मज मह"
>
> "शैवा सौरा च गाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजका भवन्ति यन्मया सर्वे सोऽहमस्मि पर शिव प्रमाणतोऽपि निर्णीत कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुत न शक्नुवन्ति ये सोढु ते मूढा निरयगता"
>
> "अस्मिन् हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रय साध्यसाधनभावापन्न विवक्षिताम् उक्त च बहुधा भगवद्भक्तिनिष्ठातु उभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीति अन्ते उपसहृता 'सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एक शरण व्रज' इत्यत्र भाष्यकृतस्तु 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति सर्वकर्मसन्यासानुवादेन ज्ञाननिष्ठा उपसहृता इति आहु भगवदभिप्रायवर्णने के वय वराका ! यतो यद् 'गीता'ख्य परमपुरुषस्य आगमगिरा रहस्य तद्व्याख्यायाम् अनतिनिपुण को वितनुताम्! अहन्तु एतद् बाल्य यद् इह कृतवान् अस्मि कथमपि अहेतुस्नेहाना तदपि कुतुकायैव महताम्"
>
> (तत्रैव १४।२७, १५।२०, १८।६६)

इन वचनोंके अवलोकनसे दबी जबानमे गूढार्थदीपिकाकार निजमत ही कहते से दृष्टिगत होते हैं वैसे भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने अनेकत्र गूढार्थदीपिकाकारके व्याख्यानकी जम कर आलोचना की है वे इस तरहके अमायिक साकाररूपकी मायावादी सिद्धान्तके साथ सगति स्वीकारने उद्यत नहीं सो जो विकल्पजाल रचते हैं उसका भावानुवाद देना चाहुगा ऐसा भगवद्विग्रह क्या साकार होता है कि निराकार? आद्य कल्पमे ऐसे आकारको निर्गुण ब्रह्मका परिणाम मानना कि विवर्त? परिणाम इसलिये माना नहीं जा सकता कि निर्विकार ब्रह्मका विकाररूप परिणाम सम्भव नहीं, अन्यथा उसे अनित्य ही मानना पड़ेगा विवर्त माननेपर उस विवर्तकी साधिका मायाकी अपरिहार्यताके कारण भगवद्विग्रहको 'अमायिक' कहना उपपन्न नहीं होगा भगवद्विग्रहको निराकार

मान कर श्रीकृष्णरूपमे विशेषाकारवान् भी मानना तो वदतोव्याघात होगा श्रीकृष्णका ऐसा सच्चिदानन्दघनैकरस विग्रह करचरणादिमान होता है या करचरणादिरहित? ये करचरणादि भी क्या दृश्य होते है अथवा अदृश्य? आद्य कल्पमे भगवद्विग्रह पाचभौतिक कार्य होनेसे मायिक सिद्ध होगा अदृश्य होनेपर तो भक्तोको भी जो उनके दर्शन होते हैं वे अलौकिकप्रत्यक्ष न हो कर अनिर्वचनीयख्यातिमे अन्तर्गणित होने चाहिये यहा एक ऐसी उपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि अदृश्य होनेपर भी मायाके कारण दृश्य क्यों नहीं बन सकते। परन्तु इसमे भी विचारणीय यही है कि भगवद्विग्रहके करचरणादि परमाणु आदिकी तरह अदृश्य होते हैं या कि स्वय ब्रह्मकी तरह? आद्य कल्पमे भक्तजनोके प्रत्यक्ष और योगिजनोके प्रत्यक्ष मे प्रभेद न रह जानेसे कोई अन्तर सिद्ध नहीं होगा ब्रह्मकी तरह अदृश्य माननेपर तो करचरण आदि अवयव होते है और करचरणादिमान् भगवद्विग्रह होता है, ऐसा कहना भी कहने भरकी बात रह गयी, अपने शिष्योको मायिक बन्धनमें फसानेवाली भगवद्विग्रहको करचरणादिसे रहित और सहित दोनो मानना तो शुद्ध वदतोव्याघात ही है

इस तरहकी शाकर वेदान्तिओकी आपसी नोकझोकको यहा लक्ष्यमे रखनेपर इतना तो स्पष्ट हो जाता है इस दुविधाने शाकर वेदान्तको अपने जन्मकालसे ही अत्यधिक आपसमें ही उलझाये रखा है स्वाभाविकतया श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी परम्पराके अनुवर्ती प्रिय आदरणीय श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीके श्रीमद्भागवतपुराण तथा शाकर वेदान्त विषयक परमस्नेहभाव तथा उसके अनन्यसाधारण गहन अध्ययनमूलक भागवतानुसारी प्रत्यक्षप्रमाण विषयक सुविशद आलेखपत्रमे भी कथञ्चित् पुन इसी तरहके उलझनभरे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती दिखलायी देती है

मुझे ऐसे लगता है कि शाकर वेदान्तमें परम्परागत प्रमाणव्यवस्थासे पृथक् भागवतपर अवलम्बित स्वतन्त्र प्रमाणव्यवस्थापर भार देनेपर वह शाकर वेदान्तकी सैद्धान्तिकी परिधिसे बहिर्भूत हो जानेसे असुरक्षित बन जायेगी यह विधान इसलिये कि आलेखपत्रकार भागवतीय तत्त्वमीमासा और प्रमाणमीमासा को शाकर वेदान्तसे सुसगत मानते हैं जबकि भगवत्स्वरूप पार्षद लीला

धाम आदि विषयोमे वैष्णवमतसे सुसगततया भी प्रस्तुत करना चाहते है वस्तुत तो जैसी कि भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने गूढार्थदीपिका व्याख्यापर आपत्ति उठायी है वही यहा भी दोहरायी जा सकती है कि प्रमाण और तत्त्व मीमासाकी दृष्टिसे भागवतीय प्रतिपादन शाकर वेदान्तके अनुकूल हो तो भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि प्रत्यक्ष कमसे कम अनिवर्चनीयख्याति और अधिकाधिक भजनवासनाप्रयुक्त उपासनार्थ की जाती कल्पना ही होनी चाहिये यदि भागवतको सर्वसमन्वयसाधक ग्रन्थतया बिरदाना हो तो वैष्णव वेदान्तोकी प्रमाण और तत्त्व मीमासाकीय अवधारणाओको भी अनाविद्यक अमायिक एव अनारोपित स्वीकारे बिना कोई गति नहीं रह जाती उन्हे मिथ्या मान कर पूर्णज्ञानके अभावमे अनधिकारियोको नाराज न करनेको बच्चोंकी तरह बहलानेको या फुसलानेको *"ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे सति ब्रह्मज्ञानबाध्य"* राहुकल्प मिथ्यामतोका चन्द्रमाकल्प पारमार्थिक शाकर वेदान्तद्वारा प्रकाशन भी और निवर्तन भी दरसा कर स्वीकारा जाता समन्वय तो अन्तमें स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप समन्वय ही हो सकता है, पारमार्थिक नहीं अत श्रीभागवतपुराणको सर्वसमन्वयसाधक माननेके बजाय सभी इसे स्व-स्वसम्प्रदायका प्रतिपादक माने यह बात सौम्यतर भी एव बुद्धिगम्य भी लगती है ऐसे दावेमे किसे क्या आपत्ति होनी चाहिये? क्योकि सारे ही दर्शनशास्त्र सभी प्रमाणोको अपने-अपने मतोंके पोषक न माने तो दार्शनिक चिन्तनकी प्रक्रियामे ही व्याघात उत्पन्न होने लगेगा हम प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणोको सर्वसमन्वयसाधक दरसानेका लोभ नहीं रखते तो अकारण भागवतके बारेमे हमें क्षमस्ववादी दृष्टिकोण क्यो अपनाना चाहिये? वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, अत, कुछ कहना हो तो यही कहना चाहुगा कि जब तक कोई बलवद् बाधक प्रस्तुत न किया जाये तब तक हमे तो स्वीकारना ही चाहिये कि श्रुति-स्मृति-सूत्रादि प्रमाणोमे उभरते सभी सन्देहोका वारक श्रीमद्भागवतपुराण वाल्लभ वेदान्तके सर्वथा अनुकूल ही है, सभी वेदान्तप्रस्थानोंका समन्वयसाधक नहीं साथ ही साथ ऐसे दावे करनेके अपने अधिकारकी तरह अन्यान्य वेदान्तप्रस्थानोका भी अथवा अन्य भी जो दर्शन भागवतको प्रमाणतया मानते हो उनके भी ऐसे दावे प्रस्तुत करनेके मौलिक अधिकारको इन्कार नहीं जा सकता कोई जब "माता भूमि पुत्रो अहम्" दावा करता हो तो भूमिपर जनमनेवाले अन्योंके भूमिके बारेमे मातृभावके

अतएव साधारण लौकिक प्रत्यक्षसे पृथक् यदि भावनाप्रत्यक्ष या योगिप्रत्यक्ष आदिके प्रभेद भागवतप्रामाण्यके आधारपर करने हो तो शाकर वेदान्तकी प्रमाणमीमासा और तत्त्वमीमासा की परिखा या दृढ दुर्गसे बाहर निकलना उचित नहीं लगता क्योकि प्रत्यक्षके इन प्रकारोको न तो 'अह-ब्रह्मास्मि'-'तत्त्वमसि'वाक्यजन्य ब्रह्मका अपरोक्षानुभव माना जा सकता है और न ब्रह्मज्ञानबाध्य विकल्पावगाही लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्ष ही जैसे मध्यमकशास्त्रमे "स्वभाव परभाव च भाव च अभावमेव च ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्व बुद्धशासने" (मध्य शा १५।६)कहा गया है उसी तर्जपर भगवत्पादका भी इस विषयमे सुस्पष्ट विधान है कि "भाववृत्त्या हि भावत्व शून्यवृत्त्या हि शून्यता ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्व तया पूर्णत्वम् अभ्यसेत् ये हि वृत्ति जहाति एना 'ब्रह्मा'ख्या पावनीं परा वृथैव तेतु जीवन्ति पशुभि च समा नरा" (अपरोक्षानु १२९-१३०) अत भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदिके प्रत्यक्षमे यदि ब्रह्मवृत्ति स्वीकारनी हो तो पृथक् निरूपण बालसमोहन लगेगा और निर्गुण-निर्धर्मक-निराकार-निर्विशेषब्रह्मविषयिणी वृत्तिसे पृथक् कोई वृत्ति तो शाकरवेदान्तगर्हित होनेसे विसगत ही सिद्ध होगी कथञ्चित् इसका ब्रह्मवृत्तिमे ही अन्तर्भाव यदि अन्तमे स्वीकारना ही पडता हो तो प्रत्यक्षानुभूतिके ये प्रभेद/विभाजन अजागलस्तनवत् निरर्थक सिद्ध होगे अतएव भागवतप्रदत्त दिव्यदृष्टिगम्य प्रत्यक्षमे और योगिप्रत्यक्षमे भी त्रैकालिक वस्तुओके साक्षात्कारकी जो बात है, वह ब्रह्मज्ञानबाध्य त्रैकालिकता हो तो प्रभेद अनावश्यक लगता है और ब्रह्मज्ञानाबाध्य हो तो अद्वैतसिद्धान्तका तो भग ही होगा यही बात भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि सच्चिदानन्दात्मक अप्राकृत होनेकी कथापर भी लागू होती है क्योकि यह सच्चिदानन्दात्मकता मायिकी या उपासनार्थ अध्यारोपित हो तो मिथ्या ही होनेसे स्वप्रतिपन्नोपाधिमे त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिनी ही होगी अथवा अद्वैतभगापत्ति दुर्वार ही लगती है

जहा तक मनके इन्द्रिय होने या न होने का प्रश्न है तो स्वय भगवत्पाद श्रीशकराचार्य भी भगवद्गीतामे "इन्द्रियाणाम् एकादशाना चक्षुरादीना मन च अस्मि", "इन्द्रियाणि दश एक च कि? तद् मन एकादश .

तानि एतानि सख्यातः चतुर्विंशतितत्त्वानि आचक्षते", "श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च त्वगिन्द्रिय रसनं च घ्राणमेव षष्ठं प्रत्येकम् इन्द्रियेण सह अधिष्ठाय देहस्थो विषयान् शब्दादीन् उपसेवते" (भ.गी.शा.भा.१०।२२, १३।६, १५।९) इन वचनोमे मनका इन्द्रियतया ही निरूपण कर रहे है. इसे भी औपचारिक प्रयोग माननेका सुझाव देनेपर तो भगवत्पादके "अस्ति तावद् मनः श्रोत्रादिबाह्यकरणव्यतिरिक्तं, यतः एवं प्रसिद्धे बाह्यकरणविषयात्मसम्बन्धे सत्यपि अभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति 'किं दृष्टवान् असि इदं रूपम्!' इति उक्तो वदति 'अन्यत्र मे गतं मनः आसीत् सोऽहम् अन्यत्रमना आसं नादर्शम्'... तस्माद् यस्य असंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतः चक्षुरादेः स्वस्वविषयसम्बन्धे रूपशब्दादिविज्ञानं न भवति यस्य च भावे भवति तद् अन्यद् अस्ति मनो नाम अन्तःकरणं सर्वविषययोगी इति अवगम्यते. तस्मात् सर्वो लोकः मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, तदव्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात्" (बृह.उप.भा.१।५।३) ऐसे प्रतिपादनके आधारपर चक्षुरादि इन्द्रियोका करण होना भी औपचारिक प्रयोग माना जा सकता है मनको वस्तुरूप करण न मान केवल अन्तःकरणकी अन्यतम वृत्ति माननेकी कल्पना भी गीताके द्वितीय उद्धरणमे तत्त्वतया परिगणनसे असगत होनेसे अमान्य लगती है भगवत्पादरचित 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थगत "कर्मेन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिवायुपञ्चकं बुद्धिः मनः च इति अन्तःकरणद्वयम् इति सप्तदशकं लिंगम्, तत् च सप्तदशकं भूतकार्यतया भौतिकम्." (पञ्चीकर.) के निरूपणसे भी विपरीत होनेके कारण भी. अतः आदरणीय श्रीविश्वेश्वरजीद्वारा उट्टंकित भागवतीय प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शांकर वेदान्तसे स्वतन्त्र ही केवल नहीं प्रत्युत असगत भी लगती है. अतः भागवतावलम्बी प्रस्तुत आलेखपत्रमे प्रस्तुत प्रतिपादनको शांकर वेदान्तकी दृष्टया अप्रमाण मानना पड़ता है

प्रस्थानरत्नाकरकार द्वारा प्रदत्त योगिप्रत्यक्षमे आलेखपत्रकी आपत्ति कि इसमे स्थूलेन्द्रियका उपयोग होता है कि नहीं? यदि होता हो तो लौकिक प्रत्यक्षसे किसी तरहका वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होगा और अनुपयोग माननेपर इन्द्रियव्यापार दुर्निरूप्य हो जायेगा. मुझे लगता है कि दिव्यदृष्टिमे यदि भगवत्प्रदत्त दिव्यशक्तिका आधान आलेखपत्रकारको अभिमत हो तो योगिप्रत्यक्षके उदाहरणमे यौगिक उपायो द्वारा भी किसी न किसी तरहकी शक्तिविशेषका आधान होता माननेमे क्या या क्यो आपत्ति होनी चाहिये? व्यर्थ ही

बाह्यगोलकके उपयोगसे रहित सूक्ष्मेन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षकी कल्पना तक दौड लगानेकी आवश्यकता नहीं रह जायेगी ऐसा प्रश्न सुरसाकी तरह अपना विकराल मुख खोल बैठेगा कि ऐसी स्थितिमे स्वारसिक बाह्यार्थग्रहणसामर्थ्यसे रहित बाह्यगोलकसे जन्य प्रत्यक्षको 'इन्द्रियजन्य' मानना या 'इन्द्रियेतरकरणके साचिव्य या सहकार से जन्य' अथवा दोलायमान चित्तसे 'इन्द्रियानिन्द्रियोभयजन्य ? सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियोके बीच अभेद मानना या भेद? क्योकि अभेद माननेपर योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष के बीच भेद सिद्ध नहीं होगा भेद माननेपर योगद्वारा किसी तरहके अतिशयका आधान जैसे सूक्ष्ममे सम्भव है वैसे स्थूलमे भी क्यो सम्भव नहीं? दोनोके बीच किसी तरहका तादात्म्य माननेपर या इतरेतरतादात्म्यप्रतियोगिक अभावका त्याग कर आलेखपत्रानभिप्रेत आविर्भाव-तिरोभाव गलेपतित होगा तादात्म्याध्यास माननेपर योगप्रयुक्त अतिशयसे उसे निवर्तनीय मानना या अनिवर्तनीय? यदि निवर्तनीय मानते है तो योगिप्रत्यक्ष आन्तर मानस प्रत्यक्षकी तरह सिद्ध होगा बाह्यार्थप्रत्यक्ष नहीं और अनिवर्तनीय मानते हैं तो योगीको भी स्थूल इन्द्रियसे उत्पन्न होती भ्रान्तिका शिकार मानना पडेगा

इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनके उपसहार करनेसे पूर्व जिस एक मुद्देपर और ध्यान आकृष्ट करना चाहुगा वह यह है कि आलेखपत्राभिप्रेत "साक्षात्कारिप्रमावृत्त्युपजनन प्रत्यक्षम्" और प्रस्थानरत्नाकराभिप्रेत "इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्" इन दोनो प्रत्यक्षलक्षणोमेसे स्वय भगवत्पाद श्रीशकराचार्य द्वारा प्रदत्त " 'इन्द्रियै अर्थोपलब्धि जागरितम्' सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकम् 'अर्थ'पदम् स्वप्न निरसितुम् 'इन्द्रिय'विशेषणम् तत्र विद्यमानमपि मनो विविधविषयाकारेण परिणत साक्षिणो दृश्यतया अवतिष्ठमान न उपलब्धौ करण भवति इति भाव" (पञ्चीकर) इस जागरितोपलब्धिके लक्षणसे सनिकृष्टतर लक्षण कौन सा है? इस प्रश्नके उत्तरतया प्रस्थानरत्नाकरीय प्रत्यक्षलक्षणको ही सनिकृष्टतर मानना पड़ता है यह कथा भिन्न है कि भागवतको स्वतत्र प्रस्थान माननेवाले आलेखपत्रकारके अभिप्रायमे भागवतपुराणप्रतिपादित प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शाकरवेदान्तके साथ सनिकृष्टतर है

ये कुछ वैमत्यजनक मुद्दे हैं जिनका विमर्श आवश्यक हो या न

हो. इसमे, परन्तु, किसी भी तरहके सन्देहका कोई अवकाश नहीं कि आलेखपत्रमे जिस तरहसे भागवतपुराणके प्रत्यक्षप्रमाणसम्बन्धी वचनोका सकलन, उनका प्रत्यक्षप्रमाणमीमासोपयिक वर्गीकरण तथा व्याख्यान हमे श्रीमद्भागवतपुराणके अनुपम पाण्डित्य तथा निष्ठा से परिपूर्ण श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीने प्रदान किया तदर्थ शब्दोमे जितना भी अभिनन्दन कोई दे पाये उससे कुछ समधिक महत्त्वशाली ही है. मुझे यह स्वीकार करनेमे तनिक भी सकोच नहीं होता है कि मुझसे यह कार्य कोई करनेको कहे तो वह मेरेलिये अति कठिन होता।



Advaitic Theory of Perception in Comparision with Śuddhādvaita View.

Prof. Dr. Yejneshwar S. Shastri

Dharmarājādhvarīndra has systematically developed the epistemology of Advaita Vedānta in his monumental work Vedāntaparibhāsa Pramāṇa is the means that leads to right knowledge (तत्र प्रमाकरण प्रमाणम्) Vedāntaparibhāṣā- Pratyakṣaparichheda, (-VPP p 9) Right knowledge (Pramā), in Advaita Vedānta, is the knowledge of an object being excludent of memory, which is previously unacquired - (anadhigata) and uncontracted (abādhita) तत्र स्मृतिव्यावृत्त प्रमात्व, अनधिगताबाधितविषय-ज्ञानत्वम् (VPP p 10) memory is excluded from the right knowledge, because, novelty is essential character of valid cognition All our uncontradicted knowledge of the objects of the external world should be regarded as right knowledge until the absolute is realised (सिद्धान्ते घटादे मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तद् कथ प्रमाणम्? उच्यते, ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तर हि घटादीना नतु ससारदशाया बाध) (VPP p 12 12)

Vedantaparibhāsā mentions six means of valid knowledge (Pramanas) accepted by the Advaitins viz, Perception, Inference, Comparison, Verbal Testimony, Presumption and non apprehension (तानि प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थपत्त्यनुपलब्धिभेदात्) (VPP p 14) Advaitic stalwart Sankarācārya has not separately discussed the theory of Pramānas, but he mentions

only five Pramānas by name, excluding non apprehension (anupalabdhi), while commenting on Bṛhadāranyaka Upaniṣad (III III I)

Sureśvarācārya also accepts only five pramānas and does not admit non apprehension (anupalabdhi) [redacted] an independent source of valid knowledge (Vidvat pancarcā ṣaddakhanda, p 308) It seems at the time of Dharmarājadhvarindra, non apprehension (anupalabdhi) has been accepted as an independent means of valid knowledge in advaitic tradition Among the six Pramanas are dependent on it (तत्र प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् ज्येष्ठत्वात् च - Arthadipika p 14)

Perception is defined as being the instrument of valid perceptual knowledge (तत्र प्रत्यक्षप्रमाया करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् VPP p 14 15) According to Advaita, the perceptual knowledge is nothing but pure consciousness or Caitainya (प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव VPP,p 15) Despite the fact that the pure consciousness is beginningless, pervading everywhere and devoid of sense organs, it is revealed through the mental state Thus, perception [redacted] the cit of pure consciousness manifestation in the Antahkaranavrtti into the form of an object with which it is in contact Hence, pure consciousness, though beginningless when qualified by the Antahkaranavṛtti is spoken of as having beginning (चैतन्यस्य अनादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिः इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यं आदिमत् इति उच्यते VPP p 16)

That means, perception is the direct consciousness of

objects brought about by the actual contact of the object of perception with the percipient What is required for perception is a certain kind of identity or unification between consciousness determined by the object and consciousness determined by the mental state (Vrtti) This unification or contact ■ effected either through the mediation of a sense or without such mediation

Advaita Vedantins accept only five sense organs Knowledge arising through the eyes, ears, tongue, nose and skin is regarded as perceptive knowledge Mind is not accepted as a sense organ though it is included in the group of the instruments of perceptual knowledge thus, primarily, there are two kinds of perceptual knowledge, and caused by the exercise of a sense organ (Indriyajanya) and the other that is not so caused (Indriyajanya) Perception of physical object belongs to the formed category, while perception of mental states, like desire, happiness, misery and so forth belongs to the latter kind

The process of perceptual knowledge in Advaita may be analysed in the following manner, when any of our senses, say, sight, comes in contact with an object, say, a pat, existing out there in space the internal organ undergoes modification The Vrtti or the■ modally transformed Antahkarana, steams forth through the concerned sense organ (the eye in the present case) to the object and assumes the form of some quality of the object like its shape or colour We have, than the perception of the object in that particular

attribute Antahkarana, though by itself powerless to illumine objects reflects the knowledge that is constitute of ultimate consciousness Hence, as a result of the outgoing activity or attention (Avadhāana) of the Antahkarana, we have the perceptive cognition of the object Consciousness flows with Vritti towards the object and when it unites with consciousness determined by the object whose form the Vritti has assumed If the Vritti assumes the form of the colour of the object, we perceive the colour If it takes the form of the weight or the object, we perceive its weight, And similar, the several properties of the object fall within our cognition according to the specific form assumed by the Vritti The outgoing Vrttis extend only up to a certain distance and this accounts for our non perception of remote objects

Thus perception of an object is the self shining of the consciousness (cit) through a Vritti (mental state) of a form resembling an object of knowledge This process of perception is beautifully explained in the Vedantaparibhāsā Just as a water tank goes out through a hole, enters the field through channels, and then water assumes the shape of the field, either a quadrangular or any other shape, so too, the Antahkarana which is of the nature of light, goes out through the eye, eye, enters the space occupied by the object like a pot, and is modified into the shape of the object, like a pot This modification of Antahkarana (Vritti) serves to reveal the objects of knowledge (तत्र यथा तडागोदक छिद्रात् निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकार भवति तथा तैजसम्

अन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते सएव परिणामो वृत्ति इति उच्यते VPP p 23)

Put it in more clear wards, in a case of a perception of a pot, when eye is fixed on a pot, the mental state comes out through the eye, illuminates the pot by its own light and assumes its shape Further, the consciousness (cit) within the pot manifests in the mental state, then, the pot is perceived The two limiting conditions of consciousness or cit, (i e cit in the mental state and in the pot before the eye), the modification and the object do not produce any difference, because, they are in the same place Thus identity makes the cognition of the pot perceptual In the perception of an external object there is non difference of cit (consciousness) within the Antahkarana and cit within the object

Perception on the subjective side is defined as the union or undifferentiation (Abheda) of the subjective consciousness with the sensible objects through the specific mental states (तथाच तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्न-चैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नत्वं तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् VPP p 33) This union in perception means that the objective has at the moment no separate existence from the subjective consciousness of the perceiver The undifferentiated consciousness appears as the subject and the object as a result of ignorance (Avidyā)

There are three limiting factors (Upādhis) to consciousness

They are the internal organs (Antaharana), the modification of the internal organ (Vṛtti) and the particular object (Visaya) In reality there is no distinction in consciousness But in false association with these adjuncts (Upādhis), consciousness apparently modifies into three factors, the knower, the means of knowledge and known object on account of these superimposed Upadhis, consciousness appears to be three kinds

1 Pramatr caitanya consciousness in association with the internal organs appears as the subject or knower
2 Visaya caitanya Consciousness associated with particular object (Visaya) which may be either physical objects or mental states, it serves as the object of knowledge and
3 Pramana caitanya Consciousness associate with the Antahkaranavrtti In association with the Vrtti, consciousness appears as the process or means of knowledge, the cognitive consciousness

Empirical knowledge is the result of this apparent three fold modifications of consciousness (त्रिविध चैतन्य १ प्रमातृचैतन्य २ प्रमाणचैतन्य ३ विषयचैतन्य च इति VPP p 22)

Pramātrcaitanya is the ultimate consciousness determined by the internal organ The internal organ is the connecting link between the Atman and the organs of sense It is not itself a sense organ It is distinct from the organs of sense which are external to it The function of the internal organ

is to receive and arrange the material that is brought to it through the senses Like a mirror, which has the power to reflect, it reflects object presented to it through the senses and what is more, becomes conscious of them However, this power to reflect is acquired by it from the Ātman the internal organ partakes of the physical world Hence, by itself, it has no power to illumine objects

Antahkarana must be admitted as connecting link between the Ātman and the organs of sense in the process of perception, otherwise there would be either perpetual perception or perpetual non perception (BSB II III 32) Suppose, that the only requisites for perception are

1 the Ātman as the subject of knowledge,
2 The presence of the object to be perceived and the senses in proper condition

So long as these are present, there should be perpetual perception of the objects But the fact is that even though these conditions may be present one may fail to perceive The sense organs may be in contact with any object and yet one may not perceive One may not see, though the eye may meet the object, one may not hear, though the ear may receive the sound If on the contrary one does not grant that the mere conjunction of the Ātman, the senses, the objects can effect perception, in the absence of a sufficient cause of perception, one would have to admit that perpetual

non perception would be the result

But neither is this observed Given the Ātman, the senses and the objects, perception sometimes takes place and sometimes does not This fact can be explained only by positing the existence of a fourth factor, the Antahkarana, on whose attention perception takes place and on whose non attention perception does not take place (BSB II III 3)

The validity of the assumption is evidenced by the common experience of ours that when we are absent minded, we do not perceive, though the objects may be presented to the senses The Brhadaranyaka Upanisad refers to this and declares that, therefore, there is a mind apart from the external organs (Br op I V 3 Sankarabhasya on it and VPP p 18)

We have already noted that, this Antahkarana undergoes modifications of forms and these modifications are known as Vrtti serve to reveal the objects of knowledge The Vrtti of internal organ is of four kinds In each of these Vrttis, the internal organs has a distinct name and form The same Antahkarana (internal organ) according to its diverse functions, is called, means, Buddhi, Ahankara and Citta When it has the mode of doubt or indetermination (Samśay) it is called Manas, when it has the mode of determination (Niścaya), it is called Ahankāra, and in the mode of remembrance (Smarana), it goes by the name Citta (सा च वृत्ति चतुर्धा, १ सशयो २ निश्चयो ३ गर्व ४ स्मरणम् इति एवविधवृत्तिभेदेन एकमपि अन्तकरण

मन इति, बुद्धि इति, अहकार इति, चित्तम् इति व्याख्यायते VPP P 40)

The internal organ differs from individual to individual and so cognition by one does not imply or involve cognition by all It functions within varying limits which are determined by the past conduct of the individual to whom it belongs

It is when screen by the Antahkarana that consciousness functions as the subject in empirical knowledge This is the witnessing self or Jivasaksi The Jiva is a consciousness identified with the knowable elements, namely, the mind or the internal organ and through it, the body (तत्र 'जीवो' नाम अन्तकरणावच्छिन्न चैतन्यम् VPP p 46) The Jivasaksi or Witness Self, is pure consciousness merely hidden by these adjuncts (तत्साक्षितु अन्त करणोपहित चैतन्यम् VPP p 46) It is the Jivasāksi that the subject It knows the constituents of the Jiva as well as the objects of the external world Jivasāksi differs from the Jiva or the empirical ego The Jiva is the internal organ, but the Jivasaksi is the same consciousness merely hidden by the internal organ While the internal organ enters into the constituent of the Jiva, it remains outside the Jivasaksi screening it, as it were In the former case it is an attribute (Viśesana), in the latter case it is a limitation viz Upādhi (अन्त करणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्या अनयो भेद VPP p 46)

Visayacaitanya is the ultimate consciousness determined by the object cognised Knowledge requires a subject and or an object as distinct from each other In order that the

same consciousness may appear as subject and object, two independent adjuncts are required the internal organ and the object cognised Just as consciousness has to be limited on the subjective side by the internal organ, it has to be limited on the objective side by the object cognised, which may be a physical thing or a mental image

The variety of our cognition can be accounted for only by positing the objective existence of a variety of objects, each limiting the undifferentiated consciousness according to its own specific nature

Pramanacaitanya According to Advaita, all empirical knowledge is a process of revelation rather than of acquisition The other thing is that the mind is actively at the work in the formation of empirical knowledge The cognitive process exhibits these two fundamental features Empirical knowledge is the manifestation of the undifferentiated consciousness under limitations imposed by the internal organ, the modification of the internal organ and the external object that which is manifested is beyond time and space, reason and relations But the manifestation is subject to all such limitations It is temporal and occurs through individual minds It involves relations like those of subject and object, substance and attribute, concept and percept and so forth

Knowledge is the very nature of the self Just as a salt crystal is through and through saltish, the human soul

is consciousness all compact (Br Up II Iv 12) The analysis of the process of knowledge thus reveals the true nature of the self It is thus inner light of consciousness that manifests itself through the sense organs Sankara beautifully expresses this idea and says when a lamp is placed inside a pot having many holes, the light streams out through the holes In the same way, the knowledge, that the self streams out through the various sense organs, like the eye, the ear and so on नाना छिद्रघटोदरस्थित-मर्यादया प्रभाभास्वर ज्ञान यस्यतु चक्षुरादिकरणद्वारा बहि स्पन्यते Daksinamurtistotra 4)

The various Pramanas serve as vehicles for the revelation of consciousness under the limitations of empirical life

The other important feature of knowledge is that the mind is not passive The Antahkarana is actively at work in the formation of knowledge Empirical knowledge is the result of the minds interpretation of the object that it comes in contact or meets We do not acquire ready made knowledge Without mental construction, no knowledge is formed during deep sleep, when Antahkarana is temporarily at rest The constructive activity takes place through a modification of the internal organ, known as Vrtti The mind undergoes a modification (or Vrtti), according to the nature of the material that has to be interpreted These two feature of process of cognition are most apparent in the case of sense perception (Indriya janya pratyksa)

Kinds of perception :

According to Advaita Vedānta, the perception is two-fold one is determinate (Savikalpa) and the other being indeterminate (Nirvikalpa)

In the determinate perception (Savikalpa), there is a distinction between the thing determined the jar, for example and the determining attribute i e jar ness In an example, 'I know the jar' the object of knowledge i e jar and its qualifying attribute - jar ness, are apprehended Thus, it is a cognition apprehending relatedness (तत्र प्रत्यक्ष द्विविधम् सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात् तत्र सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान यथा "घटम् अह जानामि" इत्यादि ज्ञानम् VPP p 41) Advaitins differ from other systems while interpreting Nirvikalpaka Pratyaksa

In the Nirvikalpaka (indeterminate) perception there is no apprehension of relatedness All determining attributes are left out of view This indeterminate perception is the knowledge arising from the sentence like 'Thus is that Devadatta', 'Thou are That' etc In such cases cognition arises by leaving out the particular features like this and that, which refer to the present and past, as such recognition of the Devadatta Is possible So also, 'Thou' and 'That' referring to something present and absent respectively, have to be left out before the apprehension of the essential to Advaita, there is no destination between determinate and indeterminate in visual perception, but only is Sabda perception as in case referred above (निर्विकल्पकन्तु ससर्गानवगाहिज्ञानम् यथा "सोऽय देवदत्त" "तत्त्वमसि"

इत्यादि वाक्यज्ञानम् VPP p 41 43)

Advaitins have again accepted two more kinds of perception, according to their metaphysical stand That is Jivasaksi or the witness within the individual self and Isvarasaksi or the witness within God As has been already stated in earlier pages jiva is nothing but ultimate consciousness, limited by the Antahkarana or the mind, and saksi however is the consciousness that has the Antahkarana as its limiting adjunct (Upadhi) The difference between Jiva and Saksi is that, in the former case Antahkarana is a limiting adjunct In fact, Antahkarana being insentient cannot reveal the objects, it is the limiting adjunct of consciousness that makes the object revealed This Saksi which manifest itself as possessing limiting adjunct of Antahkarana is considered to be different in each individual Because of this reason, what one has known, the other would not recollect (VPP p 46 47)

When the cosmic illusion or Maya is a qualifying attribute of consciousness, that consciousness is called God, and when the cosmic illusion is limiting adjunct (Upadhi) of the consciousness it is called the witness in God (तस्य प्रत्यक्ष पुन द्विविध जीवसाक्षि-ईश्वरसाक्षि च इति तत्र 'जीवो' नाम अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम् तत्साक्षितु अन्तःकरणोपहित चैतन्यम् अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधिभ्या अनयो भेद VPP p 45 46)

This Advaitic theory of perception has its own significance from the Scientific as well as metaphysical point of view

From the scientific point of view, it can explain the connection between physical vibrations and mental states, which is the central difficulty of Western theories of perception The activity, according to the latter, is primarily on the object side, when a jar is presented to sight, the light waves proceeding from it impinge on the eye, and an inverted impinge of it is formed on the retina When this is followed by the stimulation of the optic centres of the brain, we perceive the jar But we fail to understand how the inverted image of the object, formed on the retina is transformed into the mental picture or idea of the tangible upright object, out there in space, Western psychology, having created a gulf, a big gap, between the physical vibrations occurring in the sense mechanism and the mental act of perception of the object, is unable to bridge it (Pancapādikā, Eng Tran D Venkataramaiah, Intro, pp XXII in G O Series, 1948) Such a difficulty does not arise when we recognize that the physical Vibrations are not the material, which is transformed into the mental out of perception, but that they are only the media through which the mental act of perception takes place The higher cannot be explained in terms of the lower, but the lower can certainly be explained by the higher

On the metaphysical side, the importance of the theory cannot be exaggerated It signifies that consciousness delimited (determines the limit or fix the boundary) by the Antahkarana and consciousness as delimited by the object are in essence, non different This non difference of consciousness is

manifested by the Vṛtti going out through the senses, pervading the object and assuming the form of the object. Consciousness is the common basis which sustains the illuminating Antahkarana as well as the illumined object Not only perception, but every form of cognition can be reduced and traced to the single ultimate source of consciousness (The concept of the Vyāvahārika in Advaita Vedānta pp 180-181).

The Advaita account of sense perception marks an improvement on the theories of some of the Western thinkers especially the view of empiricists and of the Idealists Regarding the perception, these two schools differ on the question of the need for the constructive activity of the mind The empiricists, who regard the mind as a "tabula rasa" (a clean slate, a blank sheet of paper), believe that perception consists in the mere passive reception of impressions from the external world the idealists like Kant and Hegal call attention to the significant part played by the mind in giving rise to knowledge The Advaitins agree with Kant in that without conceptions perceptions would be blind The common fact that, when one is absent minded or deeply engrossed in something, one may actually hear a sound or see an object and yet, not notice it illustrates this truth But Advaitins differ from both Kant and Hegel in regard to the procedure, which the mind adopts for interpreting the sensations

According to both Kant and Hegel, the mind interprets the sensations, which come from the object The interpretation

is done in terms of the categories of the understanding But Kant looks upon the categories as external to the mind and at its possession like a bunch of Keys A little reflection would however show that the categories cannot be separate from the mind Hegel corrects this mistake and treats the categories as constitutive of the mind The mind itself takes the different forms in order to suit the nature of the material, which requires to be interpreted Hegel's view is good so far as it goes, but it does not go far enough How does the mind decide which categories would be most natural to the sensations received? naturally in the light of its previous knowledge But the origin of this original knowledge will have to be explained This is the difficulty in the idealistic position This difficulty can be overcome only by admitting that the order of experience the reverse of what we have referred to instead of sensations coming from the object and the mind interpreting them, the mind illumined by knowledge which is the nature of the self itself goes forth and interprets the sense object This is the Advaitic position The position has been aptly summed up by stating that it is not the object, which comes to the subject, but it is the subject, in a sense, that goes to the object in order to apprehend it (D Venkataramaiah, Pañcapādikā, Eng Trans Into p.XXII G O Series 1948, Baroda)

Prasthānaratnākarakāra disagrees with Advaitins in several respects Advaitins do not accept Manas, as one of the sense organs whereas Suddhādvaitins accept it as one of the sense

organs He defines perception as "इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्" (p 127) Sense organs are the means of direct perception and they are of six kinds, viz , eye, skin, nose, tongue, ear and mind (तानि चक्षु-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट् p 127)

He accepts Manas or mind as one of the sense organs and refutes Advaitic view He says Lord Krsna clearly mentions in the Gītā, that Manas is one of the sense organs (Gita X 22) Advaitic view contradicts this statement of the God mind ■ internal and external both, since it is connected with action and Knowledge

Secondly, according to Advaita, perceptual knowledge is nothing but pure consciousness, which is revolved through the mental state, whereas in Suddhādvaita, perceptual knowledge is knowledge of manifestation of properties of particular object, or substance or categories

Thirdly, Vedāntaparibhāsakāra accepts, Anupalabdhi (non existence) as an independent means of valid knowledge This means of Valid knowledge, according to Dharmarajādhva rindra, which consists in non existence (Abhava), which is not generated by an instrumental (Karana) of knowledge As there is not contact of sense organ with non existence, the cognition of non existence does not arise from sense organ The cognition of non existence arises when ■ perceptible object is not seen For example when there is ■ jar on the brightly little ground there is an apprehension of the

jar If the jar is not perceived on such ground, non-existence of the jar is ascertained And this non existence of the jar is to be known through non apprehension (इदानीं षष्ठ प्रमाण निरूप्यते ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारण अनुपलब्धिरूप प्रमाणम् तथाच घटाद्यभावाकारवृत्ति न इन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेण असन्निकर्षात् किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवति अनुपलब्धे मानान्तरम् VPP p 141-145)

Advaitins accept four kinds of Abhāva (non existence) viz Prior non existence (Prāgabhāva), posterior non existence (Pradhavamsābhāva), absolute non existence (atyāntābhāva) and mutual non existence (Anyonyābhava), like Naiyayikas and others and state that, the cognition of the above four types of non existence is through non apprehension which is possessed of capacity Hence, non apprehension is a separate means of valid knowledge (स च अभाव चतुर्विध - १ प्रागभाव २ प्रध्वसाभाव ३ अत्यन्ताभाव ४ अन्योन्याभाव च इति चतुर्विधाभावाना योग्यानुपलब्ध्या प्रतीति तत्र अनुपलब्धि मानान्तरम् VPP p 147 152)

Suddhādvaitins do not agree with this Advaitic view and state that it is not necessary to accept non apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non existence, because, just as after perceiving particular object through eyes, its knowledge is manifested, similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension By receiving the material cause, the method of perception of prior non existence and posterior non existence can be known Prior non existence is concealment of effect

and favourable to, manifestation of effect. Posterior non-existence is unfavourable state of the effect. Mutual non-existence is perceived or understood in two ways, viz, in the example of- 'pot is not cloth', the absence of pot in the cloth is experienced and object as 'can pot be cloth?' which is refuted as 'pot cannot be cloth;' thus, mutual non-existence can be perceived. In the perception of the absolute non-existence, such as 'pot is not on the floor', perception of the floor, associated with concealing of pot is perceived.

Both, Advaitins and Śuddhādvaitins accept determinate (Savikalpaka) and indeterminate (Nirvikalpak) kinds of perception Śuddhādvaitins' concept of indeterminate knowledge is very similar to that of Naiyāyikas Here Advaitins differ from other systems of thought According to them there is no destination between determinate and indeterminate in visual perception but only in Sabda perception as in case of - 'This is that Devadatta' and 'Thou are that' etc Again, Advaitins have accepted two more kinds of perception based on their metaphysical stand point, viz , Jivasākṣi and Īsvarasākṣi, which is not found, in any other system of thought

+

Advaitic Theory of Perception in Comparision with Śuddhādvaita View.

डॉ. यज्ञेश्वर शास्त्री

अच्युतानन्द दास : Essentially what the Advaitins do is, they tray to bring in identity between three Caitanyas i.e. प्रमातृचैतन्य, विषयचैतन्य, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य. Then only one gets perception. And Advaitins accept only Eka Ātmacaitanya. So there is only one in paramārthadaśā. And only in Vyavahāra-daśā they have three types of Caitanyas. And it will be possible only on the account of Māyā Avidyā. Then the question comes, it is due to Māyā we understand Visya as Viṣya totally deferent from the Caitanya i.e. Jada. Because of Māyā we can not see Visya, Visyacaitanya.

My question is, Śankara's Adhyāsa bhāsya is possible in the beginning he says "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः. Visya is चैतन्यस्वभाव· प्रकाशस्वभावः, विषय is तमःस्वभावः, जडस्वभाव.. Only if that state remains then only superimposition i.e. अध्यास becomes possible. And in व्यवहारदशा प्रमातृचैतन्य goes through the प्रणालिका i.e. through the अन्तःकरण to the Visaya which is Jada. Pramatrcaitanya wants to see the Visaya as

Jada, which is not essentially Caitanay If the Caitanya is there suppose pramatrcatanya knows that Visaya is caitanyatmaka, not Jada then naturally the thing like pranalika thesis there is Pramatrcaitanya, and there is Visayacaitanya e g there is water and there is Tadaga where also there is water, and the Pranalika i e channel also is water Only it is blocked due to Māya Now, that [redacted] not the case And if you accept the block theory, that is the Avarana bhanga type of Siddhānata, then perception would be possible like Caitanya ekatma kata Then question is, Adhyasa theory would not stand

तेतकुमार : Why ? Clarify it

च्युतानन्द दास : Because, Adhyasa is possible only if you take Visaya as Jada

द्योतकुमार : Is it necessary for Adyasa to took place that I take the thing to Jada or the thing to be Jada ?

अच्युतानन्द दास : I know it is Jada That is Jada I should not say I take Visaya is Jada

प्रद्योतकुमार : you are not clarifying the question

डी प्रह्लादाचार . Advaita explanation, so far I understand, is this Caitanya doesn t go outside It has no movement at all Antahkarana goes out through the Indriya and reaches the object and takes the shape of the object This is called Antahkarana vrtti And here in this Vrtti the Caitanya reflects

"स्वच्छे अन्तःकरणे अशनि प्रसमरे नेत्रादिमागोद्गते ततद्बाह्यविषयात्मना परिणते बिम्बीभवति चिति चैतन्य ■ reflected there एकापि अर्थमनोविशेषकवशात् द्वैतप्रपन्ना हरति अज्ञान, प्रकटीकरोति विषय. ज्ञातं मया इदन्तु इति See, that Ajñāna also ■ not an Āvarana for the object That object is Jada Jada has no Āvarana There is no necessety for a Jada to have an Āvarana Only Caitanya which is of a nature of illumination, it needs some Āvarana Because otherwise it should be having illumination all the time But it is not being illuminated all the time That means only the Caitanya requires an Āvarana So the Caitanya is Āvṛta And because of this Vṛtti, that Āvarana is removed and then the Caitanya becomes manifested This manifestation of Caitanya being identical with the Visayāvacchinna caitanyaand Antahkaranāvacchinna caitanya is considered as the knowledge of the object This will be in the form of "इद मया ज्ञातम्" So, the knower need not recognise it as Jada While we get the cognition we don't think whether it is Jada or something If it is Ghata it ■ Ghata and you will get the cognition So in order to get the cognition, this ■ the process that they have explained

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो भवति यदि तत्र प्रतिबिम्बितम् इति स्वीक्रियते यथा स्वच्छे स्फटिके जपाकुसुमस्य प्रतिबिम्ब, तावता तत्र जपाकुसुमगतलौहत्यम् यदि स्फटिके प्रतिबिम्बित वर्तते योहि दृष्टा सो जानाति यद् जपाकुसुमगतलौहित्यम् अत्र प्रतिबिम्बित

वर्तते. वस्तुवृत्यातु स्फटिके स्वच्छतेव वर्तते तत्र लोहित्यं नास्ति इति वस्तुस्थितिः. तथैव, इद जडवस्तु वर्तते.

प्रद्योतकुमार : विषयेतु प्रकाशस्वभावो नास्ति. चेतन्यसम्बन्धतया तस्य प्रकाशत्वम्.

अच्युतानन्द दास : अत्र मम प्रश्नः. विषयस्तु जडात्मा तमःस्वभावरूपम्. प्रमातृचैतन्य प्रकाशस्वभावः. किन्तु सामान्यतो अस्माकम् अनुभवस्तु एव हि भवति "अयं घटः" इति उक्ते जडात्मनः कस्यचिद् वस्तुनो दर्शनं मया कृतम्. तत्र चैतन्यात्मकस्य घटस्य ...

डी.प्रह्लादाचार : चैतन्यात्मकस्य घटस्य इति नास्ति. :

अच्युतानन्द दास : तर्हि 'विषयचैतन्यम्' इति कथम् उच्यते ? ...

प्रद्योतकुमार : The point I understand is this that you are not distinguishing two things Knowing an object and knowing the process which made this knowing possible One thing is विषयज्ञानम्, अपरन्तु विषयज्ञानजनक-कारणस्य ज्ञानम् प्रक्रियाज्ञानम् is not necessary. Prakriyā is there, and that generates the knowledge in our sense So, when I have the knowledge of the jar, there is entire process In every system there is a precess But this is not known as the same act Its a deferent thing You can ask me how do we know the process Śāstra discription is also there But that is a deferent thing Knowing the jar and knowing the process of cognition is deferent thing So, when you are asking, you are confusing between knowing the object and knowing the process of the knowledge

अच्युतानन्द दास : Perceptual process as explained by the

Advaitins will work only if we accept this is विषयचेतन्य, प्रमातृचैतन्य एव प्रणालिका

जी एन्. झा : विषयचेतन्य does not mean विषयरूपचैतन्य

प्रद्योतकुमार : विषयावच्छिन्नचैतन्य

डी प्रह्लादाचार : 'विषयावच्छिन्नचेतन्य' means अन्त.करणवृत्तिप्रतिबिम्बित-चैतन्याभिव्यक्ताधिष्ठानचेतन्यम् इदञ्च चैतन्य विषयस्य ज्ञानम् घटावच्छिन्नचैतन्य नाम the Caitanya on which Ghata is superimposed Ghata is Adhyasta and the Caitanya is Adhisthāna So, whatever the object is being seen, actually the Caitanya is there On that Caitanya the object is superimposed So, घटावच्छिन्नचेतन्य नाम घटाधिष्ठानचेतन्यम् That Caitanya, when it become manifested, then there is Jnanam For the manifestation of that Caitanya, we need अन्त करणवृत्तिचैतन्य This Caitanya is प्रमातृचैतन्य यदा अन्त करणवृत्ति takes place in it Pramātr caitanya means Antahkaranavacchinna Caitanya Antahkarana vacchinna Caitanya will have reflection in it This kind of Caitanya alone is capable of removing that Āvarana which covers Ghatavacchinna caitanya or Ghatādhisthana caitanya

अच्युतानन्द दास : That Āvarana covers Visya

डी.प्रह्लादाचार : Object is not at all Āvrta

प्रद्योतकुमार : There is a way of saying 'विषयावरक' It actually means विषयावच्छिन्नचैतन्यावरक' ननु

डी प्रह्लादाचार : विषयावच्छिन्न-चैतन्यावरकम् अज्ञानम्

प्रद्योतकुमार : ननु चैतन्यावरकम्, ननु विषयावरकम् इद विषयावच्छिन्न-चेतन्यावरकम् अज्ञानम्

वी. एन्. झा : Manas is not accepted as an Indriya in Advita, whereas it is accepted in Śuddhadvaita. - Now suppose Manas is accepted as an Indriya, what is going to happen to the Advaita system as such?

बलिराम शुक्ल : "इन्द्रियात् परो मनः" इति श्रुतिः वर्तते. श्रुतिबाधात्

डी.प्रह्लादाचार : श्रुतिबाधः प्रधान कारणम्. अन्यत् किमपि नास्ति. एचः मया युक्तयः काश्चन उक्ताः. यथा प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमाश्रयत्वात्. यः प्रमाश्रयः भवति सः प्रमाण न भवति. य. प्रमायाः प्रमाणस्य सहकारी भवति तत् प्रमाणं न भवति. आलोकः चक्षुरिन्द्रियस्य सहकारी, नहि प्रमाणम् अंगीक्रियते, प्रमाणसाधनम् इति अंगीक्रिते. So many arguments are there, but these arguments are based on the assumption that Manas is not an Indriya because the Śruti is there

यज्ञेश्वरशास्त्री : It is not Indriya because Manas is subtler then other five Indriyas

डी.प्रह्लादाचार : No I don't think that there is any deference among them Caksurindriya is as subtle as Manas How can you say that

प्रद्योतकुमार : You can get a bit more light this is the reason, I think, in Advaita But there is a greater light you will get if you ask yourself why is it that some other people insist on Manas being an Indriya

डी.प्रह्लादाचार : I have an answer When other sense organs are not functioning, when there is not Śabda, no

Anumāna, even then you are getting cognition There must be some instrument there, Karana is needed

द्योतकुमार : That is not the only thing The thing is this, we are having the perception Sākṣāt-pratīti That is to be first decided And then the next question is you already think Sākṣāt-jñāna is to be defined in the terms of Indriya इन्द्रियजन्य ज्ञान साक्षात्कारम्. If you change that notion of Sākṣātva

डी.प्रह्लादाचार : My submission is what is a perception as described it is Sākṣatkāra The word 'Sākṣātkara' means it is a direct cognition Not an indirect cognition An indirect cognition doesn't take place immediately It needs so many steps E g व्याप्तिज्ञान, परामर्श and then we get the cognition ultimately It is not immediate Whereas in Pratyakṣa the moment the sense organ comes into contact with object, the cognition takes place That is direct one

वी. एन्. झा : What I feel, there is a process When I say that pratyakṣa is Kārya, all these things comes because of that So, there is a structure that Kārya has to be produced by some Karana And, therefore, unless we maintain this kind of structure, we can not understand the production of a perception at the particular point

प्रद्योतकुमार : No, there is one type of analysis

वी. एन्. झा : and therefore in that process there should

be some element which should act as an element Without that, I think, no Karya can be explained

वलिराम शुक्ल : But only that "इन्द्रियात् पर मन." we also accept that Sruti, then what ?

डी प्रह्लादाचार : The explanation is given

वलिराम शुक्ल : In Vātsyāyana bhāsya that these are भौतिकानि इन्द्रियाणि, मनस्तु अभौतिकम् इन्द्रियम्

गो श्या म : इस सन्दर्भमें वाल्लभ सिद्धान्तकी स्पष्टता करना चाहूंगा क्योकि हम भी अतिरिक्तेन्द्रियवादी है सबसे पहली बात यह है कि श्रुतिबाधका विषय है पञ्च ज्ञानेन्द्रियोमे चेतना रहती है और उसका जो *फ्लक्च्युएशन* हम देखते है कि उस सचेतन इन्द्रियोंमे कभी विषय प्रत्यक्ष होता है कभी नही होता है जैसे अभी मै अकस्मात् आपसे पूछ लू कि "आप क्या कर रहे है?" तो आप कहेगे कि "सुन रहे है" एक प्रसिद्ध जोक् है शिक्षक बच्चेको पढा रहा था बच्चेका ध्यान खिडकीके बाहर था बाहर एक साप अपने बिलमे घुस रहा था उसकी पूछ घुसनी बाकी थी इतनेमे शिक्षकने उस बच्चेसे पूछा "मेरी बात तुम्हारे दिमागमे घुसी कि नहीं?" बच्चेने प्रश्नका उत्तर दिया "बस थोडीसी पूछ बाकी है" तो आदमी देख रहा है कि सुन रहा है कि सुघ रहा है कि स्पर्शानुभव कर रहा है सारी इन्द्रिया सचेतन है उसके बावजूद भी कोई एक *फक्शन्* हमारे भीतर ऐसा है कि जो इन सब *फक्शनोको* सचेतन होनेके बावजूद भी प्रत्यक्षमे पर्यवसित नहीं होने देता है उस तरहका जो *फक्शन* है श्रुति स्पष्ट कहती है "अन्यत्रमना नाशृण्वन्, अन्यत्रमना नापश्यन्" तो सुननेमे यदि मेरा मन नहीं है तो सुनाई नहीं देगा, कान यद्यपि खुले हुवे हे देखनेमे मेरा मन

नहीं है मेरेसे एक *जेसुजियन् स्कोलर्* पढ़ने आती थी वह दर्शनकी विद्यार्थी नही थी उसने मुझसे कहा कि आप दर्शन पढ़ाओ वह खुली आखोंसे सो जाती थी मै समझ नही पाता था कि उसे क्या हो रहा है उसकी आखे शवकी आखों जैसी हो जाती थीं मै उससे पूछता कि क्या तुम सुन रही हो तो वो हडबडाकर कहती हा, मै सुन रही हू पर वो सुनती नहीं होती थी तो मनकी अतिरिक्त इन्द्रियताका यह स्पष्ट प्रमाण है

ज्योर्ज करुविलेल् : Comparison between tradition knowing is a process of the mind taking the form of the object Similarly, here we have seen that Antahkarana goes out and takes the form of the object What are the bases of that? Same problem Thomistic tradition also It assumes that the object has one form, what happens if there is more then one form? How would Advitins explain that?

एस् वी बोकिल् : Whatever has been said about perception in Indian philosophy we shell just leave it bit apart See we must make distinction between the questions as to how we come to acquire perceptual belief that is a process of perception You have described it Now whether we are required to accept mind as an instrument, I think, these are matters of this is rather a factual question and perhaps we may not agree on that But whether such perceptual belief can be claimed to be known? I think that is more important question for a

philosopher This ■ a normative issue, not a factual issue And it seems to me that sometimes you will find the solution

प्रद्योतकुमार : Whether the perceptual belief itself can be known

एस्. बी बोकिल् : Perceptual belief may be had by us through the senses and all that but whether it can be claimed to be an item of knowledge Its a normative issue

प्रद्योतकुमार : Perceptual belief is it a knowledge? Pratyaksa jnāna mātr prama ki nahin?

एस् बी बोकिल् : I will give you an example How we come to acquire our knowledge of the size of the moon and sun Actually perception gives us the knowledge And do we really accept that perception that moon is of that size that we perceive? No We consider our perception in the context of the whole as to physical system And I think there are definite ways and means of Now we are not deceived in it Or take the example of the rainbow, its not a deception Because, deception could be subjective But this ■ not ■ deception This is only an appearance I would not call rainbow as an illusion Its an appearance And we must make distinction between that And you will find that we do not take rainbow at its face value We know what it is and science of optics and physics will tell us So we must

make a distinction between the factual question as to how we come to collect a certain perceptual belief And how we judge that perceptual belief to be knowledge Now whether in the Advaitic system you have such a distinction Getting the perceptual belief, I believe that there is such a distinction in Advaita though it may not be in the context of natural science that we have at present But they have there own metaphysical explanation of it

यज्ञेश्वर शास्त्री : In our Indian tradition प्रमा, संशय, विपर्यय, भ्रम all these things have been accepted Because when there is a doubt

अम्बिकादत्त शर्मा : श्रीहर्षने "मानाधीना मेयसिद्धि"का भूरि-भूरि खण्डन किया ओर सभी प्रमाणोंका खण्डन किया कि ये कोई सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं बन सकते प्रत्यक्षका कोई लक्षण नही बन सकता है, अनुमानका कोई लक्षण नही बन सकता है ऐसी स्थितिमे धर्मराजाध्वरीन्द्रने प्रमाणोके एक तन्त्रका निर्माण किया तो जिन आपत्तियोंको श्रीहर्ष उठा रहे थे दूसरे सम्प्रदायोंके प्रमाणोंके प्रति, क्या उन आपत्तियोंके प्रति धर्मराजाध्वरीन्द्र सजग रहे है जब वह स्वय प्रत्यक्षका लक्षण बना रहे है या अनुमानका लक्षण बना रहे हे?

यज्ञेश्वर शास्त्री : श्रीहर्षका मेटाफिजिकल पोईन्ट ओफ् व्यू अब इम्पिरिकल पोईन्ट ओफ् व्यू स्वतन्त्र कोई ग्रन्थ ही अद्वैतमे नहीं था प्रमाणमीमासाके ऊपर अद्वैतमे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही नहीं था

प्रद्योतकुमार : जरूत भी नहीं थी

यज्ञेश्वर शास्त्री : ससारदशायां सकलानामपि प्रमाणानां आवश्यकता. जो अद्वैतके मेटाफिज़िक्स्‌के साथ चले उस तरहका ग्रन्थ जरूर थे. वेदान्तपरिभाषा अद्वैतके मेटाफिजिक्स्‌के साथ चलता है.



वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा
तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ अम्बिकादत्त शर्मा

सङ्खारोस्सज्जम सुत्त' का एक प्रसग है कि बुद्धके अतिवृद्ध हो जाने पर 'मार' नामक प्रेतने उन पर आक्रमण किया और कहा कि आप आयु सस्कारको समाप्त कर निर्वाण लाभ करे इसके उत्तरमे बुद्धने कहा कि "न तावह पापिम परिनिब्बायिस्साभिभाव मे भिक्खु उपपन्न परप्पवाद सह धम्मेन सुनिग्गहित निग्गहेत्वा सप्पाटिहरिय धम्म देहे स्सन्तिति" अर्थात् जब तक हमारे भिक्षुगण तर्क, प्रमाण एव युक्ति मे पटु नहीं हो जाते— जिससे कि वे प्रतिपक्षियो द्वारा उठाये गये प्रश्नोका पूर्ण समाधान कर 'धम्म' को सस्थापित कर सके —तब तक मे निर्वाण लाभ नहीं करुगा इस प्रसगसे स्वय बुद्धका 'धम्म' के प्रति यौक्तिक आग्रह और तद्नुरूप प्रमाण - विद्या हेतु - विद्या के प्रति गहरी अभिरुचिके सकेत मिलते है सम्प्रति अनात्मवाद एव क्षणिकवाद की आधारशिला पर बौद्ध प्रमाण विद्याका जिस रूपमे विकास हुआ है, उसके बीज बुद्धवचनोंमे तो मिलते है लेकिन उसका प्रारम्भिक रूप हमे वैभाषिक दर्शनमे प्राप्त होता है प्रस्तुत निबन्धमे हम वैभाषिक दर्शनमे अन्तर्निहित प्रत्यक्षकी अवधारणाको उजागर करते हुए वाल्लभ वेदान्तकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणासे कुछ बिन्दुओपर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेका प्रययास करेगे इसकेलिए सर्वप्रथम हम प्रत्यक्षविचारकेलिए एक दार्शनिक परिप्रेक्ष्यका निर्माण करते हुए यह दिखानेका प्रयास करेगे कि किस प्रकार दो दर्शनोमे प्रत्यक्षकी अवधारणा उन दर्शनोंकी तत्त्वदृष्टिको सम्पोषित करनेमे ही अपने स्वरूपको प्राप्त करती है

किसी भी दर्शनकी प्रमाणमीमासीय योजनामे प्रत्यक्षका अवधारणात्मक महत्त्व आधारभूत होता है इस रूपमे प्रत्यक्षकी आधारभूत महत्ताको केवल इतने तक सीमित नही किया जा सकता कि वह प्रत्यक्षेतर प्रमाणोका उपजीव्य होता है उपजीव्यताके करणमूलक साधारण अर्थसे कुछ भिन्न एव विशिष्ट इसके महत्वका एक बृहत्तर आयाम होता है वह यह कि प्रत्यक्ष ही अपने ऊपर किसी प्रमाणमीमासापर पडनेवाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमासीय अधिभारोका वहन करता है प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यमसे तत्त्वदृष्टि किसी प्रमाणमीमासामे सक्रमित होती है वास्तवमे एक विशेष प्रकारकी तत्त्वदृष्टिको धारण करते हुए ही कोई प्रमाणमीमासा अपने स्वतन्त्र एव समानान्तर स्वरूपको विज्ञापित कर पाती है इस रूपमे तत्त्वमीमासीय अधिभारोको प्रमाणमीमासा विशेषके प्रति "नीतिनिर्देशक तत्त्व" के रूपमे समझा जा सकता है सर्वप्रथम प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होनेके चलते इससे निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमासीय निर्दिष्टियोके आलोकमे अपनेको निरूपित करता है इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हे तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमासीय निर्दिष्टियोके आलोकमें निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन निर्दिष्टियोंको अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है

साधारण तौरपर प्रत्यक्षको बड़ा ही सरल और शुद्ध प्रमाण माना जाता हे परन्तु उपर्युक्त रूपमें प्रत्यक्षके अवधारणात्मक महत्त्वको स्वीकार कर लेनेपर प्रत्यक्षके सरल एव शुद्ध स्वरूपका निर्धारण प्रमाणमीमासीय दृष्टिसे उतना ही सरल एव शुद्ध नहीं रह जाता है प्रमाणमीमासाके वैकल्पिक प्रारूपोंके सम्भव होनेके कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भी कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्षका कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी हे अथवा नहीं वास्तवम प्रत्यक्षका होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह हे कि प्रत्यक्ष

किसका ओर केसे होता हे. यदि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता अर्थात् साक्षात् एवं सद्यः ज्ञानको कमसे कम प्रत्यक्षका सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाय तो भी साक्षात्कारित्वकी आधारभूमिपर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्याका विरोध नहीं करता. वस्तुतः प्रत्यक्षकी तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदनकी एक ऐसी प्रभावाभिनत स्थिति है कि उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानीसे प्रभावित करते हुए प्रत्यक्षविषयक एकसे अधिक अवधारणाओंको निर्मित करनेका लाभ लिया जा सकता हे. इसलिए तो विभिन्न दर्शनोंके प्रस्थानभेदसे प्रत्यक्षकी भिन्न-भिन्न अवधारणाएं सम्भव होती हें, ओर तब भी सबके सब प्रत्यक्षके वास्तविक स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा करते हैं. अवधेय हे कि यदि किसी दर्शनकी प्रमाणमीमांसाके अन्तर्गत प्रत्यक्षपर संशोधनात्मक रूपसे विचार किया जाता है ओर इस तरह प्रत्यक्षके सरल एवं शुद्ध स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासोंमें भी प्रत्यक्षके किसी अन्य प्रकारके तत्त्वमीमांसीय आग्रहकी अनुरूपतामें ही निरूपित किये जानेका पूर्वाग्रह निहित होता है. अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्षका संज्ञानात्मक मूल्य जितना महत्त्वपूर्ण नहीं उससे अधिक महत्त्वपूर्ण उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है. प्रत्यक्षको ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वदृष्टिकी अनुरूपतामें निरूपित किये जानेसे प्राप्त होता हे. लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षविषयक एक आम सहमति है लेकिन दो या दोसे अधिक दर्शनोंमें प्रत्यक्षविषयक जो मतभेद होता है, उसे प्रत्यक्षके अवधारणात्मक मूल्यके सन्दर्भमें ही समझा जा सकता है.

यहा यह भी अवधेय है कि प्रमाता, प्रमाण ओर प्रमेय की त्रिपुटीय संरचनामें करण एवं विषय नामक दो पक्ष प्रत्यक्षकी अवधारणाके महत्त्वपूर्ण घटक होते हे. एतदर्थ तत्वशास्त्रीय निर्दिष्टियोके आलोकमें प्रत्यक्ष अपनेको निरूपित करे, इसकेलिए प्रत्यक्षप्रमाको अपने करण एवं विषय मे परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियोंसे

अपनेको निरूपित करना पडता है. यही कारण है कि भारतीय दर्शनमे प्रत्यक्षात्मक ज्ञानके कारण उपकरण एव विषय को लेकर रोचक विवादोका एक लम्बा इतिहास देखनेको मिलता है. इस विवादके अन्यान्य निहितार्थोमे एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यामे किसी प्रकारका बदलाव प्रत्यक्ष प्रमाके स्वरूपको प्रभावित करते हुए उसके विषय पक्षमे भी बदलावके पूर्वग्रहको न्यूनाधिक रूपसे सूचित करता है दूसरे शब्दोमे प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्या ही प्रत्यक्षकी पात्रताको निर्धारित करता हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्षका विषय कैसा और क्या होगा? अब यदि विषयका स्वरूप एक तत्त्वमीमासीय निर्धारण है तो प्रत्यक्षकेलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि तदनुरूप ही वह अपनेको इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषयके प्रति उसकी प्रमाणता दोनो सुरक्षित रहे

उपर्युक्त दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनोके प्रमाणमीमासीय चिन्तनके विकासको देखा जाय तो प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यासे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकारके सिद्धान्तोके सन्दर्भ प्राप्त होते है इन्हे मोटे तोरपर इन्द्रियप्रमाणवाद (न्याय-वैशेषिक), सन्निकर्षप्रमाणवाद (माध्व वेदान्त), ज्ञानप्रमाणवाद (मण्डनमीमासा, कुमारिलभट्ट, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, बोद्ध एव जैन), त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद (प्रभाकरमीमासा), वृत्तिप्रमाणवाद (साख्य-योग), चित्प्रमाणवाद (शाक्त, शैव) और वृत्तिचित्प्रमाणवाद (अद्वैतवेदान्त) इत्यादिके रूपमे रेखाकित किया जा सकता है इन सभी सिद्धान्तोके पारस्परिक भेदको केवल प्रत्यक्षके विषयको ही सामने रखकर नहीं समझा जा सकता तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे सभी सिद्धान्त प्रत्यक्षकी ग्राह्यताको एक विशेष रूपमे सस्कारित तो अवश्य ही करते हे प्रत्यक्षात्मक विषयके स्वरूपके अतिरिक्त प्रत्यक्षात्मक प्रमाके करण पक्षकी व्याख्याको प्रभावित करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक चेतनाके स्वरूपसे सम्बन्धित उनकी निराकारता

और साकारता है जो भारतीय दर्शनोंके प्रमाणचिन्तनको बहुत गहरे अर्थोंमें प्रभावित करते हैं. प्रमाण और प्रमाणफल में भेद और अभेद जेसी निष्पत्तियोंको इन्हीं दोनों अभ्युपगमोंके सन्दर्भमें समझा जा सकता है. प्रकाशवाद एवं प्रतिभासवाद की समस्या भी मौलिक रूपसे निराकारज्ञान एवं साकारज्ञान वादसे ही सम्बन्धित प्रतीत होती है.

II

अब यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमिमें वैभापिकोंके प्रमाणचिन्तनपर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह बौद्ध दर्शनका पहला सम्प्रदाय है जिसने "ये धम्मा हेतु प्रभवाः..." नामक बुद्ध वचनको आधार बनाकर एक धर्मप्रविचयात्मक तत्त्वशास्त्रकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कुछ एक प्रमाणमीमांसीय प्रश्नोंपर विचार किया है. धर्मप्रविचयके पीछे उनकी मूलभूत दृष्टि इस संसारमें चेतनाकी प्रवृत्तिको समझकर वास्तवमें संसारसे चेतनाकी निवृत्तिके सूत्रको खोजना था. इसीलिए अभिधर्मकी व्याख्या "अमला प्रज्ञा सानुचराः अभिधर्मः"[२]. अर्थात् निर्वाणोन्मुखी धर्मके रूपमें की गई है. अवधेय है कि चित्तकी लोकप्रवृत्ति और विषयोन्मुखता के साथ ही सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्तका जन्म हो जाता है. सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उसका अवधारणीकरण किये विना हम चितकी लोकप्रवृत्तिको पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते. अतएव कहा जा सकता है कि वैभापिकोंने धर्मप्रविचयके अन्तर्गत भूत - भौतिक, चित्त - चैतसिक आदि स्थितियोंको जितनी सूक्ष्मताके साथ पहचाननेका प्रयास किया है उसमें स्वभाविक रूपसे एक प्रमाणविज्ञान अन्तर्निहित है. यह बात अलग है कि वैभाषिक दार्शनिकोंने अपने प्रमाण - चिन्तनको उस रूपमें विवेचित और व्याख्यायित नहीं किया है जितना कि अन्य भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणचिन्तन अपने विवेचित रूपमें प्राप्य होता हे. तव भी यह कहा जा सकता है कि वैभापिकोत्तर बौद्ध दर्शनके सम्प्रदायोंमें बौद्ध प्रमाणशास्त्रका विकास जिस रूपमें हुआ

है, उसकी मूलभूत दृष्टि उन्हे वैभाषिकोसे ही प्राप्त हुई हो

वैभाषिकोंने अस्तित्वके अवयवोंके रूपमें धर्मोका प्रविचय स्कन्ध, आयतन एव धातु के रूपमे किया है स्कन्धके अन्तर्गत रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, सस्कार और विज्ञान परिगणित किये गये है आयतनके अन्तर्गत पाच ज्ञानेन्द्रिया और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियोके रूप-शब्दादि विषयोको सम्मिलित किया गया है इसी तरह द्वादश आयतनमे षड्विध इन्द्रियोंसे जन्य विज्ञानोंको समाविष्ट कर अष्टादश धातुओकी व्यवस्थाकी गई है वैभाषिक इस प्रकार ७२ सस्कृत धर्म और ३ असस्कृत धर्म स्वीकार करते है उनके अनुसार बुद्धने जब यह कहा था कि "सर्वम् अस्ति" तो सब कुछ होनेका तात्पर्य इन्हीं सस्कृत एव असस्कृत धर्मोसे था[३] इसीलिए वैभाषिक दर्शन 'सर्वास्तिवाद'की एक शाखाके रूपमे सामने आता है धर्मोको भाव, लक्षण अवस्था एव कारित्र की दृष्टिसे क्षणिक लेकिन द्रव्यात्मक दृष्टिसे त्रैकालिक माननेके कारण इन्हे कभी-कभी 'सर्वदास्तिवादी' भी कहा जाता है[४] वास्तविक सत्ता इन्हीं धर्मोकी है हमारा जीवन और जगत् ऐसे ही धर्मोकी एक सुसहत व्यवस्था है, लेकिन धर्मसघातको अविद्यादृष्टि अथवा कल्पित बताया गया है सघातदृष्टि ही वैभाषिक सम्मत पुद्गल नैरात्म्यदृष्टि है इनमेंसे प्रत्येक सस्कृत धर्म अपने स्वरूपमे एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक्, क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एव अनात्मलक्षणसे सम्पन्न होते ह यहा तक कि इनके मध्य किसीको आन्तरिक और बाह्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी धर्म अपनी असकीर्णता एव असाधारणता मे एक-दूसरेकेलिए बाह्य ही है जिस रूपमे विज्ञान एक सस्कृत धर्म है, विज्ञानका विषय भी उसी रूपमे एक सस्कृत धर्म है ऐसे पृथक्-पृथक् स्वलक्षणात्मक धर्मोके बीच जो एक व्यापक नियम क्रियाशील है, वह है—प्रतीत्यसमुत्पाद यशोमित्र[५] ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा हे कि "कुछ धर्मोके हेतु होनेपर अन्य कुछ धर्मोकी सयुक्त उत्पत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद हे" वसुबन्धु[६] ने तो धर्मसकेतका

अभिप्राय ही "अस्मिन् सति इदं भवति" माना है.

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैभाषिकोंका धर्मप्रविचय अथवा धर्मसंकेत चित्त और चित्त की लोकप्रवृत्तिके साधनभूत इन्द्रियां और उन साधनोंसे उपलब्ध होने वाले विज्ञान और विज्ञेय वस्तुओंके असाधारण स्वरूपकी एक ऐसी व्यवस्था है कि जिसमें प्रत्येक धर्म अपने हेतु-प्रत्ययोंसे उत्पन्न होकर क्षणिक रूपसे अध्व(/ऊर्ध्व)संक्रमण करते रहते हैं. इस व्यवस्थामें प्रमाणविज्ञानसे सम्बन्धित प्रश्न धर्मोंकी क्षणिकताके चलते जटिलताके साथ उपस्थित होते हैं कि ज्ञानके घटक ज्ञानोत्पत्तिमें किस प्रकारका सहयोग करते हैं? आयतनों तथा धातुओं की प्रत्यक्षोपलब्धि किस प्रकार होती है? ज्ञानोत्पत्तिके सम्बन्धमें बौद्ध दार्शनिकोंकी एक सामान्य मान्यता है कि नील विज्ञानकी उत्पत्ति आलम्बनप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और सहकारीप्रत्यय के अधीन होती है[७]. नील-स्वलक्षण वस्तु नीलविज्ञानका आलम्बनप्रत्यय है, क्योंकि इसीके चलते नीलविज्ञान नीलविषयक होता है. जिस विज्ञानके अनन्तर नीलविज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उसे समनन्तरप्रत्यय कहते है अर्थात् चित्तकी सन्तानधारामें पूर्ववर्ती चित्तक्षण उत्तरवर्ती चित्तक्षणकेलिए समनन्तरप्रत्यय होता है[८]. इससे नीलविज्ञानमें बोधरूपता आती है. इन्द्रियां अधिपतिप्रत्यय हैं, क्योंकि ये ही रूप आदि ज्ञानके नियामक होते हैं अर्थात् रूप-स्पर्शादि ज्ञानका परिच्छेदक इन्द्रिया ही होती हैं ज्ञानोत्पत्तिके प्रति प्रकाश आदिको सहाकारी प्रत्ययके अन्तर्गत परिगणित किया गया है[९]. इसके अतिरिक्त वैभाषिकोंने छ प्रकारके हेतुओंको भी स्वीकार किया है जो किसी भी वस्तु तथा चित्त-चेतसिककी उत्पत्तिकेलिए एक व्यापक कारणसामग्रीका ताना-बाना तैयार करते हैं.

यहां विचारणीय है कि ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका प्रत्ययोंके रूपमें जिस प्रकारसे निर्देश किया गया है, वे सभी एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र एवं क्षणोंमें विभक्त हैं. ऐसा होनेसे उनके मध्य किसी प्रकारके

सम्बन्धकी सकल्पना नही की जा सकती परन्तु किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होनेकेलिए ज्ञानग्राहक चेतना और ज्ञेय वस्तु सद्य अथवा किसी माध्यमसे सम्बन्धका होना आवश्यक है, जैसा कि बौद्धेतर दर्शनोमे विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोंकी अवधारणा की गई है वास्तवमे जब वस्तुमात्रकी सकल्पना पृथक्-पृथक् क्षणभगुर धर्मोके रूपमे की जाती है तो प्रत्यक्षकी व्याख्या बहुत जटिल हो जाती है ऐसा इसलिए कि न केवल वस्तुए क्षणिक है बल्कि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है, तो दोनोके मध्य किस प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है? पुन सम्बन्धके बिना आखिर किस प्रकार विषयको 'प्रत्यक्षका विषय' कहा जायेगा? यदि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया पूर्ण होने तक भी विषयको स्थिर माना जाय तो वस्तुकी क्षणिकता ही बाधित हो जाती है।[१०] अतएव ज्ञेय वस्तुकी क्षणिकता एव उसके प्रत्यक्षमे एक सहज ही विरोध प्रतीत होता है यह समस्या बौद्ध प्रमाणमीमासाकेलिए आधारभूत एव साथ ही साथ सामान्य रूपसे विचारणीय है

III

उपर्युक्त समस्याका सर्वास्तिवादी वैभाषिकोने बडा ही मौलिक समाधान प्रस्तुत किया है जो बौद्ध दर्शनके सभी सम्प्रदायोकी प्रमाणमीमासाकेलिए उपादेय सिद्ध हुआ है उनकी दृष्टिमे वस्तुओकी क्षणिकता ओर उनके प्रत्यक्षमे विरोध तब दिखाई देता है जब वस्तु ओर उसके ज्ञानको कालिक अनुक्रममे रख कर देखते हे साथ ही साथ कालिक अनुक्रममें ही वस्तुको ज्ञानका कारण अथवा आलम्बनप्रत्यय स्वीकार करते हे यह बात सही है कि कालिक अनुक्रममे ज्ञानोत्पत्ति चतुर्विध प्रत्ययोंका समवधान क्षणिकवादमे सम्भव नहीं ओर इस प्रक्रियामे वे सभी घटक ज्ञानोत्पत्तिमे किसी प्रकारका सहयोग प्रदान नहीं कर सकते, परन्तु इसकी व्याख्या एक-दूसरे रूपसे भी की जा सकती है वैभाषिकोंके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पादके नियमानुसार ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका

समवधान, वास्तवमें, कालिक अनुक्रममें न होकर समानान्तर ओर युगपद् रूपसे होती हे. ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थितिके अतिरिक्त ज्ञानको उत्पन्न करनेमें किसी अन्य प्रकारका सहयोग नहीं करते. इनके समानान्तर ओर युगपत् सन्निपातसे ही ज्ञानोत्पत्ति हो जाती हे. वैभाषिकोंके अनुसार वास्तवमें यह तथता-दृष्टि हे अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिके घटक तत्वोंका स्वभाव ही ऐसा हे कि ज्ञानके कारणोंमें न कोई सम्बन्ध होता हे, न ही उनके बीच कोई क्रिया होती हे, तब भी उन कारणोंके समानान्तर सन्निपातसे विज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती हे. बोद्धेतर अधिकांश दर्शनोंमें ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्याकेलिए कालिक अनुक्रम ओर उसके क्रियामीमांसीय विश्लेषणका तरीका अपनाया गया है; लेकिन वैभाषिकोंकी उपर्युक्त मान्यता क्रियामीमांसा ज्ञानसिद्धान्तके विरोधमें खड़ा होता हे. वेभाषिकोंका यह सिद्धान्त हमारे साधारण और संश्लिष्ट अनुभवसे कितना संगत हे, यह विचारणीय तो है हि, लेकिन क्षणिकवादकी आधारभूमिपर ज्ञानमीमांसाको खड़ा करनेका इससे वेहतर विकल्प शायद ही कुछ हो सकता था.

इस सिद्धान्तके अनुसार आलम्बन, इन्द्रियविकार और विज्ञान का त्रिकसन्निपात होना ही प्रत्यक्षका घटना है. त्रिकसन्निपातको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'फस्सो' अथवा 'स्पर्श' कहा जाता है'[११]. स्पर्शके परिणामस्वरूप इन्द्रियोंमे साकारता आती है और ततद् इन्द्रियविज्ञानोंका समुत्पाद होता हे उदाहरणकेलिए रूप एक क्षण, चक्षुरिन्द्रियका एक क्षण और विज्ञानका एक क्षण —इन तीनोंके युगपत् स्पर्शसे चक्षुर्विज्ञान समुत्पन्न होता हे ओर उससे रूपका ग्रहण अर्थात् रूपस्वलक्षणका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता हे. ऐसे ही सभी इन्द्रियोंके विज्ञानका समुत्पाद ओर उनके विषयोंका प्रत्यक्ष समझना चाहिए. एक दूसरी व्याख्याके अनुसार रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शादि आयतनोंकी प्रज्ञा चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान तथा कायविज्ञानके अतिरिक्त मनोविज्ञानसे भी होती है. अत इनके दो-दो प्रज्ञाता माने गये हे[१२]. अवधेय है कि चक्षुर्विज्ञान पश्चात्

मनोविज्ञानके उत्पादकका यह अर्थ नही लिया जाता कि उसकी परिव्याप्ति सम्पूर्ण प्रत्यक्ष तक नहीं रहती. आचार्य धर्मत्रातने स्पष्ट किया है कि चक्षु, रूप, आलोक तथा मनस्कार से चक्षुर्विज्ञानका समुत्पाद होता है फिर भी उसे केवल 'चक्षुर्विज्ञान' नाम दिया गया है, क्योंकि उसमें चक्षुरिन्द्रियकी प्रधानता है. वह रूपसे प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञानके प्रति असाधारण कारण, अधिपतिप्रत्यय है. जिस प्रकार बीज अंकुरका आश्रय है उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञानका आश्रय चक्षु है. जिस प्रकार सुना जानेवाला शब्द भेरीकी समीपतासे भेरीजन्य शब्द कहा जाता है. उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रियके सन्निकट होनेसे चक्षुर्विज्ञान कहा जाता है. जब चक्षुरिन्द्रिय देखता है तो उस विषयको चक्षुर्विज्ञानसे सयुक्त व्यवस्थापित किया जाता है'[३]. अतएव सभी विषयोंका मनोविज्ञान एक साथ नही होता, क्योंकि एक चित्त-सन्तानमें दो चित्त नहीं होते है'[४]. वास्तवमे इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान की संयुक्त व्यवस्थासे ही प्रत्यक्षको पूर्णता मिलती है. इन्द्रिय विज्ञानोंसे रूपादि स्वलक्षण धर्मोका निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है. इससे बहुत सारे चैतसिक धर्मोके प्रत्यक्षकी व्याख्या नहीं हो सकती. पुन इन्द्रियविज्ञान धर्मोके त्रैकालिक अस्तित्वकेलिए कोई प्रमाणमीमांसीय आधार प्रस्तुत नही करते, क्योंकि उनके द्वारा वस्तुत पूर्वापरसे व्यावृत्त वस्तुका ही ग्रहण प्रसक्त होता है. अत प्रत्यक्षकी अवधारणामें मनोविज्ञानका समावेश वैभाषिकोकेलिए कई दृष्टिसे उपादेय है. बादमे बौद्ध नैयायिकोंकेद्वारा मानस प्रत्यक्षकी अवधारणाका विकास सम्भवत इसी आधारभूमिपर हुआ है.

IV

बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंसे वैभाषिक मतकी एक विशिष्टता यह है कि ये निराकारवादी है'[५] अर्थात् इनके मतमें विज्ञानोंके स्वरूपको निराकार स्वीकार किया गया है रूप आदि बाह्यार्थोंका प्रतिभास चक्षुमें हुआ करता है, चक्षुविज्ञानमे नहीं. चक्षु ही रूपको देखता है, चक्षुर्विज्ञान तो चक्षुगत प्रतिबिम्बका साक्षात्कार करता है'[६]. अत

इनके मतमें इन्द्रियोंमें साकारता होती है, इन्द्रियविज्ञान निराकार ही रहते हे. अपनी ऐसी मान्यताके पीछे उनका तर्क यह हे कि यदि चक्षुर्विज्ञानमें रूपोंका प्रतिभास माना जायेगा तो उसके द्वारा प्राचीर - कुड्यादिसे ओझल रूपोंका साक्षात्कार भी मानना पड़ेगा[१७]. ऐसा इसलिए कि विज्ञान सप्रतिघ नहीं, बल्कि स्वभावसे ही अप्रतिघ होता हे. विज्ञानके अप्रतिघ होनेसे रूपी धर्म उसके गमनागमनमें बाधक नहीं हो सकते. वैभापिकोंके अतिरिक्त बौद्ध दर्शनके अन्य सम्प्रदाय अपने - अपने तरीकेसे इन्द्रिय विज्ञानको ही साकार मानते हें ओर उसीकेद्वारा रूपादि विषयों एवं चेतसिक धर्मोंके प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हैं.

इस दृष्टिसे इन्द्रियोंकी साकारता और उनकी प्रकृति तथा निराकार विज्ञानकेद्वारा रूपादि विषयोका ग्रहण वैभापिकोके प्रत्यक्ष - विचारकेलिए महत्वपूर्ण हो जाता है. जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वैभापिक मतमें इन्द्रियां भौतिक ही हैं. वसुबन्धुने अभिधर्मकोशमें इनके स्वरूपका बड़ा ही सूक्ष्म ओर आलंकारिक वर्णन किया है. रूप धर्मका वह अंश है जिससे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, वह 'रूपप्रसाद' कहलाता है. यह अत्यन्त सूक्ष्म और मणिप्रभाके समान होता है. इसे न तो खण्डोमें विभाजित किया जा सकता है और न ही जलाया जा सकता है. जीवन पर्यन्त इनका अस्तित्व रहता है. जीवन कालमें परमाण्वात्मक इन्द्रिया पांच विभिन्न प्रकारके परमाणुओंके माध्यमसे अभिव्यक्त होती हैं. चक्षुके परमाणु काले जीरे (अजाजी)के पुष्पके समान चक्षुगोलकपर अवस्थित होते हैं. जिह्वेन्द्रियके परमाणु अर्धचन्द्रके आकारमे जिह्वापर स्थित रहते हैं. कायेन्द्रियके परमाणु काय - संस्थानमें रहते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होते हैं. वस्तुत: इन्द्रियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन प्रमाणमीमांसीय दृष्टिसे बहुत महत्त्वका नहीं है. महत्वपूर्ण केवल इतना हे कि इन्द्रिया परभासक हैं और स्वसामर्थ्यके अनुरूप विशेषताके कारण वे अपने-अपने विषयोंका प्रतिभास ग्रहण करते हे. इसमें चक्षुरिन्द्रिय ओर श्रोत्रेन्द्रिय असम्प्राप्तग्राही अर्थात् दूरीसे

विषयोका ग्रहण करते हैं और घ्राण, जिह्वा तथा कायेन्द्रिय सम्प्राप्तग्राही अर्थात् सन्निहित विषयके ग्रहणमे समर्थ होते हैं अभिधम्मत्थ-सगहो, अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थोमे इन्द्रियोके सम्प्राप्तग्राहित्व एव असम्प्राप्तग्राहित्व तथा उनके ग्रहणक्षेत्रपर विभिन्न दृष्टान्तो एव युक्तियो केद्वारा सविस्तार विचार किया गया है जो द्रष्टव्य है[२८]

यहा यह भी द्रष्टव्य है कि सर्वास्तिवादमे इन्द्रियोके सम्बन्धमे जो इस प्रकारके विचार प्राप्त होते है, उसे उस विचारका प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है जिसका विकास बादमे इन्द्रिय प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समस्याके रूपमे हुआ है यद्यपि बौद्ध नैयायिकोकेद्वारा बौद्धेतर दर्शनोके इन्द्रियप्राप्यकारित्व सिद्धान्तका खण्डन किया गया है और उसके पीछे उनका उद्देश्य सन्निकर्षकी अवधारणाका खण्डन प्रतीत होता है, लेकिन वैभाषिक मतमे भी इन्द्रियोको सम्प्राप्तग्राही असम्प्राप्तग्राही भेदसे प्राप्याकारी ही मानना पडेगा परन्तु वैभाषिकोका प्राप्यकारित्व विविध प्रकारके इन्द्रियार्थसन्निकर्षोके रूपमे व्याख्येय न होकर 'स्पर्श-सिद्धान्त' के परिप्रेक्ष्यमें निरूप्य है इस दृष्टिसे वैभाषिक मतमे प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामे चक्षुरिन्द्रिय और विज्ञान वस्तुत कोई क्रिया नहीं करते और उनका वस्तुओके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता किसी विशेष परिस्थितिमे एक सायोगिक नियमसे इन्द्रिय, चित्त और वस्तुक्षण का त्रिकसन्निपात होनेसे इन्द्रिय वस्तुका प्रतिभास ग्रहण कर लेती है और विज्ञानको उस वस्तुका प्रत्यक्ष होता है बुद्धवचन भी है कि "हे ब्राह्मण! चक्षुरिन्द्रियरूपी दरवाजासे विज्ञान रूपको देखता है" अत इन्द्रिय दरवाजा है, द्रष्टा तो चित्त है इस प्रकार वैभाषिक प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामे ज्ञानेन्द्रियो एव विज्ञानके भेदपूर्ण भूमिका को आगम एव युक्ति दोनों ही तरहसे प्रतिपादित करते है

V

सौत्रान्तिकोंने वैभाषिकोंके इस अभ्युपगम (इन्द्रिय और इन्द्रिय

विज्ञानों की भेदपूर्ण भूमिका और इन्द्रियोंकी साकारता)की जमकर
आलोचनाकी है. एतद्विपयक उनके मध्य शास्त्रार्थका एक लम्बा इतिहास
है. दोनों ही अपने-अपने पक्षमें आगमों और युक्तियों का संग्रह
करते हैं लेकिन अन्तमें सोत्रान्तिक[१९] इस टिप्पणीके साथ विवादको
समाप्त कर देता हे कि चक्षु देखता हे और विज्ञानको वस्तुकी
चेतना होती है, दोनोंमें अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाशको
चबाने जैसा हे. कोन द्रष्टा है? कोनसी क्रिया है? —यह सब
निरर्थक प्रश्न हैं. धर्मोके अतिरिक्त किसी अन्यका अस्तित्व नहीं
है. वे ही हेतुप्रत्ययके रूपमें प्रकट होते हैं और आवश्यकतानुसार
चक्षु देखता है, विज्ञानको ज्ञान होता है जैसी अभिव्यक्तियोंका प्रयोग
हुआ करता है. इस प्रकारकी पृथग्जन अभिव्यक्तियोंका कोई सैद्धान्तिक
महत्त्व नहीं है. इस तरह सोत्रान्तिकोने वैभाषिकोंके विचारोंमें संशोधन
करते हुए वास्तवमें प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें इन्द्रियोकी भूमिकाको गोण
कर दिया है और इन्द्रियोंकी साकारताके बदले विज्ञानकी साकारताके
सिद्धान्तको विज्ञान और वस्तुमें 'सारूप्य' मानते हुए स्थिर किया
है. इनके मतमें इन्द्रियक्षण, वस्तुक्षण और चित्तक्षण के त्रिकसन्निपात
होनेपर साकार विज्ञानका समुत्पाद होता है और वस्तुत: आकारप्रत्यक्ष
ही प्रत्यक्ष होता हे, बाह्यार्थप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं. बाह्यार्थमें आकारके
प्रत्यक्षका अभिनिवेश होता है. ऐसा इसलिए कि ज्ञानोत्पत्ति कालमें
वस्तुक्षण मृत पूर्ववर्ति क्षण हो चुका रहता है. इस तरह 'क्षणादूर्ध्वम्
अविज्ञप्ति'[२०] होनेसे सौत्रान्तिक मतमें बाह्यानुमेयवाद फलित होता है.
इस प्रसंगमे सौत्रान्तिकोंकेद्वारा वैभाषिकोके निराकारवादकी खूब आलोचना
हुई है. यदि इस आलोचनाको व्यापक परिप्रेक्ष्यमे देखा जाय तो
बौद्धेतर दर्शनोंका निराकारवाद तथा नैयायिक एवं मीमांसक आदि भी
आलोच्य हो जाते है. न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीकामें वाचस्पति मिश्रने[२१]
सौत्रान्तिकोके पक्षको ऐसे ही व्यापक परिप्रेक्ष्यमें बहुत ही परिष्कारपूर्वक
उपस्थापित किया है. सौत्रान्तिकोंका प्रमुख तर्क यह है कि यदि
सत्तामात्रसे अर्थात् विद्यमान होनेसे बाह्यार्थ निराकारज्ञानके विपय हो

जाते है तो समस्त अर्थोको भी सभी विज्ञानोंका विषय हो जाना चाहिए, क्योंकि सत्तामात्रसे तो सभी वस्तुएं विद्यमान होती हैं. इस तरह अनायास ही सर्वजनसुलभ सर्वज्ञता प्रसक्त होगी. इसपर वैभाषिको[२२] की ओरसे कहा जा सकता है कि चूंकि बाह्यार्थ ज्ञानके कारण हैं, अतएव अपने कारणोंसे उत्पन्न विज्ञानका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें अपने स्वरूपको भासित करनेके साथ-साथ अर्थको भी प्रकाशित करनेकी शक्ति होती है. अतएव कोई अर्थविशेष ही ज्ञानका विषय बनता है, सभी अर्थ समानकालमें उसके विषय नहीं होते. पुन. सौत्रान्तिक इसपर आपत्ति करता है कि विज्ञानकी उत्पत्तिमें वस्तुक्षण जिस रूपसे कारण होता है, उसी तरह इन्द्रियां भी कारण सामग्रीके अन्तर्गत समान रूपसे कारण होनेकी भूमिकाका निर्वाह करती हैं. अत इन्द्रियोंको भी निराकार ज्ञानका विषय होना चाहिए[२३]. केवल विषयमें अर्थात् वस्तुक्षणमें ऐसी क्या विशेषता होती है कि वही ज्ञानमे प्रकाशित होता है और इन्द्रियां नहीं होती हैं. वैभाषिक पक्षसे इसका क्या उत्तर हो सकता है यह बहुत स्पष्ट नहीं है. अभिधर्मकोशमें इस प्रश्नको उठाकर विषय एव विज्ञान में 'सारूप्य'की स्थापना करते हुए उत्तर दिया गया है[२४] परन्तु यह उत्तर सौत्रान्तिक सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि यह प्रश्न न केवल वैभाषिकोके प्रति बल्कि सौत्रान्तिकों प्रति भी समान रूपसे उठाया जा सकता है. पुन· सारूप्यकी अवधारणा साकारज्ञानवादकी स्थापना करता हे जबकि वैभाषिकोंका इन्द्रियोंकी साकारता ओर इन्द्रियविज्ञानोंकी निराकरता का है. वस्तुत· सारूप्य और साथ ही साथ स्वसंवेदन को स्वीकार कर सौत्रान्तिक साकारविज्ञानवादकी स्थापना तो कर लेते हैं लेकिन बाह्यार्थकी सत्ताको मानते हुए भी बाह्यार्थके प्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या न कर विज्ञप्तिमात्रतावादी मार्ग प्रशस्त करने लगते हें. दूसरी ओर वैभाषिक बाह्यार्थवादी बने रहनेका हर सम्भव प्रयास करते है. सौत्रान्तिक मतमे बाह्यार्थोकी बाह्यार्थ रूपसे प्रत्यक्षकी अव्याख्येयताकेलिए उत्तरदायी उनका धर्मोका द्विलक्षणात्मक सिद्धान्त भी है, जिसके अन्तर्गत वे संस्कृत धर्मोके उत्पत्ति और

विनाश नामक दो ही लक्षणोसे युक्त मानते हे यही कारण हे कि सौत्रान्तिक सर्वास्तिवाद अर्थात् "सर्व अस्ति"की प्रतिष्ठा बाह्यानुमेयवादकेद्वारा करनेकेलिए विवश हो जाते ह पन्तु यहा हम टिप्पणी करना चाहेगे कि आत्यन्तिक क्षणिकताको तर्कबलसे स्वीकार करते हुए भी बाह्यानुमेयवाद धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताकी स्थापनाकेलिए मजबूत ज्ञानमीमासीय आधार प्रदान नहीं करता सौत्रान्तिकोत्तर कालमे बौद्ध दर्शनके अन्तर्गत अनुमानका विकास जिस रूपसे हुआ है और जिस तरहसे अनुमितिके सम्पूर्ण क्षेत्रको सामान्यलक्षण अर्थात् सवृतिक्षेत्रके अन्तर्गत लिया गया है, उससे भी यही बात प्रमाणित होती है इसके विपरीत वैभाषिकोकेद्वारा सस्कृत धर्मोको जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षकेद्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमासीय आधार प्रदान करता है

इस प्रकार वैभाषिकोकी धर्मप्रविचयात्मक प्रणालीमे स्वाभाविक रूपसे प्रत्यक्षकी जैसी अवधारणा अन्तर्निहित है और जिस रूपसे उसका विवेचन किया जाना यहा सम्भव हुआ है, उसका निहितार्थ यह है कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है इनका बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद धर्मलक्षण तक ही सीमित है धर्मोंका स्वभाव अर्थात् द्रव्यरूपसे उनकी त्रैकालिकता बुद्धिगोचर है धर्मलक्षण यद्यपि क्षणिक है लेकिन निराकारविज्ञान सयुक्त साकार इन्द्रियद्वारा उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षकेद्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमासीय आधार प्रदान करता है

प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामे रूप, इन्द्रिय (चक्षु), चक्षुर्विज्ञान और

मनोविज्ञान अपने - अपने चतुर्विध लक्षणोंके साथ प्रयुक्त होकर समन्वागमको १६ क्षणोंका जीवन प्रदान करते है यहा तक प्रत्यक्षका स्वरूप निर्विकल्प ही होता है इसके बाद मनोविज्ञानका आश्रय लेकर मनोजल्पात्मक उत्प्रेक्षणात्मक रूपमे विकल्पोंका प्रादुर्भाव होता है और नामजात्यादि विकल्पोसे विकल्पित सविकल्प विज्ञप्तिका अध्यवसाय होता है

जहा तक प्रत्यक्षके प्रकारोंका प्रश्न है तो वैभाषिक मतमे इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष एव योगप्रत्यक्ष ही मान्य हो सकते है चूकि वैभाषिक स्वसवेदनको नहीं मानते, अतएव उनके मतमे स्वसवेदनप्रत्यक्ष नहीं होता वस्तुत स्वसवेदनप्रत्यक्षकी अस्वीकृति और निराकार विज्ञानकी स्वीकृति ही वैभाषिक प्रमाणमीमासाके दो आधारभूत अभ्युपगम है जो उनके बाह्यार्थप्रत्यक्षवादको शुद्धता प्रदान करते है

अब यदि वैभाषिकोकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा एव वाल्लभीय प्रत्यक्षकी अवधारणा पर तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ बिन्दुओंपर विचार किया जाय तो तुलनासे पहले कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित प्रतीत होता है ध्यातव्य है कि सार्थक तुलनाकी कुछ पूर्वापेक्षाए होती है और उसी प्रागपेक्षामें तुलनाए एक सार्थक निष्कर्षमे रचितार्थ होती है दो या दोसे अधिक वस्तुओं अथवा सिद्धान्तोमे सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहा तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताए हो अर्थात् तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुवे हो उदाहरणकेलिए सभी प्रकारके वनस्पतियोंका एक ही *'आर्चिटाइप'* होता है, लेकिन उस मूलगामी एकताके बावजुद भी उनके आकार-प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हुआ करते है परन्तु तुलनाके प्रकृत प्रसगमें वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है वैभाषिक और वाल्लभ दर्शन दो भिन्न मूलके दर्शन है इनकी तात्त्विक दृष्टिमें भेद ही नहीं, आत्यन्तिक विरोध विवक्षित है अतएव दोनोंकी प्रमाणमीमासामे प्रत्यक्ष - विचार जिस आकारको

ग्रहण करता है, उसमे कोई निकटवर्ती तुलना सम्भव नहीं है यदि तुलनाकेलिए कुछ दूरवर्ती आधारोको सन्दर्भ बनाया जाय तो विभज्यवादका पोषण करने वाले वैभाषिकोकेलिए प्रत्यक्ष-विचार और शुद्धाद्वैतका पोषण करने वाले वाल्लभीय प्रत्यक्ष-विचारमे कतिपय अतिवर्ती तुलनाए की जा सकती है इस प्रकारकी तुलनासे केवल यही समझा जा सकता है कि किस प्रकार दो दर्शनोंके प्रमाणमीमासीय सिद्धान्त अपने विकास क्रममे अपनी-अपनी तात्त्विक विशिष्टताओको ही विज्ञापित करते हुए फलित होते है

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्-द्रष्टृ-दृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसकल्पता तथा सर्वसम्भवनकी इतिकर्तव्यरूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तियोंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है इस लीलोमे आविर्भूत और तिरोभूत होने वाला ब्रह्म अपने उस स्वरूपमे प्रमाणो (प्रत्यक्षादि) से गम्य न हो कर शास्त्रैकगम्य है परन्तु लीलारूपसे नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् चूकि ब्रह्मात्मक ही है, अतएव प्रत्यक्षादि विषयोकी ब्रह्मात्मकता शुद्धाद्वैतमे मान्यकी गई है अवधेय है कि यहा न केवल प्रत्यक्षादि विषयोकी ब्रह्मात्मकता बल्कि प्रत्यक्षात्मक वृत्तिका घटित होना भी ब्रह्मात्मक ही है क्योंकि इन्द्रिया अपने स्वसामर्थ्यसे अपने-अपने विषयोका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि "भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु"[२५]

"भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु"के आलोकमें शुद्धाद्वैती प्रत्यक्षकी प्रक्रिया इस प्रकार है— अन्तर्यामी एव अदृष्ट रूप दैवके अनुकूल होनेपर प्रस्तुत ज्ञानक्रियाके प्रति मनको अन्तर्यामी प्रेरित करता है, मन इन्द्रियको प्रेरित करने हेतु उस इन्द्रियसे सन्निकर्ष लेता है, इन्द्रियोके अधिष्ठाता देवोके अनुकूल होनेपर विषयसन्निकर्षके द्वारा पहले इन्द्रियविशिष्ट मनमे निर्विकल्पक ज्ञान जनित होता है जिसकी बुद्धिवृत्ति इन्द्रियप्रदेशमे रहती है तत्पश्चात् वृत्तिद्वारा बुद्धिका अनुग्रह प्राप्त करने पर सविकल्पक

ज्ञान और हानोपानादि बुद्धिका उदय होता है[२६]

उपर्युक्त रूपसे निर्देशित प्रक्रियाके प्रति कहा जा सकता है कि वाल्लभ मतमे दैवाधिशासित तत्त्वमीमासीय जगत्मे प्रत्यक्ष जिस रूपसे घटित होता है, वह प्रमाताकी स्वतन्त्र-इच्छामूलक घटना नही है बल्कि सच्चिदानन्दके सर्वसम्भवके सातत्यमे घटित होने वाली उसीके अन्तर्गतकी घटना है यहा 'दैव' शब्दका अर्थ बहुत स्पष्ट नही है लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्परामे यह शब्द 'नियामकत्व' और 'नियति' के अर्थमे प्रयुक्त होता रहा है इसके विपरीत वैभाषिकोकी दृष्टिमे 'प्रत्यक्ष' प्रतीत्यसमुत्पादके नियमसे अधिशासित जगत्मे घटित होनेवाली घटना है और जिसका घटित होना हेतुप्रत्ययरूप कारणसामग्रियोके सन्निपातद्वारा निर्धारित होता है यहा अवधेय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद कोई ईश्वर-निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सायोगिक निमित्तवाद है बौद्ध इसे 'तथतादृष्टि' कहते है

इस प्रकार हम देखते है कि वैभाषिक और वाल्लभ मतमे प्रत्यक्ष जिस जगत्मे घटित होनेवाली एक ज्ञानमीमासीय घटना है, वह जगत् ही दोनों दर्शनोमे तत्त्वमीमासीय दृष्टिसे परस्पर भिन्न ही नहीं, विरोधी भी है तत्त्वमीमासीय दृष्टिसे जगत्की परस्पर भिन्न अवधारणाए दोनो दर्शनोमे प्रत्यक्षकी अवधारणाको बहुत गहरे प्रभावित करती है परन्तु इसके बावजुद भी दोनो दर्शनोंकी प्रत्यक्षकी अवधारणामे कुछ समानताए देखी जा सकती है उदाहरणकेलिए दोनों दार्शनिक परम्पराए बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हे जब हम भारतीय प्रमाणमीमासीय चिन्तनके सम्पूर्ण विकासको प्रकाशवाद और प्रतिभासवाद में विभाजन करते है तो वैभाषिक और वाल्लभ दोना ही मत प्रतिभासवादके विरोधमे खड़े होकर बाह्यार्थके प्रत्यक्षकी व्याख्या अपने-अपने ढगसे करते हे दोना ही परम्पराआम प्रत्यक्षके प्रति इन्द्रियोंकी भूमिकाको समान महत्त्वके साथ स्वीकारा गया है इन्द्रियोंका महत्त्व इस रूपम इन्द्रिया विकारी

वस्तुका प्रतिबिम्ब अथवा वृत्तिको ग्रहण करती हैं और इन्द्रियविशिष्ट या विज्ञानमें निर्विकल्पक ज्ञानका उदय होता है. परन्तु निर्विकल्पक यक्षका विषय जहां वाल्लभ वेदान्तमें सन्मात्र होता है वहीं वैभाषिक तमे विविक्त स्वलक्षण. वैभाषिक मतमें प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही है, विकल्पक प्रत्यक्ष वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं बल्कि मानसिक, विकल्पात्मक संरचना है. जबकि वाल्लभ मतमें प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता सविकल्पक प्रत्यक्ष पर्यन्त बनी रहती है. प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता और सविकल्पकता का भेद विषयकी दृष्टिसे नहीं किया गया है. दोनोका विषय समान ही होता है. वस्तुत शुद्धाद्वैती किसी भी प्रमाणकी व्याख्या करनेमें आत्मनिष्ठताको अपने मतमें प्रवेश ही नहीं दे सकते हैं. इसीलिए ख्यातिकी व्याख्या भी वे 'अन्यख्याति'के रूपमें करते हैं ताकि ज्ञानकी व्याख्या करते हुए आत्मनिष्ठताका सर्वतोभावेन निराकरण किया जा सके. जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वाल्लभ मतमे इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं. इसीलिए वे अलौकिक एवं लौकिक रूपसे विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोको स्वीकार करते हैं और इस तरह वाल्लभ वेदान्त भी नैयायिकोकी तरह ज्ञानका क्रियामीमांसीय विश्लेषण ही प्रस्तुत करता है. इसके विपरीत वैभाषिक यद्यपि इन्द्रियोको प्राप्यकारी मानते हैं लेकिन उनमें सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राहीका एक विशिष्ट भेद प्रतिपादित करते हैं. साथी ही साथ वैभाषिक किसी प्रकारका सन्निकर्ष नहीं मानते, क्योकि सभी धर्म वास्तवमे निर्व्यापार हैं. वैभाषिकोने सन्निकर्षके बदले एक सर्वथा अभिनव सिद्धान्त 'स्पर्श'का प्रतिपादित करते हैं. इस प्रकार दोनों मतोंमे बहुतसी समानताएं एवं भेद देखे जा सकते हैं. लेकिन प्रत्यक्ष जैसी सर्वजनसुलभ घटनाके प्रति जो मतभेद दिखाई पडते हैं उन्हे अन्तिम रूपसे दोनों दर्शनोके तत्त्वमीमांसीय भेदमें ही समझा जा सकता है.

वस्तुत: सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणचिन्तनके अन्तर्गत जो असमझौतापूर्ण असहमतियां दिखाई पडती है, वे सभी प्रमाणमीमांसीय नहीं बल्कि

अधिप्रमाणमीमांसीय अर्थात् तत्त्वमीमांसामूलक है

सन्दर्भ एव टिप्पणि

१ महावग्गो, १ - २३

२ ''धर्माणा प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशाना यत उपशान्तयेऽभ्युपाय'' अभिधर्मकोश, १/२ एव १/३ (भाष्य)

३ ''तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मत'' अभिधर्मकोश, ५/२५

४ शेरवात्स्किी, सेन्ट्रल कन्सेप्शन आफ् बुद्धिज्म, पृ ३५

५ ''समेत्य सम्भूयप्रत्ययै कृत सस्कृतम् त-त प्रत्यय प्रतीत्यसमुत्पन्न प्रतीत्य समुत्पन्न इति'' अभिधर्मकोश भाष्य, २/४६

६ अभिधर्मकोश, ३/१८, २/४७ इत्यादि

७ ''चतुर्भि चैत्ता हि चित्त-चैत्ता हि चतुर्भि प्रत्ययै उत्पद्यन्ते'' अभिधर्मकोश, २/२६

८ ''समनन्तरप्रत्ययशब्द, स्वसन्तानवर्तिनि उपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धि'' मोक्षाकरतर्कभाषा

९ चतुर्विध प्रत्ययोंकी सज्ञानोत्पत्तिमे भूमिका विषयक वाचस्पति मिश्रकी व्याख्या द्रष्टव्य है, ''नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलाद् आलम्बनप्रत्ययत्वात् नीलाकारता समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता चक्षुषो अधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियम आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद् हेतो स्पष्टार्थता'' भामती पृ ५३२

१० ''वर्तमानालम्बनग्रहणे क्षणभगबाध'' मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका, सम्पा भट्टाचार्य एव टुच्ची, पृ २१

११ ''त्रिणिसगति फस्सो'' अथवा ''त्रयाणा सन्निपात स्पर्श''

१२ ''रूपाणि चक्षुर्विज्ञान-मनोविज्ञानम् इति द्वे विज्ञाने प्रज्ञानीत कार्यविज्ञान-मनोविज्ञानम् इति'' प, चवस्तुकशास्त्र, पृ ३

१३ ''यदा चक्षु इन्द्रिय पश्यति तदा चक्षु विज्ञानेन व्यवस्थाप्येत एकस्मिन् सन्ताने चित्तद्वयाप्रवर्तनात्'' प, चवस्तुक विभाषा, पृ २६

१४ ''निराकारबुद्धिवादिवैभाषिकमते'' प्रमाणवार्तिक - मनोरथनन्दी २/३

१५ ''चक्षु पश्यति रूपाणि सभाग न तदाश्रित, विज्ञान दृश्यते रूप न कित

अन्तरित यत" द्रष्टव्य अभिधर्मकोश, १/४२
"चक्षु पश्यति विज्ञान विजानाति स्वगोचरम्, आलोचनोपलब्धित्वाद् विशेष सुमहान्
तयो" तत्रैव १/४४

१६ "दृश्यते रूप न किल अन्तरित यत तस्य चक्षुषु आलोचनवृत्यभाव अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ, १/४२

१७ "चक्षु श्रोत्र मनो अप्राप्तविषय त्रयम् अन्यथा" वही, १/४३ "अप्राप्यम् अर्थं मन चक्षु श्रोत्र च त्रीणि अतो अन्यथा, अप्राप्तग्राहिण सिद्धा दूरासन्नसमग्रहात्, प्रदीपादिप्रभावश्चेत् न सम तत्समुद्भवात्, सर्वग्रहप्रसग चेश्चेत् न अयस्कान्तादिदर्शनात्, सर्वगत्वाद् अदोष चेत् न अयोगात् तिलतैलवत्" अभिधर्मदीप १-४५/४६/४७

१८ "किमिदम् आकाश खाद्यते। चक्षुर्हि प्रतीत्य रूपाणि निर्व्यापारहि इद धर्ममात्र, हेतुफलमात्र च विज्ञान विजानातीति न अत्र अभिनिवेष्टव्यम्" अभिधर्मकोश १/४२ (भाष्य)

१९ अभिधर्मकोश-४/४

२० द्रष्टव्य न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका, पृ ६५६, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, बनारस, १९८२ विक्रम स

२१ "स्वकारणाद् आत्मप्रकाशनशक्तियुक्तम् उत्पद्यते ज्ञान तादृश येन कश्चिदेव अस्य विषयो न सर्वम् इति चेत्" वही, पृ ६५७

२२ "अपिच चक्षुरादयोऽपि विज्ञानस्य कारणम् इति विषयारूपज्ञानस्य प्रसज्येत्" वही, पृ ६५६

२३ शेरबात्सकी-सेन्ट्रल कन्सेप्शन् आफ बुद्धिज्म, पृ५६, तत्वार्थदीपनिबन्ध, पृ १/७१ ७२

२४ "तत्र अय क्रमो देवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्कार्यार्थं प्रेर्यते तच्च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयससृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्व निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदिन्द्रियप्रदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तद्ग्रहे सविकल्पक भवति" प्रस्थानरत्नाकर, पृ १४७-४८ सम्पादक गोस्वामी श्याम मनोहर, प्रकाशक श्रीवल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर

+

चर्चा

वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा
तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ अम्बिकादत्त शर्मा

अच्युतानन्द दाश . डा शर्माने एक तरहसे अपने आलेखमे वैभाषिकोके प्रत्यक्षविचारको रीकॅन्स्ट्रक्ट करनेका प्रयास किया है और ऐसा करते हुवे उन्होंने वैभाषिकोकी प्रमाणशास्त्रीय दृष्टिको अच्छेसे उभारा है यद्यपि बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंमे वैभाषिक मतकी खूब आलोचना हुयी है मेरा प्रश्न सीधे-सीधे यह है कि वैभाषिक सर्वास्तिवादी हे और इस अर्थमे वे संस्कृत धर्मोंकी पारमार्थिक सत्ताको स्वीकारते करते है संस्कृत धर्मोंका सघात कल्पनामात्र होनेसे आविद्यक है पुन वे संस्कृत धर्मोंकी व्याख्या भी दो धरातलपर करते है प्रथम द्रव्यात्मक दृष्टिसे धर्मोंकी त्रैकालिक सत्ता है और दूसरे स्तरपर कारित्रकी दृष्टिसे धर्मोंको क्षणिक माना गया है अब प्रश्न उठता है कि वैभाषिकोके प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण होता है अथवा उनके क्षणिकत्वका ?

अम्बिकादत्त शर्मा . दाश बाबुकी इस टिप्पणीसे हम सहमत है कि हमने वैभाषिकोके प्रत्यक्षविचारकी पुन-रचना की है और यह दिखानेका प्रयास किया है कि प्रत्यक्षविषयक उनकी दृष्टि सर्वास्तिवादी तत्त्वदृष्टिसे कितनी सगत है परन्तु डा दाशने जो प्रश्न उठाया है वह महत्त्वपूर्ण है वस्तुत

वैभाषिकोंने संस्कृत धर्मोंके क्षणिक स्वरूपको ही ध्यानमें रखते हुवे प्रत्यक्षपर विचार किया हे. बादमें सोत्रान्तिकोंने जिस तरह इनके प्रत्यक्ष ओर क्षणिकत्व में विरोध दिखाते हुवे बाह्यार्थके बदले वाह्यार्थानुमेयवादकी स्थापना की हे उससे यह विदित होता हे कि वेभाषिक प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंके क्षणिकत्वका ही ग्रहण मानते रहे होंगे, लेकिन् जहां तक धर्मोंके त्रैकालिक अस्तित्व और प्रत्यक्ष की ग्राह्यताका प्रश्न है तो प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण दुष्कर प्रतीत होता हे. इसीलिये वेभाषिकोंने धर्मोंकी त्रैकालिकताको सिद्ध करनेके लिये बुद्धवचन और युक्ति प्रस्तुत की है : तदुक्ते द्वयात् सद्विषयात् फलात् इत्यादि.

यज्ञेश्वर शास्त्री : अम्बिकादत्तजीसे मेरा प्रश्न यह है कि भगवत्पाद शंकराचार्यने सर्वास्तिवादके खण्डनके प्रसंगमें यह दिखाया है कि क्षणिक वस्तुका ज्ञान ही नहीं हो सकता तो उसके होनेका प्रमाण ही क्या है? फिर सौत्रान्तिकोंने भी प्रत्यक्ष और क्षणिकत्व में परस्पर विरोध दिखाया है. तब अम्बिकादत्तजीको अपने निष्कर्षपर पुनः विचार करना होगा कि वैभाषिक किस तरह सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसम्मत प्रमाणमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : शास्त्रीजीने शंकराचार्यकी आलोचनाका अच्छा प्रसंग उठाया हे. और सोत्रान्तिकोंने वैभाषिक मतकी जेसी आलोचना की हे उससे उन्हें प्रतीत होता है कि शंकरकी आलोचनाको बल अथवा समर्थन मिल रहा है जबकि बात ऐसी नहीं है. आचार्य शंकर क्षणिक बाह्यार्थ और ज्ञान मे ही विरोध देखते हैं जबकि सौत्रान्तिक क्षणिक बाह्यार्थ और उनके प्रत्यक्षोपलब्धिमें विरोध देखते हैं. हमने अपने आलेखमे ज्ञानोपलब्धि और क्षणिकत्व के विरोधका समाधान करते हुवे दिखाया है कि ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेयवस्तु

के बीच जब कालिक अनुक्रममें सम्बन्ध मानते हैं तो क्षणिकत्त्व और उसके ज्ञेय होनेमें विरोध जायज है. परन्तु द्रष्टव्य है कि वैभाषिक ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या 'त्रिकसन्निपात'के द्वारा करते हैं. त्रिकसन्निपातकी दृष्टिसे ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेय का युगपद् समवधान होता है. अतएव कहा जा सकता है कि शंकराचार्य वैभाषिकोंकी आलोचना करते हुवे उनके मतको उचित रूपसे प्रस्तुत नहीं किया है. अर्थात् ज्ञानकी क्रियामीमांसीय दृष्टिको सामने रख कर क्षणिकत्व और ज्ञान की सम्भावनामें विरोध देखा है. जहां तक वैभाषिकोद्वारा बाह्यार्थवादी सर्वास्तिवादी दृष्टिके सबल पक्षधर होनेका प्रश्न है तो इसपर भी हमने आलेखमे विस्तारसे विचार किया है. वस्तुत सर्वास्तिवादी तो सौत्रान्तिक भी है लेकिन उनका नित्यानुमेयवाद तथा अन्य सहायक सिद्धान्त सर्वास्तिवादको छोड़ते हुवे और विज्ञानवादकी ओर बढ़ते हुवे प्रतीत होते है.

पारसनाथ द्विवेदी : शर्माजीकी सर्वप्रथम हम सराहना करते हैं कि इन्होंने बड़े परिश्रमसे वैभाषिकोंके प्रत्यक्ष-विचारको ठीक ढंगसे उद्घाटित किया है. वस्तुत सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादिमें एतद्विषयक जो कुछ विवेचना मिलती है वह अपर्याप्त है. शर्माजीसे मेरी जिज्ञासा है कि 'विजानाति' पदका योग इन्द्रियसे अथवा विज्ञानसे होता है—इस बातको लेकर सौत्रान्तिक और वैभाषिक आचार्यों के बीच लम्बा विवाद हुवा है और इसका कोई एक निष्कर्ष नहीं निकला. शर्माजी आप इस विषयमें क्या सोचते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : आप तो गुरुजी मुझे संकटमें डाल रहे हैं। जो विवाद सम्प्रदायके आचार्योंने नहीं सुलझाया, उसे हम क्या सुलझायेंगे?

पारसनाथ द्विवेदी : परवर्ती आचार्योंके प्रमाणचिन्तनमे तो 'विजानाति'

पदके साथ विज्ञानका ही योग पुरस्कृत हुवा है.

अम्बिकादत्त शर्मा : आपका कहना, गुरुजी!, सर्वथा उचित है कि बादके प्रमाणशास्त्रीय चिन्तनमें इन्द्रियकारणवादके बदले ज्ञानकारणवादको ही बौद्धोंने अपना स्वाभिमत बनाया है. परन्तु वैभाषिकोके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये इन्द्रियोंकी ज्ञानके प्रति कारणता "चक्षु पश्यति रूपाणि" अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है. वस्तुत विज्ञान ही जानता है लेकिन जो जाना जाता है या जाना जा रहा है, वह है रूपका विज्ञान अथवा रसका. इसका परिच्छेद तो इन्द्रियोंसे ही सम्भव है. यदि परिच्छेद्यताको ज्ञानके लिये साधकतम माना जाय तो इन्द्रियोंकी भूमिकाको गौण नहीं बनाया जा सकता. परवर्ती सम्प्रदायोमे भी इन्द्रियोके तटस्थ द्वारिभावको स्वीकार किया गया है. वैभाषिक विज्ञानकी साकारताके इन्द्रियोंकी साकारताको ही स्वीकार करते हैं और उनके मतमें ज्ञान निराकार है. ये दोनो बाते सयुक्तरूपसे वैभाषिकोके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये अति आवश्यक है

के.ई.देवनाथन : वैभाषिक यदि ज्ञानकी परिच्छेद्यतामे इन्द्रियोकी भूमिकाको साधकतम मानते है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक होगा. परन्तु बौद्ध मतमें इन्द्रियोंको अप्राप्यकारी माना गया है. इसी कारणसे वे न्यायाभिमत नियम इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्वका खण्डन करते है.

अम्बिकादत्त शर्मा : देवनाथनजी! आप न्यायवासन-वासितरूपमे बौद्धोके पक्षको समझनेका प्रयास कर रहे है. वस्तुत ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या जब त्रिकसन्निपातके द्वारा की जाती है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेकी आवश्यकता ही नहीं पडती. बहुधा लोग ऐसा मानते है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षके बिना ज्ञानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती. जबकि आस्तिकपरम्परामे भी बादमे इन्द्रियार्थसन्निकर्षकी धारणाका प्रबल विरोध हुवा है. फिर

यह भी आवश्यक नहीं कि इन्द्रियाकी प्राप्यकारिता इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-पूर्वक ही होती है अद्वैतवेदान्तमें आदि दर्शनोम विषयदेशम ही विषयका ग्रहण होता है और इस तरह प्राप्यकारित्वकी उच्च प्रतिष्ठा होती है लेकिन फिर भी इन दर्शनोंने न्यायसम्मत इन्द्रियार्थसन्निकर्षका खण्डन किया है और बदलेम इन्द्रियोंका योग्यतामूलक सम्प्राप्तग्राहित्व और असम्प्राप्तग्राहित्व को स्वीकार किया है शान्तरक्षितने एतद्विषयक विवादका उपसहार करते हुवे एक सुन्दर टिप्पणी की है कि दूर तक विचार करनेपर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेपर भी इन्द्रियाकी योग्यताका पक्ष स्वीकार ही करना पड़ता है अब इन्द्रियोंकी योग्यतामात्रसे ही प्रत्यक्षकी व्याख्या हो जाती हो तो पुन इन्द्रियार्थसनिकर्षको मानना एक तरहका अनावश्यक अतिरेक अभ्युपगम ही है

मगला चिचोरे : अम्बिकादत्तजीने प्रत्यक्षका जैसा निरूपण किया उससे मेरे मनमे एक प्रश्न बनता है कि वैभाषिकोका भ्रमविषयक सिद्धान्त क्या होगा? इन्हे 'असत्ख्यातिवादी' भी नहीं कहा जा सकता और बाह्यार्थवादी होनेके कारण इन्हे आत्मख्यातिवादिओंके अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता

अम्बिकादत्त शर्मा : मगलाजी! आपने बहुत अच्छा और सटीक प्रश्न उठाया है वस्तुत पूरे भारतीय दर्शनमे जहा भी ख्यातिपर विचार किया गया है वहा बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिका विचार नहीं किया गया है ऊपरि तौरपर ऐसा लगता है कि वैभाषिक चूकि बाह्यार्थवादी है, इसलिये ख्यातिके सन्दर्भमे उनका मत अन्यथाख्यातिवादीकी तरहका होना चाहिये वाचस्पति मिश्रने भामतीमे एक जगह सकेतमात्र किया है कि वैभाषिक-सौत्रान्तिक सम्प्रदायका ख्यातिविचार भी आत्मख्यातिमे अन्तर्भूत हो जाता है यद्यपि आचार्यप्रवरने मिश्रने इस अन्तर्भावका खुलासा नहीं किया है, फिरभी

मुझे उनकी टिप्पणी बहुत समीचीन प्रतीत होती है. बाह्यार्थवाद और स्थैर्यवाद साथ-साथ माननेपर अन्यथाख्याति उसकी सगोत्रीय किसी अन्यविध ख्यातिकी निष्पत्ति होती हे, लेकिन वैभाषिक बाह्यार्थवादी तो हें परन्तु स्थैर्यवादी नहीं हैं. अतः उनके मतमें ख्यातिका अधिष्ठान ओर विषय बाह्यार्थ नहीं हो सकता. क्षणिक वस्तु ज्ञानका आलम्बन तो है लेकिन भ्रमात्मक ज्ञानका वेसा ही अधिष्ठान नहीं क्योंकि "जन्मदेशे एव च्युति" उसका स्वभाव है. वैभाषिक मतमें क्षणिक आलम्बनका सारूप्य इन्द्रियां ग्रहण करती हैं, एतदर्थ उन्हें इन्द्रियोंकी साकारता मान्य है. अब इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय इन्द्रियदोषके चलते सारूप्यका अन्यथाग्रहण भी हो सकता है और तब दोषपूर्ण सारूप्य विकल्पित हो कर आत्मनिष्ठ रूपसे ही बाह्यतया प्रक्षेपित होगा क्योंकि वह आलम्बन क्षण जिसका दोषपूर्ण सारूप्य इन्द्रियग्राह्य हुवा, वह तो निरुद्ध हो चुका है. इस तरहसे बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिको आत्मख्यातिकी गोत्रकी 'विकल्पख्याति' भी कहा जा सकता है.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ. श्रीअम्बिकादत्त शर्माजीके साथ जबसे इन विद्वद्गोष्ठियोंके माध्यमसे परिचय हुवा तबसे ही इनके बौद्ध आदि अनेक दर्शनोंके गहरे अभ्यास और उन दार्शनिक अवधारणाओंपर इनकी अपनी अनूठी पकड़को सुननेकी-जाननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है.

स्वाभाविकतया वैभाषिक और वाल्लभ मतोकी प्रत्यक्षसम्बन्धी अवधारणाओके तुलनात्मक विमर्शका प्रसग उपस्थित होनेपर शर्माजीकी सुध सबसे पहले आनी स्वाभाविक ही थी. और हम देख सकते है कि वैभाषिकोके प्रत्यक्षसम्बन्धी चिन्तनको कितने तलस्पर्शी विवेचन द्वारा शर्माजीने उभारा! तदर्थ विचारगोष्ठीमे सभी सहभागी निश्चयेन उपकृत हुवे है.

दुर्भाग्यवश विचारगोष्ठीके समय बिजलीके गुल हो जाने तथा टेपरेकॉर्डरके भी खराब हो जानेसे शर्माजीके आलेखपत्रपर हुयी चर्चा रेकॉर्ड नहीं हो पायी. अत अपनी स्मृतिके आधारपर जो कुछ श्रीअम्बिकादत्तजी पुन. प्रस्तुत कर पाये उसे यहां सलग्न किया गया है. इसकी शब्दानुपूर्वी चाहे वैसी हो कि न हो पर ऐसे ही मुद्दोपर चर्चा हुयी थी, ऐसा तो लिखित चर्चाविवरणको पढनेपर प्रतीत होता ही है.

स्मृतिके आधारपर लिखित इस चर्चाविवरणके उपसंहारमे श्रीअम्बिकादत्तजीने ऐसा स्नेहाग्रह रखा कि मैं भी इस विषयमे कुछ लिखुं. तदनुसार आलेखपत्रमे छेड़े गये मुद्दोपर कुछ बाते लिखना चाहुगा.

वैभाषिक और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रियाकी तुलनात्मक विवेचनाके हेतु उद्यत होनेसे पहले सार्थक निष्कर्षार्थ श्रीअम्बिकादत्तजीने कुछ प्रागपेक्षा या निकष प्रस्तावित किये है : "..सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहां तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताएं हों अर्थात् तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुवे हों" इस बारेमे मेरी रुझान और तुलनात्मक अध्ययनकी धारणा तनिक भिन्न है वह कितनी प्रामाणिक है या कितनी फलवती है, यह तो कह पानेको समर्थ नहीं हु फिर भी श्रीअम्बिकादत्तजी कथमपि पराये नहीं लगते होनेसे मेरी विपरीत बात निसकोच लेखबद्ध अवश्य कर देना चाहता हु

मेरी समझमे तुलनात्मक अध्ययनकी उल्लिखित या ऐसी अन्य भी

प्रागपेक्षायें *विवेचका: खलु एवं विवेचयन्ति नतु प्रतिपत्तारो लोके एव* " कहावतको चरितार्थ करती हैं. मुझे लगता है कि हमारे मस्तिष्कमें तुलनात्मिका बुद्धिवृत्तिके मूल इससे कहीं अधिक गहरे होने चाहिये.

किन्हीं दो पदार्थों या चिन्तनो के बारेमें तुलनात्मक विमर्श करना हो तो निशंक ही उन दो पदार्थों या चिन्तनों के हमारे मनमें अवधारणात्मक प्रत्ययोके उभरे बिना वह सम्भव नहीं हो पाता. वैसे तो मनमे अगणित प्रत्ययोका भण्डार भरा हुवा रहता ही है परन्तु उस भण्डारमे से जब किन्हीं दो प्रत्ययोंको चुन कर हमारी बुद्धि एक-दूसरेके पास जमाती (juxtapose) है तो सबसे पहले उन दो प्रत्ययोंका द्वन्द्व हमारी बुद्धिमे अवभासित होता है. "**चार्थे द्वन्द्वः**" (पाणि.सू.२।२।२९) सूत्रद्वारा 'च'कारार्थरूप समुच्चय अन्वाचय इतरेतरयोग और समाहार मे से अन्तिम दो अर्थोमे द्वन्द्वसमासको पाणिनि वैध मानते हैं. वह समासघटक वस्तुद्वन्द्व भी किस-किस प्रकारके उदाहरणोमे हमारे वाग्व्यवहारमे अभिव्यक्त होता है, यह भी पाणिनिने सूत्रित किया है. उदाहरणतया, 'धर्म-अर्थ' 'जाया-पति' 'गो-व्याघ्र' या 'होता-पोता' आदि-आदि वस्तु व्यक्ति गुण कर्म सामान्यधर्म आदिके बीच हमारी बुद्धि इतरेतरयोग या समाहार की अनुभूति करती है. पाणिनिने ऐसी गवेषणाके द्वारा तुलनीय प्रत्ययोंके बुद्धिमे उद्भव तथा वाग्व्यवहारमें उनके शब्दप्रयोग के नियमोपर हमारा ध्यान इदम्प्रथमतया आकृष्ट किया अत वस्तुओ या व्यक्तिओ के प्रत्ययोके मानसिक द्वन्द्वभावापन्न होनेकी प्रक्रिया मुझे लगता है कि सारे तुलनात्मक विमर्शका परममूल है इसका विकास बादमे तर्कोदाहरण, सौन्दर्यादि-अनुभूतिके उदाहरण; इसी तरह प्रत्यभिज्ञानके उदाहरण आदि अनेक रूपोमें विकसित होता है.

वादात्मिका चर्चाकी मनोवृत्तिके वश परार्थानुमानमे उलझे भारतीय चिन्तकोंने न्यायसूत्रकारके "**लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन् अर्थे बुद्धिसाम्य स दृष्टान्त.**" (गौ.न्या.सू १।१।२५) वचनमे प्रतिपादित तर्कोदाहरणको विचारयात्राके इस आरम्भबिन्दुसे प्रतिज्ञावचनके साथ तुलनीय व्याप्ति-उदाहरण पर्यन्त बड़ी लम्बी

दूरी है कर के "यो-यो धूमवान् स-स वह्निमान् इति उदाहरणम्" (तर्कस अनु.परि.) गन्तव्य तक पहुचाया एतावता लौकिक परीक्षकोकी किन दो अर्थोमे बुद्धिसाम्य है यह जाननेकी अपेक्षा क्षीणप्राय हो गयी क्योंकि व्याप्तिस्वरूप जिसके आधारपर पक्ष और सपक्ष तुलनीय हो सकते हे उसने स्वय इतना जटिल रूप धारण कर लिया कि लौकिक पुरुषोके लिये व्याप्तिका स्वरूप समझ पाना भी एक दुर्बोध व्यायाम हो गया. तो उसके आधारपर पक्ष-सपक्षोंकी तुलना तो बहुत दूरतरवर्ती पदार्थ हो जाते हैं परिणामस्वरूप ऐसे आदर्शोसे प्रेरित होनेके कारण दो दर्शनोके तुलनात्मक चिन्तनसे भी हमारी अपेक्षाये हमने अति तर्ककठोर घड़ ली है.

स्वतस्फूर्त आन्तर तुलनात्मक बौद्धिक व्यापार तो, जबकि, वस्तुत ऐसी प्रागपेक्षाओके बिना भी न जाने कितनी बाह्य जगत्‌की सूचनाओका अध्यवसाय करता है, उनका सचय करता है, इसी तरह परिकलन, वर्गीकरण, साधर्म्य-वैधर्म्यनिर्धारण, परिभाषा, एव, उपनयात्मक (inductive) या निगमनात्मक (deductive) निष्कर्ष भी निकालता ही रहता है।

अतएव तुलनात्मक चिन्तनकी एकदम प्राथमिक प्रयोगान्विनितिकी अन्वेषणा करनी हो तो हमे द्वन्द्वसमास एव कर्मधारयसमास कहा-कहा होते हैं, उस बारेमे मानवकी बौद्धिक अवधारणाओको पाणिनिने कैसे सूत्रबद्ध किया है, यह पहले खोज करनी चाहिये क्योकि इतरेतरके कार्य या कारण, प्रयोज्य या प्रयोजन, सहभावी या असहभावी, सदृश या विसदृश, सजातीय या विजातीय, इतरेतरके विरोधी या अविरोधी आदि अनेक निकषोंके अनुरोधवश हम किन्हीं दो वस्तुओको द्वन्द्वके रूपमें बुद्धिसे अवधारित करते है अतएव ये दोनो समास सारे तुलनात्मक प्रत्ययोके बीजभाव सदृश बौद्धिक अवग्रह होते हैं इनमे कहीं एकमूलकता तो होती है तो कहीं अनेकमूलता भी वस्तुओके द्वन्द्वभावापादक बौद्धिक प्रत्ययसे थोडा और आगे बढनेपर अलकारशास्त्रोक्त "साधर्म्यम् उपमा भेदे" सदृश उपमा रूपक प्रतीप व्यतिरेक आदि अर्थालकारोके प्रत्यय भी उभरते ही है इन्हे काव्याग होनेके कारण केवल काव्यसाहित्योपयोगी

मान कर किसी भी तरहके गम्भीर यौक्तिक निष्कर्षमे सर्वथा अनुपयोगी मान लेना, बुद्धिके उत्स्फूर्त तुलनात्मक व्यापार या प्रत्ययो के उत्सके अस्वीकारमे पर्यवसित होगा.

अपने स्वाभाविक उत्ससे तौलनिक प्रत्ययोके उभरनेके बाद तार्किक निष्कर्षोंकी अवाप्तिके हेतु तुलनीय सादृश्य किन्हीं दो पदार्थोंके या चिन्तनोंके बीच स्वाभाविक या औपाधिक हो सकता है.

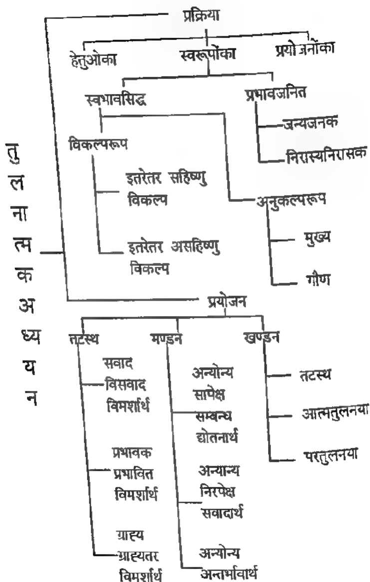
यदि स्वाभाविक हो तो वह सादृश्य इतरनिरपेक्षस्वभावानुरोधी भी हो सकता है अथवा इतरसापेक्षस्वभावानुरोधी भी.

यदि वह सादृश्य औपाधिक हो तो वह उपाधि जैसे ज्ञेयवस्तुसमवहित हो सकती है वैसे ही ज्ञानोपकरणसमवहित अथवा ज्ञातृसमवहित भी. यह भी औपाधिक सादृश्यके बारेमे विचारणीय होना चाहिये.

कभी ज्ञाताके भीतर रही ज्ञानेतर वृत्तिओकी प्रबलताके वश भी सादृश्यानुभूति विचारप्रकियापर भावारोपित हो जाती है ऐसा होनेपर बुद्धिमे प्रकट होते तुलनात्मक प्रत्यय तार्किक निष्कर्षार्थ अनुपयोगी माने जा सकते है

उपमानोपमेयभावघटित अवधारणावधारणीयभावघटित पदोके द्वन्द्वैकवद्भावमे उपमान और रूपक के अनुरूप तुलनात्मक प्रत्यय अवधारित होते पाये जाते हे. आपाततः इन व्याकरणशास्त्रीय और अलकारशास्त्रीय बुद्धिकी तुलनात्मक अवधारणाओंके आधारपर यौक्तिक निष्कर्ष निकाल पाना दुष्कर माना जा सकता है फिरभी यौक्तिक निष्कर्षोंके उदाहरणोमे भी साजात्य या सादृश्य को वस्तुधर्म न मान कर बुद्धिधर्म माननेवाले चिन्तकोंके मतमे तो तादात्म्य और तदुत्पत्ति रूप व्याप्तिसम्बन्ध भी वस्तुका अकल्पित स्वरूप नहीं माना गया अतः परार्थानुमितिके पञ्चावयववाक्यीय उदाहरणका भी अलकारशास्त्रीय उदाहरणसे अधिक तार्किक मूल्य प्रकट नहीं हो पाता है । अतएव 'तुलनात्मक दर्शन' नामक ग्रन्थ जब श्रीअम्बिकादत्तजीने मुझे स्नेहोपहारके रूपमे भेजा तो मुझे भी इस दिशामे कुछ विचार करनेको विवश होना पड़ा. उस समय जो एक तालिका मैंने

तुलनात्मक अध्ययनकी बनायी उसे यहा केवल प्रस्तुत करना चाहुंगा :



तुलनात्मक विमर्शके इन अनेकविध प्रकारोंमें समानमूलके अथवा विभिन्नमूलके किन्हीं दो चिन्तनोंमें मुक्तमनसे तुलनात्मक विमर्श शक्य होनेसे वैभाषिक प्रत्यक्षप्रक्रिया और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रिया का तुलनात्मक विमर्श सहज ही हो सकता है

अत शर्माजी जब यह विधान करते है कि वैभाषिक मतमे प्रत्यक्षज्ञान प्रमाताकी इच्छा/सामर्थ्यसे घटित होनेवाली घटना है जबकि वाल्लभ मतमे इन्द्रिया स्वसामर्थ्यसे अपने-अपने विषयोका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि ''भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु''वाली नीति यहा है तो वाल्लभ मतकी दृष्टिसे दोनो प्रक्रियाओके तुलनात्मक पक्षोके बारेमे यह स्पष्ट करना चाहुगा कि यह बात अर्धाशमे सही है और कुछ अपूर्ण भी क्योंकि वाल्लभ मतमे ब्राह्मिक अद्वैत जागतिक द्वैतको मिथ्या नहीं मानता ब्रह्मरूप अशीकी लीलात्मिका 'अर्थक्रियाकारिता' जडरूप अश आशिकी अर्थक्रियाकारितासे रहित नहीं होते और न जीवरूप अश निजी आशिक ज्ञान इच्छा या यत्न के सामर्थ्यसे रहित

यहा वैभाषिक मतमे यदि प्रत्यक्षज्ञानकी घटना ब्रह्मसदृश सर्वव्यापी प्रतीत्यसमुत्पादसे नियत है तो यहा वाल्लभ मतमे ब्रह्म भी काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके प्रतीत्यसमुत्पादसदृश अनेकद्वारभूत करणसामग्री द्वारा ही प्रत्येक जागतिक क्रिया या ज्ञप्ति का जनक होता है अतएव भगवान् गीतामे स्वय अपने और स्वाश जीवात्मा के कर्तृत्वका स्वरूप समझाते हुवे कहते है ''चातुर्वण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश तस्य कर्तारमपि विद्धि अकर्तारम् अव्यय'', ''प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश अहकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते'', ''न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते'' (भग गीता ४।१३, ३।२७ ५।१४) भगवान् भी अनेक करणसामग्रिओको जुटा कर ही लीलाके स्वभाववश कुछ होने देते हैं इसी अर्थमे कर्ता भी होते है अकर्ता भी इसी तरह उनका अशरूप जीव भी दोनोके बीच अन्तर तब केवल इतना ही है

कि सर्वज्ञ सर्वोपादान परमात्मा अपने द्वारा घटित होते कर्ममे कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त नहीं होता, आत्मभिन्न पूर्वसिद्ध हेतुके अभाववश जबकि असर्वज्ञ जीवात्मा तो स्वय अपने पञ्चमहाभूतोके सघातरूप शरीरका धारक होनेपर भी उपादान नहीं होता फिरभी कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त हो जाता है, अपने शरीरको निजकर्मोका विपाक मान लेता है।

स्वय प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी एक तरहके अकठोर लीलात्मक कार्य-कारणभावका अनुभावक लगता है इसी तरह भगवल्लीलात्मक कार्य-कारणभाव भी असत्कार्यवादी अथवा आरम्भवादी कठोर नियतपूर्ववृत्तिताके बजाय निजान्तर्निहितके ही बहिराविर्भावरूप अकठोर कार्य-कारणभावका अनुभावक होता है प्रतीत्यसमुत्पादकी नियतिमे जैसे ज्ञाता ज्ञेयाभिमुख होनेमे शतप्रतिशत न तो निज स्वातन्त्र्यवश समर्थ हो पाता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही ऐसे ही भगवल्लीलावादमे भी ज्ञाता ज्ञानोत्पत्ति इच्छोत्पत्ति यत्नोपत्तिमे अथवा फलोत्पत्तिमे भी, न शतप्रतिशत समर्थ होता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही अतएव भगवद्गीतामे भगवान् स्वय यह कहते है "प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश अहकारविमूढात्मा 'कर्ता-अहम्' इति मन्यते", "अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विध विविधा च पृथक्चेष्टा दैव चैव अत्र पञ्चमम् तत्र एव सति आत्मान कर्तार केवलस्तु य पश्यति अकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मति" (भग गीता ३।२७, १८।१४) इस सूचिमे क्रियाजनक ज्ञानजनक सामग्रिओका शब्दान्तरमे प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं तो अन्य क्या प्रतिपादित हुवा? अतएव केवल जीवात्माके कर्ता या ज्ञाता होनेके मनोभावकी 'दुर्मति'के रूपमे निन्दा भी की गयी है

वाल्लभ मतमें निर्विकल्पज्ञानगोचर सन्मात्र है जबकि वैभाषिक मतमे विविक्त स्वलक्षण, इतने अशोमे दोनोके मतोके बीच थोड़ी-बहुत सदृशता खोजी भी जा सकती हो परन्तु सविकल्पज्ञानके स्तरपर वाल्लभ मतमे प्रत्यक्षका सातत्य स्वीकृत है जबकि वैभाषिक मतमे वहा मानस विकल्पोंकी सरचनाका जाल छा जाता है शर्माजी कहते है "प्रतीत्यसमुत्पाद कोई

ईश्वर-निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सायोगिक निमित्तवाद है'', इस विषयमे मुझे ऐसा लगता है कि विकल्प तो वाल्लभ मतमे भी मनसा ही योजित होते है परन्तु वे ज्ञाताकी कल्पनासे अन्य न हो कर ज्ञेयधर्म और ज्ञातृधर्म का एक तरहका प्रतीत्यसमुत्पाद/सायोगिक निमित्तोत्पाद होनेपर भी बाह्याभ्यन्तर उभयत्र तिरोहित (potentiality) का आविर्भाव (manifestation)है

इसके अलावा वाल्लभ मतमे प्रमाके स्वरूपमे आत्मनिष्ठाका अप्रवेश भ्रमके की मीमासामे उसे अन्यख्यातिवादी बनाता है, इस विधानके बारेमे मुझे यह कथनीय है कि ऐसा 'अन्य' निर्विकल्पज्ञानगोचर अधिष्ठानसे भिन्न होनेकी विवक्षावश है नकि अधिष्ठानसे भिन्न बाह्यदेशस्थ अन्यकी विवक्षावश, क्योकि अन्यख्यातिमे 'अन्य'तया अभ्युपगत अर्न्तजगत्मे वस्तुत विद्यमान परन्तु बहिप्रक्षिप्त होनेके रूपमे मिथ्यावभासित होने लगता है

इस तरह देखनेका प्रयास करे तो विभिन्नमूलवाले इन दोनो दर्शनोमे भी साधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता की तरह वैधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता को भी जान लेनेपर, दोनो मतोकी आशिक सवादिताके प्रत्यभिज्ञानका मार्ग प्रशस्त हो पाता है

पुनश्च श्रीअम्बिकादत्तजीके तलस्पर्शी विचारके अनुभावक आलेखपत्रकी प्रस्तुतिके कारण प्रस्तुतिकर्ताको भूरिश अभिनन्दनके साथ



प्रत्यक्षे वल्लभसौत्रान्तिकमतयोः विमर्शः

प्रा. पारसनाथ द्विवेदी

चत्वारो बौद्धा भवन्ति : वैभाषिकाः, सौत्रान्तिकाः, योगाचाराः, माध्यमिका च इति.

तत्र कात्यायनीपुत्रप्रथितज्ञानप्रस्थानव्याख्यानभूत'विभाषा'ख्यविपुलग्रन्थम् उपजीव्य यथायोग्य प्रत्यक्षानुमेयबाह्याभ्यन्तरास्तित्ववादिनो वैभाषिकाः.

सिद्धान्तचरमरहस्यप्रतिपादकसूत्रपिटकम् उपजीव्य तेनैव चरन्तः सर्वास्तित्ववादिनः परन्तु बाह्यार्था अनुमेया इति वदन्तः सौत्रान्तिकाः.

योगाना सप्तदशभूम्यभ्यासपटव तथा चरन्तो विज्ञानमेव सद् न बाह्याः पदार्थाः प्रत्यक्षा अनुमेया वा सन्ति इति वदन्तो योगाचारा विज्ञानवादिनः.

योगानां सप्तदश भूमयः

(१) विज्ञानभूमिः, विवेकविज्ञानाद् विरतिकारिणी.
(२) मनोभूमिः मननाद् निश्चयकारिणी.
(३) सवितर्का सविचारा स्थूलसूक्ष्मावगाहनाद्
(४) अवितर्का सविचारा सूक्ष्मार्थध्याननैपुण्यात्.
(५) अवितर्का अविचारा चेतनमात्रध्यानात्.
(६) समाहितभूमिः चित्तसमाधानात् ऐकाग्र्याढ्या.
(७) असमाहिता यत्नेन विना समाधानात्.
(८) सचित्ता 'अहं ध्यायामि' इत्येव ज्ञानयुता.

(९) अचित्ता चित्तानुभव विनापि ज्ञानधारामात्रा

(१०) श्रुतमयी बुद्धादेशश्रवणप्रधाना

(११) चिन्तामयी तदुपदेशचिन्तनात्

(१२) भावनामयी श्रवणमननसहितसमाधानरूपा

(१३) श्रावकभूमि निर्वाणमार्गाधिरोहात् (स्त्रोतापन्न , सकृदागामी, अनागामी भवति)

(१४) प्रत्येकबुद्धभूमि अर्थाना स्वत स्फुरणात्

(१५) बोधिसत्त्वभूमि परमकल्याणप्राविण्याद्

(१६) सोपाधिकबुद्धिभूमि परदु खप्रहाणेच्छासत्त्वात्

(१७) निरुपाधिकबुद्धभूमि परमोपशमरूपनिर्विकल्पकनिर्वाणप्राप्ते

—एव सप्तदशयोगभूमिम् आहरन्तो योगाचारा

बाह्यान्तरसर्वशून्यत्ववादिनो वाड्मनसातीत परमार्थतत्त्व सावृतिक विश्वम् इति वदन्त शून्यवादिन मध्यममार्गाश्रितत्वाद् माध्यमिका

तत्र चतुर्ष्वपि बौद्धेषु सौत्रान्तिकमते प्रत्यक्षचर्चा वल्लभमतसापेक्षा प्रस्तुता अस्मिन् निबन्धे

सौत्रान्तिकाअपि वैभाषिकमतवत् पदार्थान् मन्यन्ते तथाहि बाह्यम् आन्तर च जगत् भूतभौतिक बाह्य चित्तचैत्त च आन्तरम्

भूत पृथिव्यादयो धातवो अणुरूपा , भौतिक रूपादय चक्षुरादय च अणव पृथिव्यादिभावेन सहन्यन्ते अयम् अणुहेतुको भूतभौतिकसमुदाय , तथा रूपविज्ञानवेदनासज्ञासस्कारसज्ञका पञ्चस्कन्धा तेऽपि अध्यात्म सर्वव्यवहारास्पदभावेन सहन्यन्ते अय स्कन्धहेतुक समुदाय सविषयाणि इन्द्रियाणि रूपस्कन्ध यद्यपि रूप्यमाणा पृथिव्यादयो बाह्या तथापि कायस्थत्वाद् इन्द्रियसम्बन्धाद् वा भवन्ति आध्यात्मिका विज्ञानस्कन्ध

'अहम्' इत्याकारो आलयविज्ञान रूपादिविषय प्रवृत्तिविज्ञान च प्रवाहापन्नम् वेदनास्कन्ध प्रियाप्रियविषयस्पर्शे सुखदु खाद्यवस्था चित्तस्य सज्ञास्कन्ध सज्ञाससर्गयोग्यप्रतिभास सविकल्पप्रत्यय , यथा डित्थ कुण्डली गौर ब्राह्मण इत्यादि सस्कारस्कन्धो रागादय क्लेशा , मदमानादय उपक्लेशा धर्माधर्मौ च एव समुदायद्वयात्मक सर्वं जगत् सस्कृत क्षणिक प्रत्यक्षानुमेय सौत्रान्तिकमते बाह्यार्थो अनुमेय एतत् क्षणिक जगत् दु खहेतुकत्वात् साम्रव दु खरूप , उत्पत्तिमत्वाद् भवरूप , लोक्यमानत्वात् 'लोक' इति उच्यते सच अयम् उभयविध समुदाय प्रतीत्यसमुत्पाद , हेतुप्रत्यय प्रतीत्य समुत्पन्नो न ईश्वरनियत्यादिकृत आकाश प्रतिसख्यानिरोधो अप्रतिसख्यानिरोध च ~नभावरूपो असस्कृतो अक्षणिको अनास्रव निर्वाणोऽपि असस्कृत

तथा अविद्यादयो द्विविधसमुदायाक्षेपका वर्ण्यन्ते - अविद्या, सस्कार , विज्ञान, नामरूप (शरीरस्य कललाद्यवस्था), षडातयन (इन्द्रियाणि), स्पर्श , वेदना, उपादान, भव (स्कन्धप्रादुर्भाव), जाति , जरा, शोक , परिवेदना, दु ख दौर्मनस्यम् इत्येव समासव्यासरूपेण पदार्था निर्दिष्टा तत्र यावद् अविद्या न निवर्तते तावद् सस्कारादयो न निवर्तन्ते इमे भावा घटीयन्त्रवद् अनिशम् आवर्तमाना सन्ति इति सक्षेप

प्रमाणविमर्शः

अथ इदानीं सौगतसमये प्रमाणविचार प्रस्तूयते तत्र प्रमाकरण प्रमाण, "प्रमीयते अनेन" इति व्युत्पत्ते प्रमा च सम्यग् ज्ञानम् अविसवादक ज्ञान सम्यग् ज्ञानम् ज्ञाने सम्यक्त्वम् अविसवादकत्व वा स्वप्रदर्शितार्थप्रापकत्व यथार्थत्व वा, यथार्थत्व नाम अर्थम् अनतिक्रम्य विद्यमानत्वम् लोके च पूर्वप्रदर्शितम् अर्थ प्रापयन् 'सवादक' उच्यते ज्ञानमपि स्वय प्रदर्शितम् अर्थसवादकम् उच्यते ज्ञानस्य प्रापकत्व नाम स्वप्रकाशिते अर्थे प्रवर्तकत्वम् , तच्च प्रवृत्तिविषयप्रकाशकत्वम् नहि बलादेव ज्ञानम् अर्थे प्रवर्तयत्येव अर्थाधिगति प्रमाणफलम् अधिगते च अर्थे प्रवर्तित पुरुष प्रापित च अर्थ प्रमाणेन एतदधिकन्तु किं ज्ञानेन कार्यम्। ज्ञानस्य अर्थप्रकाश

तदद्वारा प्रवृत्ति वा कार्यम् यदि च प्रमाणान्तरेण अर्थप्रकाशो जात तदा तम् अर्थ प्रकाशयद् ज्ञान न प्रमा भवति तादृशेन ज्ञानेन नाधिक किञ्चित् कृत पूर्वज्ञानकृतात् तस्माद् अधिगतविषयकज्ञानम् अप्रमाणम् तथाच अनगधिगतावाधितविषयकज्ञानत्व प्रमात्वम् इति स्थितम्

प्रत्यक्षविमर्श :

प्रतिगतम् अक्ष प्रत्यक्षम् "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति वार्तिकेन समासे प्रत्यक्षम् अक्षाश्रित ज्ञानम् अथवा "अक्षिणी प्रति" इति विग्रहे लक्षणेन "अभिप्रत्याभिमुख्ये" (पा सू २।१।१४) इति सूत्रेण समासे "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण." (पा ग सू १४८) इति गणसूत्रेण टचि 'प्रत्यक्षम्' इति रूपम् तत्पुरुषसमासपक्षे न परवल्लिग, "द्विगुप्राप्तापन्नालपूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्य" (वा १५।४५) इति वार्तिकेन निषेधात् 'प्रत्यक्ष'शब्दो विशेष्यनिघ्नो, अत सएव समासो युक्त अव्ययीभावपक्षेतु 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य नेत्राभिमुख्यम् अर्थ प्रत्यक्ष घटो नेत्राभिमुख्य घटस्य इति अर्थ

एतच्च अक्षाश्रितत्व अक्षाभिमुख्य वा 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त नतु प्रयोगनिमित्तम् अन्यथा मानसादिप्रत्यक्षे एतन्निमित्ताभावात् प्रत्यक्षत्व न स्यात् तस्मात् साक्षात्कारिज्ञानत्व 'प्रत्यक्ष'पदप्रवृत्तिनिमित्त बोध्यम्

तत्र न्यायबिन्दौ आचार्येण धर्मकीर्तिना "कल्पनापोढम् अभ्रान्त प्रत्यक्षम्" इति उक्तम् प्रत्यक्ष साक्षात्कारिज्ञान कल्पनापोढम् अभ्रान्त वेदितव्यम् प्रत्यक्षम् अनूद्य कल्पनापोढत्वादि विधीयते प्रत्यक्षञ्च प्रसिद्धम् इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिषु अर्थेषु लोके साक्षात्कारि विज्ञानम् तद् अनूद्य कल्पनापोढत्वादि तत्र प्रमात्वप्रयोजक विधीयते

कल्पनया अपोढम् अपेत='कल्पनापोढ', कल्पनास्वभावरहितम् इति अर्थ 'अभ्रान्तम्'=अविपर्यस्त भ्रमभिन्नम् इति अर्थ एतद्द्वय प्रत्यक्षविशेषण

विप्रतिपत्तिनिरासार्थम् तथाहि 'अभ्रान्त'ग्रहणाभावे गच्छद्वृक्षदर्शन / शुक्तौ-रजतदर्शन च प्रत्यक्ष प्रमा स्यात् तस्माद् 'अभ्रान्त'ग्रहणम् 'कल्पनापोढ'ग्रहणाभावे च अनुमानादावपि लक्षण प्रसज्येत इति तद्ग्रहणम्

कल्पनाविमर्श .

का नाम कल्पना यया रहित 'प्रत्यक्षम्' इति उक्तम्? उच्यते "अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना" (न्यायबिन्दु) अयम् अर्थो "अभिलप्यते अनेन इति 'अभिलाप' शब्द" 'अभिलापेन शब्देन ससर्गो अभिलापससर्ग अभिलापससर्गाय योग्यो आधेयाभासो यस्या सा अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासा सा एषा प्रतीति इति व्युत्पत्ति 'आभासो'-ज्ञाने अर्थाकारता अभिलापससर्गो नाम एकस्मिन् ज्ञाने अभिधेयाकारस्य अभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया शीलनम् एकत्र ज्ञाने अभिधेयाभिधानाकारौ प्रविष्टौ यदा भवत तदा तज्ज्ञानेन ससृष्टौ अभिधानाभिधेयौ भवत अभिलापससर्गयोग्याभिधेयाभासवती प्रतीति कल्पना शाब्दबोधस्थले अनुमानादौ च तथा सम्भव शाब्दबोधे शब्दस्य तदर्थस्य च ग्राह्यत्वम् भवतिच तत्र शब्देन सह अभिधेयस्य ज्ञानविषयतया प्रतीति इति सा कल्पना प्रत्यक्षेच न तथा तत्र काचित् प्रतीति अभिलापससृष्टभासा भवति यथा गृहीतसकेतस्य 'घट'शब्दससृष्टाभासा भवति काचित् प्रतीतिस्तु अभिलापाससृष्टाभासापि अभिलापससर्गयोग्याभासा भवति यथा अव्युत्पन्नसकेतस्य बालकस्य प्रतीति तस्याअपि कल्पनाया सग्रहाय 'योग्या' इति निवेश ग्राह्योहि अर्थो विज्ञान जनयन् नियतप्रतिभास करोति यथा रूप चक्षुर्विज्ञान जनयद् नियतप्रतिभास करोति विकल्पविज्ञानन्तु अर्थाद् न उत्पद्यते इति प्रतिभासनियमहेतो अभावाद् अनियतप्रतिभासाद् विकल्पविज्ञान हि न अर्थसन्निधिम् अपेक्षते असन्निहितविषय तद्विज्ञानम् पूर्वदृष्टापरदृष्ट च अर्थम् एकीकुर्वद् विज्ञानम् असन्निहितविषयक पूर्वदृष्टस्य असन्निहितत्वात् असन्निहितविषयक च विज्ञानम् अर्थनिरपेक्षम् अनपेक्षञ्च अनियतप्रतिभासम् तादृशज्ञानम् अभिलापससर्गयोग्य न इन्द्रियविज्ञान तादृश, सन्निहितार्थमात्रग्राहित्वाद् अर्थसापेक्ष तद् अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वाद् नियतप्रतिभास

विज्ञानम्.

तत्त्वसंग्रहेऽपि कथितं : "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्. अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना" इति. तथाच इन्द्रियविज्ञानं न अभिलापसंसर्गयोग्यम्. असन्निहितविषयं च विज्ञानं कल्पना तया रहितं प्रत्यक्षम्. 'अभ्रान्तम्' इत्यस्य भ्रमरहितम् इति अर्थः. भ्रमश्च काचकामलतिमिरादिनयनदोषात् सम्भवति. सच बाधितविषयको, न संवादिविज्ञानम् इति तन्न प्रत्यक्षम्.

अयं भावो : नामजात्यादियोजना कल्पना. तत्र 'देवदत्तः' इति नामयोजना, 'गौः' इत्यादि जातियोजना, 'गच्छति' इति क्रियायोजना, 'शुक्लः' इति गुणयोजना, 'दण्डी' इति द्रव्ययोजना इत्येषा पञ्चविधाकल्पना. एतत् सर्व नाम्नैव गृह्यते. योजनासंसर्गः प्रत्यक्षे, निर्विकल्पके नायं संसर्ग इति.

प्रत्यक्षभेदः :

तच्च प्रत्यक्षं विज्ञानं चतुर्विधं : इन्द्रिज्ञानम्, मनोविज्ञानम्, आत्मसंवेदनम्, योगिज्ञानं च इति.

इन्द्रियज्ञानम् :

इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्. इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि. इन्द्रियाश्रितं यद् विज्ञान तत् प्रत्यक्षम्.

मनोविज्ञानम् :

स्वविषयान्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं यत् तद् मनोविज्ञानम् (न्यायबिन्दु.). अयम् अर्थः : स्वविषयस्य इन्द्रियविज्ञानविषयस्य अनन्तरो व्यवधानरहितो य इन्द्रियविज्ञानविषयक्षणाद् अव्यवहितोत्तरक्षणे एकसन्तानान्तर्भूतो विषयक्षणः, स सहकारी यस्य इन्द्रियविज्ञानस्य तत् तथा इति उक्तम्. तादृशेन समनन्तरप्रत्ययेन हेतुना जनितं यद् ज्ञानं

तन्मनोविज्ञानम् अनेन एकसन्तानान्तर्भूतयोरेव इन्द्रियज्ञानमनोज्ञानयो जन्यजनक-भावे मनोविज्ञान प्रत्यक्षम् उच्यते योगिविज्ञान च परसन्तानवर्तिमनोविज्ञानाद् अतिरिच्यते अय भाव चक्षुरादीन्द्रियविज्ञानविषय प्रथमक्षणे जायते गृहीत च तदुत्तरक्षणे तस्य इन्द्रियविषयस्य योऽय सन्तानप्रादुर्भावो द्वितीयक्षणोत्पन्नो विषय सएव सहकारिकारणम् तादृशस्वविषयानन्तरक्षण-प्रादुर्भूत-विषयसहकारि-समवधान-सहितेन इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनित ज्ञान मनोविज्ञानम् अत्र मनोविज्ञाने इन्द्रियविज्ञानविषयद्वितीयक्षणोत्पन्नो विषय सहकारिकारणम् इन्द्रियविज्ञान च समनन्तरप्रत्ययहेतु तादृशविषयसहकृतेन्द्रियविज्ञानसमनन्तरप्र-त्ययेन मनोविज्ञान जायते इन्द्रियज्ञानविषय च अत्र सहकारि एककार्यकारित्वेन नतु परस्परोपकारकत्वेन, क्षणिके वस्तुनि सहकारिणा परस्परम् अतिशयानाधायकत्वात् स्वविषयसन्तानवर्त्तिविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञारूपैककार्यकारित्वम् अस्त्येव स्वविषयाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानविष-यसहकृतेन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञान जन्यते इति भाव

अत्र ईदृशेन इन्द्रियविज्ञानेन आलम्बनप्रत्ययभूतेन योगिज्ञान जन्यते इति तन्निरासार्थं 'समनन्तरप्रत्ययेन' इति उक्तम् समश्च असौ ज्ञानत्वेन अनन्तरश्च असौ अव्यवहितत्वेन, सच असौ प्रत्यय 'समनन्तरप्रत्यय', तेन जनितम् इति भाव

नच इन्द्रियविज्ञानाद् मनोविज्ञानस्य अन्यविषयाभावाद् एकएव विषय उभयविज्ञानस्येति ग्रहीतग्रहणाद् मनोविज्ञानस्य अप्रामाण्य स्याद् इति वाच्यम्, उभयो विज्ञानयो विषयभेदात् इन्द्रियविज्ञानस्य प्रथमक्षणविषय तदव्यवहितोत्त-रक्षणोदितो विषयो मनोविज्ञानस्य अन्यएव एतच्च मनोविज्ञानम् उपरते इन्द्रियव्यापारे इष्यते व्यापारवतितु चक्षुषि तद्रूपविज्ञानम् इन्द्रियप्रत्यक्षमेव

आत्मसवेदप्रत्यक्षम् :

''सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसवेदन प्रत्यक्षम्'' (न्यायविन्दु) चित्तम् अर्थमात्रग्राहिविज्ञान, चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिण सुखदु खादय चित्तचैत्तविज्ञा-

नन प्रत्यक्षम् नास्ति काचिद् अवस्था चित्तस्य यस्याम् आतमसवेदन न स्यात् सुखादयएव स्फुटानुभवात् स्वसविदिता येनहि रूपेण आत्मा वेद्यते तद्रूप् आमातमसवेदन प्रत्यक्षम् एतच्च ज्ञानरूप वेदनम् आन्मन साक्षात्कारि अभ्रान्त च तस्मात् प्रत्यक्षम्

योगिप्रत्यक्षम् :

''भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज योगिज्ञानम्'' (न्यायविन्दु) प्रमाणेन दृष्टो अर्थ सद्भूतो 'भूतार्थ' यथा चत्वारि आर्यसत्यानि भूतार्थस्य भावना पुन पुन चेतसि विनिवेशनम् तस्या भावनाया प्रकर्ष, भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य सस्फुटत्वारम्भ प्रकर्षपर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वम् ईषद् असम्पूर्णो भवति तदा तस्य नास्ति प्रकर्षगति तत सम्पूर्णावस्थाया प्राक्तनी अवस्था स्फुटाभत्व 'प्रकर्षपर्यन्त' उच्यते तस्मात् पर्यन्ताद् यद् ज्ञात भाव्यमान सन्निहितमिव, तस्य स्फुटयकारावगाहिज्ञान योगिन प्रत्यक्षम् स्फुटत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्ष अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमान पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था, करतलमलकमिव भाव्यमानस्य यद् दर्शन तद् ज्ञान योगिप्रत्यक्षम् तच्च स्फुटाभम् स्फुटाभत्वादेव निर्विकल्पकम् योग समाधि सो अस्य अस्ति इति योगी

एव चातुर्विध्य प्रत्यक्षस्य व्याख्यातम्

प्रत्यक्षविषयविमर्श :

तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्य स्वलक्षणम् 'स्वम्'=असाधारण 'लक्षण'=तत्व 'स्वलक्षणम्' द्विविध हि वस्तुन तत्व साधारणम् असाधारण च इति साधारणम् असामान्य स्वलक्षण प्रत्यक्षग्राह्यम् सामान्यञ्च अनुमानविषय द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्य च यदाकार प्रमाणम् उत्पद्यते प्रापणीय च यम् अध्यवस्यति अन्यो ग्राह्यो अन्यो अध्यवसेय प्रत्यक्षस्य हि क्षणे एकग्राह्य अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलेन उत्पन्नेन निश्चयेन सन्तानएव सन्तानएव क्षणभगवादे प्रत्यक्षस्य प्रापणीय

क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात्.

स्वलक्षणञ्च अर्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः. प्रतिभास आकारः. प्रत्यक्षविषयएव स्वलक्षणम्. तस्यैव परमार्थसत्वात्. परमार्थो अनारोपितरूपम्. तेन अनारोपितरूपेण अस्तीति परमार्थसत्. अनुमानेन हि आरोपितो अर्थो गृह्यते. परमार्थसदेव अर्थक्रियासमर्थम्. अर्थस्य क्रिया हानोपादानरूपा. तस्य हानोपादानस्य सामर्थ्यं परमार्थसत्येव वस्तुनि न आरोपिते अस्ति.

यस्माद् अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसद् उच्यते सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदको अर्थो अर्थक्रियासमर्थः, तस्मात् स एकः परमार्थसन्. ततएव हि प्रत्यक्षविषयाद् अर्थक्रिया प्राप्यते न विकल्पविषयात्. सामान्यञ्च यद्रूपं तद् अनुमानस्य विषयः.

प्रत्यक्षफलविमर्शः :

अर्थप्रतीतिरेव प्रत्यक्षप्रमाणफलम्. साच प्रतीतिः प्रत्यक्षाः. प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम्. अर्थाद् उत्पन्नज्ञानस्य प्रत्यक्षस्य अस्ति कश्चिद् अवश्यः कर्तव्यः प्रापकव्यापारः प्रापणरूपो येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति. तदेव प्रमाणफलम्. एतदनुष्ठानात् प्रापकं भवति ज्ञानम्. प्रापणञ्च ज्ञानेन न केवलम् अर्थाविनाभावाद् भवति. प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनेनैव प्रापकस्य प्रत्यक्षस्य प्रापणव्यापारः तत्प्रदर्शनं प्रतीतिः, अर्थदर्शनरूपं प्रमाणस्य फलम्.

ननु प्रत्यक्षार्थप्रतीति तदवगमो वा प्रत्यक्षस्य फलं तर्हि किमिति तत् प्रमाणम्. नच प्रत्यक्षप्रतीतिरेव प्रमाणं तत् फलं च इति युज्यते इति चेद्, उच्यते : अर्थसारूप्यम् अत्र प्रमाणम्. अर्थेन सह ज्ञानस्य यत् सारूप्यं सादृश्यं तदेव प्रमाणं ज्ञानस्य. ज्ञानं हि सम्भवद् अर्थाकारं भवति. यथा नीलाद् अर्थाद् उत्पद्यमानं ज्ञानं नीलाकारं नीलसदृशं वा भवति. तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकारः आभासः इति व्यपदिश्यते.

ज्ञाने अर्थाकारसादृश्य प्रमाणम् तत् सारूप्यसामर्थ्यादेव अर्थप्रतीतिसिद्धि भवति यथा नीलनिर्भासाद् विज्ञानाद् नीलस्य प्रतीति अवसीयते नहि चक्षुषि उत्पद्यमान ज्ञान नीलस्य इति शक्यते व्यवस्थापयितु यावज्ज्ञाने तस्मिन् नीलाकारता नीलसारूप्य वा न व्यवस्थित भवति नीलसदृशन्तु विज्ञान नीलप्रतीतिकारक भवति एकस्यापि वस्तुन किञ्चिद् रूप प्रमाण फल किञ्चिद्रूपम् इति न विरुध्यते प्रत्यक्षज्ञानस्य हि अर्थसारूप्य प्रमाणम् अर्थप्रतीति फलम् इति भाव एकस्मिन्नेव विज्ञाने व्यवस्थापक अर्थसारूप्य व्यवस्थाप्यम् अर्थप्रतीति इति एव प्रत्यक्षस्य विषय फल स्वरूप भेदा एतत् सर्वं व्याख्यातम् कल्पनापोढत्वम् अभ्रान्तत्व स्वरूप, स्वलक्षण विषयो, अर्थप्रतीति फलम्, इन्द्रियजन्यादिचत्वारो भेदा, अर्थसारूप्यम् अस्य प्रमाणम् एतेन अन्येषा मत निरस्त वेदितव्यम्

वल्लभमतनिर्देश :

प्रत्यक्षप्रमाकरण इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम् दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति शब्दादिवारणाय 'इन्द्रियम्' इति तानि इन्द्रियाणि चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणमनोभेदेन षट् तैजसाहकारोपादेयत्वे सति ज्ञानक्रियान्यत-रकरणत्वम् इन्द्रियत्वम् अणुतमत्वम् अतीन्द्रियत्वम् अनित्यत्व अक्षणिकत्व विकारित्व च एषाम् आहकारिकत्वमेव न भौतिकत्वम्

एतेषा योग्या विषयाअपि तृतीयतरगे प्रस्थानरत्नाकरे श्रीपुरुषोत्तमाचार्येण निर्दिष्टा यथा चक्षुष उद्भूतरूप तद्वान् उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तय सख्यापरिमाणादय इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम् बुद्धिरपि अहकारस्य रूपविशेष "ततो विकुर्वतो जातो यो अहकारो विमोहनो वैकारिक तैजस च तामस च इति अह त्रिवृत् तन्मात्रेन्द्रियमनसा कारण चिदचिन्मय" (भाग ११।२४।६।७)

अस्य अर्थ श्रीपुरुषोत्तमेन कृत तत्रैव तन्मात्रजनकत्व तामसत्व, इन्द्रियजनकत्व राजसत्व, तदेव अस्य तैजसत्व मनोजनकत्व सात्त्विकत्वम् तस्यैव 'वैकारिक' इति सज्ञा प्राणो बुद्धिरिति अस्यैव रूपान्तरम्

"द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्व" बुद्धे स्वरूपलक्षणम् "इन्द्रियानुग्राहकत्व सशयादिप-ञ्चवृत्तिकत्व" द्वय कार्यलक्षणम् बुद्धिप्राणमनोऽहकाराणा हृदय गोलकम् इति केवलात्मा न प्रत्यक्षविषय अनध्यस्ताविद्यान्त करणादिपञ्चपर्वात्मा केवलो न प्रत्यक्षगम्य शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण केवलात्मा न लौकिकप्रत्यक्षगम्यो विभुत्वाद् आकाशादिवत्, तथा आत्मत्वात् परात्मवद् अणुत्वात् परमाणुवद् इति तमस प्रतिबिम्बवादे पदार्थान्तरत्वम् अगीकृत गन्धर्वनगरादेरपि मायिकत्वम् एतेषा प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेव न कार्यकारणभावान्तरकल्पना अभावाना तिरोभावे अन्तर्भावात् 'स्वसयुक्तविशेष-णता'ख्यससर्गेण प्रत्यक्षता, न अनुपलब्धि प्रमाणान्तरम् इन्द्रियाणा व्यापाररूप सन्निकर्षो द्विविधो लौकिको अलौकिक च इति अलौकिक त्रिधा सामान्य-योगज-माया-भेदात् सामान्यस्य अनुगताकारेण व्यक्तिज्ञाने उपयोग अतीतानागतयो भगवद्ध्यानादौ च द्वितीयस्य उपयोग तृतीयस्य च अविद्यमानाना पदार्थाना शुक्तिरजतादीना बुद्धौ उपस्थाने उपयोग लौकिक पञ्चविध सयोग तादात्म्य सयुक्ततादात्म्य सयुक्तविशेषणतादात्म्य स्वरूप च इति शब्दग्रहे स्वरूपम् उपयुज्यते मनसस्तु बहिर्विषये स्वसयोगद्वारक इन्द्रियसयोगादि स्वधर्माणा ज्ञानसुखादौ तादात्म्य वृत्तीना ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव तिरोभावस्तु इन्द्रियसयुक्तविशेषणतया गृह्यते बुद्धे अवस्था वृत्तिगुणजन्या वृत्ति इन्द्रियेण विषयसम्पर्के निर्विकल्पक ज्ञान जायते बुद्धिवृत्त्यनुग्रहेण सविकल्प प्रमाभ्रमादिरूप इदञ्च सर्व ज्ञान अन्त करणाद्यध्यासात् जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यते अतएव लोके एतेषाम् आत्मधर्मत्ववाद हृदये देशे अन्त करणादीना जीवस्य च विद्यमानत्वाद् अध्यास तेषु अन्त करणेषु तस्य प्रतिबिम्ब तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तर तत्र इन्द्रियाध्यास तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यास प्रतिबिम्ब च तत्प्रकाशस्य तेषु सक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण एव प्रस्थानरत्नाकरे विस्तरेण प्रत्यक्षप्रक्रिया वर्णिता सक्षेपेण इह सगृहीता

सौत्रान्तिका वदन्ति

बाह्यार्था अनुमेयाएव बाह्या सन्तोऽपि न ते प्रत्यक्षा, क्षणिकत्वाद्

अतो भूतभौतिकसघातो अनुमेय चित्तचेतञ्च च स्वसवेदनप्रत्यक्षगम्य स्वेनैव स्वयप्रकाशा क्षणिकविज्ञानसन्तति चित्तम् इति आलयप्रवृत्तिविज्ञानम् उच्यते चैत्त सुखादय चित्तचैत्त न अविदित किञ्चिद् भवतीति सर्वजनीनो अनुभव इति

वाल्लभा वदन्ति :

चित्तत्व निर्विषयसर्वविकाररहितज्ञानवृत्तिकत्वम् बुद्धिवारणाय 'निर्विषये-'ति, मनोवारणाय 'सर्वविकाररहिते'ति, अहकारवारणाय 'ज्ञाने'ति, आत्मवारणाय 'वृत्ति'इति अस्यापि गोलक हृदय ब्रह्मा देवता चित्तचैत्तमपि मानसप्रत्यक्षविषयएव मनसस्तु स्वधर्माणा ज्ञानसुखादिना ग्रहणे तादात्म्य वृत्तीना ग्रहणेतु स्वरूपमेव द्वारम् वृत्तयो बुद्धे अवस्था चित्त महतो अध्यात्मिकभेदो ज्ञानवृत्तिक मनो अन्यद् अन्त करणरूप, बुद्धि अन्या सविकल्पकज्ञानहेतुभूता अहकारस्यैव रूपान्तर मनोबुद्धिप्राण च तत्र अन्तरिन्द्रिय मन बहि अस्वतन्त्र इन्द्रियम् अपेक्षते स्वधर्मग्रहणे स्वग्रहणे वृत्तिग्रहणे च किम् अपेक्षते ? तत्र स्वधर्मग्रहणे तादात्म्य सुखादीना तादात्म्येन मनआश्रितत्वात् इन्द्रियदेशे बुद्धिवृत्तीना ग्रहणे वृत्तिस्वरूप द्वारम्

इन्द्रियाणि मन च एतत् अतीन्द्रियाणि स्वरूपेणैव ज्ञानहेतु बुद्धिस्तु न इन्द्रियम्, अत तस्या वृत्यात्मिकाया ग्रहण वृत्तिस्वरूपेण इति वृत्तिविषयिणी वृत्ति न भवति

ननु वृत्तिविषयिण्या वृत्ते अभावाद् तस्या प्रत्यक्षता न स्यात् स्यादपि निर्विकल्पमेव स्यात् बुद्धे अननुग्रहाद् वृत्यैव बुद्धि अनुगृह्णाति इति तदभ्युपगमो अनुभवविरोधोऽपि बुद्धि अप्रत्यक्षा न भवति इति चेद् न, बुद्धे ज्ञानरूपत्वाभावात् ज्ञानस्य बुद्धिवृत्तित्वात् बुद्धि न न्यायमतवद् आत्मसमवायिनी ज्ञानरूपा न साख्यवद् महत्तत्त्वरूपा, अपितु अहकारस्यैव सत्त्वगुणयुक्तावस्थाविशेष इन्द्रियमनोऽनुग्राहको विकल्पविज्ञानहेतु इन्द्रियमनोभि च विषयसम्पर्के निर्विकल्पक ज्ञान जायते

नच विषयेन्द्रियमनोभिरेव सविकल्पकत्व विज्ञान जायता कृत बुद्धिप्रवेशेन इति वाच्यम् आगमविरोधाद् "द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह" (भाग ३।२६।३०) इत्यादिशास्त्रविरोधात्

अथ को अयम् अनुग्रह ? इन्द्रियेण उत्पादिते निर्विकल्पके सविकल्पत्वापादनम् तच्च ज्ञाने नानाकारतापादनद्वारा नानाकारतापादन च ज्ञाने इन्द्रियदेशएव मन सयुक्ते नतु बुद्धे वहिर्निर्गमो, मायया तमसा वहि अर्थाकारस्य इन्द्रियदेशे आक्षेपाद्

अत्र सौत्रान्तिक. शकते

चित्तम् एक चेतन, बुद्ध्यादि तस्य अवस्थाविशेषएव तत्तद्विषयाकार वृत्तिविज्ञानरूप, तस्या बुद्धावेव अर्थाकारता प्रथम इन्द्रियेण विषयसम्पर्के जाते बुद्धौ विषयाकारार्पणम् अर्पितेन च बुद्ध्याकारेण विषयानुमान जायते चैतन्यसन्तति बुद्धि स्वतो निराकारा विषयसम्पर्काद् विषयकारा जायते इन्द्रियविषयाभ्या बुद्धौ चित्सन्ततिरूपायाम् आकारो जायते, आकार च बुद्ध्येव स्वप्रकाशया प्रकाशित बाह्य च अनुमेयो न प्रत्यक्ष तदतिरिक्ताया बुद्धो प्रमाणाभावात् वल्लभमतेतु ज्ञान सुखादिक मनोधर्म, इन्द्रियेण मनसा निर्विकल्पक ज्ञान, बुद्धिवृत्तियोगात् सविकल्पक ज्ञान जायते न बुद्धि अध्यवसायात्मिका एका, अपितु सशयादिसर्वज्ञानाना ऐन्द्रियकानाम् अनुग्राहिका वृत्तिभेदाद् नाना

यद्यपि आलोचनात्मक ज्ञानम् इन्द्रियेण, मनसा सकल्प, बुद्ध्या अध्यवसाय इत्येव शास्त्रान्तरे प्रसिद्ध तथापि भागवतादिशास्त्रप्रामाण्याद् वाल्लभै तथा अभिमन्यते एव बुद्धिपदार्थे द्वयो विप्रतिपत्ति इदन्तु अवधेय यदा मनस तद्धर्माणा बुद्ध्यादीना च जीवात्मनि चित्स्वरूपे अध्यास तदा तच्चैतन्येनैव साक्षिणा बुद्ध्यादीना प्रत्यक्षोपपत्त्या मानसप्रत्यक्षत्ववर्णन गौरवग्रस्तम्, अद्वैतमते अन्त करणादीना साक्षिभाष्यत्वावगमात् अध्यासस्य, जीवस्वरूपस्य चिद्रूपस्य च समानत्वात्

यदि बुद्धि संशयादिकारिणी तर्हि का निश्चयकारिणी? यदि बुद्धिरेव तर्हि तस्या भेदो वक्तव्य अस्त्येव वृत्ति बुद्धिभेदरूपा इति चेत् तर्हि तस्य भेदहेतु वक्तव्य नानार्थाकारतेव हेतु कथ नानार्थाकारता बुद्धे बहिर्निर्गमाभावाद् इति चेत् मायाविक्षेपात् मायाविक्षेपात् चेत् तर्हि कथ न भ्रमत्वमेव ज्ञानस्य? इति चेद् उच्यते यदा सत्त्वगुणात्मिकया मायया अर्थाक्षेप क्रियते तदा प्रमा, यदा राजस्या आक्षेप तामस्या च विषयावरण तदा भ्रम यद् उक्त प्रस्थानरत्नाकरे ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तर सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायते इति प्रमा भवतु भ्रमादिकन्तु न भविष्यति, शुक्तादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृत-तत्समर्पणायोगाद् इति चेद् न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धे पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहि क्षेपे सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसावरणे च भ्रमस्य सुखेन वक्तु शक्यत्वात् एव नानाविधाद् गुणक्षोभजवृत्तिभेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदा उन्नेया

एवञ्च यदा विषयेन्द्रियसयोगाद् निर्विकल्पक स्वावच्छिन्ने मनसि ज्ञान जायते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम् अननुग्रहे न इति वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तिनाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थान तस्य उद्बोधकै उद्बोधे मायोपस्थापितमायिकार्थसहकृता स्मृति राजसै रागादिभि संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वक मायिकपदार्थस-हितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम किञ्चिदावरणे संशय सत्त्वेन सर्वथा आवरणभगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि वृत्तिविपर्यात्तु वृत्ति न भवति

तत्र अय क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्तत्कार्यार्थ प्रेर्यते तच्च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयससृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्प भवति इति (पृ १४८)

अत्र विचार्य मनसि इन्द्रियै विषयसमृष्टे निर्विकल्पक 'किञ्चिद् एतद्' इत्याकारक विज्ञानम् उत्पाद्यते, वृत्त्या अनुग्रहात्तु सविकल्पकम् इति बुद्धिवृत्ति अर्थाकारावस्था बुद्धे बहिर्निर्गमाभावेऽपि इन्द्रियदेशे मायया क्षिप्तो विषयाकार तदर्थाकारा बुद्धि जायते इन्द्रिये निर्विकल्पके जनिते सविकल्पके जननीये वृत्त्या अर्थाकारया अनुग्रहो, ज्ञाने विषयाकारसमर्पण क्रियते इति एव तर्हि बुद्धिवृत्तिभेदा एव प्रमाविज्ञानानि यत्रच वृत्ति नास्ति तद्विकल्परहित ज्ञानम् मनस तर्हि क उपयोग इन्द्रियैरेव बुद्ध्यनुग्रहाननुग्रहाद् ज्ञानद्वय जन्यताम् कृत मनसा इति चेद्, उच्यते क्व तर्हि ज्ञानम् उत्पद्येत इन्द्रिये बुद्धौ वा? न उभयो तथानभ्युपगमात् नच आत्मनि, आत्मना सह उभयो सम्पर्काभावात् नच इन्द्रिये, इन्द्रियस्य ज्ञानाधारत्वाभावात्, नापि बुद्धौ तस्या अनुग्रहमात्रकारित्वात् अतो अगत्या ज्ञानादितादात्म्याधारतया मनोऽपि तत्र अगीकर्तव्यम्

अत्र अद्वैतिनो मनोबुद्धी अन्तःकरणस्य वृत्तिभेदावेव मन सकल्पयति बुद्धिवृत्तिस्तु निश्चिनोति इति मनोवृत्तिरेव ज्ञानम् इति वदन्ति ननु वल्लभमते ज्ञान जड चेतन वा? स्फुटमेव ज्ञानस्य जडत्व नहि इन्द्रियादिभि जडवर्गै चैतन्य कर्तुं शक्यते, चितो नित्यत्वात् ज्ञानस्य जडत्वे च विषयप्रकाशो न स्यात् अद्वैतमते च जडायाअपि बुद्धिवृत्तौ तदवच्छेदेन चैतन्येन अवभासितत्वात् विषयप्रकाश सम्भवति सौत्रान्तिकमते च चित्(विज्ञान)सन्ततिरेव बुद्धिरिति तस्या अर्थाकारसहिताया स्वप्रकाशत्वादेव विषयप्रकाश इति चेद् न, बुद्धे सत्वगुणाया प्रकाशकत्वोपपत्ते बुद्धिरेव अर्थप्रकाशिका नच बुद्धे स्वभावजडाया कथ प्रकाशकत्वम् इति वाच्य, सत्त्वगुणस्यैव प्रकाशकत्वम् नतु वृत्ते प्रकाशकत्वम् एतच्च सौत्रान्तिकनये न अगीक्रियते अद्वैतेतु सत्त्वस्यापि चैतन्याध्यासादेव प्रकाशकत्वम् नतु वृत्ते स्वाभाविक प्रकाश ज्ञानाद्यध्यासस्तु जीवात्मनि चिद्रूपे वाल्लभानामपि इष्टएव अन्यथा "अह ज्ञानी"-"अह सुखी" इत्यादिप्रत्ययो न स्यात् तदध्यासादेव ज्ञानादे बुद्धिवृत्तिरूपस्य प्रकाशोपपत्ति भवेत् नहि चेतन्य न प्रकाशते इति न नहि गुणप्रकाशादव वस्तुप्रकाश, अपितु चेतन्यादेव स्फुटप्रकाश, 'साक्षात्करोमि'

'जानामि' इत्यादिव्यवहारात्

अत क्षणिकायामपि चित्सन्ततो सविषयत्वसाकारत्वार्थ वहिर्विषयानुमेया मन्तव्या, अर्थाकारता विना विज्ञानवैचित्र्यानुपपत्ते साकारता अवश्य मन्तव्या साच विषयद्वारेव सम्भवति विषया च चिति विज्ञाने स्वाकारम् अर्पयन्ति यद् उक्त सर्वसिद्धान्तसग्रहे -

नीलपीतादिभि चित्रै बुद्धयाकारै इह आन्तरै।
सौत्रान्तिकमते नित्य बाह्यार्थस्तु अनुमीयते॥
अर्थेन घटयति एना नहि मुक्त्वा अर्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाण मेयरूपता॥

अर्थरूपताम् अर्थाकारता मुक्त्वा एना बुद्धि चित्सन्तति न कश्चिद् घटयति अपितु अर्थेन अर्थाकारेणैव घटयति, "घट जानामि"-"पट जानामि" इत्यादिरूपेण तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाणम् बुद्धे मेयरूपता अर्थसारूप्यमेव इति भाव

तस्मात् प्रत्यक्ष चितचैत्त, चतुर्विधान् प्रत्ययान् (कारणसमुदाय) प्राप्य जायते तेच चत्वार प्रत्यया प्रसिद्धा आलम्बनसमनन्तरसहकार्यधिपतिरू-पा तत्र नीलाद्यवभासस्य ज्ञानस्य नीलादिविषय आलम्बनप्रत्ययो अतएव विज्ञाने नीलाकारता भवति पूर्वविज्ञानमेव समनन्तरप्रत्यय तस्मात् नीलादिविषयप्रकाशनसामर्थ्यं लभ्यते आलोकादिरेव सहकारिकारण, तस्मात् नीलादिविज्ञाने स्पष्टता भवति चक्षुरादिरेव अधिपतिप्रत्यय तस्माच्च विषयग्रहणप्रतिनियमो भवति रूप चक्षुषा गृह्यते रस रसनया इत्यादि

विज्ञानातिरिक्तचैतन्ये प्रमाण नास्ति नच तदतिरिक्तात्मसिद्धि

वाल्लभास्तु चित्तसन्तान आत्मा इति पथ पूर्वाचार्योक्त-वाचोयुक्तिभिरेव आक्षेपयन्ति

इदमपि विचारणीय यद् वाल्लभमते चक्षुपि रूपप्राप्ति प्रतिबिम्बभवनरू पैव सातु प्राप्ति मायया भवति एव बुद्धयाकारसमर्पकत्व प्रतिबिम्बस्यैव चक्षुपि विपयसन्निकर्षे रूपस्य प्रतिबिम्बो रूपप्रतिबिम्बएव बुद्धे आकारसमर्पक सौत्रान्तिकनये बाह्यविपयाण। इन्द्रियसम्पर्के चित्तसन्ततौ आलयविज्ञानेन बाह्यरूपप्रतिबिम्बो, नवा बाह्यार्थारोप, नवा चक्षुषि प्रतिबिम्बस्य बुद्धौ आकारार्पकत्वम् अपितु इन्द्रियद्वारा बुद्धे अर्थाकारता साच अर्थाकारता विपयसारूप्य बुद्धे प्रवृत्तिविज्ञानसिद्धये नहि विज्ञानम् अस्पृशन् बाह्यो विषयो भोगाय भवति विपयाकारो न अध्यारोपितो अपितु विपयवासनारूपतापत्तिरेव एवञ्च सवासन विज्ञान प्रतिक्षणम् उत्पादविनाशशालि जायते इदमपि विचारम् अर्हति अन्त करणाध्यासात् सर्व ज्ञान जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यते इति वाल्लभा सौत्रान्तिकमते अन्त करणाध्यासास्वीकार अन्त करण चित्तमेव स्वस्मिन् स्वस्य अध्यासायोगात् चैतन्यसन्तति बुद्धि सा स्वय निराकारा अर्थच्छायया अर्थाकारा भवति यथा जपाकुसुमसान्निध्यात् मणिरपि लोहितो भवति तादृशाकाराद् उत्तरविज्ञानसन्ततौ यदि सएव आकार तर्हि स साकारा बुद्धि स्मृति प्रत्यक्षेण आकार चेत् ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमानेन आकार चेद् अनुमिति इति प्रत्यक्षानुमितिस्मृतिरित्यादिप्रवृत्तिज्ञानानि विपयसरूपाणि जायन्ते

बुद्धिसन्ततौ पूर्व कदाचित् रजतादिज्ञानजन्यसस्कारसद्भावात् इन्द्रियदोषाद् रजताद्यविपयेऽपि रजतबुद्धि भवति सा बुद्धि भ्रम इति तदेव निर्गलितो अर्थ सौत्रान्तिके बुद्धि चित्तसन्तति आलयविज्ञानरूपा विपयाकाराकारिता विपयाकार. विपयवासना अथाकारेणैव बाह्या अनुमेया पुष्ट्या भोजनमिव बाह्या प्रत्यक्षा न भवन्ति प्रत्यक्ष स्वसवेदन योगज मनोविज्ञानम् इति इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष न अभ्युपगम्यते

किञ्च बौद्धमते अभावो अनुमानगम्यो न प्रत्यक्षगम्य तथाहि पक्षसत्वादित्रिरूपस्य लिगस्य त्रय प्रकारा अनुपलब्धि स्वभाव कार्यम् इति अनुपलब्धि अभावावेदिका, स्वभाव कार्यञ्च भावावेदक (न्यायविन्दु

पृ. २०८).

वाल्लभमते च अभाव प्रत्यक्षगम्यएव. यदि अनुपलब्धि अनुमानं यदि वा प्रमाणान्तरं तदुभयपक्षेऽपि अभाव तिरोभावरूपो वस्तुनो अवस्थाविशेषो वा आविर्भावरूपो वा न अनुपलब्धिगम्य. विवृतं च एतत् प्रस्थानरत्नाकरे.

अत्र इदं बोध्यम् : अभावप्रत्यक्षवादिनापि उपलब्ध्यभावाद् अभावज्ञाने हेतुता क्लृप्तैव तत्र करणत्वमात्र कल्प्यते. किञ्च अभावस्य इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षज्ञानगोचरता. नच संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष, तत्र प्रमाणाभावात्. सयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेणैव जात्यादेरपि प्रत्यक्षसम्भवे संयुक्ततादात्म्यादे पृथक् सन्निकर्षाभावात्. किञ्च संयुक्ते प्रथमं सिद्धे अभावस्य तत्र विशेषणतया भान स्यात् विशेषणतया ग्रहे च उक्तसन्निकर्षेण अभावग्रह इति व्यक्तम् अन्योन्याश्रयत्वम्. तस्माद् अभावस्य प्रत्यक्षता न्यायमतानुसारिणी.

क्षणिकत्वखण्डनम् :

अत्र विमृश्यते बाह्यार्था तावद् विज्ञानवासनावैचित्र्यनिर्वाहार्थं सौत्रान्तिकै अगीक्रियन्ते तेच अनुमेया न प्रत्यक्षा क्षणिकत्वात्. क्षणिकत्वञ्च द्वितीयक्षणध्वसप्रतियोगित्वम्. सन्निकर्षक्षणोत्तरक्षणे नष्टा बाह्या कथ प्रत्यक्षप्रतीतिगोचरा स्यु. वस्तुसन्निकर्षक्षणे एव सन्निकृष्टा भावा चित्ते स्वाकारम् अर्पयन्ति. तेन अर्पितेन च आकारेण पुष्ट्या भोजनादिमिव बाह्यार्था अनुमीयन्ते. यद् उक्तम् "अर्थेन घटयति एना नहि मुक्त्वा अर्थरूपता तस्मात् प्रमाणाधिगते प्रमाण मेयरूपता" नहि वित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता. तस्या सर्वत्र अविशेषात् तान्तु सारूप्यम् आविशत् सरूपयितु घटयेद् इति च. तथाच वित्तौ अर्थसारूप्यमेव बहि अर्थानुमापक भविष्यति.

अत्र उच्यते : क्षणिकत्वाद् भावाना प्रत्यक्षत्व न उपपद्यते इति

अयुक्त, भावा क्षणिका सत्वात् प्रदीपकलिकावद् इत्याद्यनुमान प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाबाधितम् अस्तिच पूर्वापरक्षणवर्त्तिभावयो एकत्वस्थैर्यसाधक निष्कम्पम् अबाधित प्रत्यभिज्ञान "तदेव इदम्" इति इद प्रत्यभिज्ञान घटादे वस्तुन स्थैर्यं विना अनुपपद्यमान बलादेव एकस्य वस्तुन तत्कालैतत्कालसम्बन्धित्व साधयति नच द्वितीयादिक्षणे निरन्वयविनाशम् उपगतस्य वस्तुनो अनन्तरक्षणे तदनुगमाभावात् उक्तप्रत्यभिज्ञानस्य उपपत्ति भविष्यति नच एतत् प्रत्यभिज्ञान भ्रमो अबाधितविषयकत्वात्

किञ्च सत्त्वात् क्षणिकत्व साधन विरुद्धम् सत्त्व नाम त्रिकालाबाध्यत्व तच्च कथ क्षणिकत्वसाधनम् नच अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् तच्च क्षणिकत्वेन व्याप्तम् इति वाच्य, विकल्पासहत्वात् तथाहि अर्थक्रियाकारित्व सद् वा असद् वा? सत्त्वे तत्रापि अर्थक्रियाकारित्व वक्तव्यम् इति अनवस्था असत्त्वे असत्त्वापत्ति अतो असतो अर्थक्रियाकारित्वेन क्षणिकत्वव्यवस्थापनासम्भवात् अत सत्तासामान्ययोगित्वम् अबाध्यत्व वा सत्त्व वक्तव्यम् तथाच न क्षणिकत्वसिद्धि घटादयो अक्षणिका प्रमाणभूतप्रत्यभिज्ञाविषयत्वाद् व्यतिरेकेण वन्ध्यापुत्रादिवत् किञ्च क्षणिकत्वपक्षे अर्थक्रियापि न उपपद्यते क्षणिकत्वादेव नहि निर्व्यापारस्य अर्थक्रिया दृष्टा व्यापारकाले अवस्थायित्वे क्षणिकत्वभगप्रसग

किञ्च पूर्वक्षणस्य निरुद्ध्यमानस्य निरुद्धस्य वा उत्तरक्षणहेतुत्व न स्यात् नहि अभावाद् भावोत्पत्तिसम्भव सम्भवे वा सर्वत्र सर्वस्य उत्पत्तिप्रसगो अभावाविशेषात् "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधाद्" इत्यादिसूत्रे क्षणिकत्वस्य निराकृतत्वात्

एव बाह्यार्थस्य अक्षणिकत्वे यथायोग्य प्रत्यक्षगम्यत्वम् उपपद्यते इति वाल्लभा वदन्ति अन्ये च प्रत्यक्षवादिन अप्रत्यक्षे कस्मिंश्चिद् बाह्यार्थे बाह्यार्थानुमानमपि दु सम्पादकम्

सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्वम् :

सौत्रान्तिकादिसौगता प्रत्यक्षं निर्विकल्पमेव कल्पनापोढत्वात्. सविकल्पकप्रत्ययस्तु कल्पनायुक्तत्वाद् अप्रमाणम्. कल्पनाच जातिगुणकामादि-संसर्गयोग्यता इति वदन्ति. तदपि न युक्तिमत्. तथाहि इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण जायमानं ज्ञानं निर्विकल्पकं सामान्यरूपम् एकं जायते तत्र बुद्धिवृत्त्यनुग्रहात् सविकल्पकं प्रत्यक्ष व्यवहारोपयोगि ज्ञान जायते. बुद्धिवृत्तिश्च निर्विकल्पके अर्थाकारम् आरोपयति अतो निर्विकल्पक ज्ञानं बुद्धिवृत्त्युपनीतार्थाकारेण युक्तं सविकल्पक ज्ञान इन्द्रियजन्यत्वादेव प्रत्यक्ष जायते.

ननु सौत्रान्तिकमतेऽपि ज्ञाने अर्थाकारता जायते. इन्द्रियेण यो अर्थो ग्राह्य स तत्क्षणे स्वाकारम् अर्पयति विज्ञाने. तथाच विज्ञान साकारं जायते साकारमेव ज्ञान निर्विकल्पकं कल्पनापोढत्वात्. तच्च प्रमाणभूतम्. वल्लभमते तु निर्विकल्पक निराकारं बुद्धिवृत्ते प्राग् ज्ञाने अर्थारोपाभावात् निर्विषयत्वं निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात् किञ्च कोऽय बुद्धिवृत्त्यनुग्रह. यदि निर्विकल्पे जायमाने अर्थाकारारोप, तर्हि स आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि बहिर्देशे निर्गमनन्तरा असम्भवात्.

किञ्च इन्द्रियेण अर्थसयोग, मनसयोग, अविकल्पज्ञानोत्पत्ति पुन बुद्धिवृत्ति तया ज्ञाने अर्थारोप: इति गुर्वी अप्रमाणिकी च प्रक्रिया. तद्वर इन्द्रियेण ग्राह्यार्थस्यैव आकारार्थकत्वम् इति चेद् न स्यादेवं यदि विज्ञानसन्तति: चित्तापरपर्याया अनुच्छिन्ना अशाश्वती आलयविज्ञानरूपा श्रुत्यादिप्रमाणवादे अगीक्रियते युक्तिभि उपपद्येत. किन्तु तथा नास्ति. अत कुत्र आकारार्पण स्यात्. अप्रमाणिकम् अल्पपि कल्पन न युक्तिमत् प्रमाणिकञ्च गुरुभूतमपि अंगीकर्त्तव्यम्. खण्डितश्च अयम् अर्थ पूर्वाचार्यै तथाहि : क्षणिकचित्तसन्तति आलयविज्ञानं नाम यदि स्वीक्रियते तर्हि तेन इद सरूपम् इति ज्ञानस्य पूर्वोत्तरक्षणवर्त्तिसदृशपदार्थकस्य कर्तृकस्य अभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धान न स्यात् यदि एक ग्रहीता कल्प्यते तदा क्षणद्वयसम्बन्धित्वात् तस्य क्षणभग. नच कल्पितएव उक्तज्ञाने आकार

ननु बाह्य कश्चिद् अर्थ वासनावैचित्र्यादेव विज्ञाने साकारे ते अर्थाः भासन्ते. अत एकमेव विज्ञानसादृश्याकारम् इति न पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनो बाह्यौ पदार्थौ इति वाच्यम्. तेन इद सदृशम् इति वाक्यप्रयोगस्य आनर्थक्यप्रसंगात्. किञ्च उक्तविज्ञाने प्रतिभासमाना पदार्थानां विज्ञानाभेदे सति अर्थानामपि अभेदः प्राप्नोति. तथा च इतेतरभेदेन लोके प्रसिद्धा पदार्था बाध्येरन् एवं सति बाह्यस्य लोके प्रसिद्धस्य कस्यचिद् अर्थस्य विज्ञानव्यतिरेकेण अभावात् स्वपक्षसिद्धि-परपक्षनिरासरूपो विवादो न स्यात्. विज्ञानाकारत्वे हि विकल्पप्रतिभासिनां नित्यत्वानित्यत्वादीनाम् एकार्थविषयत्वाभावात् ज्ञानानाञ्च धर्मिणां भेदात् विरोधाभावात्. एकधर्मिक विप्रतिपिद्धधर्मद्वयाभ्युपगमस्य विवादरूपत्वात्.

यदि सौत्रान्तिको ब्रूते "अस्ति बाह्यो अर्थ. सतु क्षणिक निर्विकल्पके चकास्ति. सविकल्पकप्रत्ययास्तु विकल्परूपा· बाह्यार्थगतसादृश्याकारे निर्विकल्पकगतसादृश्याकारेण प्रतिभासन्ते. अत बाह्यार्थसद्भावे न विवादहानि· इति. नच स्वग्राहकस्य ज्ञानस्य स्वयं तावद् ग्राह्यम् आन्तरं कथं तस्य बाह्याकारविषयत्वम् इति वाच्यम्. विकल्पविषयद्वैविध्यात्. द्विविधो हि विकल्पाना विषयो ग्राह्य च अध्यवसेय च. स्वाकारस्य निर्विकल्पस्य अवसायाद् 'अधि'=उपरि अवसेयो 'अध्यवसेय'. अध्यवसेयो बाह्य. तेन हानोपादानादिप्रवृत्ति लोके सिध्यति स्वप्रतिभासे आन्तरे बाह्यात्मत्वाध्यासाद् इति तदपि न युक्तम्, आन्तरस्थ निर्विकल्पस्य ज्ञानाकारस्य तद्विपरीतबाह्याकारेण अध्यवसायस्य असम्भवात्. अध्यवसायो यदि आरोप तर्हि कस्य-कुत्र इति वक्तव्यम् आन्तरस्य ज्ञानाकारस्य बाह्ये आरोप चेत् सच बाह्ये गृह्यमाणे अगृह्यमाणे वा? तदपि बाह्यं स्वलक्षणं सामान्यं वा? अक्षसन्निकर्षेण विज्ञाने जायमानम् अर्थसारूप्यं विकल्पेन अनुमानेन गृह्यमाणे बाह्ये स्वलक्षणे न सम्भवति. नहि विकल्पस्य स्वलक्षणं विषय. नच सामान्यमेव बाह्यं तत्र गृह्यमाणे अर्थाकारारोप इति, तदपि न, व्यक्तिग्रहणं विना सामान्यस्य गृहीतुम् अशक्यत्वात्. अगृह्यमाणे बाह्ये स्वाकारस्य आरोपे स्वाकारएव स्यात् ननु बाह्य

इति एवम् अधिष्ठानप्रतिभासासम्भावाद् वाह्ये ज्ञानस्वरूपस्य नारोप आरोप्यस्य अस्फुरणादपि नारोप पूर्वं स्वाकारग्रहण पश्चाद् बाह्यार्थारोपण च अशक्यम् ज्ञानस्य क्रमविरहिणो ग्रहणारोपणयो असम्भवात् नच यदेव गृह्णाति तदेव आरापयति इति युक्त स्वाकारस्य स्वसवेदनप्रत्यक्षतया अतिविशदत्वात् बाह्यस्य च आरोप्यमाणस्य अविशदत्वात् उभयो भेद स्यात् एवम् अध्यवसायो असम्भव खण्डितश्च अय सौत्रान्तिकवाद सूत्रभाष्यभामत्यादिपु वाल्लभग्रन्थेषु च ततश्च वाह्यार्थो अक्षणिको यथायोग्य प्रत्यक्षेण बोध्य इति वाल्लभानाम् आशय एवञ्च सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्व सम्भवति इन्द्रियविषयसन्निकर्षजननीये निर्विकल्पे बुद्धया वृत्तिरूपया सविकल्पकत्व जायते

अर्थारोप

इद विचार्यते निर्विकल्पके बाहयार्थारोपो वल्लभमतेऽपि सौत्रान्तिकमतेऽपि प्रकारस्तु उभयो वर्णित तत्र विषयेन्द्रियसन्निकर्षे जाते चित्सन्ततौ विषयसारूप्य भवति तच्च स्वाकारविज्ञान निर्विकल्पक तादृशाकारस्य बाह्ये आरोपाद् प्रवृत्ति वाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पक जायते तत् किं निर्विषय सविषय वा? सविषयत्वे केन विषयाकार आरोप्यते बुद्धिवृत्ते पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पक ज्ञान स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता? किञ्च बुद्धौ यदि विषया सन्ति इति मत तर्हि योगाचारमतापत्ति नहि बुद्धो बहिर्वद् विषया सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव नच मायया बुद्धौ आक्षिप्यन्ते इति मतम् मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात् किंवा मायया निर्विकल्पकज्ञानएव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थो बुद्धिवृत्यगीकार

किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञान जायते तत् किं मन परिणामरूपम्? किंवा मन समवायी मनोधर्म? किंवा मनसि अर्थाकारारोप? प्रथमे निर्विकल्पक मन परिणाम, सविकल्पक च बुद्धिपरिणाम

इति गौरवम्. वृत्तिरपि बुद्ध्यवस्थाविशेषएव तै अंगीक्रियते.

द्वितीये समवायस्य अस्वीकृत्वात् मनोधर्मो ज्ञानं चेत् तद् बुद्धिवृत्तिः किम् उपकरिष्यति. अथ बुद्धि मनएकमेव अन्तःकरणरूपम् इति? तदपि न, स्वसिद्धान्तविरोधात्.

अपिच माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्तिः तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिः. यदि सर्वभवनरूपाशक्तिः तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्तिः. किञ्च वाल्लभमते ज्ञानं जडं चेतनं वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्. चेतनत्वे आत्मनो जडत्वापत्तेः, एकत्र चैतन्यद्वयानंगीकारात्. अथ चैतन्यं चेतनस्य आत्मनो धर्मएव इति मतं तर्हि शरीरादिसंघातस्य आत्मनि अध्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशसम्भवात् अलं बुद्धिवृत्त्या मानसे ज्ञाने अर्थारोपेण.

किञ्च बुद्धिवृत्ति बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते. बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादे बाह्यत्वात्. मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्येव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वरं बुद्धे बहिःनिःसरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानिः. बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः इत्येवमादयो विचाराः समाधेयाः सम्भवन्ति.

बौद्धमतखण्डनम् :

तदेतत् सर्वं तर्कप्रभवम्. नहि तर्केण अप्रमाणभूतेन वस्तुतत्त्वं व्यवस्थापयितुं शक्यते, "तर्काप्रतिष्ठानात्" इति स्मरणात्. एवञ्च यथाप्रमाणमेव वस्तुतत्त्वावगतिः. नहि वाल्लभैः अप्रमाणं किञ्चिद् उच्यते यथाशास्त्रम् अवगतिः क्रियते. किं मनः, का बुद्धिः, को अहंकारः, किं चितम्, इत्यादि सर्वं यथाशास्त्रमेव उच्यते. नहि शास्त्रं व्यवस्थितम् आप्तप्रकाशं तर्कैः व्याकुलीकर्तुं शक्यम्. बाह्यैरच बौद्धैः स्वमतिप्रकल्पनादेव स्वस्य

बहुप्रलापित्वं ख्याप्यते.

सौत्रान्तिकैः विज्ञानसन्ततिः तस्याअपि क्षणिकत्वं बाह्यस्यापि क्षणिकत्वम् इत्यादिसर्वं स्वमतिकल्पितमेव सर्वथा अनुपपन्नम् उच्यते. सर्वमेव विश्वं परमेश्वरात्मम् इति अविर्भावतिरोभावशक्तिभ्याम् उत्पन्नम् इति नातिरोहितं वेदशास्त्रविदाम् इति दिक्.

.......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या म.

बौद्धशाबराद्यनेकमतेषु पाण्डित्यनिकषभूते मूर्तिमत्सौमनस्यै तत्रश्रीपारसनाथद्वि-वेदिमहाभागै *सौत्रान्तिकवाल्लभवेदान्तमतयो प्रत्यक्षप्रमाविषयके तौलनिकविमर्शपरे* अस्मिन् आलेखपत्रे उभयो मतयो यत् तुलनात्मकस्वरूपप्रतिपादन तदुभयो च मतयो सम्भावितपूर्वोत्तरपक्षावपि स्वशेमुषिविशेषप्रकर्षेण समुद्भाव्य यच्च निरूपण कृत तद् एतन्महाभागेतरेण दुर्वह खलु कर्तव्यभारो केनापि निर्वोढु शक्य !

तेन यद्यपि उत्थिताकाक्षाप्रयुक्त किमपि वक्तव्य नावशिष्यते, श्रीमद्भि पारसनाथमहाभागैरेव निराकरणप्रकारस्यापि द्योतितत्वादेव. तथापि विषये अस्मिन् योहि "वल्लभमतेतु निर्विकल्पक निराकार बुद्धिवृत्ते प्राग् ज्ञाने अर्थारोपाभावात् निर्विषयत्व निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात्. किञ्च कोऽयं बुद्धिवृत्त्यनुग्रह ? यदि निर्विकल्पे जायमाने अर्थाकारारोप, तर्हि स आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि बहिर्देशे निर्गमम् अन्तरा असम्भवात्" इति यौक्तिकाक्षेपो दर्शित तत्र वाल्लभदृष्ट्या इह यत् किमपि यौक्तिक समाधान मनसि स्फुरति तद् उत्थाप्याकाक्षापूर्व्यै आवेद्यते : न तावद् अस्माक मते निर्विकल्पज्ञानस्य सर्वथा विषयाकाररहित्यम् आपादयितु शक्य "पुरोवस्थितम् इद किञ्चिद्"

इति विषयाकारस्य अभ्युपगतत्वेन निर्विकल्पकज्ञाने अभ्युपगतत्वेन न तत्र निर्विषयकत्वापत्ति, नामगुणकर्मसामान्यधर्माद्यनुल्लेखिन्या अनुभूत्या समनस्केन्द्रियेण निर्विकल्पकज्ञानवता पुरुषेण अपलपितुम् अशक्यत्वात् च नच एतादृशे विशेषानुल्लेखिनि ज्ञाने भासमान पुरोवस्थित स्फीतालोकवर्ति वस्त्वपि दूरदेशस्थवस्तुवत् स्वविशेषाकार निगूहत्येवेति तत्र बुद्धिवृत्तिकृतविशेषाकारापेक्षैव न स्यात् पश्चातु पूर्वानुभूत्यधिगतसज्ञादिसस्काराणा सकल्पविकल्पपरे मनसि समुत्थानेन च बुद्धि प्रति मनसा च प्रदर्शितेषु सत्सु तामसराजससात्त्विकान्यतमगुणोद्रेकजनितया च बुद्धिवृत्त्या तेषु सकलिताना अनवबोधसशयभ्रमादिवृत्तय कुतो न समुपजायेयु? सर्वस्यापि प्रत्यक्षावभासस्य इह परस्परसापेक्षदुर्लक्ष्योत्तरोत्तरावस्थाभेदेन शतपत्रवेधवद् झटिति जायमानत्वेन बाह्यार्थविशेषाकारारोपोऽपि तत्र बुद्धे बहिर्गमनापेक्षाभावादेव नासम्भव

एतेन "वाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पक जायते तद् किं निर्विषय सविषय वा? सविषयत्वे केन विषयाकार आरोप्यते? बुद्धिवृत्ते. पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पक ज्ञान स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता? इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्य समाधान जायतएव यस्मात् निर्विकल्पक हि तावत् समनस्केन्द्रियजनित ज्ञान सविषयकमेव तत्र अवभातस्य अनवगतविशेषाकारस्य वस्तुन पश्चाद् सकल्पविकल्पात्मकमनोगृहीतस्य विशेषाकारस्य बुद्धिवृत्त्या ग्रहणपूर्वक निर्विकल्पकज्ञाने तद्विशेषाकाराधानम् तेनच निर्विकल्पकज्ञानक्षणे विशेषाकारवत्तया अनवभातप्रकारता-काक्षायामेव पश्चाद् बुद्धे विशेषाकारावभासकतापि सशयभ्रमाध्यवसायाद्यन्यतमबुद्धिवृ-त्तिरूपा सुवचा इयमेव खलु बुद्धे आवश्यकता यदि उच्येत मनसैव तद् भवतु तदा इदम् आलोच्यता मनसोऽपि का आवश्यकता? यदि पुरोवस्थितवस्तुसयुक्तस्यापि चक्षुषो मनसाचीव्याभावे तद्ग्रहणसामर्थ्यानुपलम्भाद् आवश्यकता अस्त्येव इति चेत् तदा तेनैव न्यायेन बुद्धेरपि आवश्यकत्वम् अगीकार्यम् तथाहि अमनस्कपुरुषस्य इन्द्रियाणा विषयसयोगेऽपि विषयानुपलम्भदर्शनाद् यथा मनस आवश्यकता तथैव समनस्कपुरुषस्यापि इन्द्रियसयुक्तार्थोपलम्भक्षणे विषयविशेषाकारादे यदि उपलम्भनैयत्य चेत् तदा अनवबोधसशयभ्रमानुदयप्रसग

अथ अनुपलम्भनैयत्य चेद् अध्यवसायप्रत्यभिज्ञास्मृत्यनुदयप्रसग तत सकल्पविकल्प-हेतुना मनसा स्वकार्यकरणेऽपि अनवबोधसशयभ्रमाध्यवसायस्मृत्यादे उपलम्भादेव मनोभिन्नाया बुद्धे अगीकारोऽपि आवश्यकएव नहि ज्ञान स्वस्वभावादेव स्वविषयम् अवगाहतइति बाह्याभ्यन्तरकरणनिरपेक्षेण स्वभावेनैव लोके विषयावभासन सम्भवदुक्तिकम्

एतेन "किञ्च बुद्धौ यदि विषयाः सन्ति इति मत तर्हि योगाचारमतापत्ति. नहि बुद्धौ बहिर्वद् विषयाः सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव" इति आपादनमपि निरस्त वेदितव्यम् यस्मात् "तदेतत्(नामरूपकर्मत्रिक) त्रय सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एक सन् एतत्त्रयम्" (बृह उप १।६।३) इति एकस्य त्र्यात्मकता त्रयाणा च एकात्मकता चेति तादात्म्यवादिनाम् अस्माक मते "सर्वं सर्वमयम्" इतिच श्रुत्यनुरोधाद् प्रागपि इन्द्रियार्थसयोगाद् इन्द्रियार्थवस्तुनो नामात्मकतया बुद्धौ विद्यमानता तथा वस्तुन्यपि नामवद्बुद्धेरपि रूपात्मकतया विद्यमानताया दोषाभावात् विद्यमानयोरपि नामरूपयो आविर्भावस्तु पाञ्चभौतिकपदार्थाना शब्दस्पर्शरूपरसगन्धत-न्मात्राद्वारा तत्तद्ग्रहणोपकरणभूते इन्द्रियै सह परस्परसनिकर्षव्यापाद्द्वारकएव, समानस्वरोपेतयो इतरेतरपार्श्ववर्तिनो द्वयो तन्तुवाद्ययो एकस्य वादने अपरेस्मिन् स्वरानुरणनवत् इन्द्रियाणाञ्च मनोहकारसात्विकबुद्धिरूपाभ्यन्तरकरणव्यापारै उपकृताना पुरोवस्थितविषयेण सह सम्पर्के सति तस्मिन् "चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा अहमत्यापि अहकाराद् बुद्ध्यैव हि अध्यवस्यति" इति प्रणालिकयैव ज्ञैयताविर्भाव तस्माद् यथा सौत्रान्तिकनये अर्थसारूप्य ज्ञानप्रामाण्यघटक तथा वाल्लभनये ज्ञानाविर्भूतनामादिसारूप्यम् अनुभूतिगोचरस्य वस्तुन प्रमेयताघटकम् इति आस्थेयम्

एतेन "मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात् किंवा मायया निर्विकल्पकज्ञानएव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थो बुद्धिवृत्यगीकार." इत्युक्तिरपि परास्ता भ्रमात्मकज्ञाने विषय-तद्बहिष्ट्व-बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादीना विनैव सर्वावभास-कतोपलम्भकत्वदर्शनात् न प्रमात्मकेऽपि ज्ञाने एतेषा प्रत्यक्षगोचरत्व वा अनुमेयत्व वा व्यर्थम् इति शक्यशक, सौत्रान्तिकमतत्यागेन योगाचार-माध्यमिकमतप्रवेशापत्ते

इति विषयाकारस्य अभ्युपगतत्वेन निर्विकल्पकज्ञाने अभ्युपगतत्वेन न तत्र निर्विषयकत्वापत्ति, नामगुणकर्मसामान्यधर्माद्यनुल्लेखिन्या अनुभूत्या समनस्केन्द्रियेण निर्विकल्पकज्ञानवता पुरुषेण अपलपितुम् अशक्यत्वात् च नच एतादृशे विशेषानुल्लेखिनि ज्ञाने भासमान पुरोवस्थित स्फीतालोकवर्ति वस्त्वपि दूरदेशस्थवस्तुवत् स्वविशेषाकार निगूहत्येवेति तत्र बुद्धिवृत्तिकृतविशेषाकारापेक्षैव न स्यात् पश्चात्तु पूर्वानुभूत्यधिगतसज्ञादिसस्काराणा सकल्पविकल्पपरे मनसि समुत्थानेन च बुद्धि प्रति मनसा च प्रदर्शितेषु सत्सु तामसराजससात्त्विकान्यतमगुणोद्रेकजनितया च बुद्धिवृत्त्या तेषु सकलिताना अनवबोधसशयभ्रमादिवृत्तय कुतो न समुपजायेयु? सर्वस्यापि प्रत्यक्षावभासस्य इह परस्परसापेक्षदुर्लक्ष्योत्तरोत्तरावस्थाभेदेन शतपत्रवेधवद् झटिति जायमानत्वेन बाह्यार्थविशेषाकारारोपोऽपि तत्र बुद्धे बहिर्गमनापेक्षाभावादेव नासम्भव

एतेन "वाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पक जायते तत् कि निर्विषय सविषय वा? सविषयत्वे केन विषयाकार आरोप्यते? बुद्धिवृत्ते पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पक ज्ञान स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता? इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्य समाधान जायतएव यस्मात् निर्विकल्पक हि तावत् समनस्केन्द्रियजनित ज्ञान सविषयकमेव तत्र अवभातस्य अनवगतविशेषाकारस्य वस्तुन पश्चाद् सकल्पविकल्पात्मकमनोगृहीतस्य विशेषाकारस्य बुद्धिवृत्त्या ग्रहणपूर्वक निर्विकल्पकज्ञाने तद्विशेषाकाराधानम् तेनच निर्विकल्पकज्ञानक्षणे विशेषाकारवत्तया अनवभातप्रकारता-काक्षायामेव पश्चाद् बुद्धे विशेषाकारावभासकतापि सशयभ्रमाध्यवसायाद्यन्यतमबुद्धिवृ-त्तिरूपा सुवचा इयमेव खलु बुद्धे आवश्यकता यदि उच्येत मनसैव तद् भवतु तदा इदम् आलोच्यता मनसोऽपि का आवश्यकता? यदि पुरोवस्थितवस्तुसयुक्तस्यापि चक्षुषो मनसाचीव्याभावे तद्ग्रहणसामर्थ्यानुपलम्भाद् आवश्यकता अस्त्येव इति चेत् तदा तेनैव न्यायेन बुद्धेरपि आवश्यकत्वम् अगीकार्यम् तथाहि अमनस्कपुरुषस्य इन्द्रियाणा विषयसयोगेऽपि विषयानुपलम्भदर्शनाद् यथा मनस आवश्यकता तथैव समनस्कपुरुषस्यापि इन्द्रियसयुक्तार्थोपलम्भक्षणे विषयविशेषाकाराद्दे यदि उपलम्भनैयत्य चेत् तदा अनवबोधसशयभ्रमानुदयप्रसग

पत्तये तावत् प्रक्रियातु उपपादनीयैव वाल्लभैरपि. तत्र ऋते चार्वाकमतं सर्वेषामपि वादिनां मतेषु — ज्ञानाद्वैतवादिनो वा भवन्तु ज्ञानज्ञेयद्वैतवादिनो वा — एते जडरूपाएव चित्ताहंकारमनोबुद्धयः चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणेन्द्रियाणि च भवन्ति. तेष्वेतेषु — बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन वा भवतु अयोगोलकन्यायेन वा — ज्ञानोत्पत्तिं वा ज्ञानोत्पत्तिभ्रान्तिं वा सर्वे खलु अकामैरपि अवश्यांगीकार्यैव, अन्यथा प्रत्यक्षानुत्पादप्रसंगापत्तिरिति "न सार्वजनिकं दुःखम् एकः सोढुम् इह अर्हति!" नूनं तदेतत्तु सर्ववादिनां दुःखं सर्वैः मिलित्वैव सहनीयम्!

यच्च "बुद्धिवृत्तिः बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते. बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादेः बाह्यत्वात्. मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्यैव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वर बुद्धेः बहिःनिःसरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानिः बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः" इति वाल्लभमतस्य सौत्रान्तिकान्तिकतापत्तिः प्रदर्शिता सा खलु बाह्यार्थानुमेयवादिना सौत्रान्तिकेन तावद् न प्रदर्शयितुं शक्या, यस्माद् बुद्धेः बहिर्निस्सरणे बोद्धुः बुद्धिराहित्यापत्त्या बाह्यार्थानुमितिरूपा बुद्धिरपि नोदीयात् यदितु वेदान्तपरिभाषोक्तरीत्या तडागकुल्याकेदाराधिष्ठानेषु प्रवहमानजलवत् न बुद्धेरेव बहिर्निस्सरणं किन्तु बुद्धिवृत्तेरिति बहिर्निस्सरणमिव कश्चन ऐन्द्रियकप्रणाड्या विषयदेशसंगमः इति प्रस्तूयेत, तदपि न स संगमो अंशभेदेन तडागदेशत्यागपूर्वकं केदारदेशावस्थानं जलस्येव बुद्धिवृत्तेरपि सम्भवति यस्मात् स्वदेशावस्थितबुद्धिवृत्तेः अंशेन स्वाधिष्ठाने बोद्धरि अवस्थानं अंशेन च विषयाधिष्ठानेऽपि अवस्थानं, तदा एतयोः द्वयोः अंशयोः ऐक्यं वा भेदो वा? ऐक्येतु "अहं घटो घटद्रष्टा च" इति प्रतीत्यापत्तिः भेदेतु तादृशेन भिन्नेन अंशेन देहात् छिन्नेन करेणेव वस्तुग्रहणसामर्थ्यहानिः दुर्वारैव. नापि दर्पणे बिम्बाकारितासद्भावे दर्पणस्य बिम्बदेशे गमनम् अथवा बिम्बस्य दर्पणदेशे गमनम् आवश्यकम् इति केनापि उपदेष्टुं शक्यम्

सर्वथातु सौत्रान्तिकचिन्तनकाले वाल्लभवेदान्तस्य अजातत्वेन एतयोः मतयोः मिथो यद् मौनमिव आसीद् श्रीमद्भिः पारसनाथमहाभागैस्तु स्वासाधारणवैदुष्येन

अपिच "इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञान जायते तत् किं मनःपरिणामरूपम्? किंवा मनःसमवायी मनोधर्मः? किंवा मनसि अर्थाकारारोपः? प्रथमे निर्विकल्पक मन.परिणाम, सविकल्पक च बुद्धिपरिणामः इति गौरवम् वृत्तिरपि बुद्ध्यवस्थाविशेषएव ते अंगीक्रियते" इति यद् उच्यते तत्रापि वाल्लभमतीयप्रक्रियानुरोधाद् एतेषा विकल्पाना न एकसत्त्वे अपरासत्त्वरूपविरुद्धकल्पता तस्माद् इन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् मनसि जायमान निर्विकल्पक ज्ञान हि आदौतु विषयोपरञ्जितमनस साधारणपरिणामविशेषरूपएव स परिणामविशेषो जायमानो मन समवायितया मनोधर्मरूपोऽपि कुतो न भवेत्! भवतु च तेन मनसि सस्काररूपेण अवस्थितस्य वस्तुविषयकसकल्पविकल्पोद्बोधनम् तेषाञ्च पुन बुद्धि प्रति मनसा कृतेन प्रदर्शनेन बुद्धौ सविकल्पकज्ञानोत्पत्तिरपि भवित्री ननु कल्पनागौरवम् इति चेत् न, यथा सौत्रान्तिकनये ज्ञानातिरिक्तज्ञेयागीकारेऽपि न कल्पनागौरव तथैव वाल्लभनयेऽपि सौत्रान्तिकेन सोढव्यमेव

किञ्च "माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्तिः तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिः. यदि सर्वभवनरूपाशक्तिः तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्तिः" इति या आपत्ति प्रदर्शिता तत्रापि बाह्यविषय-तद्ग्राहकबाह्याभ्यन्तरकरण-तथाभूतकरणोपहितजीवचैतन्यम् एतेषा च मिथ सयोगवियोगादिव्यापारानुकूल्य च एवमादिसर्वं भगवत सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायाया कार्यम् एतद्वैपरीत्येन बाह्यवस्तुनि स्वभासकानुभूतिवैपरीत्य बाह्यवस्त्वभासके ज्ञाने स्वावभासितवस्तुवैपरीत्य च व्यामोहिकाया मायाया कार्यम् इति न कापि अनुपपत्ति

किञ्च "वाल्लभमते ज्ञान जड चेतन वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्. चेतनत्वे आत्मना जडत्वापत्तेः, एकत्र चैतन्यद्वयानंगीकारात्. अथ चैतन्य चेतनस्य आत्मना धर्मएव इति मत तर्हि शरीरादिसघातस्य आत्मनि अध्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशसम्भवाद् अल बुद्धिवृत्त्या मानसे ज्ञाने अर्थारोपेण" इति यद् आपादित तत्र तादात्म्यवादिनि वाल्लभमते एव प्रश्नाक्षेपावेव तावद् न उपपद्येते, सर्वस्यापि जडचेतनरूपस्य जगता ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मतादात्म्यागीकारेण परस्परतादात्म्यस्यापि अभ्युपगतत्वेनैव तादात्म्यस्य च भेदसहिष्णुभेदरूपतयापि अगीकारात् भेदव्यवहारोप-

पत्तये तावत् प्रक्रियातु उपपादनीयैव वाल्लभैरपि तत्र ऋते चार्वाकमत सर्वेषामपि वादिना मतेषु — ज्ञानाद्वैतवादिनो वा भवन्तु ज्ञानज्ञेयद्वैतवादिनो वा — एते जडरूपाएव चित्ताहकारमनोवुद्धय चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणेन्द्रियाणि च भवन्ति तेष्वेतेषु — बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन वा भवतु अयोगोलकन्यायेन वा — ज्ञानोत्पत्ति वा ज्ञानोत्पत्तिभ्रान्ति वा सर्वै खलु अकामैरपि अवश्यमेवाङ्गीकार्यैव, अन्यथा प्रत्यक्षानुत्पादप्रसगापत्तिरिति "न सार्वजनिक दुखम् एक सोढुम् इह अर्हति।" नून तदेतत्तु सर्ववादिना दुख सर्वै मिलित्वैव सहनीयम्।

याच "बुद्धिवृत्ति बुद्धे अर्थाकारावस्थाविशेष. इति तदपि न उपपद्यते बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादे बाह्यत्वात् मायया आक्षेपोऽपि बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादे बाह्यत्वात् मायया आक्षेपोऽपि रामानाकारस्यैव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात् एतस्माद् वर बुद्धे बहि नि सरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानि बहि नि सरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सौत्रान्तिकमतप्रवेश." इति वाल्लभमतस्य सौत्रान्तिकान्तिकतापत्ति प्रदर्शिता सा खलु बाह्यार्थानुमेयवादिना सौत्रान्तिकै तावद् न प्रदर्शयितु शक्या, यस्माद् बुद्धे बहिर्निस्सरणे बोद्धु बुद्धिराहित्यापत्त्या बाह्यार्थानुमितिरूपा बुद्धिरपि नोदीयात् यदितु वेदान्तपरिभाषोक्तरीत्या तडागकुल्याकेदाराधिष्ठानेषु प्रवहमानजलवद् न बुद्धेरेव बहिनिस्सरण किन्तु बुद्धिवृत्तेरेति बहिनिस्सरणमिव कश्चन ऐन्द्रियकप्रणाड्या विषयदेशासगम इति प्रस्तूयेत, तदापि न स सगमो अशभेदेन तडागदेशत्यागपूर्वक केदारदेशावस्थान जलस्येव बुद्धिवृत्तेरपि सम्भवति यस्मात् स्वदेशावस्थितबुद्धिवृत्ते अशेन स्वाधिष्ठाने बोद्धरि अवस्थान अशेन च विषयाधिष्ठानेऽपि अवस्थान, तदा एतयो द्वयो अशयो ऐक्य वा भेदो वा? ऐक्येतु "अह घटो घटद्रष्टा च" इति प्रतीत्यापत्ति भेदेतु तादृशेन भिन्नेन अशेन देहात् छिन्नेन करेणेनेव वस्तुग्रहणसामर्थ्यहानि दुर्वारैव नापि दर्पणे बिम्बाकारितासद्भावे दर्पणस्य बिम्बदेशे गमनम् अथवा बिम्बस्य दर्पणदेशे गमनम् आवश्यकम् इति केनापि उपदेष्टु शक्यम्

सर्वथातु सौत्रान्तिकचिन्तनकाले वाल्लभवेदान्तस्य अजातत्वेन एतयो मतयो मिथो यद् मौनमिव आसीद् श्रीमद्भि पारसनाथमहाभागैस्तु स्वासाधारणवैदुष्येन

सौत्रान्तिकवाल्लभवेदान्तिनौ परस्परमतविषयकं मौन सेवमानौ मिथो वाग्व्यवहारव्यापृतौ कृतौ. तदेतद् महते उपकाराय सर्वेषामेव कृते भवेदिति भृशम् स्वकार्तज्ञ्य प्रकाशयन् विरमामि.



Dharmakīrti and Vallabha on Pratyakṣa : Juxtaposition

Dr. Mangala Chinchore

In the classical history of Indian philosophical traditions, we find that Pratyaksa plays a very important role and hence there is unanimity in assigning the status of an independent Pramāna to Pratyaksa (means of cognition and / or justification) In this consideration there is no differentiation possible between Cārvāka, Śramanic and Brāhmanical traditions This is mainly because, common-sensically as well as philosophically, it is the easiest and simplest mode of getting access to reality—both internal and external—directly

However, if one undertakes an in depth study it becomes clear that though there is consensus in accepting Pratyaksa as an independent Pramāna, the nature and status of it advocated by the various philosophical traditions and their numerous adherents, is not the same And hence, there are various conceptions and interpretations of Pratyaksa There may be certain similarities and dissimilarities, too Very many times similarities are emphasized, but dissimilarities also need to be paid enough attention to, if one wants to understand uniqueness of a particular philosopher or a tradition Hencé, it becomes interesting and important to investigate into such

differences of opinion and critically examine the reasons behind the respective strands

In the present paper, I am going to pay attention to two such views, viz of Dharmakīrti, a well known Buddhist scholar from Mahayana tradition and of Vallabha, a spokes-man of Vedānta especially Suddhavaita-Vedānta I have chosen these traditions, because Buddhism and Vedānta both have considerably influenced our day to-day life and practices right from ancient times and even today are living traditions More importantly, they were predominant philosophical trends of thought, such that all the rest of the traditions of Indian classical period were influenced by them in one way or the other, and hence borrowed some points and concepts from them in due course of time Thus, both in thought and practice they have made significant contributions

Historically, though Dharmakīrti (7th Cen A D) and Vallabha (15th Cen A D) were neither contemporaries, immediate predecessors and successors, nor have they involved into debates and controversies directly or indirectly, nor even Vallabha criticises the views of Dharmakīrti in general or with regard to Pratyaksa specifically, still it is pertinent to juxtapose their views It is because, perhaps, Dharmakīrti attempts to give a methodologically comprehensive and appropriate analysis of Pratyaksa within the camp of Buddhism for the first time. In comparison to his predecessors like, Asañga, Vasubandhu, Dinnāga[1] etc it is distinct, and with

regard to his successors also, it seems, it is unique It is distinct in number of ways and hence followers of him, it seems, have not made any major alteration and modification in the analysis and explanation of Pratyaksa given by Dharmakirti, while writing the commentaries Various philosophers wrote commentaries by just adding further explanatory note/s, but the core remained almost untouched Thus, the impact of Dharmakirtis' views on his followers and successors within the Buddhist tradition is considerably noticeable, but even on the later non Buddhist philosophers[2] too it is not negligible On the other hand, Vallabha is proclaimed to be a true spokesman and as an authentic representative of Vedanta and hence is called as the founder of Suddha advaita (Vedanta in the purest / unqualified form) He represents a deferent school of Vedānta He has attempted, it seems, to analyze and explain Vedantic conception of Pratyaksa in a simplest way and transparently Thus, the choice of selecting the two representatives of respective traditions is not arbitrary but backed by a philosophical consideration To compare and contrast the views of Dharmakirti and Vallabha with reference to Pratyaksa and find out similarities and dissimilarities, along with their contentions is the aim of the present paper, which I wish to undertake in the following two sections In the first section, I shall consider their analysis of Pratyaksa and point out some of the similarities or dissimilarities On this background, in the second section, I shall inquire into the reasons behind their differences of opinion and corresponding perspectival variations anchored

in the respective philosophical foundations

SECTION - I

Analyses of Pratyaksa : Similarities and Dissimilarities

As is well known, the word Pratyaksa is used generally in two senses, i e as a Pramā (cognition) and Pramāna (means of cognition and/or justification) For both Buddhists and Vedāntins in general, there is a distinction between the two It is Pramā, which is cognitively much more important for both, yet it is Pramāna that is essential indeed for acquisition of the former, but it is methodologically secondary For, unless there is an instrument to cognise (Pramāna), there is no possibility of cognition (Pramā) Further Pramāna determines both form (Ākāra) and content (Āsaya) of the cognition (Pramā) Hence, obviously, in comparison to Pramā, Pramāna is logically primarily important, on the other hand, Pramā is epistemically primary Nonetheless, there can be and actually is a difference of opinion with regard to the autonomy of Pramāna One may advocate that the nature and number of Pramāna/s are not determined independently by themselves, but by either Prameyas or Pramātā[4] Yet, an inquiry into epistemic/cognitive considerations begins primarily from Pramā, and Pramāna/s derivatively, is a point to be noted However, we cannot go into the details of this issue here

All the philosophical traditions of Indian origin hold a

view that knowledge is essential not only for the destruction of and freedom from Avidyā/Ajnāna negatively, but for emancipation (Mukti or Nirvāna) by understanding the true nature of reality, positively And this is true with regard to both Buddhism and Vedānta, as well There are, perhaps, four important considerations commonly acceptable to both-

1 There is a possibility to know the ultimate truth, it is not unknowable
2 There exists something 'real' to know and it can be known directly, hence Pratyaksa Pramāna is upheld
3 Such cognition of truth is basically Nirvikalpaka (indeterminate) in nature
4 Savikalpaka (determinate) is not a legitimate kind of perception

Let us discuss these points of similarity

Our existence, continuation and growth as a human being is in some way or the other essentially connected to knowledge And we are minimally being endowed with sense organs, which enable us to have access to the external world and other things remaining the same, cognition derived from them is authentic and reliable To have sensation is a sign of our existence psycho physically as well as epistemically Our co relation with the external world could legitimately be established via experience And hence, there is a need to accept direct and immediate avenue to actual world we live in and our being essentially co related with it It is this,

perhaps, which compels them to advocate Pratyaksa as a Pramāna, minimally

Further, both uphold the primacy and decisive significance of Nirvikalpaka Pratyaksa (indeterminate-perception) The very definition of Pratyaksa given by Dharmakīrti[5] specifically [redacted] such that it excludes anything imaginarily conceived (Kalpanā apodha) and deceitful (Abhrānta) in nature It only concentrates on veridical kind of it, bereft of any kind of non reliability, viz illusion, hallucination, dream experience, or even ideation and conception, etc That is why it [redacted] non shareable, incommunicable It is knowledge acquired directly through acquaintance and hence is a pure form of sensation A similar kind of conception of Pratyaksa also is seen at the hands of Vedāntins in general and Vallabha[6] tradition in particular According to Vallabha, Pratyaksa [redacted] free from words, because what we experience directly cannot be expressed truly Such an experience is pure and simple There [redacted] a need and necessity of sense organs for getting direct cognition of the external world, which is acknowledged by both, Vallabha and Dharmakirti

Both hold a view that Savikalpaka Pratyaksa (determinate-perception) cannot be considered as a true case of it, because it [redacted] not a simple and authentic representation of reality as such Reality as it is, exists in the world and without any adulteration could be known / apprehended directly Since, in order of being existence is prior as contrasted to its

knowing and still further its communicating, Nirvikalpa is cognitively primarily important There is no reflective thought essential for the cognition of reality, as it truly exists Without intervention of *thought/s and expressions—verbally or non verbally*—i e without the help of signs and symbols or words, we can know existence appropriately in a simpler way directly Hence, Savikalpaka Pratyaksa is not a true kind of cognition of the ultimate reality but it is a distortive understanding For the sake of communication and/or explanation of whatever we have cognised directly, we take help of expressions, but they are our ways of understanding and interpretation of facts, and not what is true basically

Moreover, it is neither the form (Ākara) nor relatedness (Sambandha) or any kind of determination that is essential for proper understanding of the ultimate reality If a question is raised Can Pratyaksa be used as an access to ultimate reality without earlier experience or conception/s? To this both, Buddhist in general and Dharmakirti in particular on the one hand and Vallabha specifically and Vedantins in general on the other hand, agree on the point that the autonomy of direct cognition needs to be stressed universally In order to make sense of a particular experience, earlier experience of it is not essential For, it is only in the context of incidence of direct cognition, existential reality could be revealed with simplicity, clarity and distinctness, and not on the basis of its prior experience

One more point of similarity between them needs to

be paid attention to, viz knowledge of the ultimate reality (Paramārtha Sat) is such that there cannot be a distinction between knower (Jnata) object (Jñeya) and knowledge (Jnana) at the time of its incidence Such a three fold distinction is pertinent only on the general level of communication, interpretation and explanation of our experience of reality, which is conventionally true (Lok Samvrtti Sat) Ultimately however, all of them are convergent, and hence such a distinction itself is not vital At the moment of incidence of cognition discrimination and distinction of the above sort, is simply unavailable and hence it is primarily redundānt and futile It is only when we wish to justify our knowledge claim/s or communicate them to others, it becomes essential to put it into an epistemic framework and its categories of understanding Further, for incidence or occasioning of an experience, no other person is essential to be present Nor for its being reflectively interpreted and communicated, we require another person as Naiyāyikas hold I can very well communicate and explain to myself, in order to better understand, what I have cognised Thus, privacy of incidence of cognition and its subjectivity needs to be maintained going against the so called sway of objectivity

Lastly, but not least importantly, both hold a view that we have a disposition to cognise and we are endowed with sense organs This opens the possibility to comprehend reality, but unless and until something is given objectively to comprehend, we cannot utilize our capacities Hence,

independently of us world can exist, but anyone knows it directly only through perception with the help of sense organs Although we are very many times passive recipients of the comprehension/s and are capable of revelation of ultimate reality, yet whatever we cognise directly just because it is given to us, may not be true and authentic manifestation of the ultimate reality as such And hence, deception can be there in our experiential cognition So, there is a need to discriminate between veridical and non veridical cognition So long as we are alive there is a permanent possibility of deception and misunderstanding, but it is only through Pratyaksa that we can be free from such bewitchments and misconceptions with regard to reality, as it exists

After knowing the points of similarity, let us turn to consider some points of dissimilarity They are as follows

1. Status of Pratyaksa . To begin with, the very status of Pratyaksa as a Pramāna, for Vedantins is secondary not only enumeratively, but also functionally When there is a clash between the two kinds of cognition, viz acquired through Sruti and Pratyaksa, it is Sruti that enjoys an exclusive prerogative, context freely And, when we attempt to justify our directly apprehended knowledge claim/s, Sruti is the touchstone of it ultimately Though Vallabha admits Pratyaksa[7] as a Pramana along with the other three, viz Sruti (Authority/Testimony), Aitihya (Tradition) and Anumana (Inference), it is only within the framework of Sruti that the remaining three have to be made

sense of and not independently Thus, Śruti not only puts a constraint on the nature and function of Pratyaksa and thus operates as a determiner, but going one step ahead even they are ready to subsume Pratyaksa under Śruti[8] This implies that the autonomy and independence of Pratyaksa is relative to and delimited by Śruti

On the contrary, for Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, the status of Pratyaksa is completely independent and autonomous for its' functioning, and so is Anumāna, or vice versa As they admit only two Pramānas[9], viz Pratyaksa (perception) and Anumāna (inference), over and above these two no other means, like Sruti or Aitihya, need to be admitted Hence, the question of reduction or subsumption of Pratyaksa to any other Pramāna simply does not arise Even though enumeratively Pratyaksa is prior, such a priority is not determinative of the nature and status of Anumāna For, enumerative priorities cannot be determinative of cognitive and/or justificatory priorities Further, since Anumana is independent, it cannot be subsumed under or reduced to Pratyakṣa either

ii. Meaning of Nirvikalpaka: Although both of them define Pratyakṣa in terms of Nirvikalpaka Pratyaksa (indeterminate-knowledge) and deny Savikalpaka Pratyakṣa (determinate-knowledge) as a true case of Pratyakṣa, they differ on the nature of direct cognition itself According to Vallabha, Pratyakṣa is Indriyātmaka (consisting of and originating from Indriyas)

only, and hence Pratyaksa-Pramā (direct-cognition), its nature and structure, is determined by the sense organs This restrictive understanding of the meaning of Pratyaksa will not be and indeed is not acceptable to Buddhists in general and Dharmakīrti in particular. According to him, the content of cognition need not be determined by the channels (Āyatanas /Indriyas)[10], through which it is acquired For, it is possible to comprehend directly and immediately even without Indriyas, say for example, in the case of Mānasa Pratyaksa, Sva samvedana or Yogī-Pratyaksa etc [11], we do not necessarily require sense organs It is the content in its exhaustive form and characteristic way that is to be taken into account while defining Pratyaksa By its very nature and definition of it, it is Kalpanā-apodha (free from mental construction like ideas, thoughts concepts, imagination etc) and Abhrānta (devoid of fictitious and erroneous modes of it like illusion, hallucination, dream, etc), as necessary and sufficient features of it Generally, the true nature of it is reflected in its defining features, which will enable anybody to differentiate it from indirect (A-paroksa) cognition And more importantly, Indriya/s are not the causal determiners of the complete nature of direct cognition, but they can open the possibility of it Hence, they are sufficient conditions but not necessary as well Be that as it may For fear of digression we cannot afford to linger over this point here

iii. Nature of Pratyakṣa: Pratyaksa is not monotonously and restrictively to be understood, as Indriya Pratyaksa only, as

Vallabha seems to be doing According to Dharmakīrti, Pratyaksa is of four kinds viz Indriya, Manasa[12], Sva samvedana[13] and Yogī[14] Except the first one the remaining three, seem to be neglected by Vallabha-Vedāntins, and hence the nature and treatment of Pratyaksa at their hands seems to remain incomplete

Further, even restricting to the consideration of Indriya-Pratyaksa, unlike Vedāntins, Buddhists hold a view that Indriyas are five and not six Manas (mind) is not an Indriya (Physical organ), but a faculty of comprehension and has independent existence, apart from the other sense organs The nature and function of Manas is not similar to our organismic physical body, it is qualitatively different altogether It is through mind that we cognise various mental states, such as pain, pleasure, aversion, attraction etc, which cannot be cognised by sense organs Secondly, Sva Samvedana too cannot be considered within the framework of Indriya Pratyaksa, because I can cognise that I am cognizing, without the involvement of sense organs or of mind, and hence is an independent kind of Pratyakṣa Similarly, Yogī Pratyaksa advocated by Buddhists, is neglected by Vedāntins Yogī Pratyakṣa is that kind of cognition, which enables us to know about past, present, etc and about the subtleties of existence, which are impossible to be analysed within the framework of Indriya / Manasa / Yogī Pratyakṣa

iv. Object of Pratyakṣa: Although both are of the view that

Pratyaksa enables us to comprehend reality truly, for Buddhists such a reality consists of unique, particular, momentary features (Sva laksanas), which are susceptible to change (Anityatā) and are non substantial (Anātmatā) in nature On the contrary, for Vallabha, reality is Nitya and Śaśvata (eternal and permanent) And it consists only of universal transcendental principle, i e Brahman According to Buddhists, particularity and uniqueness is a built in nature of Svalaksana/s,[15] i e ontological existence And hence, differentiation and distinction is given to us and we do not fabricate it due to our Avidyā or Māya, as Vedāntins, it seems, attempt to argue To discriminate and differentiate is embedded in the phenomenal/e mpirical world, which is not ultimately true nature of reality, is the contention of Vedāntins It is wrong to hold that differences and distinctions don't exist ontologically, but are creations of our mind and its webs, according to Buddhists Rather, distinctions and differentiations are given to us and determined by the very nature of ontological reality and are not always the products of our wild imagination Hence, even though both are ready to accept Nirvikalpaka Pratyaksa, the meaning and nature of it at their hands is different According to Buddhists Nirvikalpaka is incommunicable, not because of non existence of differentia and uniqueness, but due to generality of the nature of words Whereas for Vedāntins, it seems, that reality is incommunicable because of its uniformly being one and hence, no differences are ultimately real Differentiations totally being products of mind and language, the truly real is 'neti neti' i e not so discriminated

v Nature of Savikalpaka Even though, prima facie, both deny Savikalpaka Pratyaksa as a legitimate variety of it, the meaning of Savikalpaka too seems to be different Whenever a distinction between part and whole (Aṁsa and Aṁsin) is held, it is significant conventionally (Lok Vyavahāra Sat) in the phenomenal world only and it is a product of the play of God (Prabhu lila) for Vedantins like Vallabha Whereas, Buddhists in general and Dharmakirti in particular, argues that Savikalpaka is not a true case of Pratyaksa at all but is articulation and formulation of already cognised something directly (Adhyavaseya), and hence it is to be considered appropriately under Anumana Since for cognition of something directly and its justification, Pratyaksa is enough Such a knowledge claim of the object of cognition directly (Grahya) can alone be demonstrated or established (Adhyavaseya) by the corresponding object so acquired (Artha sarūpya) As when we try to explain and communicate about our cognition of the ultimate reality it is not a matter of dogma but requires proof (Adhyavaseya), in order to be claimed as a true piece of knowledge It is like truth but not truth, though it is not illusion (Bhrama) for that reason Thus, Savikalpaka is neither illusion nor fictitious one, but truth attempted to be captured with approximation in thoughts and words, based on our understanding of the facts conventionally (Lok Saṁvrtti Sat) There is nothing like a play of God or otherwise. There is continuity experienced by us but it is relative and contextual, which could be made sense of only within the framework of change (Anityata) and non substantiality

(Anatmatā) and not independently of the two, according to Buddhists

vi. Role of Nirvikalpaka. The true nature of Pratyaksa is Nirvikalpaka, which according to Vedāntins like Vallabha is determined by the nature of Brahman Brahman alone is Sat (real), Cit (conscious) and Ānanda (bliss) Svarūpa and is one and only one (Ekam) Naturally, comprehension of truth which is made available to us through Nirvikalpaka Pratya ksa will have to be uniformly the same or identical Moreover, the truth will be eternal and the same, since the reality captured by it is Nitya (eternal) and reliable It is the transcendental unity preserved by the very nature of Brahman and is experienced directly Since, Brahman manifest everywhere as Sat (real), Cit (consciousness) and Ānand (bliss) Svarupa, anything that is objectively experienced by us is also of that kind Further, Brahman is Nitya (eternal), Eka (one) and Anirvacanīya (impossible to be described) Correspondingly our cognition of it, also exhibits such features of it

In contrast to this, Buddhists also advocate primacy of Nirvikalpaka Pratyaksa, but it is because of its uniqueness and extreme particularity Further, they hold that the world is not constituted of transcendental principle one or many but the plurality and variety is its built in feature On the contrary, Vedāntins like Vallabha hold a view that corresponding to our direct cognition we cannot acquire objects in the

real world (A-prāpyakārī), even though such a truth can have continued existence (Sātatya and Nairantarya), which Buddhists will not be ready to admit According to Buddhists, as mentioned above, Svalaksana/s being momentary we can have objects corresponding to our cognitions acquired directly (Prāpyakārī) Repeatability is not only denied but is improbable as well For Vedāntins it is not an Indriya (sense organ), which knows the object, but through sense organs it is the Buddhī (intellect), which reveals it And, Buddhī is of three kinds viz Sāttvikī, Rājasī and Tāmasī[16], hence we have correspondingly three kinds of comprehensions Such a classification of Buddhī and corresponding to it of cognitions cannot be held in the Buddhist framework, as according them any Buddhī is an articulated cognition, whether it be Sāttvikī or otherwise Nor like Vedāntins will they be ready to hold that only Sāttvikī-Buddhī is Nirvikalpaka Pratyaksa, and the rest two are Savikalpaka For them, anything, which is Kalpanā podha and Bhrānta, is Savikalpaka and anything, which is Savikalpaka, obviously cannot be Nirvikalpaka The difference between Nirvikalpaka and Savikalpaka is only of the stages, the former is cognition prior to communication, while as the latter is after its' being cognised and/or communicated, and not of kinds. On the contrary, it is not stages of cognition but of its kinds, one belonging to the realm of pure nature of Brahman being comprehended and another of our day-to-day empirical facts being cognised, according to Vallabha

vii. Process of Pratyakṣa: Lastly, but not least importantly,

coming to the process of Pratyakṣa Dharmakirtis' analysis of Pratyaksa is not process oriented, nor does he give a detailed explanation of the process of each kind of Pratyaksa Rather, he is much more interested in the content and prefers to give a qualitative analysis of it He stresses on the cognitive and justificatory (both) role of Pratyaksa, and classifies Pratyaksa (Nirvikalpaka) into four kinds viz Indriya, Manasa, Sva samvedana and Yogī, as mentioned above In each case, the process is different, and hence it is redundant and futile to discuss the process of cognition carried out separately in each kind Even when we restrict to his analysis of Indriya Pratyaksa we find that he stresses on the object of cognition and respectively its content And on that basis he analyses the nature of it and not on the basis of sense organs correspondingly determining its kind For the simple reason that Indriyas alone don t shape and determine direct cognitions, hence any kind of Pratyaksa is not necessarily determined by Indriyas Without Indriyas, Mind (Manas) can enable us to comprehend mental states, and hence, Manasa Pratyaksa is a separate category of Pratyaksa Similarly, in case of Sva samvedana, we cognise that we are cognizing i e cognition of cognitive process / cognitive states of existence and consciousness can be explained In Yogi Pratyaksa, one can instantaneously contemplate, intuitively know and clearly but insightfully comprehend the future or subtleties which normally otherwise we cannot cognise with the help of sense organs or mind Thus, in each kind of Pratyaksa, the process of cognizing will be different What is minimally at stake is given to know (Grahya) and someone

knows (Grahaka)[17] momentarily, and at that moment they turn out to be convergent, united and are inseparable (Aikya) in fact ontologically. As the object of perception is free from discrimination and construction, so is its comprehension. Thus Nirvikalpakatva of Pratyaksa is determined by the sort of unique object that is comprehended in it.

On the other hand, in the case of Vallabha Vedānta we find a detailed discussion of the process of perception, which seems to be a synthesis of Samkhya views on the one hand, Nyaya views on the other[18]. In the entire analysis of Pratyaksa, it seems that it is the knower (Pramatā / Jnāta) that is at the center. For, the process of perception[19] begins due to the favour of God towards Antaryāmin (inner controller / knower), which initiates (Manas) Mind. Mind becomes ready for particular action being undertaken, Manas further initiates the concerned sense organ / s (Indriyas), when a particular sense organ is favoured by Gods grace (Devatanukulyena)then only it comes into contact with the object of cognition. This results into reflection of indeterminate cognition Nirvikalpaka Pratyaksa particularly. Then, after there is interplay of the three kinds of qualities (Gunas) in the intellect (Buddhi), intellect may benefit (Anughraha) the respective sense organ either partially or totally, depending on which mental states manifest (Vrtti) and that leads to determinate cognition (Savikalpaka). But so long as inner emotions like attachment, aversion or neutrality do not provoke (Preranā), inner and external activities like effort will not

emerge This is necessary for actual external activity taking place in terms of acceptance or rejection or neutrality, ending into gain or loss, which is responsible for sorrow, happiness, or indifference. It means, when there is involvement of intellect (Buddhī) along with mental states (Vrtti) it gives rise to Savikalpaka Thus, determination with the help of form, quality, number, name etc is due to admixture of Buddhī and Vrtti, and not because of the object comprehended that possesses such attributes Further, five important factors[20] are involved in any action including cognition, viz Sarīra (body) as a Adhisthāna (substratum), Jīva (soul) as a Kartā (Agent), instruments (Karana) such as sight etc external sense organs action of Prāna etc, Cestā (vital air), Kāla (time) and God's will called Daiva (destiny) or the inner controller (Antaryāmi) of all living beings All the five together are the instrumental determiners / conditions, along with the Brahman, which is always a constitutive condition When cognitive action takes place a fraction and mixture of them appropriately is done Thus, Vallabha believes that the operation of sense organs is not possible without presiding of deities of the respective the sense organs and their grace Further, he holds, it seems, not only we can perceive external world but even perception of self and God is possible, through Pratyaksa

This is totally impossible to be made sense of within the framework of Buddhism, leave apart its acceptability For them, neither God exists nor self is real, hence perception of them is out of question Moreover these, above mentioned,

five factors, which are the instrumental conditions and the Brahman (transcendental principle) as the constitutive condition, also cannot be accepted by any Buddhist, including Dharmakīrti For Buddhists Anityatā, Anātmata and Duhkha is the true nature of reality Hence, ultimately no causal and substantia l/transcendental framework of analysis will help us to understand and comprehend reality directly and truly It is Pratitya samutpada (inter connectedness), which can help to explain the nature of cognition and our knowledge of the reality, but there is nothing mystical It is an event, which cannot be explained mechanically or totally as engineered deliberately and purposively There is a possibility of contingency Generally it is the external world given to us, from which explanatorily the process begins, and not by the grace of Paramatma (God) or from Antaryamin / Jnata (knower) The object of direct comprehension is not engineered or fabricated by our wild imagination completely, which has its own distinct and unique existence But, so too I am not a passive recipient Perception too being an event, neither an action nor a process, it neither requires any action by involvement of or initiation from any agent, human or divine Apart from other major differences, roughly speaking, it could be said that whereas Buddhists in general and Dharmakirti in particular present an event centric analysis of perception, on the contrary, Vedāntins like Vallabha basically put forth an agent centric analysis of it

With this background of the discussion of similarities

and dissimilarities, we propose to inquire into the reasons behind the respective strands and for that we turn to the second section

SECTION II

Reasons Behind the Perspectival Differences:

In the last section we have dealt with the views of Dharmakīrti and Vallabha with regard to the conception of Pratyaksa and various issues concerning it, viz definition, nature, status, role, conditions, process, kinds, etc Now in this section, I shall attempt to inquire into why such similarities and dissimilarities are noticeable At the outset it is clear that Dharmakirti being chronologically prior to Vallabha, some considerations of Pratyaksa are bound to be originated in his analysis and the latter being influenced by the former, however unknowingly it may be Further, it is not altogether impossible that Dharmakīrtis some views are borrowed or brought in by Vallabha, if not directly by front door at least by back door, even though the former belongs to a non Brāhamanical tradition It was a normal practice, as evident in the classical period of Indian history of ideas It was never considered as wrong to accept whatever is good, even though it may be originated in the opposite camp One can at least see influence and impact of predecessors on successors irrespective of the consideration of the camp to which one belongs And hence, such similarities are often noticeable, and to this trend perhaps even Vallabha is not an exception That is why he retained the analysis of Nirvikalpa pratyaksa

as a core of ultimate reality to be cognized directly through Pratyaksa and its primacy over Savikalpaka Nonetheless, their analysis and interpretations of it differ due to their differential ontological strands and influence of their respective predecessors Let us try to investigate into them briefly in what follows

(A) Prāmānya / A pramanya Consideration. According to Buddhists in general and Dharmakirti in particular, Aprāmanyam Svatah (non reliability is an intrinsic nature of knowledge in its origination), but it becomes reliable only when it fulfills certain conditions of its authenticity (Pramanyam Paratah)[21] Exactly opposite is the view of Vedantins, including Vallabha According to them Pramanya is Svatah (knowledge by its very nature is authentic and reliable), but due to external conditions conducive to pollution and adulteration it becomes unreliable (Apramānyam Paratah)[22] Thus, they disagree on the Pramānya (authenticity and reliability of knowledge) and Apramanya issue For Buddhists any piece of information gathered through cognition direct or indirect in order to be called as a knowledge claim worth the name, has to fulfill certain conditions of its reliability Conditions of cognition and conditions of its reliability are different, and that is the basic point of difference between them Knowledge, according to Dharmakirti by its intrinsic nature is not authentic but after going through certain examination, it becomes viable, acceptable and reliable Such conditions are three, viz Avisaṁvādakatva (non inconsistency), Avijñātārtha prakaśaka

tva (knowing something hitherto unknown) and Vyavahartavya-tva (pragmatic efficacy)[23] Further, such cognition in order to be true has to fulfill additionally two more conditions in order to be true, viz Artha-kriyā-kāritva (ability to provoke an action) and Arthasārūpya (correspondence) Thus, what is viable and acceptable need not be true as well The last two conditions are pertinent only within the framework of Pratyaksa and need not necessarily be fulfilled in the case of indirect cognition Perceptual cognition (Pratyaksa), thus, it seems, has to undergo five conditions for it's being reliable, and prove its worth as true, but by its very nature it is not true in its incidence

For Vallabha-Vedāntins, as pointed out earlier, Prāmānyam Svatah (knowledge by its very nature is self evident) For its reliability it does not have to pass through any tests and examinations, as it is consisting of and determined by Brahman, how can it be unreliable? Naturally, conditions of cognition alone are necessary and sufficient to be considered Any cognition in its very emergence is not only acceptable and reliable but true as well, and this holds good even with regard to Pratyaksa Moreover, this is for the simple reason that for Vallabha Śruti is the primarily important Pramāna, such that its authenticity and reliability cannot be challenged and all other Pramānas (i e three, including Pratyaksa) have to function and operate only within the parameters of Śruti It means if there is any clash between Śruti and Pratyaksa, it is the former, which will supersede Its nature being authentic,

reliability of it cannot be challenged, contested and questioned critically Such is not the case with regard to Buddhist consideration of Pramānas / Pramā / Satyatva of Pramā Going a step ahead, Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha, they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition One can find out one's own way disregarding the route laid down by the Buddha, in changing circumstances and situations, if it is essential Although, circumstantial forces compel one to live, act and experience certain things in a particular way, it is not ultimately and context freely true Neither the notion of truth is fixed and final, eternal and permanent, nor are our comprehensions of existential facts eternal and permanent Hence, any comprehension, direct or indirect, by its very nature is liable to be unreliable (Apramāna) In contrast to this, for Vallabha in particular and Vedantins in general, cognition of the Brahman cannot be challenged, though it can be directly made available, one will have to establish such a claim within the framework of Sruti Moreover, one will have to follow a particular way laid down by the tradition (Aitihya), then only it will be possible to have such a kind of experience of ultimate reality directly This seems to be dogmatic, from a Buddhist point of view Be that as it may

(B) Pramāna Samplava V / S Pramāna Vyavastha

Vedantins are ready to advocate Pratyaksa to be given secondary status as compared to Sruti For them, justificatory efficacy

of Sruti is much more stronger and indispensable as compared to Pratyaksa, because one's sense organs can have limitation as well as possibility to be deceived is rit large, due to involvement of mind and various states of it So context-freely Pratyaksa is not an independent mode of cognition and its justification is not built into it Rather, all the Pramānas are cognitively important but justificatorily Śruti is primarily important to all of them Functioning of all Pramānas, jointly and collaboratively is admissible to them, as they uphold Pramāna-Samplava For them, Pramānas - their nature and number is not determined by Prameyas (knowables), but by the Pramātā (knower) Since there is one and only one object of cognition ultimately i e Brahman, neither the distinction between Prameyas primarily nor of Pramā derivatively, is pertinent And in different contexts, which Pramāna is appropriate to be used, is decided by the choice of the knower (Pramātā) This amounts to the primacy of Pramātā over Prameya Hence, even though they accept the four Pramānas, all of them jointly or distributively enable us to give knowledge of the same ultimate reality, unitarily This is a kind of Pramā-Samplava advocated by them

On the contrary, as pointed out earlier, Buddhists not only vehemently criticise Pramāna Samplava[21] but also their ontology does not permit them to accept it Since, according to them as pointed out earlier, number and nature of Pramānas are determined by Prameyas Since, reality basically is unique, susceptible to change and essenceless, the mode to cognise

(Pramāna) such a reality must also be restrictive in its operation Now, reality may either be comprehended as it is or as we conceive, construct, imagine, and communicate it to be the case Prameya determines Pramana, and accordingly for them Prameyas are more important than Pramānas There are two mutually exclusive sorts of knowable (Prameyas) and there are correspondingly two mutually exclusive kinds of Pramānas Their functions too are mutually exclusive and jointly exhaustive They advocate a kind of Pramana vyavastha Thus, there would be no circularity between Prama, Pramāna and Prameya relation One kind of Prameyas (Svalaksanas) are truly real, where as the other kind of Prameyas (Samānya laksanas) are distortively construed or imagined by us Hence, respectively we have two sorts of Pramānas to know them separately None of them alone can enable us to cognise both the sorts of knowable And, over and above these two kinds of knowables, there is nothing real worth to be comprehended, hence they are exhaustive

(C) Authority Text / Tradition / Person V / S Rationality: Buddhists do not admit any God Nor do they admit any tradition Vedic (Sruti) or otherwise or text to be source of inspiration Acceptance of Vedas is the crux of Vallabha's interpretation of the conception of Pramanas primarily and of Pratyaksa particularly Grace of god is an important factor to initiate the entire cognitive process and ultimately it culminates also into the cognition of Brahman (God) Our cognition of determinate world and objects in it too is dependent

upon His Will Thus, it is He who sees Himself in the true case of perception In order to experience Him indeterminately we have to do Bhakti But even though we are cognizing something in determinate mode of it, it is (Līlā) the play of God

For Buddhists, self as a substance or transcendental entity is not ontologically true Even though in our day-to day activities conventionally, we claim that we know, act, etc , such expressions are significant only in the phenomenal world (Lok Saṁvṛti Sat) Hence, truly insightfully what we cognise is that there is nothing like self or soul It is due to our ignorance, misunderstanding (Avidyā) we construct the idea of it Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile

Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function Nor mind (Manas) and various modes (Vṛtti) of it are capable of determining the nature of cognition For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play Likewise, according to them, the contention of such Vedāntins as Vallabha that mind endowed

with Sattvikī Vṛtti is disposed to indeterminate cognition is untenable one For Buddhists determinateness and indeterminateness of cognition is not decided by mind and its Vṛtti (modes) but independently of the knower context freely, by the kinds of knowables and their features Hence, even though Savikalpaka Pratyaksa is admitted as a kind of Pratyaksa, Buddhists hold, it is not regulated by mind in the sense in which Vallabhas are claiming

(D) Nature of the Ultimate Reality According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha sarupya) and pragmatic efficacy (Artha kriya karitva) of our cognition And Pratyaksa enables us to have access to it Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence I may happen to chance upon it or not Further even though we cognise every unique real through indeterminate kind of (Nirvikalpaka) perception, such a cognition can bring forth true nature of anything through Anityata (impermanence), Anatmatā (non substantiality) and Duhkha (pain and suffering), and lead to insightful understanding in the form of Nairatmya Darśana, which according to Buddhists is the true nature of reality, and that cannot be confused with Kutastha Nitya Brahman of Vallabha Vedantins

(E) Determinism V/S Indeterminism Vallabha Vedantins it seems are attempting to give a causal analysis of perception, which cannot be accepted by Buddhists One can

discuss context-free conditions but not contextual causes, as they will be determined by situations For Buddhist philosophers in general and Dharmakīrti is particular, the role of Pratyayas is predominant in Pratyaksa Pratyayas are of four kinds viz Ālambana, Adhipati, Samānāntara and Hetu (Sahabhu) All of them are necessary and sufficient conditions of perception of any kind Ālambana (object of cognition / sensation) unless there is something to cognise, the very possibility of perceptual cognition will not arise Adhipati (capacity to cognise / receptive disposition) unless there are appropriately receptive sense organs, there can be no perceptual cognition either Samanāntara (necessity to co exist or have parallel existence of the two) unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grāhaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahakāri Pratyayas are those auxiliary factors like light etc, which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition, but they cannot to be misunderstood as causes Dharmakirti frankly admits direct-cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition But such objects exist independently of the knower Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts Perceptual cognition, according to him, is private in its incidence but that does not deprive it from its objectivity Pratyayas

are common general conditions of incidence of perceptual cognition But Pratyayas are non causal and non-intentional in nature We cannot go into the details of this issue here

(F) Use of Knowledge: Lastly, Dharmakīrti emphasises that Pratyaksa enables us to have direct cognition, but in it Heyopādeyatā (critical discrimination) is involved on the one hand and Samyakatva (insightful comprehension) on the other, in order to use such a cognition for Nirvana, and not merely for Duhkha Nivrtti Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given It is not determined by mind or subjective contextualities Rather, it is oriented towards Nirvana (emancipation) It is not saddled negatively only into Duhkha Nirodha, but positively leads to Nirvana, which seems to be contrary to Vedantic conception According to Vedantins like Vallabha, such knowledge itself is Moksa, which is opposite side of Duhkha Nivrtti

Further, capacities of human cognition are not determined by God's grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong, etc, on the basis of proper goals and aspirations of life on the one hand and the means to be used for their realization, on the other Dharmakirti stresses on Jnana (cognition) as an important avenue of emancipation

for human beings and Pratyaksa plays an important role in it It is authority, which is challenged by rationality Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on Neither Bhakti nor Śruti as explained by Vedāntins is essential for making sense of ones life and experiences in it No prior experience, mine or someone else's, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti

Thus, Dharmakīrtis analysis of Pratyaksa appears to be more rational than traditional Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas, hence attempting a kind of synthesis - prevalent thoughts of Brāhmanical traditions within the framework of Vedanta It is a unique attempt of synthesis, but we cannot deal in this paper with its significance in the History of Ideas[25]

Notes and References:

1 Whenever one attempts to study Buddhist logic and epistemology, Dinnaga and Dharmakirti are said to be the founders of the systematic account of it. Although within the Buddhist camp, Nagārjuna is said to be the founder of Mahayana Buddhism and hence he has established it systematically as an independent philosophical system Yet proper analysis and theories of logic and epistemology are dealt with starting from Dinnaga only There are differences of opinion amongst Dinnaga and Dharmakirti But,

in the present context, we cannot dive deep into the controversy between Dinnaga and Dharmakirti Nor can we hope to concentrate on the conceptual changes historically or otherwise within the Buddhist tradition with regard to Pratyaksa To investigate into such intra school controversies lies outside the scope of the present paper

2 If one compares later Buddhist scholars after Dharmakirti on Pratyaksa, say for example Dharmottara, Prajñakara Gupta, Manoratha Nandin, Moksakara Gupta, Santaraksita, Kamalsila, Vinitadeva, etc one finds that at least for 5 to 6 centuries the impact of Dharmakirtis views is clearly seen Dharmakirti appears to be a predominant and influential philosopher such that not only within Buddhist camp after him but even non Buddhist traditions like Nyaya, Vedanta, Samkhya, Jainism etc his views were brought in, if not directly borrowed, at least by back door This is noticeable to such an extent that later on almost in all the non Buddhist traditions some or other concept idea notion etc, is attempted to be brought in For example Savikalpaka Nirvikalpaka distinction of Pratyaksa pioneered by Buddhists seems to have attracted attention of all the later traditions

3 Although Sankarâcârya is the earliest founder of the systematic philosophical tradition of Vedânta, Vallabha has attempted to save Vedânta from its onslaught from Mohammedans and Pauranic traditions We are told that it is he who revived Vedânta from socio political upheavals and tried to bring back the original status of philosophical thinking and living mode of life and practices to Vedânta. Please see in this context, A History of Indian Philosophy, Dasgupta, S N, Vol No IV pp 371 81

4 Buddhist Conception of Prameya', Chinchore, M R (Forthcoming)

5 Kalpanapodham abhrantam pratyksam / Nyava Bindu, Dharmakirti, p 8

6 Prasthana Ratnakara pp 6 20

7 Sruti pratyakṣam aitihyam anumānam catustayam / Ibid, II u 9

8 Ibid II u 12

9 Dvividham samyag jnanam / pratyakṣam anumanaśca / Nyaya Bindu, Dharmakirti, pp 7 8

10 Ibid pp 8 13, See also Pramana Vārtika, Dharmakirti, Ch II, K 191 172 pp 158 72

11 Nyaya Bindu, Dharmakirti, pp 12 20

12 Ibid, p 13

13 Ibid, p 14

14 Ibid, p 14

15 Manam dvividham Viṣaya daividhyat / Pramāna Vartika, Ch II K 1 pp 98 101

16 Prasthana Ratnakara pp 127 130

17 The meaning and interpretation of the word Grahya' and Grahaka' at the hands of Buddhism is different from all other Indian philosophical traditions especially Nyaya We cannot deal the details of it in the present paper

18 A History of Indian Philosophy, Dasgupta, S N Vol No IV pp 336 70

19 Ibid, pp 147 8

20 Ibid, Introduction pp 65 66

21 Pramana Vārtika, Dharmakirti, Ch I pp 319

22 A Critical survey of Indian Philosophy, Sharma, C D pp 377 85

23 'Dharmakirti on Criteria of Knowledge', Chinchore, M R Indian

Philosophical Quarterly, Pune, Vol XVI-3, July 1989, pp 319-44

24 'Pramana Samplava V/S Viplava a Glimpse into Nyaya Buddhist Controversy', Chinchore, M R Santaraksita His Life and Works, Tibet House, Delhi, p 41 55

25 I am thankful to Sri Sharad Goswamiji for inviting me to the Seminar and giving me a chance to write this paper I am also grateful to all the participants in the Seminar, who have asked me questions, which has enabled me to modify my views and provided impetus to write this paper

*

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ मगलाजी चिचोरेके, आचार्य धर्मकीर्तिके विचार और वाल्लभ वेदान्तके प्रत्यक्षप्रमाके स्वरूप विषय और प्रामाण्य के तुलनात्मक विमर्शके बारेमे, प्रस्तुत आलेखपत्रमे लेखिकाका प्रतिपाद्य विषयका गम्भीर अध्ययन तथा तुलनात्मक विमर्शकी आदर्श रीति प्रकट हुयी है. तदर्थ विचारगोष्ठीमे सहभागी बननेवाले सभी निश्चयेन उपकृत हुवे है

फिरभी मेरे कुछ विचार इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनमे मै भी अवश्य प्रकट करना चाहुगा

इतनी बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि वाल्लभ वेदान्तकी चाहे तत्त्वमीमासा हो, प्रमाणमीमासा हो अथवा धर्ममीमासा हो वह श्रुति आदि शास्त्रोके 'वचनोंपर मुख्यतया इसीलिये अवलम्बित होती है क्योकि वाल्लभ वेदान्त

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका मूलत शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है वह उनका कोई मौलिक चिन्तन नहीं. अतएव विदुषी मगलाजीका यह कहना कि "Thus, Dharmakīrtis analysis of Pratyaksa appears to be more rational than traditional Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas" तो इस विधानके साथ तो किसी भी तरहकी असहमति प्रकट करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता यह तो हमे हृदयेन धन्यवादप्रदानार्ह प्रशसा ही लगती है साथ ही साथ यह स्पष्टीकरण अवश्य देना चाहूगा कि आचार्य धर्मकीर्तिकी 'रेशनल् एनॅलसीस्' यदि उनकी स्वयकी हो तो उसका बुद्धमतके रूपमे प्रामाण्य अस्वीकार्य हो जायेगा यदि वह बौद्ध मतकी सीमाके भीतर दी गयी बौद्ध अवधारणाओकी तार्किक उपपत्ति हो तो परम्पराप्राप्त बौद्ध मतको आचार्य धर्मकीर्तिने भी भगवान् बुद्धके उपदेशोके शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही समझ-स्वीकार कर उसका युक्तिओसे उपपादन करना चाहा होगा तब तो वाल्लभ वेदान्तसे इस अर्थमे उनका कोई विशेष अन्तर सिद्ध नहीं होगा वैसे यह एक भारतीय वास्तविकता है कि परमतनिराकरणमे हम सभी तार्किक अभिगम अपना कर चलते है परन्तु परम्पराके प्रति अपनी निष्ठा तो परम्पराप्राप्त वचनराशीका—बोले या बिनबोले—स्वत प्रामाण्य मान कर ही क्योकि, स्वाभाविकरूपेण, बौद्ध और वाल्लभ मतोके बीच चलती चर्चामे बुद्धवचन या वेदवचन तो प्रमाणतया प्रस्तुत नहीं किये जा सकते स्वयके, परन्तु, परम्परागत मतको तो शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही स्वीकारना पडता है भारतमे, अतएव, सभी दार्शनिकोके अपने-अपने सम्प्रदाय होते है. किसी भी सम्प्रदायसे न जुडनेवाले दार्शनिकोकी गणना अगुलियोपर करने जानेपर अगुली ही अधिक रहेगी अगुलिपर्वोकी आवश्यकता नहीं पडेगी।

विदुषी मगलाजीका कहना है "It ■ authority, which ■ challenged by rationality Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on Neither Bhakti nor Śruti

as explained by Vedantins is essential for making sense of ones life and experiences in it No prior experience, mine or someone else s, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti ' पर मुझे लगता यह विधान अर्धसत्य है पूर्णसत्य नहीं क्योंकि आचार्य धर्मकीर्ति अपनी तर्कप्रवणता द्वारा श्रुतिआदिकी ओथोरीटिको ही चेलेज कर रहे है— भगवान् बुद्ध या बौद्ध योगियोके वचनोकी ओथोरीटिको नहीं— वैसे आचार्य धर्मकीर्तिके लिये तो यह सर्वथा उचित ही था फिरभी बौद्ध योगिओके प्रत्यक्षकी वकालतमे, शायद विदुषी मगलाजी भी इतना तो स्वीकारेगी ही, कि आचार्य धर्मकीर्तिने भी—

> "अविसवादन शाब्देऽपि अभिप्रायनिवेदनाद् वक्तृव्यापारविषयो यो अर्थो बुद्धौ प्रकाशते प्रामाण्य तत्र शब्दस्य न अर्थतत्वनिबन्धनम् प्रामाण्य व्यवहारेण शास्त्र मोहनिवर्तनम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगते पर प्राप्त सामान्यविज्ञानम् अविज्ञाते स्वलक्षणे यद् ज्ञानम् इति अभिप्रायात् स्वलक्षणविचारत तद्वत् प्रमाण भगवान् अभूतविनिवृत्तये भूतोक्ति साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता"

(प्रमा वार्ति १।३-९)

अपने इस प्रतिपादनमे ज्ञेयार्थके अनुरोधका त्याग कर किसी विशेष प्रकारके ज्ञातामें उसके योगी होनेकी श्रद्धाके विवश ही आर्यसत्यकी चतुष्टयीको 'traditional blind and fixed regulations" की तरह स्वीकार लिया है। न केवल इतना प्रत्युत उस योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक मान कर निजाभ्युपगत लोकसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी प्रामाणिकतापर भी सशयचिह्न लगा दिया क्योंकि योगिओको हुवा प्रत्यक्ष उनकेलिये कदाचित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो पर उस प्रत्यक्षमे अनुभूत आर्यसत्यचतुष्टयी या प्रतीत्यसमुत्पाद आदिका अविसवादि ज्ञान हमे तो उन योगिओके उपदेशोके शब्दप्रामाण्यको स्वीकारनेपर ही शक्य

बनता है, जब तक हमारे भीतर वैसा योगवल सिद्ध न हो पाये सामान्यलक्षणप्रतिपादक "सर्व दुख, सर्व स्वलक्षण, सर्व क्षणिक, सर्व शून्यम्" सदृश शब्दोमे अभिलप्त विधानोको, वदतोव्याघात हो जाता होनेसे, अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिरूपा कल्पनासे वर्जित अभ्रान्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो किसी भी असर्वज्ञ मनुष्यको हो ही नहीं सकता भूत/भावी या इन्द्रियसे अग्राह्य सूक्ष्म पदार्थोके बारेमे योगिजनोको होते प्रत्यक्षके उपदेशवचनोका न तो अर्थसारूप्य और न सफलप्रवृत्तिजननरूप अविसवाद ही ज्ञात हो सकता है क्योकि वह यदि सम्भव होता तो सवृतिसत्यकी तृतीयकोटिके अनुधावनकी अपेक्षा ही उभर न पाती। फिरभी इन विधानोका जो प्रामाण्य मानना पड़ा है वह तो श्रद्धावश ही है तर्कवश नहीं रही बात उपदेशगत शब्दोकी पश्चात्कालीन वस्तुमात्रकी सुखरूपता सामान्यलक्षणानुरूपता स्थिरता या द्रव्यात्मता के तार्किक अपोहन द्वारा दुखरूपता स्वलक्षणता आदिकी उपपत्ति या परार्थानुमिति की तो वह तो वैदिक वचनोद्वारा प्रतिपादित अर्थके बारेमे श्रुतिप्रामाण्यवादिओने भी प्रस्तुत की ही है यहा लक्ष्यमे रखने लायक कथा यह है कि प्रमाणवार्तिकमें "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदको य प्रमाणम् असौ इष्टो नतु सर्वस्य वेदक दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाण दूरदर्शी चेद् एतान् गृध्रान् उपास्महे" (प्रमा वार्ति १।३४-३५) ऐसे तार्किक दृष्टिकोणका घण्टाघोष कर चुकनेके बावजूद न्यायबिन्दुमे भी उसी गृध्रविशेष योगिप्रत्यक्षके प्रामाण्यका पार्श्वद्वारसे प्रवेशन योगी पुरुषके वचनोके शब्दप्रामाण्योपजीवनके लिये करा दिया गया है क्योकि वहा पुन तर्कके बजाय गृध्रविशेष सामर्थ्यको ही योगिप्रत्यक्षतया न केवल प्रमाण अपितु निर्विकल्पकप्रत्यक्ष भी मान लिया गया है यह—

"समाधिबलप्रभव भूतभाविवर्तमानाना यथा देवाद्यधिष्ठानप्रभावेन सत्यानि स्वप्नज्ञानानि भूतभाविविविधविषयाणि अविप्रमाणि उत्पद्यन्ते तथैव योगबलेन ध्येयाना ज्ञानम् अतीतानागतदूरसान्तराणुभूतविषयाणा प्रकाशक ज्योतिरूपम् उत्पद्यते यथा वा भगवत शाक्यमुने उपदेशे थाविदशनिमित्त-सत्योपलब्धि-मातृचेटकालक्षय-

राजाशोकाद्याशावन- कश्मीरदेशागमाः अविपरीताः उपलभ्यन्ते.''

(न्या.बि.विस्त.११).

न्यायबिन्दुविस्तरव्याख्याके आधारपर यही फलित होता है. बौद्ध मतमे योगिप्रत्यक्षके निरूपक वचनोकी प्रामाण्यरक्षाके हेतु ब्राह्मणपरम्पराकी तरह देवकृपा होनेपर स्वप्नभ्रमको भी यहा अविभ्रमतया बिरदाया गया है, मानवकी गरिमाके तुच्छीकरणद्वारा! जहां तक ऐसी भविष्यवाणियोंके प्रामाण्यका प्रश्न है तो वह तो शब्दप्रामाण्यवादी चिन्तनमे भी एक नहीं अनेक मिल ही सकती है. विदुषी मगलाजीका कहना है कि "Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha; they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition" इसे पूरी निष्ठासे प्राचीन बौद्धोने स्वीकारा होता तो योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माननेके व्यायामकी अपेक्षा ही होनी नहीं चाहिये थी.

आज तो हम देख सकते है कि वीतरागिता या योगसमाधि, जैसे साधारण मानवको असुलभ उत्कर्ष, के बिना भी इन्फ्रारेड् रेज़् अल्ट्रावायोलेट रेज़् एक्स रेज़् या हाई रेडियो-फ्रिक्वेंसीस् वैव्ज् के ग्राहक उपकरणोके उपयोग करनेवाले अतिशय राग मोह द्वेष असूया से ग्रस्त गर्हित मनुष्यमें भी ये सामर्थ्य सर्वसाधारणतया प्रकट हो पाती है. ऐसी स्थितिमे इनके प्रत्यक्षको 'योगिप्रत्यक्ष' मानना या नहीं?

आलेखपत्रमे यह भी कहा गया है कि "capacities of human cognition are not determined by God's grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong" इस निकषकी वास्तविकताकी परीक्षा तो तभी सम्भव हो सकती है, जब

कोई स्वय अपने विवेकके बलपर *मार्क्विस् द सेद्* के 'डाइग् मेन एड्र प्रीस्ट्' कथाके नायककी तरह निर्वाणाभिमुख करनेवाली बौद्ध जीवनप्रणालीके आदर्शको ठुकरा देता हो और तबभी उसे आचार्य धर्मकीर्तिके चिन्तनके आधारपर उचित ठहराया जा सकता हो वैसे हमारे अस्तित्वका अभिन्ननिमित्तोपादानभूत भगवान् न सही, आर्यसत्योके अनुसरणार्थ, हमारे जैसा ही पुरुष, पर जो बोधिको प्राप्त कर चुका हो, उसकी कृपा तो बुद्ध-धम्म-सघके त्रिशरण लेनेवाले बौद्धोंने भी मान्य रखी ही है

ज्ञानोपयोगकी चर्चामें जो "Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given" इस विषयमे अविद्यासे आरम्भ कर दुखपर्यन्त द्वादशायतनके प्रतीत्यसमुत्पादनियमके अकुशसे स्वतन्त्र तो मानवीय प्रत्यक्षानुभूति, विवेक या स्वाधीनता हो नहीं सकती उसे ऊपरसे लादा गया नियम न मान कर मानवीय व्यक्तित्वका घटक मान चलनेपर स्वातन्त्र्यबोध अपहृत नहीं होता ऐसी वकालत करने जानेपर तो प्रतीत्यसमुत्पादनियमके सदृश ही ब्रह्मवादियोके मतमे भी जागतिक लीलाविधानमे जो काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका परिवेश है उसे हमारे व्यक्तित्वका घटक ही माना गया ऊपरसे लादी पराधीनता नहीं अत जीवात्मा व्यक्तिकी अपने घटकके आधीन होनेके तथ्यके साथ ही साथ वैयक्तिक सदसद्विवेक अभिलषितफलेच्छा तदनुकूलप्रयत्न तथा फलानुभूति का स्वातन्त्र्य तो मान्य रखा ही गया है अवधेय है कि वाल्लभ वेदान्तमे अशिरूप ब्राह्मिक लीलाविधानका अद्वैत, अशोके ज्ञानेच्छाप्रयत्नफलानुभूतिके वैयक्तिक द्वैतको मिथ्या मान कर नहीं प्रत्युत परमार्थ सत्य मान कर प्रस्तावित किया गया है इसकी तुलना ईसा मसीहके प्रसिद्ध उद्गार, जिसे बायबलके पुराने ईसाई अंग्रेजी-अनुवादक "The kingdom of God is within you" की पदावलीमे प्रस्तुत करते थे, उसके उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है परमेश्वरका ऐसा स्वरूप

तो वाल्लभ वेदान्तकी धारणासे अधिक सन्निकृष्ट था इधर अब बायबलके विद्वान् ईसाके उद्गारका वास्तविक अंग्रेज़ी अनुवाद "The kingdom of God is among you" मानने लगे हैं मुझे लगता है यह बौद्धोके भगवान्‌की धारणाके अधिक सन्निकृष्ट है इसे ही वेदोपनिषदोकी पदावलीमे देखना हो तो "अन्त प्रविष्ट शास्ता जनानाम् एक सन् बहुधा विचार अन्त प्रविष्ट कर्तारम् एत त्वष्टार रूपाणि विकुर्वन्त विपश्चि सहैव सन्त न विजानन्ति देवा" (तैत्ति आर ३।११।१-५) उपलब्ध होती है इस ऐसे भगवान्‌के पराधीन होनेमे विप्रतिपत्ति तो द्वैतमोहकी भ्रान्तिके वश ही हो सकती है क्योकि ऐसा ब्रह्म परमात्मा भगवान् जीवात्माके अपने 'स्व'की परिधिसे बहिर्भूत हो तो हमारी स्वाधीनताके विलोपका प्रसग उठ सकता है यह तो 'द किंग्डम् आफ् गोड इज़ विदिन् यू' वाला उद्घोष है

बौद्ध मतमे प्रत्यक्षप्रमाके उत्पन्न होनेकी प्रक्रिया नियत कारणोसे जन्य न हो कर चतुर्विध—आलम्बन अधिपति समनन्तर तथा हेतु—प्रत्ययोका सायोगिक सघातरूप माना गया है इस सन्दर्भको विदुषी मगलाजीने बहुत अच्छे ढगे उभारा है वे कहती है

> "unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grahaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahakari Pratyayas are those auxiliary factors like light etc, which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition, but they

cannot to be misunderstood as causes Dharmakīrti frankly admits direct cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition But such objects exist independently of the knower Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts Pratyayas are non causal and non intentional in nature "

यह वस्तुत बौद्ध दर्शनकी बड़ी प्राञ्जल प्रस्तुति है इसके साथ, पर, मैं यह और जोड़ना चाहुगा कि यह सारी प्रत्यक्षमीमासा तत्त्वशास्त्रीय और प्रामाण्यशास्त्रीय है प्रत्यक्षानुभूति केवल मानव प्राणीके एकाधिकारवाली अनुभूति तो है नहीं हम डारविन्के विकासवादको माने या न माने पर इतना तो ध्रुव निश्चित है कि एककोशीय जीवकणसे लेकर अनेक इन्द्रियोवाले जटिल बहुकोशीय प्राणिओमे प्राथमिक प्रत्यक्ष तो स्पार्शन ही होता है साथ ही साथ बहुविध प्राणिओके भीतर अस्थिर 'आलयविज्ञान' माने या स्थिरचैतन्य 'आत्मा' मानें अथवा अपने पर्यावरणके प्रति सवेदनशील एककोशीय बहुकोशीय जीवकण (लीविंग सेल्) माने किसी भी सूरतमे सजीव प्राणीके भीतर जिजीविषाका मोह या सहज प्रवृत्ति तो कूट-कूट कर भरी हुयी है अतएव जीवनार्थ अपने बाह्य पर्यावरणको स्पर्शद्वारा जान कर खाद्य हो तो खा कर अथवा मारक या खादक हो तो वहासे सरक-भाग कर प्राणी बचना चाहता है इस प्रक्रियामे स्पार्शन प्रत्यक्षके अपर्याप्त सुरक्षादायी होनेके कारण ही प्राप्यकारी/अप्राप्यकारी जो भी मानो ऐसी चक्षु घ्राण और श्रवण इन्द्रिया प्रस्फुटित हुयी हैं परन्तु दूरसे ही देख-सूघ-सुन लेना भी अपनी जिजीविषाकेलिये पर्याप्त सिद्ध न होनेके कारण ही स्पृष्ट दृष्ट आघ्रात श्रुत और अन्तमे आस्वादित बाह्यार्थोकी स्मृति और तदर्थ सस्कार की भी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानके हेतु प्राणिसृष्टिमे उभरी अन्तमे यही प्रत्यभिज्ञा ही और आगे बढ कर अनुमिति आदि अनेक परोक्ष प्रमाओके रूपमे

भी विकसित हुयी है

इसमे इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती निर्विकल्पक अनुभूतिको तो यथार्थ मानना और मनुष्य आदि अनेक प्राणिओमे पनपी उन्हीं स्पर्श आदिमेसे विकसित विकल्पानुभूतिकी विविध अवस्थाओको प्रामाणिक न मानना अटपटा लगता है अर्थात् इन्द्रियोकी अर्थक्रियाकारिताको अधिकाधिक सक्षम बनानेवाले 'ब्रैन' / अहकार मन बुद्धि या चित्त के क्रियाकलापोको अविश्वसनीय माननेकी दार्शनिक अवधारणा मनुष्य पशुके अलावा अन्य किसी भी सरीसृप कीट मत्स्य पशु या पक्षी को मान्य हो ऐसा प्राणिसमुदायके वैज्ञानिक अध्ययन करनेपर प्रतीत तो नहीं होता मेरा कहनेका तात्पर्य यह है कि प्राणिओके बीच अपवादरूपा ऐसी अनघड़ धारणा अन्तमे इस दार्शनिक बुद्धिमान पशुको सवृति(व्यवहार) और परमार्थ का द्वैत खडा करने बाधित करती है तथाकथित अबुद्धिमान पशुओसे अपने श्रेष्ठ होनेके दावेको बरकरार रखनेको निरर्थक उकसाती है। वैसे मानवके श्रेष्ठ प्राणी होनेकी कथा उतनी आपत्तिजनक नहीं है जितनी कि मनुष्येतर प्राणिसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षको परमार्थ मानना—और वह मानव पशुओमे जिस बुद्धिमत्ताके कारण शक्य बनता है उस बुद्धिकी अनितरसाधारण अर्थक्रियाको मिथ्या मानना निश्चित निजमूलके उच्छेदका अविवेक लगता है

बुद्धिकी अर्थक्रिया तो यही है कि एकमेव अद्वितीय सत्, चाहे वह क्षणिक हो या चिरस्थायी, के विविध विकल्पोको ग्रहण करना, उन्हे सस्कारात्मना धारण करना, इन्द्रियोसे अर्थोपलब्धिके बाद शीघ्र ही स्मृतिरूपेण उभारना, उसके आधारपर उपलब्ध अर्थको उसकी हेयोपादेयताके साथ पहचान पाना, इन्द्रियार्थोके साक्षात् उपलब्ध न होनेपर भी उनकी आसन्न उपलब्धिके हेतु परोक्षमे भी उनकी विद्यमानताके प्रति सभान होना

अपवादरूपेण घटित होती भ्रम या स्वप्न की अनुभूतिओकी अर्थव्यभिचारिताके कारण अपनी वाछिततम बुद्धिपर आत्मविश्वास खो देना बुद्धिमान मनुष्यके

लिये अवाछनीय विवेक या अविवेक ही है। यह तो कुछ ऐसी बात है कि सरकारी डाकव्यवस्थाके समानान्तर जब कानूनी प्रावधानके बिना बिनसरकारी कूरियर सर्विस् शुरु हुयी तो उसके विरूद्ध निषेधाज्ञा न्यायालयमे मागी गयी और वह अदालतकी निषेध-आज्ञा सर्विस-एजेंसीस्को सरकारी डाकसे न भिजवा कर कूरियर सर्विस्के जरिये ही भिजवायी गयी। बुद्धिमान प्राणीका बौद्धिक विकल्पोकी तुलनामे ऐन्द्रियक निर्विकल्पक उपलब्धिका पक्षपाती होना बुद्धिका उपयोग किया बिना अशक्य ही होगा॥

परमार्थ सत्य और उसके प्रमारूप अवभासन के बारेमे बौद्धो द्वारा प्रस्तावित निकषोके मझा हुवा प्रतिपादन करते हुवे आलेखपत्रमे "According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha sārupya) and pragmatic efficacy (Artha kriyā ka ‾ritva) of our cognition And Pratyaksa enables us to have access to it Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence" विधान किया गया है इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता यदि वाल्लभ वेदान्त या अन्य भी कोई चिन्तन इसे अपने मतवादी दुराग्रहके वश इन्कारना भी चाहे तो पुन व्यवहार और परमार्थ के द्वैतकी उलझनमें उन्हें फसना ही पड़ेगा। मुझे नहीं लगता कि इस विषयमे बौद्ध मत और वाल्लभ मत के बीच कोई गम्भीर मतभेद अत खोजा जा सकता हो यहा तो प्रष्टव्य केवल इतना ही है कि

क प्रामाण्यनिकषका बटवारा ज्ञानके अर्थसारूप्य और ज्ञेयार्थके अर्थक्रियाकारितारूप के बीच न्यायपूर्ण तरीके से क्यों नहीं किया जाता?

ख एक ओर ज्ञेयार्थमूलक ज्ञानप्रामाण्यकी शपथ खा कर दूसरी ओर अर्थसारूप्य होनेके उत्तरदायित्वकी तरह सफलप्रवृत्तिजनक होनेका उत्तरदायित्व भी ज्ञेयार्थके बजाय ज्ञानपर ही क्यो लाद

दिया गया है? अतिशय मोहक अद्भुत या विकराल वस्तुका सहसा साक्षात्कार होनेपर ज्ञानमे रही प्रवृत्तिजननक्षमताका उपरोध या स्तम्भन हो जाता है पर एतावता वस्तुनिष्ठ अर्थक्रियाके जननकी क्षमताका उपरोध नहीं हो जाता भीरु व्यक्ति बाघको देख कर न भी दौड पाये तो भूखा बाघ छोड देगा क्या?

ग इस प्रामाण्यनिकषको या तो मानवेतरप्राणिसाधारण इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकानुभूति या किसी योगिरूप लोकोत्तरमानवके विशेषाधिकारक सविकल्पकानुभूति के बीच ही क्यो बाट दिया गया है?

घ मानवीय बुद्धिसामर्थ्यपर इतना अधिक अविश्वास कोई स्वय मानव हो कर कैसे प्रकट कर सकता है?

अतएव विदुषी मगलाजीका यह विधान—

"Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function Nor mind (Manas) and various modes (Vrtti) of it are capable of determining the nature of cognition For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play"

मुझे सन्तोषदायक नहीं लगता है क्योंकि पुन इसमें हम देख सकते हैं मानवेतरप्राणिसाधारण बाह्यार्थ-ग्राहक इन्द्रियोंकी वकालतमें मानवकी अनन्यसाधारण

बुद्धि और उसकी विविध वृत्तिओ की सामर्थ्यके साथ पक्षपाती दृष्टिकोण अपनाया गया है.

वैसे सातवे आसमानपर बैठा हुवा परमेश्वर परमार्थ हो या न हो इसी तरह प्रमाणवार्तिकके मगलाचरण विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे" मे निरूपित नमस्कार करने जैसा कोई भगवान् अथवा ऐसे कोई विशेष बोधिसत्त्व भी परमार्थत कहीं विद्यमान हो या न हो. औपनिषदिक ब्रह्म तो आत्मसवेदनगोचर "सत्यं ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१) वचनोक्त स्वरूपलक्षणबलपर सिद्ध माना गया है. निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बलपर भी उसे "अन्न ब्रह्म इति व्यजानात्... प्राणो ब्रह्म इति व्यजानात्... मनो ब्रह्म इति व्यजानात्... विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्... आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्" (तैत्ति उप ३।२-६) वचनोमे तत्तद् अर्थक्रियाकारी होनेके रूपमें सिद्ध माना जा सकता है यो कार्य-कारणभावापन्न ब्रह्मके कार्यलक्षणके बलपर भी उसे समझा सकता है. "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेत्. अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एन ततो विदु" (तैत्ति.उप.२।६) वचनोक्त 'स्ववचननिराकृति'(न्या वि.५२)रूप वदतोव्याघात दोषोद्भावक लक्षणतया भी ब्रह्म अस्वीकार्य नहीं हो सकता.

तब अवशिष्ट रह जाता है प्रश्न : क्षणिकता और/अथवा कूटस्थस्थिरता का. बौद्धोके मतमे क्षणिकता और कूटस्थस्थिरता के बीच द्वैतका जो विकल्प जो खड़ा किया गया है उसे तो औपनिषदिक चिन्तन भी निश्चयेन मिथ्या मानेगा. पर "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... मर्त्यं च अमृत च, स्थितं च यत्, सत् च त्यत् च" (बृह उप.२।३।१) श्रुतिवचनके अनुसार ब्रह्मको तो उभयरूप माना गया है. अत क्षणिकता या नित्यता दोनो ही पारमार्थिकी हो सकती है, स्वरूप और लीला के प्रभेदवश. अत ऐसे इस ब्रह्मके बारेमे तो आपत्ति उठनी तो नहीं चाहिये. यदि लॉ ऑफ् नॉन्-कॉन्ट्राडिक्शन्के अनुरोधकी दुहाई औपनिषदिक चिन्तनके विरोधमे आपत्तिके रूपमे उठायी जाती हो तो ऐसी दुहाई देनेवालेको फिर लॉ ऑफ् एक्सक्ल्युडेड् मिडिल्का

भी पालन करना पड़ेगा तब तो परमार्थ और अपरमार्थ के बीच सवृतिका अर्थहीन अन्तर्गडु प्रस्तावित नहीं करना चाहिये अत यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न सभी पदार्थ क्षणिक हों तो भी प्रतीत्यसमुत्पादनियमको यदि कूटस्थस्थिर नही माना गया तो निर्विकल्पकप्रत्यक्षावगत क्षणिक परमार्थसत् भी असत् सिद्ध हो जायेगे। अतएव विदुषी मगलाजीका यह कहना कि "Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile" तो यह तो मुझे औपनिषदिक ब्रह्मकी अपेक्षा निर्माणकाय सभोगकाय और धर्मकाय रूपी त्रिविध बुद्धोके कल्पनामात्र होनेका एहसास दिलवाते है नकि औपनिषदिक ब्रह्मके

आलेखपत्रमे प्रमाणसम्प्लव और प्रमाणव्यवस्था के मुद्देपर प्रमेयविवेकावलम्बी प्रामाण्यको व्यवस्थारूप और प्रमातृ/प्रमाणके विवेकपर अवलम्बित होती प्रमेयताको प्रमाणसम्प्लवरूप माना गया है यह पुन प्रमेयके स्वलक्षण और सामान्यलक्षण होनेका द्वैविध्य मानवीय बुद्धिने अपने अवधारणसौकर्यार्थ धड़े द्वैधीभावपर ही अवलम्बित क्यों नहीं मान लेना? क्योंकि अनेकानेक स्वलक्षणोमे एक स्वलक्षणत्वरूप सामान्यलक्षण न होनेपर उसका स्वलक्षणत्व ही सिद्ध नहीं हो पाता इसी तरह सभी तत्तत्सामान्यलक्षणतया ज्ञेय पदार्थोमे अपना-अपना विशेष स्वत्व अनुभूत न होनेपर एक सामान्यका इतर सामान्यसे प्रभेद ही सिद्ध नहीं होगा एतावता प्रत्येक स्वलक्षण सामान्यलक्षणात्मक होता है और प्रत्येक सामान्यलक्षण स्वलक्षणात्मक ही फिरभी इन दोनोके भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यके स्थानपर आत्यन्तिक प्रभेद तो बुद्धिकल्पित एक आपवादिक मिथ्या विकल्प है जिसे परमार्थ माननेपर बौद्ध मतमे जैसे अभ्युपगतबाध होता है ऐसे ही अपरमार्थ माननेपर भी अभ्युपगतबाध होगा

वाल्लभ वेदान्त प्रमाणसम्प्लवकारी है या प्रमाणव्यवस्थाकारी? इस प्रश्नके समाधानतया कहना चाहुगा कि वाल्लभ वेदान्तमे क्योंकि एकमेवाद्वितीय

सत्यज्ञानानन्त ब्रह्म ही विविध नाम-रूप-कर्मोंको लीलया धारण कर सृष्ट्यात्मना
प्रकट हुवा है ऐसा श्रुत्यादिप्रमाणचतुष्टयीके स्वतःप्रामाण्यके (द्रष्ट "शब्दएव
प्रमाण तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभाव प्रमाण"
त.दी.नि.प्र.१७) आधारपर माना गया है अतः जागतिक नाम-रूप-कर्मोके
ब्राह्मिक पहलु—उनका सत्यज्ञानानन्तोपादानक होना आदि—या स्वयं ब्रह्म
के बारेमे प्रत्यक्षको स्वतःप्रमाण माननेकी कथा तो दूर परतःप्रमाण भी नहीं
माना गया है लोकमे प्रादुर्भूत ब्रह्मके नाम-रूप-कर्मोके बारेमे प्रत्यक्ष अनुमिति
शब्द आदिको परतःप्रमाण ही (द्रष्ट प्र.र.प्रमा.परि.तर.६) माना गया है
अतः लोकावगत वस्तुके लौकिक स्वरूपको जाननेको लौकिक प्रयोजनौपयिक
व्यवहारको सम्पादन करनेको वाल्लभ वेदान्त श्रुत्यादिके शब्दोके मार्गपर दौडनेका
निरर्थक व्यायाम नहीं करना चाहता अतः सुस्पष्टतया देखा सकता है कि
प्रमेयप्रभेदाश्रित प्रमाणव्यवस्था वाल्लभ वेदान्तमे भी अभ्युपगत है जबकि
बौद्ध मतमें तो योगिप्रत्यक्षमे अनुभूतिगोचर होनेवाले भूत भावी सूक्ष्म देवयोनि
देवलोक आदि अनेक ज्ञेयार्थके बजाय ज्ञाताके प्रभेदरूप योगीपर अवलम्बित
हो कर उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षतुल्य माना गया है अतः आलेखपत्रमे
वाल्लभ वेदान्तके बारेमे जो मन्तव्य दिया गया कि 'Hence, even
though they accept the four Pramanas, all of them jointly
or distributively enable us to give knowledge of the same
ultimate reality, unitarily This is a kind of Pramā Samplava
advocated by them Prameya determines Pramana '' वह मुद्दे
अनालोचित कथा लगती है इसी तरह प्रस्तुत आलेखपत्रमे प्रमाणोका प्रामाण्य
स्वतः होता है या परतः इस मुद्देपर भी भाट्टोके मतमे वाल्लभ वेदान्तका
जो अन्तर्भाव 'the view of Vedantins, including Vallabha
According to them Pramānya is Svatah (knowledge by its
very nature is authentic and reliable), but due to external
conditions conducive to pollution and adulteration it becomes
unreliable (Apramānyam Paratah) ' मान लिया गया है वह भी
अनवधानताप्रयुक्त है प्रस्थानरत्नाकरमे सुस्पष्टतया भाट्टोसे पृथक् अर्धजरती

स्वीकारी गयी है

अन्तमे वाल्लभ वेदान्तके उत्तरवर्ती होनेके कारण उसपर आचार्य धर्मकीर्तिके प्रभाव पड़नेकी बात भी मुझे बहुत गम्भीर नहीं लगती है क्योकि कितने सारे उपनिषदोके वचनमे ब्रह्मको एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दैकरस माना गया है, भगवद्‌गीतामे भी "सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्त्विकं, पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्" (भग.गीता. १८।२०-२१) औपनिषदिक धारणाओके अर्थदोहनमे स्वीकारा ही गया. अतएव ब्रह्मसूत्रकारको "तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्य." (ब्र.सू. २।१।१४) यो औपनिषदिक हेतुनिदर्शनपूर्वक प्रतिज्ञा करनी पडी. ब्रह्मसूत्रभाष्यरूप भागवतमे तो "स्यात् सादृश्यभ्रमः तावद् विकल्पे सति वस्तुनो जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता. भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथा आत्मनो वर्तयन् स्वानुभूत्या इह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः. कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य 'भावाद्वैतं' तद् उच्यते", "मम, अंग!, माया गुणमयी अनेकधा विकल्पबुद्धीन् च गुणैः विधत्ते" (भाग.पुरा.७।१५।६१-६३, ११।२२।३०) जैसी प्रमाणचतुष्टयीकी सुस्पष्ट उक्तियोके अनुरोधवश आचार्य धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका अवगाहन करने या न करने दोनों ही अवस्थाओमे ब्राह्मिक सत्की अद्वितीय एकतासे अत्यन्त पृथक्तया अवभासित होनेवाले अब्राह्मिक विकल्पोको तो मिथ्या या अपारमार्थिक माननेके अलावा कोई गति ही बच नहीं जाती. अत लगता नहीं कि एतदर्थ आचार्य धर्मकीर्तिका प्रभाव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके चिन्तनमें खोजा जाये. जहा सवाद खोजनेकी बात है तो वह अनुमोदनीय ही लगती है इस स्पष्टीकरणके साथ कि वाल्लभ वेदान्तमे जीवात्मा और अन्तःकरण के सघातमे घटकतया अन्तर्निहित नामात्मक शब्द एक सम्भाव्य अनुभूतिके रूपमे विद्यमान रहते हैं परन्तु रूप और/अथवा कर्म के इन्द्रियजन्य अवभासनमे वह सम्भाव्य अनुभूति बुद्धिमें सात्त्विक गुणके उद्रेकवश यथार्थतया प्रकट हो जाती है. अन्यथा केवल सस्कार या परोक्षानुभूति ही रह जाती है. बुद्धिगत राजस या तामस गुणोके उद्रेक होनेपर वह नामात्मिका विकल्पानुभूति इन्द्रियगोचरतया

भासित होती होनेपर भी होती केवल बौद्धिक अवभासनरूपा ही

मुझे इस विषयमे ऐसी तरहका याथार्थ्य बुद्धिमे अवभासित होता है यह एक वास्तविकता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमे जो यत् किञ्चित् बौद्ध मतके साथ वाल्लभ वेदान्त विचारविनिमयमे उतरा उसके बाद अत्यल्प चर्चा प्रस्थानरत्नाकरमें बौद्धोके साथ वाल्लभ वेदान्तकी हुयी यहा मेरे लघुभ्राता चिरजीवी शरद् गोस्वामीका मैं हृदयसे आभार मानना चाहुगा कि उन्होने प्रत्यक्षप्रमाणपर सगोष्ठि आयोजित करके श्रीपारसनाथ द्विवेदीजी, श्रीअम्बिकादत्त शर्माजी तथा विदुषी मगला चिचोरेजी जैसे बौद्ध दर्शनके परिनिष्ठित विद्वानोको आमत्रित कर बरसोसे इन दोनों मतोके चले आ रहे मौनव्रतको तुड़वाया

मुझे यह स्वीकार करनेमे तनिक भी सकोच नहीं होता कि इन तीनोके बौद्ध दर्शनसम्बन्धी ज्ञानकी तुलनामे बौद्ध दर्शन या ग्रन्थो के बारेमे मेरी जानकारी तो केवल पल्लवग्राहि अध्ययनकी सी है पर "नभ पतन्ति आत्मसम पतत्रिण" न्यायके अनुसार किसी भी अवस्थामे इन दोनो मतोके बीच आपसमे एक-दूजेके साथ मौनपालनका व्रत तोडने और तोड़ते रहनेकेलिये ही यह सगोष्ठ्युत्तरलेखन प्रस्तुत करना मुझे आवश्यक लगता है अत एतदर्थ विदुषी मगला चिचोरेजी आदि सभीके सहयोगकेलिये उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनका यहा उपसहार करता हु



अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य

प्रो वशिष्ठनारायण झा

नैयायिक लक्षण किसी बातको समझनेकेलिये बनाते है और जब लक्षण नहीं चाहते है तब सम्मुग्धाकार ज्ञानसे सन्तुष्ट होना चाहते है ये दोनोंमे फर्क है मुझे लगता है कि लक्षणकी परम्परा जब तक इस देशमे जीवित है तब तक दार्शनिक परम्परामे जीव है और जब यह परम्परा लुप्त हो जायगी तब शायद सम्मुग्धाकार ज्ञान ही रह जायगा यही कारण है कि प्रस्थानरत्नाकरकार लक्षण देते है बिना लक्षणके हम किसी वस्तुका स्वरूप हम नही जान सकते है इसीलिये खण्डन हो चाहे मण्डन हो यह सब शास्त्रीय प्रक्रिया विषयको समझनेकेलिये होती है और मुझको लगता है इस तरहके सेमिनार्सका यही उद्देश्य होना चाहिये कि हम एक-दूसरेके विचारोको अधिकसे अधिक समझे इसीलिये हमारी परम्पराने एक-दूसरेके मतको समझनेकेलिये एक प्रारूप बनाया है उस प्रारूपको सभीने अपनाया है वह प्रारूप है प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन चार बिन्दुओंपर यदि सारी चर्चाए केन्द्रित हो जाती है तो "चतुर्षु अर्थतत्त्व परिसमाप्यते"

अब देखिये, प्रस्थानरत्नाकरमे भी वही बात है उन्होंने भी प्रथम प्रमाणप्रकरण लिया है फिर प्रमेयप्रकरण लिया है

कोई भी जब अपने दर्शनका ढाचा बनाता है तब उसके पीछे कुछ *प्रीसपोजिशन्* होते हैं मुझको लगता हे कि कोई भी दार्शनिक परम्परा *प्रीसपाजिशन्* रहित नहीं हो सकती है और हम

दर्शनको समझनेमे तभी विफल होते है जब हम उसकी प्राग्धारणाओंको

अत यदि वाल्लभवेदान्तको हमे समझना है तो इस वेदान्तके *प्रीसपोजिशन्स्* को समझना होगा जैसे "पुरुषएव इद सर्वं यच्च भूत यच्च भव्यम्" इति "भूत-भविष्यद्-भवद्व्यवहारदशायामपि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वकथनेन च सर्वदा ब्रह्मैव प्रमेयम्" यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ईश्वर है, कृष्ण है तो हमको यदि घटका प्रत्यक्ष होता है तब वह आंशिक प्रत्यक्ष इसलिये है क्योकि घटप्रत्यक्षमे हमे कृष्ण दिखलाई नहीं देता है तो अन्ततोगत्वा घटमे भी हमे कृष्णका दर्शन हो इस माईक्रमे वृक्षमे हमे कृष्णका दर्शन हो तब वह दर्शन सम्पूर्ण दर्शन कहलायेगा मुझे लगता है कि इस तरहसे यदि हम इन प्रस्थानोको नही देखेगे तब तक हम उनको समझ नहीं पायेगे

प्रमाणके बारेमे वात्स्यायनमे भी वही बात है वहा भी प्रमाण भावप्रधान भी है और करणप्रधान भी है जब भावव्युत्पत्ति है तब उसका अर्थ ज्ञान होता है जब करणव्युत्पति है तब

गो श्या म : अतएव हमारे यहा 'कृष्ण' शब्दकी परिभाषामे यह कह दिया गया है कि "'कृषि'-'भू'वाचक शब्दो 'ण'-च निर्वृतिवाचक तयो ऐक्य पर ब्रह्म 'कृष्ण' इति अभिधीयते" तो घटमे घटकी जो सत्ता है वह 'कृष्' है और उससे जलपान करनेका जो मझा आ रहा है वह 'ण' है

वी एन् झा : तो मेरा कहना यह है कि हमे सबसे पहले उन प्राग्धारणाओंको समझना चाहिये कि जिसके आधारपर वह दर्शन खडा है दूसरे क्रममें हमे यह देखना चाहिये कि उन प्राग्धारणाओंका आधार क्या है जैसे कि आपने शास्त्रके कुछ वचनोंको लिया और उसके आधापर

कोई प्राग्धारणा बनाई अब आपको उस प्राग्धारणाके अनुसार सारे प्राकार खडे करने है यह कार्य सभी दर्शन करते है अब आप किसी दूसरे दर्शनको ले ले उनकी प्राग्धारण तो वह नही है जो आपने अपने दर्शनमे सोची है जैसे नैयायिकको ले ले नैयायिकतो अनेकसे अनेककी उत्पत्ति मानता है न्यायमे तो प्रारम्भमे ही अनेक है अत जब तक हम नैयायिककी इस सोचका अवगमन नही करते है तब तक हम न्यायदर्शनको नहीं समझ पायेगे कि वह ऐसी बाते क्यो करता है

समस्या कहा होती है कि नैयायिक तो वेदको भी प्रमाण मानता है जिसके आधारपर आप एक तत्त्वकी बात लाते है नैयायिक अब क्या करेगा वह कहता है कि वेद दो तरहका होता है एक यथार्थकथनपरक और एक *मेटाफोरिकल्* लौकिक भाषाके बारेमे भी हमारा ऐसा ही अनुभव है लौकिक भाषा भी दो तरहकी होती है एक तो तथ्यका निरूपण करनेवाली होती है और दूसरी *मेटाफोरिकल्* होती है अब वेदमे कौनसे वचन *मेटाफोरिकल्* है कौनसे वचन वर्णनात्मक है उनका पृथक्करण जब तक हम नहीं कर पायेगे तब तक हम यह नही समझ पायेगे कि नैयायिक वेदको प्रमाण मानते हुवे भी यह क्यो कहता है कि अनेकसे अनेककी उत्पत्ति हुयी है तो वह क्या करता है "पुरोहितो यमराजा सवृत्त" तो ये जितने *आइडेन्टिटि स्टेटमेन्ट्स* है, एकत्वबोधक वाक्योंको अर्थवाद समझकर उसकी व्याख्या उस तरह करेगे इसमे आप आपत्ति नहीं कर सकते हे क्योकि आप भी वही करते है आप यदि कहते हे कि वेदकी भाषा एक ही है, उसमे *मेटाफर* है ही नही तब तो आपका कहना सही हो सकता है लेकिन आप तो यह नहीं कहते हे आप भी यह मानते हे कि भाषा *मेटाफोरिकल्* भी होती है और वस्तुवर्णनात्मक भाषा भी होती है तो जब तक इस *डायकोटामीको* आप स्वीकारते हे तो यह छूट उनकेलिये भी है कि वो किसको

अर्थवाद समझे और किसको वर्णनात्मक

अत आपने सही कहा कि इन चर्चासत्रोमे हमे यह देखना चाहिये कि कौन क्या कह रहा है और वह कहनेके पीछे उसके *प्रीसपोजिशन्* क्या है

गो श्या म : आपकी बातमे सुर मिलाते हुवे मै एक अपनी बात कहना चाहता हू कि हम जब सन्ध्याके बाद ब्रह्मयज्ञ करते है तब उसमे केवल ब्रह्मसूत्रका ही पाठ नही करते हे "प्रमाण-प्रमेय-सशय प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानाद् नि श्रेयसाधिगम" इन न्यायसूत्रोंका भी क्रमश पाठ करते है क्योकि ब्रह्मका वह भी एक पहलु है ऐसा हम स्वीकारते हे

वी एन् झा : तो इन वचनोके साथ हम इस चर्चासत्रका समापन करते है अन्तमे, सर्वसम्मतिसे मै यह विश्वासके साथ कह सकता हू कि यह चर्चासत्र अपने उद्देश्यमे पूर्णत सफल रहा है और इसी तरह चर्चासत्रकी यह शृखला ईश्वरकी कृपासे आगे बढती रहे

+

सगोष्ठ्युत्तरकृतज्ञताज्ञापन

गो श्या म

प्रस्तुत प्रत्यक्षप्रमाणविषयक चर्चागोष्ठीके अन्तिम सत्रकी अध्यक्षता स्वीकार

कर अतीव उद्बोधक अध्यक्षवक्तव्य प्रदान कर इस चर्चागोष्ठीको सफल बनानेवाले श्रीवशिष्ठनारायण झा महोदयका हार्दिक आभार मानना औपचारिकताके केवल निर्वाहार्थ न हो कर अपने हृदयके भावोको अनभिव्यक्त न रख पानेके असामर्थ्यवश भी है।

जबसे इस तरहकी चर्चागोष्ठीका आयोजन प्रारम्भ हुवा तभीसे श्रीमान् झा महोदयका सर्वविध सहयोग—किस विषयके हेतु किस विद्वान्को आमन्त्रित करना, स्वय उनका भी सक्रिय एव सोत्साह सम्मिलित होना, चर्चार्थ अपेक्षित स्थलका सुझाव और सुविधा जुटवा देना आदि—अनेक रूपोमे मिलता रहा, इससे उऋण हो पाना तो शक्य ही नहीं।

प्रस्तुत अध्यक्षीय वक्तव्यके बाद किसी तरहका वक्तव्य प्रस्तुत करना विचारगोष्ठीकी मर्यादाके विपरीत न जाता हो तो एक बात अवश्य कहना चाहूगा

जैसाकि आदरणीय श्रीमान् झा महोदयका कहना है कि चर्चाके अन्तर्गत जिस वैचारिक प्रस्थानके साथ चर्चा चल रही हो उसके प्रीसपोज़िशन्स्को समझनेकी मनोवृत्ति न होनेपर भलीभाति चर्चा हो नहीं पाती यह वस्तुत सभीके लिये हृदयसे अगीकरणीय सुझाव है अतएव नैयायिकोका प्रीसपोज़िशन्स् वाल्लभ वेदान्तिओको अवश्य ही बुद्धिगत रखना चाहिये कि मीमास्य विषयका लक्षण प्रतिवादी समझ पाये ऐसा प्रस्तुत कर के ही फिर प्रमाण या प्रमाणो को प्रस्तुत करना चाहिये अन्यथा वादि-प्रतिवादी दोनोके ही भीतर सम्मुग्धाकारवाली अवधारणाओंके बारेमे विवाद चलते रहनेसे किसी तरहका फलदायी विचार उभर नहीं पायेगा

दूसरी बात कि जैसे वाल्लभ वेदान्त लौकिक व्यवहारमे भाषाके अन्तर्गत अभिधा और गौणी वृत्ति स्वीकारता है वैसे ही सृष्टिके अनेक कारणभूत पदार्थोसे अनेक कार्यभूत पदार्थोंकी उत्पत्तिकी सम्पुष्टिके हेतु न्यायमत वेदोका प्रामाण्य स्वीकारनेके ही कारण उपनिषदोमे जहा भी एकमेव अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन मिलता हो वहा गौणी वृत्तिद्वारा अभिप्रेत

तात्पर्यकी उट्टङ्कना करना चाहेगा यह नैयायिकनीति हम वाल्लभोको भी समझनी ही पडेगी यदि नैयायिकोके साथ विचारविनिमय हम करना चाहते हो तो यह निश्चय ही दोनोके लिये उपकारक भी होगा ही

न्याय-वैशेषिक मतके साथ जबभी वाल्लभ वेदान्तको चर्चामे उतरना हो तो श्रीमान् झा महोदयके इन अतिमहत्त्वपूर्ण सुझावोको कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिये

किसी भी नैयायिक या वैशेषिक विचारकर्तासे जब हम यह अपेक्षा रखते है कि वह हमारी वाल्लभ वेदान्तकी सविशेष प्राग्धारणा क्या है वह समझनेका प्रयास करे वे क्या है? वे है श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि शास्त्र केवल यथार्थप्रतिपादनपर शब्दराशी होनेके कारण वाल्लभ वेदान्तामे प्रमाण नहीं माने जाते हे अपितु प्रत्यक्ष अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोसे अवगत न होनेवाले प्रमेयके प्रतिपादनमे तत्पर शब्दराशी होनेके कारण ही प्रमाणतया मान्य किये गये है अत लौकिक प्रमाणोसे विरुद्ध जाते अभिधावृत्तिसे प्रतिपादितार्थका लौकिक प्रमाणोसे बाध ही सम्भव नहीं अतएव गौणवृत्तिकी कल्पनाका यहा प्रसग ही उपस्थित नहीं होता

अब हमारी ऐसी प्राग्धारणाओको नैयायिक-वैशेषिक विद्वान् समझनेका प्रयास करे यह माग हम तभी प्रस्तुत कर सकते हैं जब न्याय-वैशेषिक मतकी प्राग्धारणाओको हम भी समझनेका प्रयास करेगे अत चर्चाकी समापनगोष्ठीमे इस बहुमूल्य सुझावका हम हृदयेन समादर करते है

अवशिष्ट रही श्रीमान् झा महोदयके इस विधानकी बात कि मीमास्य तत्त्वके सुपरिभाषित न होनेपर चर्चामे कितना भी कालक्षेप क्यो न किया जाये, बोध तो सम्मुग्धाकार ही होगा निश्चयाकारक नहीं यह भी लौकिक विषयोकी बाबतमे अतीव स्पष्ट तथा स्वीकार्य कथा होनेपर भी जैसे प्रत्यक्षमे नैयायिकोंने योगलक्षणा प्रत्यासत्ति भी एक स्वीकारी ही है और इस योगलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा प्रकट होता ज्ञान लौकिक सयोग समवाय तादात्म्य या स्वरूप आदि सम्बन्धोंके वश प्रकट होती बौद्धिक धारणाओसे घिरी वैचारिक प्रक्रियामे

जैसे सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा. तद्वत् श्रुत्यादि शास्त्रोके द्वारा प्रतिपाद्य विषयके बारेमे भी लौकिक धारणाओसे घिरी वैचारिक प्रक्रियामे सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा इसे तो स्वीकारना ही पडेगा. क्योंकि श्रुत्यादि शास्त्रोका अभिप्रेतार्थ क्या हो सकता है वह वाक्यार्थमीमासाद्वारा सुस्पष्टतया निर्धारित किया जा सकता है. पर लौकिक बुद्धिद्वारा अलौकिक प्रमेयके साक्षात्कारसे पूर्व वह सुनिर्धारित बोध भी सम्मुग्धाकारक ही होगा. किसी भी पदार्थकी परिभाषामे सौ-दोसौ अवच्छेदकता आदि लगा कर दिये गये लक्षण जैसे अनधीतन्याय बुद्धिमान् पुरुषके भीतर सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पाते है, तद्वत् ही.

अतएव भारतीय उपनिषदो और यूनानी चिन्तक सुकरात की तर्जपर कभी न कभी यह भी स्वीकारना ही पडता है कि "यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते... यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते... यस्य अमतं मतं तस्य, मतं यस्य न वेद सः. अविज्ञात विजानता विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप.४-११). उपनिषद् अपनी बात यहा समाप्त कर देता तो बात सरल हो जाती परन्तु ऐसा विधान करनेके बाद उपनिषद् यह और कहते है कि "इह चेद् अवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इह अवेदीद् महती विनष्टिः! भूतेपु-भूतेपु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्माद् लोकाद् अमृता. भवन्ति" (केनोप.१३). अतः उपनिपदेकशरण वाल्लभ वेदान्तीके पास उपनिषदोके ऐसे विधानसे सहमत या असहमत होनेवाले सभी विचारकोके भीतर ब्रह्मदर्शन करनेके अलावा और ऐसे मतभेदोको भी भगवल्लीलाके सम्मुग्धाकारक भावके साथ देखनेके अलावा कोई मार्गान्तर ही शेप नहीं बचता।

परन्तु किसी भी स्थितिमें इन विचारगोष्ठियोमे श्रीमान् झा महोदयके सोत्साह उपस्थित हो कर सर्वविध सहयोग प्रदान करनेके औदार्यको तो भगवत्कृपाका ही अनुभाव मान कर हम अपनी आत्यन्तिक कृतज्ञता ही प्रकट करना चाहेंगे. इति शम्.



॥ परिशिष्ट ॥

चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व

(एक वाल्लभ दृष्टिकोण)

"चक्षुर्यत्र न गच्छति" श्रुतिरिति प्राह प्रमाण परम्
श्रीकृष्ण स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षु प्रकाश्योऽभवत्।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्वविषये वादस्तु यश्चाक्षिणि
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र स हरि सन्देहहारी परः॥

उपक्रम :

इन्द्रियोके बारेमे, नामत चक्षु और श्रोत्र के बारेमे, विभिन्न चिन्तनोंमे पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रिया विषयदेशमे पहुच कर अपने विषयोको प्रकाशित करती हे या विषयदेशमे पहुचे बिना ही

'प्राप्य-प्रकाशकारित्व' पदावलीमे 'प्राप्य' पद "'आप्लृ'=व्याप्तौ" स्वादिगणपठित धातुके साथ 'प्र'उपसर्गके साथ निष्पन्न होनेसे 'ल्यप्'प्रत्ययान्त प्रयोग है तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिताको स्वीकारनेपर चक्षुरादिद्वारा प्रकाश्य विषयके देश-कालमे इन इन्द्रियोंका विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है विषय और इन्द्रिय के देश और काल मे, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्यकी स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चामे प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नहीं है क्योकि उनके बीच परस्पर सयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्तिके अभावमे ये इन्द्रिया समानदेशकालवर्ती होनेपर भी विषयप्रकाशनमे सक्षम नहीं हो पाती

यह प्राप्यप्रकाशकारिताकी चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार

गौतम ऋषिने ही इदम्प्रथमतया छेडी होगी बादमे बाह्य चिन्तक बौद्ध-जैनोंके द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जोरशोरसे बढती चली गयी[१] अतएव *श्लोकवार्तिक* कार श्रीकुमारिल भट्ट भी कहते है "सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना सामान्य वा विशेषो वा ग्राह्य नातोऽत्र कल्प्यते" (श्लो वा प्र सू ८४)

अत विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्योकी तरह सयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा सस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्यभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा त्वचा-नासिकादि इन्द्रिय और गन्धस्पर्शादि की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मचेतना और अहकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासक्ति स्वीकारनी? ये सभी मौलिक मुद्दे है जो एतद्विषयक विवादको पर्याप्त जटिल बना देते है

साथ हि साथ इस चर्चामे एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुवा है कि इन्द्रियोका सयोग धर्मिभूत विषयके साथ आवश्यक मानना या उस विषयके धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदिके साथ भी क्या इसे सयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मी या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूतका ऐन्द्रियक या मानसिक सपात या सयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है? या फिर दोना ही वस्तुभूत होते है?

<u>पूर्वयोक्तिक कोटिक्रम</u> .

मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककार श्रीयुत लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्यने अपने

इस ग्रन्थरत्नमें इस विवादका संकलन सविस्तर किया है. वे कहते हैं—

> "अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगताः।
> चक्षुर्मात्रं विदुर् जैनाः. सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिनः॥
> एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपितः।"
> (भा.मे.र.श्लो.वा.२६।९)

यह काश्मीरवैभाषिक मतके आचार्य वसुबन्धुके स्वोपज्ञभाष्योपेत *अभिधर्मकोश* में उपलब्ध होते प्रस्तुत वचनके आधारपर भी स्फुट होता ही है—

> " 'चक्षु श्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थके प्रकाशक होते हैं. जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका होती हैं' अब यदि चक्षुको अप्राप्त विषयका प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधानकी ओटमें रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन चक्षुद्वारा हो जाना चाहिये. इस आपत्तिके निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लोहचुम्बक अप्राप्त लोहधातुका आकर्षक होनेपर भी सभी लोहधातुओंको तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता.
>
> और वैसे तो प्राप्त विषयोंके प्रकाशनका नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयोंका प्रकाशन कहां होता है? उदाहरणतया नेत्रगत अञ्जन या शलाका आदि कहां नयनगोचर होते हैं?
>
> अतः जैसे घ्राण आदि इन्द्रियां प्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदिकी

प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तुकी प्रकाशिका होनेपर भी सभी अप्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका न होती हो तो क्या आपत्ति है!''[२]

इस उत्तरप्रत्युत्तरमें प्रतिज्ञात अर्थकी प्रक्रिया या उपपत्ति देनेके बजाय केवल प्रतिबन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसनकी मनोवृत्ति झलकती है. फिरभी बाह्य वस्तुओंको द्रव्य न मान कर रूपगुणकर्मोका क्षणिक संघात मानना, अथवा उन्हें प्रत्यक्षग्राह्य न मान कर अनुमेय मानना, या उनका आन्तरिक ज्ञाप्तिसे पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हें सद्-असत्-सदसद्-उभयविलक्षण यों चारों कोटिओंसे विलक्षण संवृतिसन्मात्र मानना यों वैभाषिक सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाये तो प्राप्य वस्तुके ही सिद्ध न होनेसे चक्षु श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना बौद्ध सिद्धान्तसे सुसंगत कथा तो है ही. फिरभी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरोंने इस विवादमें चक्षुकी प्राप्यप्रकाशकारिताकी उपपत्ति खोजते हुवे कुछ विशेष प्रक्रियाका भी प्रतिपादन किया है. वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्यसे निर्मित होती वह उस द्रव्यकी या उसके विशेषगुणकी ग्राहिका बन पाती है. ऐसी प्रक्रियाके ऊहके साथ उसकी उपपत्तिके कुछ हेतु भी दिये गये हैं यथा : (क)चक्षुका बाह्येन्द्रिय होना, (ख)प्रदीपप्रभाकी तरह व्यवहितार्थका अप्रकाशक होना; तथा, (ग)चक्षु इन्द्रियका तेजस होना.

यह जैसा कि [१]नैयायिक [२]वैशेषिक [३]भाट्ट एवं [४]प्राभाकरों द्वारा भी कहा गया है तद्नुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये—

[१]''चक्षु और श्रोत्र अपने विषयोंको पा लेनेके बाद उपलब्धिके हेतु बनते हैं, जनक होनेके साथ स्वविषयोंकी अप्राप्तिमें उपलब्धिके हेतु न बन पानेके कारण. कुम्भकार और मृत्तिका

की तरह."

[1]"चक्षु प्राप्त अर्थकी प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थकी अप्रकाशिका होनेसे प्रदीपकी तरह." — "चक्षु तैजस होती है, परकीय स्पर्शकी व्यञ्जिका न होनेपर भी परकीय रूपकी व्यञ्जिका होनेसे. प्रदीपकी तरह. अथवा प्रभाकी तरह सोचनेपर स्पर्शके साथ 'परकीय' विशेषणके बिना भी काम चल सकता है."

[2]"बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है. इस प्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचारा जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरतमें विद्यमान वस्तुका ही उपलम्भ होता होनेसे. उदाहरणतया चाहे इन्द्रियोंको प्रमाण मान कर उनकी अर्थके साथ संगति मानी जाय, अथवा मनकी इन्द्रियोंके साथ संगतिको स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुवा मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञानको फल एवं किसी तरहके व्यापारको प्रमाणतया मानना ही पडता है. क्योंकि व्यापारके अभावमें फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना ग्राह्यार्थका सम्बन्ध तो जुड़ता नहीं है जिससे कि प्राप्यकारी माननेके कारण सर्वार्थबोध क्यों नही होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सकता है. इन्द्रियोंका केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोडे स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रभाका करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्रसे त्वगिन्द्रियसे रूपका ज्ञान भी हो जाना चाहिये था, क्योंकि त्वगिन्द्रियको 'करण' तो माना न. जैसे प्रमाणताकी निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यार्थ की आपसी योग्यतापर निर्भर होती है. इसी तरह प्रमाणफलके बारेमें योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पड़ेंगे. संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिरभी उसका अन्यतराश्रित

व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्ध ही है."

[४]"यहां एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेशमें अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थितिमें प्रतीत होनी नहीं चाहिये क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेशमें पहुंच ही गयी हों तो दूरी कहां रह जायेगी? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेशमें पहुंच कर वस्तुका अनुभव प्राप्त करती है, तब वह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिये.

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम समीपतर समीप दूर दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रमके अनुसार ही शक्य होता है. अतः समीप और दूर अवस्थित दो पदार्थोका एककालमें ग्रहण शक्य नहीं रह पायेगा. इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टाके कर्मादृष्टवश भोगायतनरूप शरीरकी अपेक्षासे विषयोंकी अनुभूतिरूप जैसा भोग नियत हो तदनुसार दूरदेश अन्तराल और समीप आदि अनेक विषयोंकी एककालिक अनुभूति शक्य है. जहां तक क्रमानुसारिताके परिहारपूर्वक एककालमें होती अनुभूतिका प्रश्न है तो वहां कुछ बातें ज्ञातव्य हैं.

यहां किसी मतके अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणें जो सभी बाह्य विषयोंको एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककालमें सभी समीप-दूरवर्ती विषयोंका प्रकाशन कर पाती हैं. ऐसा, परन्तु, होनेपर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयोंका भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिये था.

अतः पूर्वोक्त समाधान कुछ मतोंको अग्राह्य लगता है. परन्तु नयनकिरणोंकी अतिद्रुतगामिताके कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतोंकी धारणा है.

इसे भी अन्य चिन्तक संनिकृष्ट [illegible] शक्य

माननेपर भी हजारों योजनकी दूरीपर अवस्थित विषयोंके बारेमें शक्य नहीं मानते हैं.

इन सारी बातोंके समाधानतया हम तो यही कहना चाहेंगे कि नयनकिरणोंसे एकीभूत बाह्य प्रकाशकी किरणें द्रष्टाके कर्मादृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसीका प्रकाशन करती हैं, अन्योंका नहीं"[३].

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक वैशेषिक भाट्ट तथा प्राभाकरों ने चक्षुर्ग्राह्य वस्तुका प्रकाशन विषयदेशमें चक्षुकी प्राप्तिके पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझानेका भरसक प्रयास किया ही है.

आर्हत दर्शनके अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेषिकादिके मतोंका नैगम अर्थात्, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें कहना हो तो, 'स्याद् अस्ति'' नयमे अन्तर्भाव स्वीकारा गया है[४]. अत: बाह्यार्थके केवल अस्तित्वकी धारणाका अवलम्बन करनेवाले नयको दुर्नय माना जाता होनेसे तन्मूलक धारणाओके साथ आर्हतोंका सहमत न हो पाना असहज नहीं माना जा सकता. अत *न्यायकुमुदचन्द्रोदय* कार श्रीप्रभाचन्द इन युक्तियोंकी जो समीक्षा करते हैं उनका सारानुवाद भी यहां प्रस्तुत करना चाहेंगे :

> [१]"'यह 'बाह्येन्द्रिय' किसे कहा जा रहा है? क्या बाह्यार्थके ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेशमें जो अवस्थित हो उसे?... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो मनको भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होनेपर भी बाह्यार्थके ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है. दूसरे कल्पको स्वीकारनेपर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि मेंसे किसे बाह्य देशमें अवस्थित मानना?

नयनरश्मिओंको बहिर्देशमें अवस्थित माननेपर क्या उन्हें वहिर्देशमें आश्रित मानना या वहिर्देशमें केवल प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना? नयनरश्मिओंको बाह्य देशमें आश्रित तो स्वय पूर्वपक्षीने भी माना नहीं है अत अपसिद्धान्त हो जाता है दूसरे कल्प अर्थात् वहिर्देशमें प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना इसलिये ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वय इस तरहकी नयनरश्मिओंका अस्तित्व ही सन्दिग्ध हैं अत उन रश्मिओंका विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देशमें प्रवृत्त होना भी स्वय असिद्ध हेतु बन जाता है नयनगोलकोंका तो वहिर्देशमें अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है बाह्यार्थके देशसे असम्बद्ध, क्योंकि, शरीरप्रदेशम ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं

[२]इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होनेके स्वभावमें या रश्मि होनेके रूपमें यहा धर्मित्वेन अभिप्रेत है? गोलक होनेके स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्षसे विरुद्ध ही है प्रत्यक्ष प्रतीतिके बलपर चक्षु बाह्यार्थदेशसे असम्बद्ध शरीरके प्रदेशमें ही उपलब्ध होती होनेसे अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्षके कालमें पलकोंके भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिये थे यदि रश्मीरूपतया विवक्षित हो तो रश्मीरूप तो धर्मी ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मीरूप चक्षु किसी भी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं होती क्योंकि नयनरश्मिओंके साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षत प्रतीत होती हो तो फिर विवादका कोई विषय भी नहीं रह जाना चाहिये था नीला रग नीले रगके रूपमें दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है?

[३]प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियार्थक सनिकर्षसे जन्य मानी गयी है और बाह्यार्थदेशमें विद्यमान नयनरश्मिओंके साथ दूसरी इन्द्रियोंका

संनिकर्ष तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहां उन रश्मिओंका प्रत्यक्ष पैदा हो पाये. अतः अन्ततः अनवस्थादोष भी यहां आ पड़ेगा. प्रत्यक्षदर्शनके अभावमें अनुमानद्वारा भी अतएव इन रश्मिओंकी सिद्धि शक्य नहीं... एतावता रश्मिओंकी सत्ता सिद्ध करनेको जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु रश्मिवाली होती हैं तैजस होनेके कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षुकी अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तुकी ? चक्षुर्गोलकसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहनेसे अपसिद्धान्तका प्रसंग भी आ पड़ता है. गोलकरूप चक्षुको रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षबाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकोंमें चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती.

"अब उन रश्मिओंको अदृश्य मान कर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होनेके कारण प्रत्यक्षबाधके प्रसंगसे बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेंगी? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होनेके कारण जलसे संयुक्त अनलकी तरह. ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो कहीं दिखलायी नहीं देता... बिल्ली आदि जानवरोंकी आंखोंमें प्रत्यक्षतः रश्मियां प्रतीत होती हैं अतः कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरोंकी आंखोंमें रश्मियां दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियां कैसे मानी जा सकती है?...

"इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थके प्रकाशक होनेमें बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीपको... अतः जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तैजस होनेके कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाता...

अनुमानत भी यह बाधित लगता है—जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होनेके कारण. जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते जैसे मृत्पिण्डादि

[6]चक्षुके द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अत उसे तैजस माना नहीं जा सकता आलोकसे अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही अत तमप्रकाशक होनेके कारण चक्षुको तैजस् नहीं माना जा सकता ..

[7]चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर क्या विषय चक्षुके देश तक आता है या चक्षु विषयके देश पर्यन्त जाती है? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्षसे बाधित है. . द्वितीय कल्पमें भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषयके प्रति चक्षुका गमन सिद्ध नहीं होता. यहा विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वय जा कर बाह्यार्थके साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होनेके कारण त्वचाकी तरह ही.

[8]अत इष्टरीतिका अतिक्रमण करके चक्षुके साथ जुड़ी किसी वस्तुका विषयके साथ सम्बन्ध माननेके बजाय प्रतीतिके बलपर विषयसे असम्बद्ध चक्षु ही विषयकी प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकारमें क्या आपत्ति है? व्यर्थ ही प्रतीतिका अपलाप करनेसे लाभ क्या!. .

[9]विषयदेशमें जा कर चक्षु अर्थको द्योतित करती हो तो... काच मेघ पारदर्शी वस्त्र स्वच्छ जल स्फटिक आदिके द्वारा व्यवहित वस्तुओंका या तो उपलम्भ नहीं होना चाहिये अथवा इन व्यवधानोंके बावजूद चक्षु उन व्यवहित वस्तुओंतक जाती हो तो व्यवधानरूप पदार्थोंका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि चक्षु वहासे आगे पहुच गयी होती है इन काच आदि अवयविओंके द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता? यदि इनके आरपार जानेके कारण चक्षुकी रश्मिया अर्थदेश तक जाती

हों तो कमसे कम कांच आदिसे व्यवहितार्थकी उपलब्धिके समय तो व्यवधायक कांच आदि अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिये...

[10]"इससे यह सिद्ध हुवा कि कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्षकी शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभवमें भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है...

[11]"चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर चक्षुके विषयके बारेमें संशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहियें, क्योंकि चक्षुसे गृह्यमाण वस्तुके सामान्य धर्मोंकी तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होनेसे उनका संनिकृष्ट वस्तुकी तरह ग्रहण हो जाना चाहिये सनिकृष्ट होनेपर भी चक्षुके द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता"[५]

जैनोंके सप्तभगिमोपेत सिद्धान्तमे शाकरोका अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमे सोचना हो तो, स्याद् नास्ति" रूप सग्रहनयमे आर्हतोंद्वारा स्वीकारा गया है इससे अलग हट कर बौद्धोका अन्तर्भाव ऋजुसूत्राकूत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थके सन्दर्भमे सोचना हो तो, "स्याद् अवक्तव्यम्" नयमे स्वीकारा गया है[६] यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकोंके मतके साथ सगत कथा नहीं लगती है फिरभी योगाचार मतकी दृष्टिसे बौद्धोंका अन्तर्भाव "स्याद् नास्ति" कल्पके अन्तर्गत अधिक सुसगत लगता है वैसे "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पको कोटित्रयविनिर्मुक्त माननेके बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमे माध्यमिक बौद्धोका अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा. शाकर वेदान्तमे मिथ्यात्व वैसे तो "सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्" (अद्वै सि मिथ्या निरु प्रक) कोटित्रयविनिर्मोकरूप ही माना गया है. फिरभी शाकर वेदान्तका भी अन्तर्भाव चतुर्थ "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पमे ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है क्योकि

ब्रह्मज्ञानजन्य बाधसे पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्षका व्यावहारिक प्रामाण्य माध्यमिक बौद्धोंकी ही तरह शाकर वेदान्तको अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञानके बाद तो स्वय *विवरणप्रमेयसग्रह* कार भी शून्यताके बारेमे किसी तरहकी विप्रतिपत्ति नही देखते है "बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्यागीकारात् बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्व, विनष्टस्य शून्यताया कस्यापि अविवादाद्" (विव प्रमे स १।७५/डी) अतएव हम देख सकते है कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंका प्रत्युत अन्त करणवृत्तिका भी बाह्य विषयदेशमे गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शाकर वेदान्तमे प्रतिपादित किया गया है एतावता बाह्यार्थकी परमार्थदृष्ट्या शून्यता तथा व्यवहारदृष्ट्या सवृतिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अगीकृत है तदनुसार शाकर वेदान्तमे अविद्याकल्पित बाह्यार्थदेशमे आविद्यक बाह्यार्थाकाराकारिताको सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्त करणवृत्ति दोनोको प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है यह सुतरा ध्यातव्य है कि शाकर वेदान्ताभिमत प्रक्रियामे यहा चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है और अतएव बौद्ध मताभिप्रेत प्रक्रियासे यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है एतदर्थ विवरणप्रमेयसग्रह तथा वेदान्तपरिभाषा के ये अश अवलोकनीय है—

> "सर्वगत चिदात्माको आवृत कर के अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत्के विविध आकारोंमें परिणत होती है यहा शरीरके भीतर स्थित 'अन्त करण'रूप अविद्याका विवर्त धर्माधर्मसे प्रेरित हो कर नेत्रादिके द्वारा बाहर निकल कर यथोचित घट आदि विषयोंमें व्याप्त हो जानेपर घट आदि आकारोंमें आकारित हो जाता है जैसे लोकमें तलावमें भरा हुवा जल उसकी भीतमें रहे छिद्रोंमेंसे बाहर बह कर नालिओंमें बहता हुवा क्यारिओं तक पहुच कर उनमें भर जाता है व क्यारिया चतुष्कोण हों तो चतुष्कोण, त्रिकोण हों तो त्रिकोण; और वर्तुल हों तो वर्तुल आकार भी जल ग्रहण

कर लेता है यह तथ्य है कि बिलकुल तलावके जलकी ही तरह अन्तःकरण धीमे-धीमे नहीं बहता वह ऐसी तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र नक्षत्र ध्रुव आदि तक पहुच ही न पाये। वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह तैजस होनेके कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभाके आकारमें परिणत हो जाता है अतएव किरणोंकी ही तरह सहसा सकुचित भी हो पाता है सावयव होनेके कारण अन्तःकरण दूधकी तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत हो पाता है इस परिणतिके वश अन्तःकरण देहके भीतर और घट आदि विषयमें भी भलीभाति व्याप्त हो कर देह, घट; और, उन दोनोंके बीचमें रहे अन्तरालमें भी अविच्छिन्न दण्डायमान हो कर अवस्थित हो जाता है यहा देहावच्छिन्न अन्तःकरणके भागको 'अहकारा'ख्य 'कर्ता' कहा जाता है देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्तःकरणके भागको 'वृत्तिज्ञान'यिवा 'क्रिया' कहा जाता है इसी तरह विषयके व्यापक अन्तःकरणके भागको बाह्यार्थके ज्ञानका कर्म(=विषय) बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है इस तरह तीन भागोंवाले अन्तःकरणके अतिशय स्वच्छ होनेके कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होनेपर भी अपने अभिव्यञ्जक अन्तःकरणरूपी उपाधिके भेदवश तीन तरह निरूपित होता है . कर्तावाले भागमें घिरा चिदश प्रमाता, क्रियावाले भागमें घिरा चिदश प्रमाण, विषयगत योग्यताधायक भागमें घिरा चिदश प्रमिति यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई साकय नहीं हो पाता ''

''ज्ञानेन्द्रिया—घ्राण रसना चक्षु श्रोत्र और त्वचा यों—पञ्चसख्यक होती है ये सारी अपने-अपने विषयोंसे सयुक्त हो कर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती है इनमें घ्राण रसना और त्वचा इन्द्रिया अपने-अपने स्थानोंपर ही रहती

हुयी गन्ध रस स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती है जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने-अपने विषयोंको गृहीत करते हैं श्रवणेन्द्रिय भी चक्षुकी ही तरह परिच्छिन्न होनेके कारण भेरी आदिके देश तक पहुच कर उसके शब्द सुन लेती है"[७७]

इस तरह हम देख सकते है कि शाकर वेदान्त न केवल चक्षुकी अपितु श्रोत्र और अन्तकरण, जिसे बौद्ध दर्शनमे 'मन' कहा गया है, यो तीनोंको ही प्राप्यप्रकाशकारी मानता है वह भी बाह्यार्थकी कल्पितता तथा बाह्यदेशमे व्यावहारिकी विद्यमानता यो परस्पर दोनो विरोधाभासी धारणाओके समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है।

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान करना चाहता है श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने *विवरणव्रण*मे उल्लिखित अन्तकरणवृत्तिके बाह्य विषयदेशमे गमनकी आलोचना इन शब्दोमे करते है—

"विवरणकारका प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञानरूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता अत चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पड़ेगा कि अनुभवसे विपरीत ऐसी कल्पना करनेका औचित्य क्या है? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्धको शक्य बनाने ऐसी धारणा प्रस्तुत करनी अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्तिके अध्यास न होनेपर भी उसे घटज्ञान मानना या नहीं? अध्यास न होनेकी स्थितिमें तो पटाकारिका वृत्तिसे भी घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति स्वीकारमें भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी. प्रथम कल्पमें

यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि आध्यासिकी घटाकारिका वृत्तिकी घटज्ञानरूपता कैसी हो सकती है? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होनेके कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होनेसे तत्तद्-विषयाकारिका वृत्तिओंको ही तत्तद्-विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होनेसे विषयाधिष्ठानभूत चैतन्यको भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा. अन्यथा किसी एक घटको भी अपर घटका ज्ञान माननेमें भी कुछ आपत्तिजनक रह नहीं जायेगा. इसके अलावा किसी भी तरह विशेष आकारोंसे रहित ऐसे रूप संख्या सामान्य अभाव आदि विषयोंके ज्ञानोंको तो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा. परोक्षज्ञानद्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप करणोंके सहकारके बिना ही बाह्यार्थसे असम्बद्ध अन्तःकरण बाह्यार्थके आकारग्रहणार्थ सक्षम न होनेसे ऐसे ज्ञानको ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा. जो अन्तःकरण स्वतः ही निराकार हो वह तो तत्तत्-करणरूपा इन्द्रियोंद्वारा ही तत्तद् इन्द्रियोंसे गम्य विषयोंका आकार किस या कैसी प्रणालीद्वारा ले पायेगा? तलावका जल नालीसे बह कर क्यारीमें पहुंचनेपर क्यारिओंके आकारमें आकारित हो जाता है, उस तरह क्या अन्तःकरण आकारग्रहण कर पायेगा?... तलावमें रही सीढ़ियोंके कारण भला कभी तलावका जल क्यारी तक पहुंच सकता है क्या? वह तो नालीद्वारा ही पहुंच पाता है. एतावता सिद्ध हुवा कि क्यारिओंतक यदि जलको पहुंचाना हो तो तलावके बाहर रही हुयी ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनानी पड़ेगी. अतएव तो अन्तःकरणसे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थोंकी आवश्यकता स्वीकारनी ही पडती है और वह उचित भी है ही...

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञानको तो दूर कर सकती है परन्तु घटसे

भिन्न ऐसे चैतन्यके बारेमें जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगा? अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्यको भी अपना विषय बना लेगी तो यह वृत्ति अपनेमें अनध्यस्त निराकार चतन्यको कैसे विषय बना पायेगी? उसके उल्लेखपुर सर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसीसे सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यासकी कल्पना करनेसे लाभ क्या?

यहा यह भी प्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्यके बारेमें चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्तिके विषयीभूत घटमें चैतन्यके अनुस्यूत होनेके कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही हैं, सो उन्हें क्यों वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती? जैसे घट-पटके समूहावलम्बी ज्ञानके अनुव्यवसायमें घट और पट दोनों विषय बनते हैं, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य को मैं देख-जान रहा हूं' ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं? .[118].

इस तरह हमने देखा कि *विवरणव्रण*कार कैसे अन्तःकरणवृत्तिकी प्राप्यकारिताकी समालोचना करते है वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारकी युक्तियोंका भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुष वृत्तिके बहिर्निष्क्रमणकी कल्पना भी सहसा हृदयारूढ नहीं हो पाती है

दुग्धराशिवत् पानैकगम्य माधुर्यसे भरपूर अपने *तत्त्वामुक्ताकलाप* और उसपर स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामे श्रीमान् वेंकटनाथ वेदान्तदेशिकने भी इस विषयपर बौद्ध युक्तियोंकी समालोचना प्रस्तुत की है जिनमे जैन युक्तियोंका भी थोड़ा-बहुत समाधान तो झलकता ही है. फिरभी उसे पूर्ण सन्तोषकारी तो माना नहीं जा सकता है. हम देख चुके है कि चक्षुकी अप्राप्यकारिताके बारेमे जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक ही हैं. श्रोत्र इन्द्रियको, परन्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते है

और बोद्ध उसे भी मनकी तरह अप्राप्यकारी ही अत पूर्वोदाहृत युक्तियोंके विरुद्ध श्रीवेदान्तदेशिककी प्रतियुक्तियोका विमर्श भी यहा अवधारणीय वन जाता है—

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्ति उक्तप्रकारा
वृत्ति दृष्टेर् न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिरच्छ ।
नो चेद् गृह्येत योग्य समम् इह निखिल निष्फले छादकादौ
स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्तति त्वन्मतेऽपि॥

इसकी स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामे ग्रन्थकार कहते हे कि बाह्य चिन्तको द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रिया यदि देहके भीतर हों तो चक्षु और श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिद्वारा सम्बन्ध जुडता होनेसे यह शक्य है यह शका उठ सकती है कि देहके भीतर भरी रहनेवाली वृत्ति दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे कर पायेगी, क्योकि धर्म कभी धर्मीके बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता यद्यपि हैतुकगतिसे हठात्कारके साथ अप्राप्यकारितापर भार देना ही हो तोभी 'दिवीव चक्षु आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमे कोई बाधा दिखलायी नही देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है बाह्य चिन्तकोंका यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषयके प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्तिका नयनगोलकसे बाहर प्रसरण माननेपर, वह या तो क्रमश एक-एक विषयका ग्रहण करते हुवे अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयोका ये दोनो ही कल्प, परन्तु, दूरस्थ विषयोंकी प्राप्तिके हेतु उपपन्न नही हो पाते अत मनकी तरह रूपग्राहक चक्षु और शब्दग्राहक श्रोत्र भी अप्राप्यग्राही ही होते हैं' उनकी इस धारणाके विरोधमे यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि 'प्राप्याप्राप्यत्वके विवादका विषय चक्षु अपने विषयको प्राप्त करके ही रूप आदिकी ग्राहिका वन पाती है, इन्द्रिय होनेके कारण त्वगिन्द्रियकी तरह' जो कुछ इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है उस वस्तुका अपनेको ग्रहण करनेवाली

इन्द्रियके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना ही चाहिये अन्यथा असम्वद्धका ग्रहण मान लेनेपर तो अव्यवस्था हो जायेगी यह तो ठीक है कि सभी सम्बद्ध विषयोका ग्रहण भी इन्द्रिया नही करती अत वैसी अव्यवस्था तो स्वसम्बद्धार्थग्राहितावादिओके मतमे भी समानतया आपादित की जा सकती है परन्तु सूर्योदय होनेके साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओमे व्याप्त हो जाती है, वैसे ही उतने ही वेगसे नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हो तो उसमे विस्मयकी कौन सी वात हो सकती है। कमलके शतपत्राके वेधमे जैसे यौगपद्यका आभास होता है वैसे ही यहा भी शक्य हो सकता है कुछ लोग जो कहते ह 'चक्षुसे निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणे चन्द्र-सूर्यके बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाशसे सवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती है और इसी सम्बन्धके कारण चक्षुके खुलते ही दूरस्थ विषयका ग्रहण और दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनोका युगपद् ग्रहण भी उपपन्न हो जाता है' यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नहीं है, चक्षुसे निष्क्रमणके बाद सौर आदि प्रकाशके साथ सवलनकी कल्पनामे गौरवदोप प्रकट होता है[२]

वौद्ध मतके तर्कोंके निरसनार्थ दिये गये इस समाधानमे *न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी* भी कतिपय युक्तियोका समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिरभी वहुत सारी युक्तिया अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट ह अस्तु

इस विवादमें साख्यमतीय ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंपर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवत धारानरेश भोजराजविरचिता *युक्तिदीपिका* व्याख्यामे जो कुछ निरूपित हुवा उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, कोटिक्रमांके अवधारणार्थ ही तदनुसार—

"बुद्धिकी इन्द्रिया 'बुद्धीन्द्रिय' कहलाती ह इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी वात क्या है? कहा जाता है—शब्द आदि

विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वाररूप होती हैं. क्योंकि अन्तःकरणकी तो बहिर्वृत्ति हो नहीं सकती. अतः बाह्य शब्द आदि विषयोंके साक्षात् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता. इसलिये श्रोत्र आदि रूप साक्षात् बाह्य विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है. अतः ये इन्द्रियां ही एक प्रणाली बन कर अन्तःकरणको विषयग्रहण करवा देती हैं. अतः ठीक ही तो कहा कि बुद्धिको बाह्य विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वारभूत होती हैं अतः इन्हें 'बुद्धीन्द्रियां' कहना उचित है.

बुद्धिके इन करणोंकी किन अर्थोंमें वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं? कहा जाता है... शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध जो परस्पर भिन्न-भिन्न पांच तरहके विषय होते हैं उनके बारेमें श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंद्वारा श्रवण स्पर्शन दर्शन आस्वादन आघ्राण रूपी व्यापारोंको 'वृत्ति' कहा जाता है... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयोंका आलोचनमात्र अभीष्ट है. 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये दोनों पर्यायवाचक पद हैं... अतः ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका वे इन्द्रिय होती हैं. ये इन्द्रियां उन-उन विषयोंकी प्रदीपकी तरह प्रकाशिका नहीं होती. इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती हैं अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं. परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है? समाधानरूपेण यह अवधेय है कि विषयके साथ सम्पर्क होनेपर उन-उन विषयोंके रूपोंको धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तिओंका ग्रहणरूप व्यापार होता है. बादमें विषय और इन्द्रियवृत्ति का अनुकारी जो निश्चय

होता है कि 'यह गाय है, यह श्वेत वर्णकी है, और दौड़ रही है' इस प्रत्यय समझना चाहिये विषयके सात सम्पर्क छूट जानेपर श्रोत्र आदि वृत्तिओंमें जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है अत ग्रहणके अनुभवसे जो सस्काराधान होता ह और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति वन पाती है उस 'प्रत्यय' कहते ह यही इन दानोंके बीच रही विशपता है अव वाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकाराकारित नहीं होता घट आदि विषयोंके सस्कारद्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छायारूप थमके अपहरणद्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षुका उपकारी वन जाता है

अत यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते है, श्रोत्र आदि इन्द्रिया ग्राहिका होती हैं और अन्त करण व्यवसायक होता है''[१०]

यो वाचस्पति मिश्रसे भी पूर्वकालिक साख्यकारिकाके व्याख्याता *युक्तिदीपिका* कारने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारेमे किया है, इसके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रिया केवल ग्राहिका ही होती है, प्रकाशिका नहीं प्रकाश्य प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओके बीच ही माना गया है अतएव सम्भवत इन्हीं धारानेशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक *तत्त्वप्रकाश* ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत *तात्पर्यदीपिका* व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमे भी—

> ''मनका व्यापार इच्छारूप होता है अतएव मनके भीतर ही सकल्प होता है बुद्धीन्द्रिया पाच होती हैं श्रोत्र त्वचा दृष्टि जिह्वा और नासिका इनके ग्राह्य होते हैं शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन इन्द्रियोंके व्यापार शब्द आदिके ग्रहणरूप होते हैं इन शब्दादिका

ग्रहण शब्दादिके आकारोंको धारण कर लेना है और इसे ही 'इन्द्रियोंका व्यापार' कहा जाता है'' ''.

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोजके अनुसार साख्य और शैव दोनो ही मतोमे विषयेन्द्रियके बीच ज्ञानानुकूला प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी है इस प्रतिपादनशैलिमे विषयेन्द्रियके बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्तिके विपरीत विषय वास्तविक आकारघटक होता है तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है आग्लभाषामे इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity उपलब्ध होता है कि जिसके अनुसार कुछ द्रव्योमे यथायथ अनेकाकारधारणकी क्षमता मानी जाती है साख्य और शैव मतोकी भोजराजकृत व्याख्याके अनुसार इन्द्रियोंमे वैसी ही अनेकाकारधारणक्षमता होती है अतएव इसीके कारण ही विषय और इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्तिकी कल्पना की गयी है जहा तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नही इस समस्याके समाधानकी बात है तो स्पष्ट है यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है क्योकि बाह्य आलोककी रश्मिया यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है? क्योकि अन्धकारवाले प्रकोष्ठमे द्रष्टाके अराम्मुखीन दर्पणमे भी दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तरमे विद्यमान वस्तुओका प्रतिबिम्ब आलोकरश्मिओंके द्वारा प्रकट होता ही है यह आलोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित हुवे बिना कथमपि शक्य नहीं इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रॉजेक्टरमे भी तो पारदर्शी फिल्मके पृष्ठभागसे आलोकरश्मिओका प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रग तथा आकृति को प्रकाशकिरणे अपने साथ ले जाती है और परावृत्त हो कर उन्हे पुन चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती है अत बाह्यालोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित न होनेकी कथा तो सर्वथा तथ्यविपरीत ही है

जहा तक चक्षु इन्द्रियके विषयदेशमे पहुचे बिना या पहुच कर

विषयको प्रकाशित करनेके विवादके बारेमे वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायका प्रश्न हे तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने *प्रस्थानरत्नाकर* के प्रमाकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोलके तृतीय तरगके, तथा, ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके चतुर्थपादके सातव सूत्रके *अणुभाष्यप्रकाश* के आधारपर उनका विमर्श करना चाहेगे इस विमर्श करनेसे पहले, परन्तु, स्वय महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषयमें प्रतिपादित किया गया हे, उसे पहले दृष्टिगोचर कर लेना उपयुक्त होगा उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरणकी विशद विवेचनाका अवलोकन प्राप्तावसर चिन्तन होगा

<u>वाल्लभ दृष्टिकोण</u> :

भागवततृतीयस्कन्धकी सुबोधिनी व्याख्यामे महाप्रभु कहते है—

"ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिवाला अहकार समुत्पन्न हुवा यह तीन तरहका ही उत्पन्न होता है स्वय उत्पत्तिकी प्रक्रिया ही यहा भेदिका बन जाती है क्योंकि मूलप्रकृतिके परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं अहकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस तामस भी ऐसे त्रिविध अहकारसे मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओंका भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिये बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति होती है राजस अहकारसे यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अत बुद्धि किसीभी विषयके बारेमें पैदा हो सकती है मन जैसे इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना बुद्धिका कार्य है अतएव बुद्धिद्वारा अनुगृहीत ही इन्द्रिया कुछ भी जान या कर पाती हैं बुद्धिके तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियोंसे पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है यह तो हुवा बुद्धिका कार्यानुसारि लक्षण बुद्धिका

स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है : घट आदि द्रव्योंके स्फुरण होनेपर शब्द, संस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है यह बुद्धि है. क्योंकि केवल चक्षुसे पैदा होनेवाले ज्ञानमें तारतम्य हो नहीं सकता. स्वत.स्फुरण तो योगज धर्मोंसे भी शक्य होता है, अतः द्रव्यके स्फुरण होनेके बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धिका स्वरूपलक्षण माना गया है. इन्हें 'तैजस' कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियां चाहे ज्ञानकी करण हों या क्रियाकी, दोनों तरहकी होती तो हैं राजस ही. ज्ञानकी करण बननेवाली इन्द्रियां सात्त्विक हों और और क्रियाकी करण बननेवाली तामस हों ऐसे नही मान लेना चाहिये... जैसे ज्ञानके मूलमें बुद्धि होती है वैसे ही क्रियाके मूलमें प्राणतत्त्व भी होता है... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धिके द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियां सभी राजसी होती हैं... बुद्धिकी तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियोंका अनुग्राहक होता है... अब रूपका लक्षण जान लेना चाहिये. वह द्रव्यकी आकृतिके जैसी आकृतिवाला होता है. घट आदि द्रव्योंकी जो भी आकृति होती है वही रूपकी भी होती है. वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है. अतएव पटके उदाहरणमें वह आतानवितानात्मक भी होता है. यहां 'द्रव्यके जैसी आकृति' कही जाती होनेसे यह फलित होता है कि द्रव्य रूपके जैसी आकृतिवाला नहीं होता. अर्थात् द्रव्यको उपमेय नहीं कहा जा रहा है. इसके अलावा रूप द्रव्यका गुण भी होता है. प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही. शब्द आदि तन्मात्राओंके बारेमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है. व्यक्तिकी संस्था ही रूपकी भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति

वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है. रूपवान् द्रव्यके उपविष्ट होनेपर रूप भी उपविष्ट हो जाता है... इसे 'तेजका तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह रूपतन्मात्रारूप होता है. अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था. अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेजका कोई विशेष गुण होता है... यहां रूपको तेजका एक विशेष गुण माना गया है"[२].

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्याके रूपमे दिये गये इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर जो एक बात स्पष्ट समझमे आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूप आदिकी ग्राहिका इन्द्रिया राजस अहकारके विकाररूपतया उत्पन्न होते है. इनमे रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनो ही तैजस द्रव्यके विकार है. अत तैजस द्रव्य होनेके कारण चक्षुरिन्द्रियोकी जैसे किरण हो सकती है वेसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्यकी भी किरणे समानन्यायेन हो सकती हे अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कही प्रतीति सुकर हो और कहीं दुष्कर हो वह अन्य कथा है. इस पक्षके विस्तृत विवेचनसे पहले परन्तु अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचनाको दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है.

<u>गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना</u> ।

तदनुसार सर्वप्रथम *प्रस्थानरत्नाकर*मे जो प्रतिपादन उपलब्ध होता हे उसे देख लेना उपकारक होगा—

"इन्द्रिय और विषय के सयोगसे निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर इन्द्रियपर अनुग्रह करती है. उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है. बुद्धि यदि इन्द्रियोंपर अनुग्रह न करती

हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता. वृत्त्यन्तरवश पूर्ववृत्तिके नाश होनेपर सविकल्पक ज्ञान संस्कारात्मना अवस्थित हो जाता है. इन्हीं संस्कारोंके रूपमें अवस्थित विषयोंका उद्बोधकोंके द्वारा उद्बोधन होनेपर राजस रागादिगुणोंके कारण स्मृतिजनक संस्कार प्रबल हो जाते हैं. पश्चात् तमोगुणोंके बुद्धिमें प्रबल होनेपर स्वोपस्थापित अर्थसे माया वास्तविक विषयाकारको आवृत कर उस मायिक पदार्थके ज्ञानको नयनगोलकके अग्रभागपर जब आरोपित करती है. तब भ्रम पैदा होता है... अतः बुद्धिस्थ गुणोंसे जन्य बुद्धिकी अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है... इस वृत्तिके प्राकट्यका क्रम यों समझना चाहिये : हमारे भीतर विराजमान अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मनको किसी कार्यके हेतु प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेको तत्तद् इन्द्रियोंके साथ संयुक्त हो जाता है... बादमें विषयसंसृष्ट इन्द्रियोंमें पहले इन्द्रियावच्छिन्न मनमें निर्विकल्पक ज्ञान पैदा होता है. उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति पैदा होती है. तब बुद्धिके द्वारा भी उन इन्द्रियोंपर अनुग्रह किये जानेपर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है. चाक्षुष ज्ञानमें तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं. जबकि इन्द्रियान्तरोंमें किरण न होनेके कारण इन्द्रियद्वारोंसे ही विषय मन तक पहुंचते हैं. दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंमें विषयेन्द्रियोंके बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार बनते हैं. यहां एक ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनोंकी किरण स्वीकारनेपर इन्द्रियोंके बारेमें ब्रह्मसूत्र 'अणवश्च' (ब्र.सू.२।४।७) में अभ्युपगत अणुत्वकी धारणा निरस्त हो जायेगी. यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल, चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणें जिस विस्तारमें व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण

उसका होता नहीं है और सूर्यका ही कोई क्षुद्र अश हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रियके रूपमें निर्मित हुवा होनेसे उसके किरणोंकी भी कल्पना करनेमें कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र सू २।३।२५) ब्रह्मसूत्रके अनुसार क्योंकि आलोकको गुणरूप माना गया है अत तैजस चक्षुके आलोकरूप गुणको विषयदेशमें व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये अत नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त गमनद्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया उचित लगती है

कुछ लोगोंका कहना है कि मायाके कार्यरूप तमका आलोकके द्वारा प्रतिबन्ध हो जानेपर ज्योतीरूप सूर्य देवताकी किरणोंद्वारा अव्यवहित सन्मुख देशमें अवस्थित घटका विशिष्ट पृथुबुध्नोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुचाया जाता है तब सत्त्वप्रधान बुद्धिके भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है. और तब अणुरूप जीवके प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुष घटकी अभिव्यक्ति होती है दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायुद्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुचाये जाते है तब अन्तःसत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकारसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदिकी अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षोंके रूपमें घटित होती है. आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है.

यहा इस विषयमें यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें भागवतपुराण(११।२८।३-४)में प्रतिपादित किया गया है. ज्योतीरूप सूर्यद्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूपका प्रापण भी सगत नहीं. क्योंकि अनेक

द्रष्टाओं तक विषयरूपके प्रापणकी कल्पना करनेपर अन्तम कभी विषय स्वय नीरूप रह जायेगा इसके अलावा साझको सूर्यास्तक बाद सूर्यकिरणोंके अभावमें घट दिखलायी देना भी बन्द हो जाना चाहिये भागवतपुराणमें वायुके बारेमें 'नेतृत्व द्रव्यशब्दयो' (भाग पुरा ३।२६।२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्यके बारेमें उपलब्ध न होता होनेसे भी यह धारणा अशाब्द ही है

इसके अलावा यह भी यहा विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुम प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा प्रतिबिम्ब तो मायिक होते है वास्तविक नहीं अत बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसमर्पक मानना पडेगा अत उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो'' ११

इसी तरह *ब्रह्मसूत्राणुभाष्य* के "अणव च" (ब्र सू २।४।७) के प्रकाशमे भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रियका कौन सा गुण विषयदेशको प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी मानना इस विषयमे यो समझाया है कि चक्षुके तैजस होनेके कारण उसमें रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषयदेश पर्यन्त गमन कर सकता है प्रकाशकार यह भी कहते हे कि "यन्न स्पृशन्ति न विदु मनोबुद्धीन्द्रियासव" (भाग पुरा ६।१६।२३) इस नारदकृत उपदेशमे मन आदिके बारेमे यह कहा गया है कि न वे तो ब्रह्मका स्पर्श कर पाते है और न ही ब्रह्मको जान ही पाते हे एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियोंम स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवतको अभीष्ट तो है ही अन्यथा ब्रह्मके बारेमे अप्रसक्तका प्रतिषेध स्वीकारना पड़ेगा अत स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिये,

इन्हे अणुपरिमाण माना गया होनेसे उस स्पर्शका प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी स्वाभाविक रूपमे दूरदेशवर्ती वस्तुका जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्तीकी वस्तुकी चक्षुरिन्द्रियदेशमे प्राप्ति शक्य न होनेपर चक्षुरिन्द्रियकी ही विषयदेशमे प्राप्ति अन्यथानुपपत्तिके बलपर स्वीकारनी पडेगी अन्यथा स्पर्शके विना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गलेपतित होगा

उक्त विवेचनाका विमर्श :

इस समग्र प्रतिपादनमे कुछ बाते विचारणीय लगती है

सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रोमे चक्षुकी विषयदेशमे प्राप्तिके बाद स्पर्शकी बात कहीं कण्ठोक्त है या नहीं? अर्थात् श्रौत अर्थापत्तिके बलपर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नही? रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिकने अवश्य ही "'दिवीव चक्षु आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है" (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्तिकी विषयदेशमे प्राप्यकारिताको श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है इसे श्रीपुरुषोत्तमचरणके शब्दोंमे कहना हो तो सौर आदि बाह्यालोककी तरह नयनकिरणे भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती गुण होती हे अत स्वग्राह्य वस्तुदेशमे चक्षुर्गुणकी व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचनके आधारपर प्रस्तावित की जा सकती है मुझे परन्तु यहा ऐसा प्रतीत होता है कि "तद् विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय दिवीव चक्षु आततम्" (ऋक्सहि १।५।२२।२०) इस श्रुतिवचनमे 'दिवि' पदके साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्तिको औपश्लेषिक या अभिव्यापक चक्षुके आधारके रूपमे लेना उपपन्न नहीं होता. अर्थात् समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको सयोग सम्बन्धके साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको अभिव्याप्त मानना ये दोना ही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती हे इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता हे कि

नभमे जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो, अथवा विद्यमान हो उदा. नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वय नभोविस्तार को ही चक्षु जैसे देख पाती है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णुके परम पदको सदा देख पाते हे

ऐसा अर्थ न स्वीकारनेपर या तो "यथा दिवि आतत चक्षु पश्यन्ति"ऐसा अन्वय सोचनेपर चक्षुको 'पश्यन्ति' क्रियापदके कर्मके रूपमे मानना पडेगा, अथवा तो "यथा दिवि आतत चक्षु पश्यति"ऐसा अन्वय सोचनेपर "किं पश्यति?" आकाक्षाकी पूर्ति ही हो नही पायेगी प्रस्तावित अर्थ स्वीकारनेपर, जबकि, "तरणि विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो विश्वम् आभासि रोचनम्" (ऋक्सहि १।९।५०।४) वचनमे कण्ठोक्त 'विश्व रोचनम् आभासि' प्रयोगके साथ सवाद भी सिद्ध हो जाता है 'विश्व रोचन'का अर्थ श्रीसायणाचार्य "रोचमानम् अन्तरिक्षम्" करते है और उसे अथवा तद्वर्ती अन्य पदार्थोको भी यहा 'आततम्' पदसे परामृष्ट मानना उपयुक्त होगा

यदि "मोक्षे इच्छा अस्ति" प्रयोगकी तरह 'दिवि'पदमे भी वैषयिकाधाररूपमे सप्तमी विभक्ति ली जाये तो 'चक्षु'को विशेष्य बना कर 'आततम्'को उसका विशेषण मानना अथवा 'चक्षु'को उद्देश्य मान कर 'आततम्'को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते हे तो पुन "यथा दिवि आतत चक्षु (जना पश्यन्ति तथा) सूरय विष्णो परम पद पश्यन्ति" अन्वय गलेपतित होता है यदि 'चक्षु'को उद्देश्य बना कर 'आततम्'को विधेय मानते हैं तो सामान्य जनोकी चक्षु तो आकाशमे आतत हो कर भी विष्णुके उस परमपदके दर्शनकी कर्त्री तो हो नहीं सकती अत "सूरिगण विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देख पाते है जैसे चक्षु आकाशमे आतत-व्याप्त होती हैं" ऐसे विचित्र अर्थकी कल्पना करनेपर तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नही हो पाता

दूसरी जो बात यहा अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुरिन्द्रियकी तरह ही रूपतन्मात्राको भी तैजस मानते ह अत कोई विनिगमना

नही रह जाती कि क्यो तैजस होनेके कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेशपर्यन्त धावन करती है और क्यो चक्षुर्ग्राह्य विषयकी रूपतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नहीं कर पाती ?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्यका ही कोई अशविशेष जब हमारे नयनोके रूपमे जो प्रकट हुवा है और रूपतन्मात्राके साथ सयुक्त होनेपर तत्तादात्म्यापन्न सूर्यकी किरणे क्यो उस रूपतन्मात्राको नयनदेश तक नही पहुचा देती ? क्यो नयनरश्मिओंको रूपतन्मात्राके प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है ? श्रुति तो स्पष्ट शब्दोमे **"उद् उ त्य जातवेदस देव वहन्ति केतव दृशे विश्वाय सूर्यम्"** (ऋक्सहि १।९।५०।१) विधानद्वारा सप्तरश्मिओको 'केतव'-प्रज्ञापक मान कर सभी दृष्टिमान् प्राणिओंको नयनोद्वारा दर्शनक्रियामे सक्षम बनानेवाले सूर्यदेवका वहन करनेवाली मानती है मूल सूर्यरश्मिया जिस कार्यको सम्पन्न कर ही रही हो उन्हे अशभूत नयनरश्मिओसे करवानेमे क्या लाभ ? यदि *युक्तिदीपिका* कारकी तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहा अभीष्ट हो तो पुन *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की युक्तियोका भी समाधान खोजना पडेगा नयनरश्मिओंको अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली माननेके बजाय उद्भूतरूपस्पर्शवाली सूर्यरश्मिओंसे वह कार्य क्यों सम्पन्न होता हुवा न मान लेना ? श्रीप्रभाचन्द्रकी इस युक्तिमे पर्याप्त बल है कि जो स्वय रश्मियुक्त हो उसे बाह्य आलोककी अपेक्षा क्यों होगी ? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होनेके कारण बाह्य आलोककी अपेक्षा माननी पड़ती हो तो उसी कारणसे वह वस्तुग्रहणमे भी अक्षम सिद्ध होगी उदाहरणतया अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारमे तारागणोके मन्दालोकमे बहुधा विषयका स्फुट अवभासन नहीं हो पाता इसी तरह अन्धकारकी चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्तासे उपपन्न तो हो सकती हे नयनरश्मिओंकी वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुतिम स्पष्ट शब्दोंमे निरूपित किया गया है, **"अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्ति अक्तुभि सूराय विश्वचक्षसे"** (ऋक्सहि १।९।५०।२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नक्षत्राक सारे मन्द प्रकाश

सौर प्रकाशय निवृत्त हो जाते है ऐसे ही नयनाकी भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोकमे अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिये थी इसके विपरीत "द्वा विश्वाय सूर्यम्" वचनमे स्पष्ट शब्दोमे सार आलोकको नयनोंको दर्शनसामर्थ्य प्रदान करनेवाला माना गया है उल्लिखित वचनके भाष्यमे श्रीसायणाचार्य भी कहते है कि "विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूराय सूर्यस्य आगमन दृष्ट्वा तस्करा नक्षत्राणि च रात्रिभि सह सूर्य आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते" (तत्रैव) स्वय श्रीपुरुषोत्तमचरणने भी "चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्" (अवता प्रति-बि वा) इतना तो स्वीकारा ही है अत जो नयनरश्मिया परावृत्तिक्षम न हो दर्शनक्षम कैसे हो पायेगी? इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मिओका विषयदेशमें पर्यवसान स्वीकारनेपर नयनगोलकके साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पडेगा ऐसी स्थितिम पुन विषयावभासन चक्षूरश्मिओसे अकल्प्य सिद्ध होगा

अत इन बातोंका विचार करनेपर जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने "केषाञ्चित् प्रक्रिया"के रूपमे जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मतमे, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, अधिक सुसगत होनी चाहिये थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनोके द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिताकी प्रक्रियापर अवलम्बित होनेके

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोकको इस प्रक्रियामे जो तमोजननमें प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवतके "यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्याद्" (भाग पुरा ११।२८।३४) वचनसे विरुद्ध है इस बारेम कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि शैत्योत्पत्तिमे प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिये थी तमोजनन विषयदेशमे नहीं प्रत्युत नयनदेशमे होता है, ऐसा इस वचनद्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वय ग्रन्थकारद्वारा *अन्धकारवाद*मे उद्धृत "यद् बाधसे गुहाध्वान्त प्रदीपप्रभया

यथा'' (भाग पुरा १०।५१।२०) वचनमे नयनोके बजाय गुहाप्रदेशमे ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोकसे प्रतिबद्ध भी माना गया होनेसे पुन विचारणीय ही लगता है स्वय श्रीमद्भागवतके ''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्काशभूतस्य च चक्षुष तम'' (भाग पुरा १२।४।३२) वचनमे घनको अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित=अर्कदर्शित और अर्काशभूत चक्षुके लिये तमोरूप भी माना है यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टाके नयनोमे नही प्रत्युत नभोदेशमे ही अवस्थित होता है अत मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते है और नियततया नयनगोलकमे अध्यारोपित ही रही बात सूर्यरश्मिओद्वारा विषयरूपके नयनपर्यन्त आनयन करनेपर विषयके नीरूपताकी तो ''दीप चक्षु तथा रूप ज्योतिषो न पृथग् भवेत्'' (भाग पुरा १२।४।२४) वचनके अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनोंपर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी नयनरश्मिया पलकोको बन्द करनेपर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हैं तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यो नहीं कर पायेगी?

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक युक्ति यह जो दी है कि सूर्यरश्मिओंद्वारा रूपके नयनपर्यन्त प्रापणकी प्रक्रियामे सूर्यास्तके बाद रूपवद् वस्तुका दर्शन शक्य नहीं रह जायेगा इस सन्दर्भमे ऋग्वेदकी ''व्युच्छन्ती हि रश्मिभि विश्वम् आभासि रोचन ता त्वाम् उष वसुयवो गीर्भि'' (ऋक्सहि१।९।४९।४) श्रुतिमे सूर्यके साथ जुड़ी यदि उषा भी सर्व रूपवद् वस्तुओंके प्रदर्शनमे सक्षम होती हो तो सन्ध्या भी उसी सूर्यसे जुड़ी होनेके कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्तके बाद भी रूपवद् वस्तुका प्रकाशन कर ही सकती है सूर्योदयके बाद गृहके जिस अन्त प्रकोष्ठमे सूर्यरश्मिया प्रविष्ट नहीं हो पाती वहा भी सूर्यालोक तो अन्धकारको निवृत्त करता ही है यही न्याय सूर्योदयसे पूर्व और सूर्यास्तके बाद भी कुछ काल तक प्रकट होनेवाला या रहनेवाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होनेसे बहुत विचारणीय नहीं लगता

आदित्यरश्मिओंकी रूपप्रापकताके अशाब्द होनेका विधान भी अशतो उपर्युद्धृत श्रुतिवचनोंसे भी समाहित तो हो ही जाता है प्रतिवन्दि उत्तरके रूपमे, परन्तु, यह भी तो कहा ही जा सकता है कि नयनरश्मिओंकी विषयदेशमे प्राप्ति भी किसी निसदिग्ध शास्त्रवचनद्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करनेसे सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्तिके परिश्रमकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुम प्रतिविम्ब पैदा करनेके रूपमे ही स्वीकारना पडेगा इस सन्दर्भम स्वय ग्रन्थकारके दो वचन मननीय प्रतीत होते है

१ "प्रतिबिम्बस्तु अदण्डव्यापितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते "

(प्रस्था रत्ना प्रमा कल्लो तृती तर)

२ "किञ्च शलाकाव्यवहितस्थल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तर शलाकाया तदुकानास्ततलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते, शलाका च अन्त सिकतादिवत् तेन अन्तर्जल मध्यदेशे प्रतिविम्बोद्भव इति निश्चीयते परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात् किम्बहुना पराक्षिणि स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभाव इत्यपि सुधीभि आकलनीयम् "

(अव वादा प्रति बिम्ब वा)

ऐसे अभ्युपगमके बाद भी ग्रन्थकार यह कहना कि प्रतिविम्ब तो मायिक होते है वास्तविक नही अत बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोको आकारसमर्पक मानना पडेगा गम्भीर आक्षेप नही लगता अत यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर

भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो यहा तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है वैसे आधुनिक चक्षुर्विज्ञानके अनुसार नयनगोलकोंके भीतर सम्पन्न होती दर्शनकी प्रक्रियामे वहा नयनगोलकोंमे समुद्भूत विषयप्रतिविम्बका विषयप्रत्यक्षके साथ किसी भी तरहका कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नही होता वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलकके बाह्यावरणपर ही घटित होता है नेत्रोके अन्तपटलपर तो विषयससृष्ट बाह्यालोकरश्मियोके परावर्तनके वाद सयोगसम्बन्धवश ही बाह्यविषयका चाक्षुष आभास होता है वह भी उस नेत्रपटलसे मष्तिष्कके पश्चाद्वर्तिभागमे अवस्थित चाक्षुषकेन्द्रमे पहुचनेवाली नाडिकाओंके भलीभाति काम करनेपर ही

इस सन्दर्भमे अनिर्दिष्टनामा *'केषाञ्चित् =कुछ लोग'* कहते है अशमे उद्धृत विधान कि **''आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है''** इसमे भी वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार थोड़ा सशोधन अपेक्षित लगता है वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोमे एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे ''सर्वं सर्वमयम्'' (नृसिहोत्त ताप उप ९) वचनोक्त तादात्म्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही यह, परन्तु, लौकिक अनुभूतिका विषय न हो कर ब्रह्मानुभूतिके अगतया गोचर होता है अत उस मौलिक तादात्म्यकी अविज्ञात अर्थक्रियाकारिता स्वीकार्य होनेके बावजूद अनुभूतिगोचरता यहा विवक्षित मानी नहीं जा सकती अत सम्बन्धमीमासा यहा सावधानतया करनी पड़ेगी तदनुसार हम समझ सकते है कि बाह्य रूपवद् वस्तुके साथ वाह्यालोकके सयोग होनेपर वहा तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओके साथ भी वाह्यालोकरश्मिओका सयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ता है अत वस्तुनिष्ठ रूपतन्मात्राओके आकारादिसे आकारित वाह्यरश्मिया परावृत्त हो कर नयनगोलके अन्तपटलसे, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषाका प्रयोग करना हो तो, सयुक्त होती है तव वे विषयाकाराकारित

बाह्य सोर आदि आलोककी रश्मियां चाक्षुष संवेदना उत्पन्न करती हैं. अतः प्रस्थानरत्नाकरोक्त "तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः" (तत्रैव) विधान असम्यक् नहीं परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है. महाप्रभुने रूपतन्मात्रा ओर द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा हे ओर द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होनेसे यहां संयुक्ततादात्म्यसंयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता हे.

वैसे *प्रस्थानरत्नाकर* में ग्रन्थकारने १.संयोग २.तादात्म्य ३.संयुक्ततादात्म्य ४.संयुक्तविशेषणतादात्म्य ओर ५.स्वरूप यों पांच ही सम्बन्ध स्वीकारे हैं. इस चाक्षुषप्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धोके अलावा भी सम्बन्धोंका ऊह करना हो तो किया जाना चाहिये. बाह्यालोकरश्मिओंके साथ अपने धर्मकि सयोगवश रूपतन्मात्रायें तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मिओंसे भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्धवश जुड जाती है. अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्मिं तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान रूपतन्मात्रा इन रश्मिओके साथ पुन तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटलसे संयुक्त होती हैं तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहणमे सक्षम हो पाती हैं. यों परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नहीं होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है. फिरभी चाक्षुष द्रव्यका आधिभौतिक स्वरूप जड़ होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्यका आध्यात्मिक स्वरूप सदंशभूत जड़ इन्द्रियान्तःकरण ओर चिदंशाभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है.

प्रस्थानरत्नाकर में चक्षुकी *अप्राप्यप्रकाशकारिता* और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवतके "चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि" (भाग.पुरा.११।१५।२०) इस वचनके आधारपर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वयको हेतुतया स्वीकारा गया है. यह सम्बन्ध आवश्यक नहीं कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योंकि प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टृरश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकता है,

दोनोंके बीच अर्थात् रश्मि-तद्वान्के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्यसम्बन्धवशात् इस तादात्म्यका अनुल्लेख "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"/"तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ३।१४।१ — ६।८।१०) वचनामे कार्यकारणभाव और अंशांशिभाव प्रयुक्त रूपभेदका अनुल्लेख जैसे पारस्परिक तादात्म्यसम्बन्धवशात् आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिये

निष्कर्ष :

प्रस्तुत विषयके उपसहार करनेसे पूर्व यही विवक्षित है कि चक्षुको विषयदेशमे पहुचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्टया अपरिहार्य नही लगता यह प्रत्यक्ष प्रयोग एव निरीक्षण से विरुद्ध भी है श्रीपुरुषोत्तमचरणका प्राप्यप्रकाशकारित्वपर भार देना सर्वथा उचित ही है यह चक्षुकिरणोंकी विषयदेशमे प्राप्तिकी कल्पनापर अवलम्बित करनेके बजाय बाह्य आलोककिरणोकी चक्षुर्देशमे प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक सोपपत्तिक प्रतीत होती है

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणके शास्त्रावगाहन तथा आचार्यवाणी के अवगाहनका दशांश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकारका होता वह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयको श्रीपुरुषोत्तमचरणके विधानोंकी आलोचनाका अधिकारी मान लेता। यहा जो विमर्श प्रस्तुत किया गया है वह अपने-आपको इस विषयमे अधिकारी होनेकी अहम्मन्यताके वश नहीं परन्तु स्वय ग्रन्थकारके "युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्" (अवता वादा अन्धका वा) उपदेश और आदेश को हृदयारूढ कर के ही श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकारके सप्तम पूर्वपुरुष श्रीविट्ठलराय गोस्वामीके विद्यागुरु है अत प्रस्तुत निबन्धकारका भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव "त्वं हि न पिता यो अस्माकम् अविद्याया पर पारं तारयसि" (प्रश्नोप ६।८) अतीव मनोरूढ है अत अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपणमे कोई स्खलन हुवा हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमाप्रार्थनाके साथ

------+------

उद्धृत वचनोंके सन्दर्भ तथा उनका मूलरूप

[१] " 'न अर्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषय प्रकाश च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारण, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्व न निवार्यते ज्ञानावरणादिक्षयोपसामग्र्याम् आराद् उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरुपकारित्वेन च अभ्युपगमात् कुत पुन साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात् नहि तद्भावे भावलक्षणो अन्वयएव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि योगिना च अतीतानागतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्व, निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद् अतीतानागतत्वक्षति "—"सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्त सयोगादिसम्बन्ध तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य दृश्यते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धि अथ प्राप्यकारि चक्षु करणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूषे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचार नच सयुक्तसयोगादि सन्निकर्ष तत्र कल्पयितु शक्यते, अतिप्रसगात्" (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृताया प्रमाणमीमासाया १।१।२५—१।१।२९)

[२] "अप्राप्तार्थानि अक्षिमनश्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा यदि अप्राप्तविषय चक्षु, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्त पश्यति, दूर तिरस्कृत च कथ तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम् अय। प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समान कस्माद् न सर्व प्राप्त पश्यति अञ्जन शलाका वा। यथाच घ्राणादीना हि प्राप्तो विषयो नतु सर्व, सहभूगन्धाद्यग्रहणाद्, एव चक्षुषोऽपि अप्राप्त स्यात् नतु सर्व" (आचार्यवसुबन्धुकृते अभिधर्मकोशे १।४३)

[३] "चक्षु श्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्यं कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्तौ अजनकत्वात् यद्यद् जनक सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तद् तत्प्राप्तावेव तद् जनयति यथा कुम्भजनक कुम्भकारो मृदो अप्राप्तौ अकुर्वन् कुम्भ तत्प्राप्तावेव करोति तथाच एतत्" (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया १।१।४)

"प्राप्तप्रकाशक चक्षु व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्"—ननु चक्षुष तैजसत्वे किं मानम् इति चेत्, चक्षु तैजस परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद् अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्य 'परकीये'ति न

देयम्"(प्रशस्तपादकन्दल्यां : साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे न्यायमुक्तावल्यां : कारि.४२).

"...बुद्धि तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् अश्नुते. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यतां सर्वथापि अनिमित्तत्व विद्यमानोपलम्भनात्. यद्वा इन्द्रियं प्रमाण स्यात् तस्य वा अर्थेन संगति. मनसो वा इन्द्रियै योगे आत्मना सर्वएव वा. तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् च प्रमाणता. व्यापारो न यदा तेषा तदा न उत्पद्यते फलम्. नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोध. स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम्. प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते, मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम्. यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयो. नियता सगति. हेतु. फलेऽपि एवं भविष्यति. योगस्य द्वयाश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेश."(श्लोकवार्तिके प्रत्यक्षसूत्रे : ५८-६५).

"ननु एवं दूरे अर्थ इति सान्तरालग्रहणं न स्यात्, प्राप्तौ सत्या दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत्. किञ्च संयोगस्य गतिनिबन्धनत्वाद् गतिमता च क्रमेण आसन्नदूरगमनाद् समकालम् आसेदुषा दवीयसा च अर्थानां ग्रहण न उपपद्यते. उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहण तावद् उपपन्नम् समसमयसवेदने तु केचित् परिहारम् एव वर्णयन्ति सकलान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूता ते चाक्षुषा रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतव इति. तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थ प्राप्तौ अभ्युपगम्यमानायां अतिदूरव्यवहितानामपि ग्रहणं दुर्निवारम्. अन्येतु आहु क्षेपीयस्तया तेषा रश्मीना कालभेदानवग्रहाद् यौगपद्याभिमान इति. तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेद पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि. अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति. वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोष. नयनरश्मिभि एकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्त तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति."(प्रकरणपञ्चिकायाः ६।१३४).

[४]द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[५]"किम् इद बाह्येन्द्रियत्व नाम? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्य, बहिर्देशावस्थायित्व... वा स्यात्? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्त, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्. द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्वं स्यात्? प्रथमपक्षे किमिद

तत्र तस्य अवस्थायित्वम् — आश्रितत्व प्रकाशकत्वेन प्रवृत्ति वा ? तत्र आद्यविकल्पे अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भि प्रतिज्ञाता द्वितीयकल्पे तु असिद्धो हेतु, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावत प्रकाशकत्वेनबहिर्देशे तत्प्रवृत्ते असिद्धे गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशासम्बद्धस्य शरीरप्रदेशएव प्रत्यक्षत प्रतीते धर्मित्वेन च अत्र उपात्त चक्षु गोलकस्वभाव रश्मिरूप वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधो अर्थेन असम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशएव गोलकस्वभावस्य चक्षुष प्रत्यक्षत प्रतीते अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्य उपलम्भ स्यात् द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धि, रश्मिरूपस्य चक्षुष कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धे तत्साधक हि प्रमाण प्रत्यक्षम् अनुमान वा स्यात्? न तावत् प्रत्यक्षम्, अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीते न खलु रश्मय प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्यभावप्रसगात् नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भवन्मते नच अर्थदेशे विद्यमाने तै अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो अस्ति, यत तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसगात् अनुमानतोऽपि अतएव एतेन यद् उक्त रश्मिप्रसाधकम् अनुमान 'रश्मिवत् चक्षु तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यात रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुष प्रसाध्यते तद्व्यतिरिक्तस्य वा? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद् अपसिद्धान्तप्रसगात् च गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा, प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षत प्रतीते अथ अदृश्या तद्रश्मय अनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एव रूपप्रकाशकत्व तस्य स्यात्? तथाहि चक्षु रूपप्रकाशक न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलसयुक्तानलवत् नच अनुद्भूतरूपस्पर्शी तेजोद्रव्य क्वचित् प्रतीयते अथ मार्जारादिचक्षुषो प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते रश्मय तत् कथ तद्विरोध? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम् आयातम्? यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्ष यथा प्रदीपो रश्मिवत् च भवद्भि अभिप्रेत चक्षुरिति यदपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम् उक्त तदपि अयुक्तम् असिद्धत्वात् अनुमानबाध च तथाहि चक्षु तैजस न भवति भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात् यद्यत् तथाविध तत्तत् तैजस न भवति यथा मृत्पिण्डादि भासुररूपोष्णस्पर्शरहित च चक्षु तस्मात् तैजस न भवतीति तथा न तैजस चक्षु तमप्रकाशकत्वात् यत् पुन तैजस न तद् न तमप्रकाशक यथा आलोक तमप्रकाशक च चक्षु तस्माद् न तैजसम् इति किञ्च अस्य प्राप्यकारित्वे विषय चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षु वा विषयदेशम्? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषय प्रति चक्षुषो

गमनाप्रतीते. चक्षु गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्ध्यते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोध च तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अल प्रतीत्यपलापेन!. किञ्च चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि . काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भ स्यात् चक्षुप तत्र गच्छत काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिक भित्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेश गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे अनुपलम्भ... एतेन शाखाचन्द्रमसो क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया चक्षुर्विपयस्य सनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते. तथाहि यद् इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विपय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुप सशयविपर्यासानुपपत्ति, सामान्यवद् विशेपाणामपि सनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात् विशेपानुपलब्धिनिमित्तो हि सशयो विपर्यास च नच चक्षुपा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेपाभावात्" (न्यायकुमुदचन्द्रोदये.१प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १४)

[६]द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्यां २८

[७]"सर्वगता चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्त करणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदक सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत् नहि उदकवद् अन्त करण परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति झटति न सिध्येत् किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते अतएव रश्मिवत् सहसा सकोचोऽपि उपपन्न उपपन्नश्च अन्त करणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्त करण देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयो मध्यदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्न व्यवतिष्ठते तत्र देहावच्छिन्नान्त करणभागो 'अहकारा'ख्य 'कर्ता' इति उच्यते देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमान तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते विषयव्यापक तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते तस्य त्रिभागस्य अन्त करणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्य तत्र अभिव्यज्यते तस्य अभिव्यक्तस्य

चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति   कर्तृभागावच्छिन्न चिदश प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न चिदश प्रमाण, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्न चिदश प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असाकर्यम् '' (विवरणप्रमेयसग्रहे १।११३/ए)

"इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति चक्षुश्रोत्रेतु स्वतएव विषयदेश गत्वा स्वस्वविषय गृह्णीत , श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् '' (वेदान्तपरिभाषाया १)

"'किञ्च स्याद् एतद् एव यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व वदन् प्रष्टव्य कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते ? दृग्दृश्ययो सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थ चेत् तत्र वक्तव्य अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञान भवति न वा ? न तावद् द्वितीय पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् आद्ये कथ तस्य तज्ज्ञानता ? तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तैव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वागीकारवैयर्थ्यापातात् घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च आकारविशेषरहितरूपसख्यासामान्याभावादिज्ञानाना ज्ञानत्वाभावापातात् च परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्त करणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च स्वतो निराकारस्य अन्त करणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निसृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकार नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वार जलस्य केदारगमनद्वार वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव तथा अन्त करणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वाद् युक्तत्वात् च किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्तता चैतन्याविद्या कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात् ? यदिच सैव वृत्ति चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मत तर्हि किम् इद वृत्ते स्वाध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरण नाम ? तदुल्लेख चेत् तर्हि सर्वत्र तनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया ? किञ्च कथम् इद नीरूपचैतन्यविषयकत्व चाक्षुषवृत्ते ? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृशगगन गुरुत्व वा कुतो न विषय ? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अह जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च ''
(श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे पृ ९०-९१)

गमनाप्रतीते. चक्षु गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्ध्यते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोध च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अल प्रतीत्यपलापेन!.. किञ्च चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भ स्यात् चक्षुप तत्र गच्छत काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिक भित्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेश गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे अनुपलम्भ ... एतेन शाखाचन्द्रमसो क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया चक्षुर्विपयस्य सनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते. तथाहि यद् इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विपय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुप सशयविपर्यासानुपपत्ति, सामान्यवद् विशेषाणामपि सनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि सशयो विपर्यास च. नच चक्षुपा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्" (न्यायकुमुदचन्द्रोदये १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १।४)

[1]द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्यां . २८

[9]"सर्वगत चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्तकरणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविपयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदक सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत्. नहि उदकवद् अन्तकरण परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति झटति न सिध्येत्. किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते अतएव रश्मिवत् सहसा सकोचोऽपि उपपन्न. उपपन्नश्च अन्तकरणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्तकरण देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयो मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्न व्यवतिष्ठते तत्र देहावच्छिन्नान्त करणभागो 'अहकारा'ख्य 'कर्ता' इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमान तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते. विषयव्यापक तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते. तस्य त्रिभागस्य अन्तकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्य तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य

चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति कर्तृभागावच्छिन्न चिदश प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न चिदश प्रमाण, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्न चिदश प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असाङ्कर्यम् "(विवरणप्रमेयसग्रहे १।११२/ए)

"इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति चक्षुश्रोत्रेतु स्वतएव विषयदेश गत्वा स्वस्वविषय गृह्णीत, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् "(वेदान्तपरिभाषाया १)

"'किञ्च स्याद् एतद् एव यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व वदन् प्रष्टव्य कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते ? दृग्दृश्ययो सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थ चेत् तत्र वक्तव्य अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञान भवति न वा ? न तावद् द्वितीय पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् आद्ये कथ तस्य तज्ज्ञानता ? तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तेरेव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वागीकारवैयर्थ्यापातात् घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च आकारविशेषरहितरूपसख्यासामान्याभावादिज्ञानानां ज्ञानत्वाभावापातात् च परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्तःकरणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च स्वतो निराकारस्य अन्तःकरणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निःसृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकार नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वार जलस्य केदारगमनद्वार वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव तथा अन्तःकरणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वाद् युक्तत्वात् च किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्तता चैतन्याविद्या कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात् ? यदि च सैव वृत्ति चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मत तर्हि किम् इद वृत्ते स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरण नाम ? तदुल्लेख चेत् तर्हि सर्वत्र तनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया ? किञ्च कथम् इद नीरूपचैतन्यविषयकत्व चाक्षुषवृत्ते ? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृशगगन गुरुत्व वा कुतो न विषय ? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अह जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च "
(श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे पृ ९०-९१)

गमनाप्रतीते. चक्षु. गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्ध्यते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोध. च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अलं प्रतीत्यपलापेन!... किञ्च चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भ स्यात् चक्षुष तत्र गच्छत. काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेशं गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे अनुपलम्भ ... एतेन शाखाचन्द्रमसो. क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते. दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते. तथाहि यद् इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुष. संशयविपर्यासानुपपत्ति, सामान्यवद् विशेषाणामपि संनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि सशयो विपर्यास च. नच चक्षुषा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्'' (न्यायकुमुदचन्द्रोदये. १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १।४).

[६]द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[७]''सर्वगत चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्त करणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति. यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदक सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत्. नहि उदकवद् अन्त करण परिस्पन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति झटति न सिध्येत्. किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते. अतएव रश्मिवत् सहसा सकोचोऽपि उपपन्न. उपपन्नश्च अन्त करणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्त करण देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयो. मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्न व्यवतिष्ठते. तत्र देहावच्छिन्नान्त करणभागो 'अहकारा'ख्य 'कर्ता' इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमान तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते. विषयव्यापक तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते. तस्य त्रिभागस्य अन्त करणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्य तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य

'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्ति' 'आलोचन'=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम् ननु ग्रहणरूप ननु प्रकाशक प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतु इति ? उच्यते न कारणान्तरप्रसगात् यदि प्रदीपवद् इन्द्रिय प्रकाशक स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात् तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रिय ननु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेद ? उच्यते—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्ति इन्द्रियवृत्ति ग्रहणम् तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौ अय शुक्लो धावति' इत्येवमादि प्रत्यय तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्ते ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवात्तु सस्काराधान तत्पूर्विका च स्मृति इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयो विशेष आह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्न सस्कारात्तु घटादीना व्यवधानरूप पार्थिव छायालक्षण धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय" (श्रीभोजराजकृताया युक्तिदीपिकाया ३।२६-२८)

[११]"इच्छारूप हि मनो व्यापार तस्य भवति सकल्पो बुद्धचक्षाणि श्रोत्र त्वग् दृग् जिह्वा च नासा च ग्राह्या तेषा शब्द स्पर्शो रूप रसश्च गन्ध च शब्दादीना ग्रहण व्यापार कीर्तित क्रमाद् एषाम् शब्द आदि येषा ते शब्दादय तेषा ग्रहण तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणा व्यापार उक्त तत्त्वज्ञै इति अर्थ" (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे ४।७-९)

[१२]"ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्वात् क्रियाशक्ति अहकार समुत्पन्न सच त्रिविध उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूत गुणत्रय कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती 'वैकारिक'=सात्त्विक 'तैजसो'=राजसतामस च यत त्रिविधाद् मनस इन्द्रियाणा भूताना च सम्भव 'महता'=तन्मात्राणामपि बुद्धे उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत् 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धि उत्पद्यतइति यथा इन्द्रियप्रेरकत्व मनस तथा इन्द्रियानुग्राहकत्व बुद्धे बुद्धयैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययो तारतम्यम् एतत् कार्यानुसारि लक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य घयादे स्फुरणे सति शब्देन, सस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञान, यस्मात् केवल चक्षुषा ज्ञाने तारतम्य न स्यात् स्वत स्फुरण योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञान बुद्धे लक्षणम् 'तैजसानि' इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, ननु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा

[९९]"यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्तस्थानि तदा कथं चक्षुश्श्रोत्रयो दूरस्थग्राहकत्वम्... वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद्... ननु वृत्ति. यदि स्वस्य देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्ति., धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तेत... भूतै. सह इति वा चारै पश्यन्ति इतिवद् वा... यद्यपि अप्राप्यकारित्वं हैतुकात्या हठात्कारेण वक्तु शक्यं, तथापि 'दिवीव चक्षुराततम्' इत्याद्यागमिकव्यवहारस्वारस्यबाधाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्ति.... 'सर्वे प्राणा. अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुते. संकोचकाभावात्... तत्र बाह्यै एवम् उच्यते 'वृत्तिप्रसरणे क्रमयौगपद्यविकल्पायोगाद् दूरस्थविषया प्राप्ति न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रियं तद् अप्राप्यग्राहि यथा मन.' इति. तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह — प्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्ति उक्तप्रकारा वत्ति दृष्टे. न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादि अच्छो नोवेद् गृह्येत योग्य सममिह निखिल निष्फले छादकादौ स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्तति. त्वन्मतेऽपि. अतिप्रसङ्गो असम्बद्धग्रहणे स्यात् सम तु इद सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सद् योग्यान्वितग्रहाद्. गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बद्धस्य सर्वस्य ग्रहणं व्यभिचारत... ननु उन्मिषितमात्रं चक्षु चन्द्र गमयति. नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लङ्घयितुं क्षम. क्रमेतु प्रतिपरमाण्ववच्छेद विलम्ब्य गमनात् प्रतीतिरपि विलम्बेत. दूरासन्नग्रहणकालतारतम्य च स्यात्. मैव, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्यां प्रभायामिव इन्द्रियवृत्ते तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयतया पद्मपत्रशतवेधनीत्या यौगपद्याभिमानोपपत्ते... यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्क्रान्तमात्रमेव चाक्षुष तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा सवलित तावत् प्रथिमानम् अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहण दूरासन्नयो युगपद्ग्रहण च सिद्ध्येद् इति तद् अयुक्त निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्ते. अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजस्सवलनात् तेन सम्बद्धं सर्वे युगपद् भासेत पश्चाद्भागादिस्थित च..." (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ : १।४०).

[१००]"द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च... बुद्धे इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि. किं पुन एतानि बुद्धे इति? उच्यते — शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्. कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वात्. अन्तकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्ति इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थान् प्रतिपत्तुम्. तस्मात् श्रोत्रादिलक्षण साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरम् अपेक्षते. तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम् तस्माद् युक्तम् उक्त बुद्धे. बाह्यविषयकप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति ..

'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः' 'आलोचन'=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम्. तत्तु ग्रहणरूपं ननु प्रकाशकं प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतुः इति? उच्यते न कारणान्तरप्रसंगात्. यदि प्रदीपवद् इन्द्रियं प्रकाशकं स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात्. तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं ननु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति. ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेदः? उच्यते— विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः ग्रहणम्. तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौः अयं शुक्लो धावति' इत्येवमादि प्रत्ययः. तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्तेः ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवात्तु संस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृतिः इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति. अयम् अनयोः विशेषः. बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नः संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिवं छायालक्षणं धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय" (श्रीभोजराजकृतायां युक्तिदीपिकायां ३।२६-२८)

[११]"इच्छारूपः हि मनो व्यापारः तस्य भवति संकल्पो बुद्ध्यक्षाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा च नासा च. ग्राह्या तेषां शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धः च. शब्दादीनां ग्रहणं व्यापारः कीर्तितः क्रमाद् एषाम्. शब्द आदिः येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापारः उक्तः तत्त्वज्ञैः इति अर्थः" (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे ४।७-९)

[१२]"ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्तिः अहंकारः समुत्पन्नः. स च त्रिविधः उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती. 'वैकारिक'=सात्त्विकः. 'तैजसो'=राजसतामसः च. यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः. 'महता'=तन्मात्राणामपि. बुद्धेः उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति. 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्. 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यतइति. यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारि लक्षणं 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घयादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्. स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्. 'तैजसानि' इति, ज्ञानकरणानि क्रियाकरणानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, ननु ज्ञानकरणानि सात्त्विकानि क्रियाकरणानि तामसानि वा

क्रियाया प्राणो मूल ज्ञाने बुद्धि बुद्धि राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहक रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति द्रव्यस्य घटादे या आकृति सैव रूपस्य पृथुबुध्नोदराकार रूपमपि आतानवितानात्मक च द्रव्यस्यैव आकृतिरिति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम् 'गुणता'=सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति न एव शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते सस्थैव सस्था यस्य, यदि व्यक्ति वक्रा भवेद् रूपमपि वक्र भवेदिति उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्ट भवति 'तेजसश्च तेजस्त्व' रूपतन्मात्रत्व सूक्ष्मावस्था इति अर्थ 'तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षु उच्यते' =तेजोगुणविशेषो रूपम्" (श्रीवल्लभाचार्यकृताया भागवतसुबोधिन्या ३।२६।२३-४८)

१३"यदा विषयेन्द्रियसयोगात् निर्विकल्पक तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्ते नाशे सविकल्पकस्य सस्काररूपेण अवस्थान, तस्य उद्बोधके उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृति, राजसै रागादिभि सस्कारप्राबल्ये मायया विषयावरणपूर्वक मायिकपदार्थसहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम अत बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्ति सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पक ज्ञान जन्यते तत्र अय क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन कार्यार्थ प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण सयुज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयससृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्व निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रिदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति चाक्षुषेतु नयनकिरणा विषयपर्यन्त गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेषु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषय मन प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पक सविकल्पक च तत्तदिन्द्रियससृष्टे मनसि उत्पद्यते ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिक व्यापार नच नयनकिरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणव च' (ब्र सू २।४।७) इति सूत्रविरोध शङ्कनीय, अर्चीरूपाणा किरणाना सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एष' (महाना उप १२।२) इति अनुवाके श्रावणात् तै अखिलमेरूत्तरदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजन-परिमाणस्मरणेन तेषा तत्परिणामाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुष किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात् गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र सू २।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वागीकारात् तैजसस्य चक्षुष आलोकरूपगुणव्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोष या पुन आलोकेन मायाकार्यतमोजननप्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अध्यात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते

सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूप जीव प्रति ज्ञानाश्रिताध्याध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुष, दूरस्थगन्धशब्दादयोस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्त सत्त्वात्मकबुद्धे तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणज श्रावण च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोष इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया तत्र अलोकेन तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्त, 'यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्याद्' (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात् एव ज्योतीरूपसूर्यदेवताया पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्याना तदर्शनप्रसगात् सन्ध्यायाम् अस्तगते सूर्ये रूपप्रापकदेवताया गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्ते च अतो 'नेतृत्व द्रव्यशब्दयो' (भाग पुरा.३।२६।३७) इतिवद् आदित्यरश्मीना रूपप्रापकत्वस्य अशाब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवताया रूपप्रापकत्वाङ्गीकार सर्वथा न युक्त किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' (भाग पुरा २।९।३३) इति वाक्यात्, तस्या विक्षेपकत्वात् च एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव आध्यात्मिकरूपमपि मायामय मनोमयत्वात् तस्यच न सत्यता अर्थक्रियाकारित्वमात्रम् " (प्रस्थानरत्नाकरीयप्रत्यक्ष-प्रमाकरणप्रकरणे)



